प्राक्कथन

भारतवर्ष सारे देशों का सम्राट् है। इसकी हिमालय छत्र, कल-कल-नादिनी, भागीरथी गङ्गा, अभिषेक धारा और वसन्त आदि ऋतुऐं पुष्प-वर्षा करने वाली पुर की कन्यायें हैं। इसके हरे-भरे प्रदेश, हरी २ मखमल के फर्श से कम नहीं हैं। इसके समुद्र मोतियों से, वन चन्दन से, पर्वत सोने चांदी, हीरे, पन्ने तथा संगमरमर से भरे पड़े हैं। कोहनूर प्रसिद्ध हीरे की जन्मभूमि भी यही भारतवर्ष है।

यहां के शिल्पकी चर्चा करते हुए फर्गूसन साहब फरमाते हैं, कि दिल्ली के लोहस्तम्भ के समान स्तम्भ अभीतक योरुप नहीं बना सका है, जो १६०० वर्षों से हवा-पानी मे खड़ा है, परन्तु मोर्चे का नाम भी नहीं है।

इस देश के ढाके की मलमल, आसाम के रेशमी कपड़े और हीरे, मोतियों के आभूषणों पर किस देश की कामनी लट्टू नहीं होती थी। यहा के धन दौलत से लदे हुए, ऊंटों को देखकर महमूद गजनवी जैसे बादशाह के मुँह मे पानी भर आता था, इसी कारण से यह देश परतन्त्र (गुलाम) हुआ या यों कहो, कि इस मैना को इसका मीठा बोलना ही पिंजरे मे या इस बुलबुल को इसका चहचहाना ही कफस मे ले गया।

आज इस गुलाम भारत का न शिल्प है, न व्यापार। राज्य की तो चर्चा ही क्या है? हम्मामों मे जलने से किसी प्रकार बचा हुआ साहित्य भी नष्ट हो रहा है, जिससे इस देश की सभ्यता

का टिमटिमाता हुआ दीपक भी बुझने को जा रहा है। पीकोक साहब ने "यूनान में भारतवर्ष" नामक पुस्तक में लिखा है—

संसार में महाभारत जैसी घटना शायद ही कोई हुई हो। इस घटना के कारण अनेक भारत वासी देश छोड़कर चले गए और सारे संसार में फैल गए। जहां देखो एशिया और योरुप में सब जगह ये ही थे। इन्होंने ही सबको सभ्यता कला कौशल और विज्ञान सिखाया।

मौनशिय डलवस साहब लिखते हैं—

भारतवर्ष में हजारों वर्ष पूर्व जो सभ्यता फैल रही थी, उसी का प्रभाव हमारे चारों ओर है। यह प्रभाव पृथिवी-मण्डल के देशान्तरों में व्याप्त है। यही सभ्यता यूरुप और अमेरिका में सर्वत्र दिखलाई दे रही है। यह वही सभ्यता है, जिसका जन्म गङ्गा के पवित्र तट पर हुआ है।

इस पवित्र सभ्यता के अनुपम कोष महाभारत के तीसरे भाग को लेकर हम पाठकों की सेवा में उपस्थित हो रहे हैं। इसके प्रकाशन की कठिनाइयों की परवाह न करके हम पाठकों के भरोसे पर आगे बढ़े चले जा रहे हैं। चौथा भाग भी शीघ्र ही आपकी सेवा में आ रहा है। आशा है, कि पाठकवर्ग, अपनी उदार-प्रकृति से अनुगृहीत करते रहेंगे।

गंगाप्रसाद शास्त्री

महाभारत तीसरे-भाग

— की —

विषयानुक्रमणिका

आदिपर्व अध्याय २२४ से आदिपर्व समाप्त तथा सभापर्व सम्पूर्ण और वनपर्व बाईस अध्याय तक।

आदिपर्व

खाण्डवदाहपर्व

सभापर्व

सभाक्रियापर्व

लोकपाल सभाख्यानपर्व

राजसूयारम्भपर्व

श्री भगवान् वाक्यः—

स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमेतत् कामसमुत्थितम् ।
दुःखं चतुष्टयं प्रोक्तं यैर्नरो भ्रश्यते श्रियः ॥

महाभारत वनपर्व अ० १३।७। पृष्ठ ८६३

व्यभिचार, जुआ, शिकार और सुरापान ये काम-वासना से उत्पन्न होते हैं। ये चारों दुःखप्रद हैं, जिनसे मनुष्य का ऐश्वर्य नष्ट होजाता है ॥ ७ ॥





महाभारत

आदिपर्व

[अथ खाण्डव दाह पर्व]



तृतीयभाग



दो सौ चौबीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

इन्द्रप्रस्थे वसन्तस्ते जघ्नुरन्यान्नराधिपान् ।
शासनाद्धृतराष्ट्रस्य राज्ञः शान्तनवस्य च ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! पाण्डवों ने इन्द्रप्रस्थ में रह कर राजा धृतराष्ट्र और शान्तनु पुत्र भीष्म की आज्ञानुसार अनेक अन्य राजाओं को जीत लिया ॥ १ ॥

आश्रित्य धर्मराजानं सर्वलोकोऽवसत्सुखम् ।
पुण्यलक्षणकर्माणं स्वदेहमिव देहिनः ॥ २ ॥

पवित्र कर्म करने वाले, धर्मराज युधिष्ठिर का आश्रय पाकर अपनी देह में आत्मा के तुल्य सारा लोक सुख से रहने लगा॥ २ ॥

स सर्मं धर्मकामार्थान्सिषेवे भरतर्षभ ! ।
त्रीनिवात्मसमान्बन्धून्नीतिमानिव मानयन् ॥ ३ ॥

हे भरतर्षभ ! यह राजा युधिष्ठिर, धर्म, अर्थ और काम को इस प्रकार सेवन करता था, जैसे—नीतिमान् अपने बन्धुओं को समान मान कर सेवन करता है ॥ ३ ॥

तेषां समविभक्तानां क्षितौ देहवतामिव ।
बभौ धर्मार्थकामानां चतुर्थ इव पार्थिवः ॥ ४ ॥

समान भाग मे बँट कर पृथ्वी पर देहधारी धर्म, अर्थ और काम के मध्य मे यह युधिष्ठिर चतुर्थ पुरुषार्थ के सदृश सुशोभित हो रहा था ॥ ४ ॥

अध्येतारं परं वेदान्प्रयोक्तारं महाध्वरे ।
रक्षितारं शुभांल्लोकांल्लेभिरे तं जनाधिपम् ॥ ५ ॥

प्रजा ने अच्छी तरह वेद के अध्ययन करने वाले, बड़े २ यज्ञों के प्रयोक्ता, आर्यजनों की रक्षा करने वाले इस राजा युधिष्ठिर को पाया ॥ ५ ॥

अधिष्ठानवती लक्ष्मीः परायणवती मतिः ।
वर्धमानोऽखिलो धर्मस्तेनाऽऽसीत्पृथिवीक्षिताम् ॥६॥

इस राजा के कारण अन्यराजाओं की भी भोग विलास और दान युक्त लक्ष्मी, और उलझनों के सुलझाने मे परायण बुद्धि हो गई, जिससे सारे धर्म की बड़ी वृद्धि हुई ॥ ६ ॥

भ्रातृभिः सहितो राजा चतुर्भिरधिकं बभौ ।
प्रयुज्यमानैर्विततो वेदैरिव महाध्वरः ॥ ७ ॥

चारों वेदों से प्रयुक्त किये हुये विस्तृत यज्ञ के समान यह राजा, अपने चारों भाइयों के कारण अत्यन्त प्रशंसा युक्त हो रहा था ॥ ७ ॥

ते तु धौम्यादयो विप्राः परिवार्योपतस्थिरे ।
बृहस्पतिसमा मुख्याः प्रजापतिमिवाऽमराः ॥ ८ ॥

बृहस्पति के समान प्रधान २ धौम्य आदि ब्राह्मण, इस राजा को इस प्रकार घेर कर उपस्थित रहते थे, जैसे-प्रजापति को देवता घेरे रहते हैं ॥ ८ ॥

धर्मराजे ह्यतिप्रीत्या पूर्णचन्द्र इवाऽमले ।
प्रजानां रेमिरे तुल्यं नेत्राणि हृदयानि च ॥ ९ ॥

निर्मल पूर्णचन्द्र के तुल्य धर्मराज में अत्यन्त प्रीति के साथ प्रजा के नेत्र और मन, एक साथ ही मुग्ध हो गये ॥ ९ ॥

न तु केवलदैवेन प्रजाभावेन रेमिरे ।
यद्बभूव मनःकान्तं कर्मणा स चकार तत् ॥ १० ॥

दैव के द्वारा प्रजा बना देने के कारण से ही प्रजा राजा युधिष्ठिर पर मुग्ध नहीं थी, किन्तु जो प्रजा का मन उनकी ओर आकर्षित हुआ था, यह तो उसके वर्तमानकाल के कर्मों का ही फल था ॥ १० ॥

न ह्ययुक्तं न चाऽसत्यं नाऽसह्यं नच चाऽप्रियम् ।
भाषितं चारुभाषस्य जज्ञे पार्थस्य धीमतः ॥ ११ ॥

उत्तम रीति से भाषण करने वाले कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर को कभी अयुक्त, असत्य, असह्य और अप्रिय बोलते नहीं देखा ॥ ११ ॥

स हि सर्वस्य लोकस्य हितमात्मन एव च।
चिकीर्षन्सुमहातेजा रेमे भरतसत्तम ! ॥ १२ ॥

हे भरतसत्तम ! यह महातेजस्वी युधिष्ठिर सारे लोक के कल्याण को अपना कल्याण मानता हुआ आनन्द से रहता था ॥१२॥

तथा तु मुदिताः सर्वे पाण्डवा विगतज्वराः।
अवसन्पृथिवीपालाँस्तापयन्तः स्वतेजसा ॥ १३ ॥

अपने बैरी राजाओं को अपने तेज से सन्तापित करते हुये सारे पाण्डव, क्लेश रहित हो कर आनन्द के साथ रहते थे ॥ १३ ॥

ततः कतिपयाहस्य बीभत्सुः कृष्णमब्रवीत्।
उष्णानि कृष्ण ! वर्तन्ते गच्छावो यमुनां प्रति ॥१४॥

कुछ दिन के अनन्तर एक दिन अर्जुन श्रीकृष्ण से बोले—हे कृष्ण ! आज कल गर्मी बहुत पड़ती है, चलो, यमुना पर चलें ॥ १४ ॥

सुहृज्जनवृतौ तत्र विहृत्य मधुसूदन !।
सायाह्ने पुनरेष्यावो रोचतां ते जनार्दन ! ॥ १५ ॥

हे जनार्दन ! अपने मित्रों के साथ वहां विहार करके सायं-काल लौट आवेंगे, यदि आप की रुचि हो तो चलें ॥ १५ ॥

वासुदेव उवाच—

कुन्तीमातर्ममाऽप्येतद्रोचते यद्वयं जले।
सुहृज्जनवृताः पार्थ ! विहरेम यथासुखम् ॥ १६ ॥

वासुदेव बोले—हे पार्थ ! सुहृज्जनों के साथ सुख पूर्वक हम यमुना के जल में विहार करें, मैं तो यह चाह ही रहा हूं ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

आमन्त्र्य तौ धर्मराजमनुज्ञाप्य च भारत ! ।
जग्मतुः पार्थगोविन्दौ सुहृज्जनवृतौ ततः ॥ १७ ॥

वैशम्पायन बोले—हे भारत ! धर्मराज से पूछ कर और उन की आज्ञा लेकर अपने मित्रजनोंके साथ अर्जुन और कृष्ण यमुना की ओर चल दिये ॥ १७ ॥

विहारदेशं संप्राप्य नानाद्रुमवदुत्तमम् ।
गृहैरुच्चावचैर्युक्तं पुरंदरपुरोपमम् ॥ १८ ॥
भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पेयैश्च रसवद्भिर्महाधनैः ।
माल्यैश्च विविधैर्गन्धैर्युक्तं वार्ष्णेयपार्थयोः ॥ १९ ॥
विवेशान्तःपुरं तूर्णं रत्नैरुच्चावचैः शुभैः ।
यथोपजोषं सर्वश्च जनश्चिक्रीड भारत ! ॥ २० ॥

अनेक वृक्षों से युक्त, इन्द्र के पुर के तुल्य ऊंचे २ घरों से सुशोभित, श्रीकृष्ण और अर्जुन के निमित्त लाये हुये भक्ष्य, भोज्य रसीले पेय पदार्थ, मूल्यवान माला अनेक सुगन्धित द्रव्यों से समन्वित, उत्तम विहार स्थान को प्राप्त करके उत्तम २ रत्नों से शोभायमान सारे जन, अपने २ रनवास में शीघ्रता से घुस गए और मन की अभिलाषा के अनुसार क्रीड़ा करने लगे ॥ १८-२० ॥

स्त्रियश्च विपुलश्रोण्यश्चारुपीनपयोधराः ।
मदस्खलितगामिन्यश्चिक्रीडुर्वामलोचनाः ॥ २१ ॥

वहां पर विशाल नितम्बोंवाली, दृढ़ और पुष्ट स्तनोंवाली, मद से झूम २ कर चलने वाली, सुन्दर २ नेत्रोंवाली स्त्रियां भी क्रीड़ा करने लगीं ॥ २१ ॥

वने काश्चिज्जले काश्चित्काश्चिद्वेश्मसु चांगनाः।
यथादेशं यथाप्रीतं चिक्रीडुः पार्थकृष्णयोः॥ २२ ॥

कोई वन में, कोई जल में और कोई स्त्री महलों मे कृष्ण और अर्जुन के साथ अपनी २ प्रीति के अनुसार अभीष्ट देश में क्रीड़ा करने लगी ॥ २२ ॥

द्रौपदी च सुभद्रा च वासांस्याभरणानि च।
प्रायच्छतां महाराज स्त्रीणां ते स्म मदोत्कटे ॥ २३ ॥

हे महाराज! उस समय मतवाली हुई द्रौपदी और सुभद्रा अन्य स्त्रियों को लिए वस्त्र और आभूषण प्रदान करने लगीं। २३ ॥

काश्चित्प्रहृष्टा ननृतुश्चुक्रुशुश्च तथा पराः।
जहसुश्च परा नार्यः पपुश्चान्या वरासवम् ॥ २४ ॥

कोई स्त्री तो प्रसन्न होकर नाचने लगी, कोई गाने लगी, कोई हंसने लगी और कोई उत्तम आसव पीने लगी ॥ २४ ॥

रुरुधुश्चाऽपरास्तत्र प्रजघ्नुश्च परस्परम्।
मन्त्रयामासुरन्याश्च रहस्यानि परस्परम् ॥ २५ ॥

किसी ने अन्य को रोक लिया, किसी ने परस्पर उपहास में मारना आरम्भ किया और कोई मिल कर अपने रात के रहस्य की बातें करने लगी ॥ २५ ॥

वेणुवीणामृदङ्गानां मनोज्ञानां च सर्वशः ।
शब्देन पूर्यते ह स्म तद्वनं सुमहर्द्धिमत् ॥ २६ ॥

सुन्दर २ वेणु, वीणा और मृदङ्गों के शब्दों से यह समृद्धिशाली वन प्रपूरित भर गया ॥ २६ ॥

तस्मिंस्तदा वर्तमाने कुरुदाशार्हनन्दनौ ।
समीपं जग्मतुः कंचिदुद्देशं सुमनोरमम् ॥ २७ ॥

इस प्रकार अर्जुन और कृष्ण क्रीड़ा के कोलाहल मचने पर समीप के किसी मनोहर स्थान पर जा बैठे ॥ २७ ॥

तत्र गत्वा महात्मानौ कृष्णौ परपुरंजयौ ।
महार्हासनयो राजंस्ततस्तौ संनिषीदतुः ॥ २८ ॥

हे राजन्! शत्रुपुर के विध्वंस करने वाले श्री कृष्ण और अर्जुन, वहां बड़े अमूल्य आसनों पर जा विराजे ॥ २८ ॥

तत्र पूर्वव्यतीतानि विक्रान्तानीतराणि च ।
बहूनि कथयित्वा तौ रेमाते पार्थमाधवौ ॥ २९ ॥

वहां पूर्व काल में किये हुये अपने पराक्रम तथा अन्य वार्तालाप करते हुए श्री कृष्ण और अर्जुन ने आनन्द से समय व्यतीत किया ॥ २९ ॥

तत्रोपविष्टौ मुदितौ नाकपृष्ठेऽश्विनाविव ।
अभ्यागच्छत्तदा विप्रो वासुदेवधनंजयौ ॥ ३० ॥

स्वर्ग में अश्विनी कुमारों के सदृश बैठे हुए कृष्ण और अर्जुन के पास उस समय कोई एक ब्राह्मण आया ॥ ३० ॥

बृहच्छालप्रतीकाशः प्रतप्तकनकप्रभः ।
हरिपिंगोज्ज्वलश्मश्रुः प्रमाणायामतः समः ॥ ३१ ॥
तरुणादित्यसंकाशश्चीरवासा जटाधरः ।
पद्मपत्राननः पिंगस्तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ ३२ ॥

यह ब्राह्मण, बड़े शाल के वृक्ष के समान लम्बा, तपे हुए सुवर्ण के तुल्य कान्तिमान, भूरे पीले चमकते हुए केशों को धारण करने वाला, लम्बाई-चौड़ाई में बराबर, प्रचण्ड सूर्य-तुल्य तेजस्वी, साधुओं के सदृश वस्त्र पहने हुए, जटाधारी, कमलपत्र तुल्य मुख वाला, तेज से पीला, चमक रहा था ॥ ३१-३२ ॥

उपसृष्टं तु तं कृष्णो भ्राजमानं द्विजोत्तमम् ।
अर्जुनो वासुदेवश्च तूर्णमुत्पत्य तस्थतुः ॥३३॥ [८२६५

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि
खाण्डवदाहपर्वणि ब्राह्मणरूप्यनलागमे
चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२४ ॥

तेज से चमकते हुए ब्राह्मण को समीप आया हुआ देख कर, श्रीकृष्ण और अर्जुन शीघ्र उठकर खड़े हो गये ॥ ३३ ॥

इति श्री महाभारत आदिपर्वान्तर्गत खाण्डवदाह पर्व में ब्राह्मण आगमन का दो सौ चौबीसवां अध्याय समाप्त हुआ।

दो सौ पच्चीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

सोऽब्रवीदर्जुनं चैव वासुदेवं च सात्वतम् ।
लोकप्रवीरौ तिष्ठन्तौ खाण्डवस्य समीपतः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! वह ब्राह्मण सात्वतवंशी श्रीकृष्ण और अर्जुन से बोला—हे लोक में सर्व श्रेष्ठ, वीरो ! तुम आज खाण्डव वन के समीप में स्थित हो ॥ १ ॥

ब्राह्मणो बहुभोक्तास्मि भुञ्जेऽपरिमितं सदा ।
भिक्षे वार्ष्णेयपार्थौ ! वामेकां तृप्तिं प्रयच्छतम् ॥ २ ॥

मैं ब्राह्मण हूं और अपरमित अन्न का भोजन करने वाला हूं। मैं कृष्ण और अर्जुन से याचना करता हूं, कि तुम मेरी एक बार तृप्ति करा दो ॥ २ ॥

एवमुक्तौ तमब्रूतां ततस्तौ कृष्णपाण्डवौ ।
केनान्नेन भवांस्तृप्येत्तस्यान्नस्य यतावहे ॥ ३ ॥

इतना कहने पर उस ब्राह्मण से श्रीकृष्ण और अर्जुन बोले—हे विप्रवर ! आप किस अन्न से तृप्त होंगे, जिससे वही अन्न मंगाने का प्रयत्न किया जावे ॥ ३ ॥

एवमुक्तः स भगवानब्रवीत्तावुभौ ततः ।
भाषमाणौ तदा वीरौ किमन्नं क्रियतामिति ॥ ४ ॥

जब उन दोनों ने यह कहा, कि किस अन्न का प्रबन्ध करें, तो वह तेजस्वी ब्राह्मण उन दोनों वीरों से यह कहने लगा ॥ ४ ॥

ब्राह्मण उवाच—

नाऽहमन्नं बुभुक्षे वै पावकं मां निबोधतम्।
यदन्नमनुरूपं मे तद्युवां संप्रयच्छतम् ॥ ५ ॥

ब्राह्मण बोला—मैं अन्न नहीं खाता हूं, मैं तो अग्निदेव हूं। मेरे अनुरूप जो अन्न हो वही मुझे प्रदान करो ॥ ५ ॥

इदमिन्द्रः सदा दावं खाण्डवं परिरक्षति।
न च शक्नोम्यहं दग्धुं रक्ष्यमाणं महात्मना ॥ ६ ॥

यह इन्द्र, इस खाण्डव वन की रक्षा करता रहता है, इससे इस महात्मा से सुरक्षित होने से ही मैं इस वन को जला नहीं सकता हूं ॥ ६ ॥

वसत्यत्र सखा तस्य तक्षकः पन्नगः सदा।
सगणस्तत्कृते दावं परिरक्षति वज्रभृत् ॥ ७ ॥

उस इन्द्र का सखा तक्षक नाग अपने साथियों के साथ इसी वन में रहता है। इसी से इन्द्र इस वन की मुक्त यदि से रक्षा करता रहता है ॥ ७ ॥

तत्र भूतान्यनेकानि रक्ष्यन्तेऽस्य प्रसंगतः।
तं दिधक्षुर्न शक्नोमि दग्धुं शक्रस्य तेजसा ॥ ८ ॥

इसी प्रसङ्ग से यहां अनेक अन्य भीषण प्राणी सुरक्षित हो रहे हैं, परन्तु इन्द्र की रक्षा के कारण मैं जलाना चाहता हुआ भी इसको जला नहीं सकता हूं ॥ ८ ॥

स मां प्रज्वलितं दृष्ट्वा मेघाम्भोभिः प्रवर्षति ।
ततो दग्धुं न शक्नोमि दिधक्षुर्दावमीप्सितम् ॥ ९ ॥

इन्द्र ज्यों ही मुझे प्रज्वलित देखता है, मेघ के जलों से बरस पड़ता है। इससे जलाने का अभिलाषुक भी मैं इस जलाने के योग्य वन को जला नहीं सका हूं ॥ ९ ॥

स युवाभ्यां सहायाभ्यामस्त्रविद्भ्यां समागतः ।
दहेयं खाण्डवं दावमेतदन्नं वृतं मया ॥ १० ॥

अस्त्र चलाना जानने वाले तुम दोनों वीरों की सहायता प्राप्त करके मैं इस खाण्डव वन को दग्ध करना चाहता हूं। आप मुझे यही अन्न प्रदान करें ॥ १० ॥

युवां ह्युदकधारास्ता भूतानि च समन्ततः ।
उत्तमास्त्रविदौ सम्यक्सर्वतो वारयिष्यथः ॥ ११ ॥

तुम दो अस्त्र चलाना खूब आता है अतएव उन जल की धाराओं और प्राणियों को चारों ओर से रोकना ॥ ११ ॥

जनमेजय उवाच—

किमर्थं भगवानग्निः खाण्डवं दग्धुमिच्छति ।
रक्ष्यमाणं महेन्द्रेण नानासत्त्वसमायुतम् ॥ १२ ॥

न ह्येतत्कारणं ब्रह्मन्नल्पं संप्रतिभाति मे ।
यद्दाह सुसंक्रुद्धः खाण्डवं हव्यवाहनः ॥ १३ ॥

जनमेजय बोला—हे ब्रह्मन ! भगवान अग्नि इन्द्र से सुरक्षित नाना प्राणियों से युक्त इस खाण्डव वन को किस लिये जलाना

चाहता था, मेरी सम्मति में इसका कोई बड़ा कारण होगा, जो क्रुद्ध होकर अग्नि ने खाण्डव वन को जला डाला ॥ १२-१३ ॥

एतद्विस्तरशो ब्रह्मञ्श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
खाण्डवस्य पुरा दाहो यथा समभवन्मुने ॥ १४ ॥

हे ब्रह्मन्! मैं पूर्व काल में हुए इस खाण्डव वन के दाह को विस्तार से सुनना चाहता हूं, कि यह किस प्रकार जला ॥ १४ ॥

शृणु मे ब्रुवतो राजन्सर्वमेतद्यथातथम् ।
यन्निमित्तं ददाहाऽग्निः खाण्डवं पृथ्वीपते! ॥ १५ ॥

वैशम्पायन बोला—हे राजन्! मैं तुमसे ठीक २ इस वृत्तान्त को सुनाता हूं, कि अग्नि ने क्यों खाण्डव वन के जलाने का प्रयत्न किया ॥ १५ ॥

हन्त ते कथयिष्यामि पौराणीमृषिसंस्तुताम् ।
कथामिमां नरश्रेष्ठ! खाण्डवस्य विनाशिनीम् ॥१६॥

हे नरश्रेष्ठ! प्राचीन काल में ऋषियों से गाई हुई, इस खाण्डववन के जलाने की कथा को विस्तार के साथ कहता हूं ॥१६

पौराणः श्रूयते राजन्राजा हरिहयोपमः ।
श्वेतकिर्नाम विख्यातो बलविक्रमसंयुतः ॥ १७ ॥

हे राजन! इन्द्र के समान बलवान् एक प्राचीन राजा श्वेतकि सुना जाता है, यह बड़ा बलवान, पराक्रमी और विख्यात था ॥१७॥

यज्वादानपतिर्धीमान्यथा नान्योऽस्ति कश्चन ।
ईजे च स महायज्ञैः क्रतुभिश्चाऽऽप्तदक्षिणैः ॥ १८

यह यज्ञशील, दानी और बुद्धिमान था, इसके तुल्य इस समय अन्य कोई नहीं था, इसने बड़ी २ दक्षिणा वाले यज्ञ और महायज्ञों से यजन किया था ॥ १८ ॥

तस्य नान्याऽभवद्बुद्धिर्दिवसे दिवसे नृप ! ।
सत्रे क्रिया समारम्भे दानेषु विविधेषु च ॥ १९ ॥

इस राजा ने प्रति दिन यज्ञ, क्रियाओं के आरम्भ और अनेक प्रकार के दानों में ही अपनी बुद्धि को लगाया था, अन्य कामों में इसकी बुद्धि नहीं लगती थी ॥ १९ ॥

ऋत्विग्भिः सहितो धीमानित्यमीजे स भूमिपः ।
ततस्तु ऋत्विजश्चास्य धूमव्याकुललोचनाः ॥ २० ॥

यह धीमान राजा, ऋत्विजों के साथ सर्वदा यज्ञ में ही तत्पर रहता था, इससे इसके ऋत्विज् सदा धूम से व्याकुल दृष्टि वाले रहते थे ॥ २० ॥

कालेन महता खिन्नास्तत्यजुस्तं नराधिपम् ।
ततः प्रचोदयामास ऋत्विजस्तान्महीपतिः ॥ २१ ॥

बहुत काल पर्यन्त यज्ञ किया जाने रहने से खिन्न हुए ऋत्विजों ने उस राजा का परित्याग कर दिया। राजा ने फिर उन्हें यज्ञ के लिये प्रेरित किया ॥ २१ ॥

चक्षुर्विकलतां प्राप्ता न प्रपेदुश्च ते क्रतुम् ।
ततस्तेषामनुमते तद्विप्रैस्तु नराधिपः ॥ २२ ॥
सत्रं समापयामास ऋत्विग्भिरपरैः सह ।

इनकी आँखें यज्ञधूम से खराब हो चुकी थीं, इससे ये ऋत्विक् तो यज्ञ में पहुंचे ही नहीं। फिर उन ऋत्विजों की सम्मति से राजा ने अन्य ऋत्विजों द्वारा उस यज्ञ को पूरा किया ॥ २२ ॥

तस्यैवं वर्तमानस्य कदाचित्कालपर्यये ॥ २३ ॥
सत्रमाहर्तुकामस्य संवत्सरशतं किल ।
ऋत्विजो नाऽभ्यपद्यन्त समाहर्तुं महात्मनः॥ २४ ॥

इस प्रकार यज्ञ करने में तत्पर राजा ने कुछ काल के अनन्तर सौ वर्ष में पूरा होने वाला यज्ञ करना चाहा, परन्तु इस महात्मा राजा को यज्ञ कराने वाले ऋत्विक् नहीं मिले ॥२३—२४॥

स च राजाऽकरोद्यत्नं महान्तं ससुहृज्जनः ।
प्रणिपातेन सान्त्वेन दानेन च महायशाः ॥ २५ ॥

इस महायशस्वी राजा ने अपने मित्रों के साथ प्रणाम, प्रार्थना और दान से ऋत्विजों को लाने का महा प्रयत्न किया ॥२५॥

ऋत्विजोऽनुनयामास भूयो भूयस्त्वतन्द्रितः ।
ते चास्य तमभिप्रायं न चक्रुरमितौजसः ॥ २६ ॥

इस उद्योगशील राजा ने ऋत्विजों की वारवार प्रार्थना की परन्तु वे अत्यन्त ओजस्वी ऋत्विक् इस राजा की अभिलाषा को पूर्ण करने में समर्थ नहीं हुए ॥२६॥

सचाऽऽश्रमस्थान्राजर्षिस्तानुवाच रुषान्वितः।
यद्यहं पतितो विप्राः शुश्रूषायां न च स्थितः ॥ २७ ॥

आशु त्याज्योऽस्मि युष्माभिर्ब्राह्मणैश्च जुगुप्सितः।
तन्नाऽर्हथ क्रतुश्रद्धां व्याघातयितुमद्य ताम् ॥ २८ ॥

इसके अनन्तर रुष्ट होकर राजा ने उन आश्रम वासी ब्राह्मणों से कहा—हे विप्रो ! यदि मैं. पतित होता या आपकी सेवा शुश्रुषा में आलस्य करता, तब ता तुम लोग मेरी निन्दा करके मुझे त्याग सकते थे, परन्तु तुम धर्माचार्यों को ही मेरी यज्ञश्रद्धा का विनाश नहीं करना चाहिए ॥२७—२८॥

अस्थाने वा परित्यागं कर्तुं मे द्विजसत्तमाः ।
प्रपन्न एव वो विप्राः ! प्रसादं कर्तुमर्हथ ॥ २९ ॥

हे द्विजसत्तमो ! आप असमय मे मेरा परित्याग कर रहे हैं, मैं आपकी शरण हूं, आप कृपा करें ॥२९॥

अथवाऽहं परित्यक्तो भवद्भिर्द्वेषकारणात् ।
ऋत्विजोऽन्यान्गमिष्यामि याजनार्थं द्विजोत्तमाः ॥ ३०॥

हे द्विजराजों ! यदि किसी द्वेष के कारण आप मेरा परित्याग कर रहे हैं, तो फिर मैं यज्ञ कराने के लिए अन्य ऋत्विजों को लाऊंगा ॥ ३० ॥

सान्त्वदानादिभिर्वाक्यैस्तत्त्वतः कार्यवत्तया ।
प्रसादयित्वा वक्ष्यामि यन्नः कार्यं द्विजोत्तमाः ॥ ३१ ॥

हे विप्रवरों, ! मैं अपने कार्य की आवश्यकता, ठण्डे और दान युक्त वचनों से प्रस्तुत करके और उनको प्रसन्न बनाकर अपने यज्ञकार्य का निवेदन करूंगा ॥ ३१ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं विरराम स पार्थिवः ।
यदा न शेकु राजानं याजनार्थं परंतप ! ।
ततस्ते याजकाः क्रुद्धास्तमूचुर्नृपसत्तमम् ॥३२ ॥

हे परन्तप ! राजा इतना कहकर चुप होगया। ऋत्विक् लोग राजा को यज्ञ तो कराना चाहते ही नहीं थे, इस लिए याजक क्रुद्ध होकर राजा से कहने लगे ॥ ३२ ॥

तव कर्माण्यजस्रं वै वर्तन्ते पार्थिवोत्तम !॥ ३३ ॥
ततो वयं परिश्रान्ताः सततं कर्मवाहिनः ।
श्रमादस्मात्परिश्रान्तान्स त्वं नस्त्यक्तुमर्हसि॥ ३४॥

हे राजन् ! आपके तो यज्ञ सर्वदा होते रहते है; हमतो तुम्हारे यज्ञ कराते २ थक गए और इस परिश्रम से क्लेशित हो चुके हैं, अब आप हमें क्षमा करें ॥ ३३ —३४॥

बुद्धिमोहं समास्थाय त्वरासंभावितोऽनघ ।
गच्छ रुद्रसंकाशं त्वं स हि त्वां याजयिष्यति ॥ ३५ ॥

आपकी तो बुद्धि बिगड़ गई है, इससे यज्ञ करने की शीघ्रता पड़ रही है। अब तुम महादेव के पास जाओ, वही तुमको यज्ञ करावेगा ॥ ३५॥

साधिक्षेपं वचः श्रुत्वा संक्रुद्धः श्वेतकिर्नृपः ।
कैलासं पर्वतं गत्वा तप उग्रं समास्थितः ॥ ३६ ॥

ब्राह्मणों की फटकार सुनकर राजा श्वेतकि को आवेश आगया और वह कैलास पर्वत पर जाकर उग्र तप करने लगा ॥ ३६॥

आराधयन्महादेवं नियतः संशितव्रतः ।
उपवासपरो राजन्दीर्घकालमतिष्ठत ॥ ३७ ॥

हे राजन्! यह व्रतशील राजा, नियम के साथ महादेव की आराधना करता हुआ, दीर्घकाल तक उपवास में बैठा रहा ॥३७॥

कदाचिद् द्वादशे काले कदाचिदपि षोडशे ।
आहारमकरोद्राजा मूलानि च फलानि च ॥ ३८ ॥

कभी बारहवें और कभी सोलहवें दिन में राजा फल और मूलों का आहार कर लेते थे ॥ ३८ ॥

ऊर्ध्वबाहुस्त्वनिमिषस्तिष्ठन्स्थाणुरिवाऽचलः ।
षण्मासानभवद्राजा श्वेतकिः सुसमाहितः ॥ ३९ ॥

राजश्वेतकि छः महीने तक लगातार ऊपर को बाहु उठाकर आँखें न झपकाता हुआ, शुष्क काष्ठ के तुल्य अचल रह कर सावधानी से खड़ा रहा ॥ ३९ ॥

तं तथा नृपशार्दूलं तप्यमानं महत्तपः ।
शंकरः परमप्रीत्या दर्शयामास भारत ! ।
प्रीतोऽस्मि नरशार्दूल तपसा ते परंतप ! ॥ ४० ॥

हे भारत ! इस प्रकार महान् तप को करते हुए राजा को देख कर भगवान् शंकर ने प्रसन्न होकर दर्शन दिया और मधुर तथा गम्भीर वाणी से यह कहा ॥४०॥

उवाच चैनं भगवान्स्निग्धगम्भीरया गिरा ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते यं त्वमिच्छसि पार्थिव ! ॥४१॥

हे शत्रुओं के नाश करने वाले! नरशार्दूल! मैं तेरे तप से प्रसन्न होगया हूं। हे राजन्! जो इच्छा है, वह वर मांगले ॥४१॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं रुद्रस्याऽमिततेजसः ।
प्रणिपत्य महात्मानं राजर्षिः प्रत्यभाषत ॥ ४२ ॥

अमिततेजस्वी महात्मा रुद्र के ये वचन सुनकर नमस्कार पूर्वक राजा यह वचन बोला ॥४२॥

यदि मे भगवान्प्रीतः सर्वलोकनमस्कृतः ।
स्वयं मां देवदेवेश! याजयस्व सुरेश्वर! ॥ ४३ ॥

हे सुरेश्वर! सर्वलोक के पूज्य! स्वयं भगवान् आपही मुझ पर प्रसन्न होगए हैं, तो मैं यही वर मांगता हूं कि आप मुझे स्वयं यज्ञ करावें ॥४३॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं राज्ञा तेन प्रभाषितम् ।
उवाच भगवान्प्रीतः स्मितपूर्वमिदं वचः ॥ ४४ ॥

राजा के कहे हुए इस वचन को सुन कर प्रसन्न हुए भगवान् शङ्कर ने मुस्कुराहट के साथ यह वचन कहा ॥४४॥

नाऽस्माकमेतद्विषये वर्तते याजनं प्रति ॥ ४५ ॥
त्वया च सुमहत्तमं तपो राजन्वरार्थिना ।
याजयिष्यामि राजंस्त्वां समयेन परंतप! ॥ ४६ ॥

हे राजन्! हमारा काम यज्ञ कराना नहीं है; परन्तु तूने यज्ञ का आचार्य मुझे बनाने के लिए ही यह महान् तपकर डाला है, इसलिए किसी समय पर मैं तुमसे यज्ञ कराटूंगा ॥४५—४६॥

रुद्रउवाच—

समा द्वादश राजेन्द्र ! ब्रह्मचारी समाहितः ।
सततं त्वाज्यधाराभिर्यदि तर्पयसेऽनलम्।
कामं प्रार्थयसे यं त्वं मत्तः प्राप्स्यसि तं नृप ! ॥ ४७ ॥

रुद्र बोले—हे राजेन्द्र ! तू ब्रह्मचारी रहकर सावधानी से बारह वर्ष पर्य्यन्त घृतधारा से लगातार अग्नि को तृप्त कर। इसके अनन्तर जिस कामना को तू मांगेगा, मैं वही पूरी कर दूंगा ॥ ४७ ॥

एवमुक्तस्तु रुद्रेण श्वेतकिर्मनुजाधिपः ।
तथा चकार तत्सर्वं यथोक्तं शूलपाणिना ॥ ४८ ॥

भगवान् शङ्कर के इतना कहने पर श्वेतकि नाम राजा, रुद्र के कथनानुसार अग्निको तृप्त करने लगा ॥ ४८ ॥

पूर्णे तु द्वादशे वर्षे पुनरायान्महेश्वरः
दृष्ट्वैव च स राजानं शंकरो लोकभावनः ।
उवाच परमप्रीतः श्वेतकिं नृपसत्तमम् ॥ ५० ॥

जब बारह वर्ष व्यतीत होगए तो शङ्कर फिर आये। लोकों के पूज्य शङ्कर, राजाओं में उत्तम राजा श्वेतकि को देख कर बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे ॥ ५० ॥

तोषितोऽहं नृपश्रेष्ठ ! त्वयेह स्वेन कर्मणा ।
याजनं ब्राह्मणानां तु विधिदृष्टं परंतप ! ॥ ५१ ॥

हे नृपोत्तम ! तू ने अपने उत्तम कर्म से मुझे सन्तुष्ट कर दिया है और यज्ञ कराना शास्त्रों में ब्राह्मण का कर्म लिखा है ॥५१॥

अतोऽहं त्वां स्वयंनाऽद्य याजयामि परंतप।
ममांऽशस्तु क्षितितले महा भागो द्विजोत्तमः॥ ५२॥
दुर्वासा इति विख्यातः स हि त्वां याजयिष्यति ।
मन्नियोगान्महातेजाः संभाराः संभ्रियन्तु ते ॥ ५३॥

हे परन्तप ! इस लिए मैं स्वयं तो तुझे यज्ञ करा नहीं सकता, हां, मेरे अंश से उत्पन्न महाभाग, द्विजश्रेष्ठ, दुर्वासा मुनि पृथिवी पर हैं, वे ही महातेजस्वी मेरी आज्ञा से तुझे यज्ञ करावेंगे। तू सामग्री इकट्ठी कर॥५२—५३॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं रुद्रेण समुदाहृतम् ।
स्वपुरं पुनरागम्य संभारान्पुनरार्जयत् ॥ ५४॥

रुद्र के कहे हुए वचनों को सुनकर राजा श्वेतकि अपने नगर में आया और यज्ञ सामग्री इकट्ठी करने लगा॥ ५४॥

ततः संभृतसंभारो भूयो रुद्रमुपागमत् ।
संभृता मम संभाराः सर्वोपकरणानि च ॥ ५५॥

जब राजा ने सामग्री इकट्ठी करली तो फिर रुद्र के पास पहुंचा। हे भगवन् ! मेरी सामग्री इकट्ठी हो चुकी है, और सारे यज्ञ के उपयोगी उपकरण तय्यार हैं। इसलिये हे महादेव ! आपकी कृपा से अब मेरी यज्ञ दीक्षा का आरम्भ हो जाना चाहिये॥५५॥

त्वत्प्रसादान्महादेव ! श्वो मे दीक्षा भवेदिति ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं तस्य राज्ञो महात्मनः।
दुर्वाससं समाहूय रुद्रो वचनमब्रवीत् ॥ ५६॥

इस महात्मा राजा का यह वचन सुन कर भगवान् शङ्कर ने दुर्वासा को बुलाया और यह वचन कहा ॥ ५६ ॥

एष राजा महाभागः श्वेतकिर्द्विजसत्तम ! ॥ ५७ ॥
एनं याजय विप्रेन्द्र ! मन्नियोगेन भूमिपम् ।
बाढमित्येव वचनं रुद्रं त्वृपि रुवाच ह ॥ ५८ ॥

हे द्विजोत्तम ! यह राजा श्वेतकि बड़ा धर्मात्मा राजा है। आप मेरी आज्ञा से इस राजा को यज्ञ कराइये। दुर्वासा ने रुद्र से कहा—अच्छी बात है ॥ ५७-५८ ॥

ततः सत्रं समभवत्तस्य राज्ञो महात्मनः ।
यथाविधि यथाकालं यथोक्तं बहुदक्षिणम् ॥ ५९ ॥

इसके अनन्तर महात्मा श्वेतकि राजा का विधि पूर्वक, समय के ऊपर शास्त्रानुसार, बहुत दक्षिणा से युक्त यज्ञ पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

तस्मिन्परिसमाप्ते तु राज्ञः सत्रे महात्मनः ।
दुर्वाससाऽभ्यनुज्ञाता विप्रतस्थुः स्म याजकाः ।
ये तत्र दीक्षिताः सर्वे सदस्याश्च महौजसः ॥ ६० ॥

जब महात्मा राजा का यज्ञ समाप्त हो गया तो दुर्वासा से आज्ञा प्राप्त करके यज्ञ की दीक्षा में बैठे हुए याजक और ओजस्वी सदस्य, अपने २ स्थान को चले गये ॥ ६० ॥

सोऽपि राजन्महाभागः स्वपुरं प्राविशत्तदा ॥ ६१ ॥
पूज्यमानो महाभागैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
वन्दिभिस्तूयमानश्च नागरैश्चाभिनन्दितः ॥ ६२ ॥

इसके अनन्तर महाभाग, वेदपाठी, ब्राह्मणों से आशीर्वाद प्राप्त करके और बन्दी जनों से स्तुति करा कर, तथा पुरवासी जनों से प्रशंसा को प्राप्त करके राजा श्वेतकि अपने पुर में प्रविष्ट हुआ ॥ ६१-६२ ॥

एवं वृत्तः स राजर्षिः श्वेतकिर्नृपसत्तमः ।
कालेन महता चाऽपि ययौ स्वर्गमभिष्टुतः ।
ऋत्विग्भिः सहितः सर्वैः सदस्यैश्च समन्वितः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार यज्ञशील, राजाओं में श्रेष्ठ राजा श्वेतकि, जगत् में प्रशंसित होकर बहुत काल के अनन्तर सारे ऋत्विक् और सदस्यों के साथ स्वर्ग में चला गया ॥ ६३ ॥

तस्य सत्रे पपौ वह्निर्हविर्द्वादश वत्सरान् ॥ ६४ ॥
सततं चाऽऽज्यधाराभिरैकात्म्ये तत्र कर्मणि।
हविषा च ततो वह्निः परां तृप्तिमगच्छत ॥ ६५ ॥
न चैच्छत्पुनरादातुं हविरन्यस्य कस्यचित् ।
पाण्डुवर्णो विवर्णश्च न यथावत्प्रकाशते ॥ ६६ ॥

उस यज्ञ में अग्नि ने बारह वर्ष पर्यन्त, लगातार घृत धारा से घृतपान किया । अहर्निश होने वाले उस यज्ञ में घृत की हवि से अग्नि अत्यन्त तृप्त होगया, इसलिये अग्नि ने अन्य मनुष्य के किये हुये यज्ञ की हवि के ग्रहण करने की इच्छा ही नहीं की । यह अग्नि पीला पड़ कर फीका पड़ गया और पूर्व के समान प्रकाश करने से वञ्चित होगया ॥ ६४-६६॥

ततो भगवतो वह्नेर्विकारः समजायत ।
तेजसा विप्रहीणं च ग्लानिश्चैनं समाविशत्॥ ६७ ॥

इस प्रकार भगवान् अग्नि देव के विकार पड़ होगया। यह तेज से हीन होगया और इसको रोग जनित ग्लानि ने आ दबाया ॥६७॥

स लक्षयित्वा चाऽऽत्मानं तेजोहीनं हुताशनः।
जगाम सदनं पुण्यं ब्रह्मणो लोकपूजितम् ॥ ६८ ॥

अग्नि, अपने को तेज हीन देख कर ब्रह्मा जी के लोक पूजित पवित्र स्थान में पहुँचा ॥ ६८ ॥

तत्र ब्रह्माणमासीनमिदं वचनमब्रवीत् ।
भगवन्परमा प्रीतिः कृता मे श्वेतकेतुना ॥ ६९ ॥
अरुचिश्चाऽभवत्तीव्रा तां न शक्नोम्यपोहितम्।
तेजसा विप्रहीणोऽस्मि बलेन च जगत्पते ।
इच्छेयं त्वत्प्रसादेन स्वात्मनः प्रकृतिं स्थिराम् ॥७०॥

वहां पहुंच कर अग्निने बैठे हुये ब्रह्माजी से यह वचन कहा—हे भगवन् राजा श्वेतकि ने मेरी बड़ी तृप्त कर दी है, जिससे मुझे अरुचि हो गई है। जिसको मैं छुपा नहीं सकता हूँ। हे जगपते ! मैं तेज और बल से परिक्षीण हो गया हूँ। अब मैं आप से अपनी पूर्व अवस्था को प्राप्त करना चाहता हूँ ॥ ६९—७० ॥

एतच्छ्रुत्वा हुतवहाद्भगवान्सर्वलोककृत् ॥ ७१ ॥
हव्यवाहमिदं वाक्यमुवाच प्रहसन्निव ।
त्वया द्वादश वर्षाणि वसोर्धारागतं हविः ।
उपयुक्तं महाभाग ! तेन त्वां ग्लानिराविशत्॥ ७२॥

सब लोकों के रचने वाले भगवान् ब्रह्मा ने अग्नि से यह सुन कर हंसते हुये यह वचन कहा—हे महाभाग! तू ने घृत की धारा के साथ हवि का उपभोग किया है, इससे तुम्हें अब अरुचि रोग उत्पन्न होगया है ॥७१-७२॥

तेजसा विप्रहीणस्त्वास्सहसा हव्यवाहन ॥७३ ॥
मा गमस्त्वं व्यथां वह्ने! प्रकृतिस्थो भविष्यसि।
अरुचिं नाशयिष्येऽहं समयं प्रतिपद्य ते ॥ ७४ ॥

हे हव्यवाहन! तेज से अचानक हीन हो जाने से अब तू शोक न कर, तू पूर्ववत् अपने तेज को प्राप्त कर लेगा। मैं समय पाकर तेरी अरुचि का नाश कर दूंगा ॥ ७३-७४ ॥

पुरा देवनियोगेन यत्त्वया भस्मसात्कृतम् ।
आलयं देवशत्रूणां सुघोरं खाण्डवं वनम्॥ ७५ ॥
तत्र सर्वाणि सत्त्वानि निवसन्ति विभावसो ।
तेषां त्वं मेदसा तृप्तः प्रकृतिस्थो भविष्यसि ।
गच्छ शीघ्रं प्रदग्धुं त्वं ततो मोक्ष्यसि किल्बिषात् ॥७६॥

हे अग्ने! पूर्व काल में देवताओं की आज्ञा से तू ने देवताओं शत्रुओं के निवास स्थान घोर खाण्डव वन का दाह किया था, अब फिर उसमें अनेक प्राणी रहने लग गये हैं, उनके मेद के पान से तृप्त हो कर तू अपनी पूर्व अवस्था को प्राप्त कर लेगा। अब उसके जलाने की फिक्र कर और शीघ्र जा। इससे ही तू इस दुःख से छुटकारा पा सकेगा ॥ ७५-७६ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं परमेष्ठिमुखाच्च्युतम्॥ ७७ ॥

उत्तमं जवमास्थाय प्रदुद्राव हुताशनः ।
आगम्य खाण्डवं दावमुत्तमं वीर्यमास्थितः ॥
सहसा प्राज्वलच्चाऽग्निः क्रुद्धो वायुसमीरितः ॥ ७८ ॥

ब्रह्मा जी के मुख से यह वचन सुन कर अग्नि, बड़े वेग के साथ चल पड़ा। बड़े भारी पराक्रम का आश्रय लेकर अग्नि खाण्डव वन में पहुंचा और वायु की सहायता प्राप्त करके क्रोध के साथ प्रज्वलित हो उठा ॥ ७७-७८ ॥

प्रदीप्तं खाण्डवं दृष्ट्वा ये स्युस्तत्रनिवासिनः ।
परमं यत्नमातिष्ठन्पावकस्य प्रशान्तये ॥ ७९ ॥

खाण्डव वन को जलाता देख कर उस में निवास करने वाले प्राणी, अग्नि की प्रशान्ति के लिए बड़ा प्रयत्न करने लगे ॥ ७९ ॥

करैस्तु करिणः शीघ्रं जलमादाय सत्वराः ।
सिषिचुः पावकं क्रुद्धा शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८० ॥

सैकड़ों, हजारों हाथी अपनी सूंड में जल लेकर क्रोध के साथ शीघ्रता से अग्नि को बुझाने लगे ॥ ८० ॥

बहुशीर्षास्ततो नागाः शिरोभिर्जलसंततिम् ।
मुमुचुः पावकाभ्याशे सत्वराः क्रोधमूर्छिताः ॥ ८१ ॥

अनेक शिर वाले नाग, क्रोध से मूर्छित हो कर अग्नि के समीप में अपने शिरों के द्वारा जलधार छोड़ने लगे ॥ ८१ ॥

तथैवाऽन्यानि सत्त्वानि नानाप्रहरणोद्यमैः ।
विलयं पावकं शीघ्रमनयन्भरतर्षभ ! ॥ ८२ ॥

हे भरतर्षभ ! इसी प्रकार अन्य प्राणियों ने भी अपने २ साधन और उद्योग से प्रज्वलित अग्नि को नष्ट कर दिया ॥ ८२ ॥

अनेन तु प्रकारेण भूयोभूयश्च प्रज्वलन् ।
सप्तकृत्वः प्रशमितः खाण्डवे हव्यवाहनः ॥८३॥[८३७८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि
खाण्डवदाहपर्वण्यग्निपराभवे पञ्चविंशत्य-
धिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२५ ॥

इस प्रकार बारबार प्रज्वलित होने की चेष्टा करते हुए अग्नि को खाण्डव वन में उस के निवासी प्राणियों ने सात बार शान्त किया ॥ ८३ ॥

इति श्री महाभारत आदिपर्वान्तर्गत खाण्डवदाह पर्व में अग्निपराभव का दोसौ पचीसवां अध्याय समाप्त हो गया ।



दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

स तु नैराश्यमापन्नः सदा ग्लानिसमन्वितः ।
पितामहमुपागच्छत्संक्रुद्धो हव्यवाहनः ॥ १ ॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे राजन् ! निराशा और उदासी को प्राप्त हुआ अग्निदेव, क्रुद्ध हो कर फिर ब्रह्मा जी के पास पहुंचा । १ ।

तच्च सर्वं यथान्यायं ब्रह्मणे स न्यवेदयत् ।
उवाच चैनं भगवान् मुहूर्तं स विचिन्त्य तु ॥ २ ॥

अग्निदेव ने सारा वृत्तान्त ब्रह्मा जी को सुना दिया, भगवान् ब्रह्मा क्षणमात्र विचार करके उससे कहने लगे ॥ २ ॥

उपायः परिदृष्टो मे यथा त्वं धक्ष्यसेऽनघ !।
कालं च कंचित्त्वमतां ततस्त्वां नन्यतेऽनल ॥ ३ ॥

हे महाभाग ! अग्ने जिस प्रकार तू इस खाण्डव वन को जला सकेगा, मैं ने यह उपाय विचार लिया है, परन्तु तू कुछ काल प्रतीक्षा कर, समय आने पर मैं तुम को कह दूंगा ॥ ३ ॥

भविष्यतः सहायौ ते नरनारायणौ तदा ।
ताभ्यां त्वं सहितो दावं धक्ष्यसे हव्यवाहन ! ॥४ ॥

हे अग्ने ! भविष्य में नर और नारायण के अवतार श्री कृष्ण और अर्जुन तेरी इस वन को जलाने में सहायता करेंगे, उनके साथ तू इस वन के जलाने में समर्थ हो सकेगा ॥ ४ ॥

एवमस्त्विति तं वह्निर्ब्रह्माणं प्रत्यभाषत ।
संभूतौ तौ विदित्वा तु नरनारायणावृषी ॥ ५ ॥
कालस्य महतो राजंस्तस्य वाक्यं स्वयंभुवः ।
अनुस्मृत्य जगामाऽथ पुनरेव पितामहम् ॥ ६ ॥

हे जनमेजय ! अग्नि ने ब्रह्मा जी से कहा—अच्छी बात है। इसके अनन्तर नर और नारायण ऋषि की उत्पत्ति सुन कर और ब्रह्मा के वाक्यों को स्मरण करके बहुत काल के अनन्तर फिर अग्नि देव, पितामह ब्रह्मा के पास गया ॥ ५-६ ॥

अब्रवीच्च तदा ब्रह्मा यथा त्वं धक्ष्यसेऽनल ।
खाण्डवं दावमद्यैव मिषतोऽस्य शचीपतेः ॥ ७ ॥

उस समय ब्रह्मा ने कहा—हे अनल ! अब तुम इन्द्र के देखते २ खाण्डव वन को किस प्रकार जला डालोगे, वह उपाय बताता हूं ॥ ७ ॥

नरनारायणौ यौ तौ पूर्वदेवौ विभावसो ।
संप्राप्तौ मानुषे लोके कार्यार्थं हि दिवौकसाम् ॥ ८ ॥

हे अग्ने ! नर नारायण नामक ऋषि जो पूर्वकाल में हुए हैं वे ही देवों के कर्म करने के लिए मनुष्य लोक में उत्पन्न हुए हैं ।८।

अर्जुनं वासुदेवं च यौ तौ लोकोऽभिमन्यते ।
तावेतौ सहितावेहि खाण्डवस्य समीपतः ॥ ९ ॥

जगत् उनको भगवान वासुदेव और अर्जुन मानता है, वे इस समय खाण्डव वन के समीप में ही स्थित हैं ॥ ९ ॥

तौ त्वं याचस्व साहाय्ये दाहार्थं खाण्डवस्य च ।
ततो धक्ष्यसि तं दावं रक्षितं त्रिदशैरपि ॥ १० ॥

तू खाण्डव वन के जलाने के लिए उनकी सहायता की याचना कर । उनके सहायक हो जाने पर तू देवों से सुरक्षित खाण्डव वनके जलाने में भी समर्थ हो सकेगा ॥ १० ॥

तौ तु सत्त्वानि सर्वाणि यत्नतो वारयिष्यतः ।
देवराजं च सहितौ तत्र मे नास्ति संशयः ॥ ११ ॥

ये दोनों श्रीकृष्ण और अर्जुन सारे वनैले जन्तुओं और देवराज इन्द्र को भी अपने प्रयत्न से रोक देंगे, इस में मुझे सन्देह नहीं है ॥ ११ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं त्वरितो हव्यवाहनः ।
कृष्णपार्थावुपागम्य यमर्थं त्वभ्यभाषत ॥
तं ते कथितवानस्मि पूर्वमेव नृपोत्तम ! ॥ १२ ॥

यह सुन कर अग्निदेव शीघ्र श्रीकृष्ण और अर्जुन के पास पहुंचा और उन से जिस प्रयोजन को कहा ? वह तुम को सुना ही चुका हूं ॥ १२ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं त्वग्नेर्बीभत्सुर्जातवेदसम् ॥ १३ ॥
अब्रवीन्नृपशार्दूल ! तत्कालसदृशं वचः ।
दिधक्षुं खाण्डवं दावमकामस्य शतक्रतोः ॥ १४ ॥

हे नृपोत्तम ! अग्नि के वचन सुन कर अर्जुन उस समय के उचित वचन, इन्द्र की इच्छा के विरुद्ध खाण्डव वन को जलाने की इच्छा वाले अग्नि से कहने लगा ॥ १३-१४ ॥

अर्जुन उवाच—

उत्तमास्त्राणि मे सन्ति दिव्यानि च बहूनि च ।
यैरहं शक्नुयां योद्धुमपि वज्रधरान्बहून् ॥ १५ ॥

हे अग्ने ! मेरे पास अनेक दिव्य उत्तम अस्त्र हैं, जिनसे मैं बहुत से वज्रधारी इन्द्रों से भी युद्ध कर सकता हूं ॥ १५ ॥

धनुर्मे नास्ति भगवन्बाहुवीर्येण संमितम् ।
कुर्वतः समरे यत्नं वेगं यद्विषहेन्मम ॥ १६ ॥

हे भगवन् ! मेरे बाहुबल के अनुसार मेरे पास धनुष नहीं है, जो युद्ध में पराक्रम दिखाने के समय मेरे वेग का सहन करले ॥ १६ ॥

शरैश्च मेऽर्थो बहुभिरक्षयैः क्षिप्रमस्यतः ।
नहि वोढुं रथः शक्तः शरान्मम यथेप्सितान् ॥ १७ ॥

बाणों को शीघ्र २ चलाने के कारण मुझे क्षीण न होने वाले बाणसमूह की आवश्यकता पड़ेगी, उतने बाणों के धारण करने योग्य मेरे पास इस समय कोई रथ भी नहीं है ॥ १७ ॥

अश्वांश्च दिव्यानिच्छेयं पाण्डुरान्वातरंहसः ।
रथं च मेघनिर्घोषं सूर्यप्रतिमतेजसम् ॥ १८ ॥

मैं वायु के तुल्य वेग शील, दिव्य और श्वेत अश्व, तथा मेघ के तुल्य शब्द करने वाला, सूर्य तुल्य तेजस्वी रथ चाहता हूं ॥ १८ ॥

तथा कृष्णस्य वीर्येण नाऽयुधं विद्यते समम् ।
येन नागान्पिशाचांश्च निहन्यान्माधवो रणे ॥ १९ ॥

इसी प्रकार श्रीकृष्णके पराक्रम के अनुसार इनके पास भी शस्त्र नहीं है जिससे रण में ये कृष्ण नाग, और पिशाचों का वधकर सकें ॥१९॥

उपायं कर्मसिद्धौ च भगवन्वक्तुमर्हसि ।
निवारयेयं येनेन्द्रं वर्षमाणं महावने ॥ २० ॥

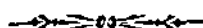
हे भगवन् ! इस कर्म की सिद्धि के लिए कोई उपाय बताओ जिस से मैं इस महा वन में वर्षा करते हुए इन्द्र को रोक सकूं ।२०

पौरुषेण तु यत्कार्यं तत्कर्तारौ स्व पावक ! ।
करणानि समर्थानि भगवन्दातुमर्हसि ॥ २१ ॥ [८३९९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वण्यर्जुनाग्निसंवादे षड्विंशत्यधिक-द्विशततमोऽध्यायः ॥ २२६ ॥

हे अग्ने ! मेरे पुरुषार्थ से जो हो सकता है वह मैं कर दूंगा, परन्तु इसके उपयोगी साधन तो तूही प्रदान कर ॥२१॥

इति श्री महाभारत आदिपर्वान्तर्गत खाण्डव दाह पर्व मे अर्जुन अग्नि के सम्वाद का दो सौ छब्बीसवा अध्याय समाप्त हुआ।



दो सौ सत्ताईसवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तः स भगवान्धूमकेतुर्हुताशनः ।
चिन्तयामास वरुणं लोकपालं दिदृक्षया ॥ १ ॥
आदित्यमुदके देवं निवसन्तं जलेश्वरम् ।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा दर्शयामास पावकम् ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! अर्जुन के इतना कहने पर धूमकेतु अग्नि ने मिलने के लिए अदिति के पुत्र, जल मे रहने वाले देव लोकपाल वरुण को याद किया। उसने भी उसके मिलने की इच्छा को जानकर शीघ्र दर्शन दिया ॥१—२॥

तमब्रवीद्धूमकेतुः प्रतिपूज्य जलेश्वरम् ।
चतुर्थं लोकपालानां देवदेवं सनातनम् ॥ ३ ॥

लोक पालों में चतुर्थ, देवों के देव सनातन वरुण देव से मिलकर अग्नि ने कहा—॥३॥

सोमेन राज्ञा यद्दत्तं धनुश्चैवेषुधी च ते ।
तत्प्रयच्छोभयं शीघ्रं रथं च कपिलक्षणम् ॥ ४ ॥

राजा सोम ने जो धनुष और तूणीर तथा कपि की ध्वजा वाला रथ दिया है, उसे मुझे शीघ्र प्रदान कर ॥ ४ ॥

कार्यं च सुमहत्पार्थो गाण्डीवेन करिष्यति ।
चक्रेण वासुदेवश्च तन्ममाऽद्य प्रदीयताम् ।
ददानीत्येव वरुणः पावकं प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥

इस गाण्डीव धनुष से अर्जुन और चक्र से श्रीकृष्ण बड़ा भारी कार्य करने वाले हैं, इस लिए उस चक्र को भी मुझे प्रदान कर वरुण ने अग्नि को ये सब कुछ देना मान लिया॥५॥

तदद्भुतं महावीर्यं यशः कीर्तिविवर्धनम् ॥ ६ ॥
सर्वशस्त्रैरनाधृष्यं सर्वशस्त्रप्रमाथि च ।
सर्वायुधमहामात्रं परसैन्यप्रधर्षणम् ॥ ७ ॥
एकं शतसहस्रेण संमितं राष्ट्रवर्धनम् ।
चित्रमुच्चावचैर्वर्णैः शोभितं श्लक्ष्णमव्रणम् ॥ ८ ॥
देवदानवगन्धर्वैः पूजितं शाश्वतीः समाः ।
प्रादाच्चैव धनूरत्नमक्षय्यौ च महेषुधी ॥ ९ ॥

वरुण ने अद्भुत, महाशक्तिशाली, यश और कीर्ति को बढ़ाने वाले सब शस्त्रों से निराकरण के अयोग्य, सब शस्त्रों को पराजित

करने वाले सब शस्त्रों से विशाल, शत्रु सेना के विध्वंसक अकेले ही शत और सहस्रों धनुर्षों का मुकाबिला करने वाले, राष्ट्रवर्धक उत्तम २ वर्णों से चित्र विचित्र साधु, सुन्दर, व्रणों से रहित, देव, दानव, और गन्धर्वों से सैकड़ों वर्षों से पूजित गाण्डीव धनुष को प्रदान कर दिया और क्षीण नहीं होने वाले दो तरकस भी दे दिए ॥६—६॥

रथं च दिव्यास्त्रयुजं कपिप्रवरकेतनम् ।
उपेतं राजतैरश्वैर्गान्धर्वैर्हेममालिभिः ॥ १० ॥
पाण्डुराभ्रप्रतीकाशैर्मनोवायुसमैर्जवे ।
सर्वोपकरणैर्युक्तमजय्यं देवदानवैः ॥ ११ ॥
भानुमन्तं महाघोषं सर्वरत्नमनोरमम् ।
ससर्ज यं सुतपसा भौमनो भुवनप्रभुः ॥ १२ ॥
प्रजापतिरनिर्देश्यं यस्य रूपं रवेरिव ।
यं स्म सोमः समारुह्य दानवानजयत्प्रभुः ॥ १३ ॥
नवमेघप्रतीकाशं ज्वलन्तमिव च श्रिया ।
आश्रितो तं रथश्रेष्ठं शक्रायुधसमावुभौ ॥ १४ ॥

वरुण ने दिव्य अस्त्रों से युक्त, कपि की ध्वजावाला, गन्धर्वों के देश में उत्पन्न, सुवर्ण मालाधारी, चांदी के तुल्य उज्ज्वल, श्वेत बादलों के सदृश, तथा मन और वायु तुल्य वेग वाले अश्वों से युक्त, सारे युद्ध के सामानों से समन्वित, देव और दानवों से भी दुर्जेय, चमत्कार, महाघोष करने वाला, रूप रत्नों से मनोहर,

भुवन के प्रभु प्रजापति विश्वकर्मा के द्वारा निर्मित, सूर्य के सदृश आँखों को चुंधिया देने वाला, नवीन मेघ के समान शब्द करने वाला, कान्ति से देदीप्यमान, रथ भी प्रदान कर दिया। इस रथ में बैठ कर ही सोम राजा ने दानवों को जीता था। इस उत्तम रथ में श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों सवार हो गए ॥१०—१४॥

तापनीया सुरुचिरा ध्वजयष्टिरनुत्तमा ।
तस्यां तु वानरोदिव्यः सिंहशार्दूलकेतनः ॥ १५ ॥

शत्रु को ताप करने वाली, बड़ी उत्तम और सुन्दर ध्वजा का दण्ड था। दण्ड में सिंह के तुल्य पराक्रमी दिव्य वानर बैठा था यह वानर शत्रुपुर को जलाता सा प्रतीत होता हुआ रथ के मस्तक पर विराजमान था ॥१५॥

दिधक्षन्निव तत्र स्म संस्थितो मूर्ध्न्यशोभत ।
ध्वजे भूतानि तत्राऽस्मन्विविधानि महान्ति च ॥१६॥

उस ध्वजा में अनेक प्रकार के अन्य प्राणी थे, जिनकी गर्जना से रिपुसेना के होश उड़ जाते थे ॥१६॥

नादेन रिपुसैन्यानां येषां संज्ञा प्रणश्यति ।
स तं नानापताकाभिः शोभितं रथसत्तमम् ॥ १७ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य दैवतेभ्यः प्रणम्य च ।
संनद्धः कवची खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रकः ॥ १८ ॥

रणवेशधारी, कवच पहने हुए, तलवार बांधे हुए, गोधा का अंगुलित्राण पहने हुए, अर्जुन, नाना पताकाओं से सुशोभित, उस

रथ की परिक्रमा करके और देवों को नमस्कार करके उस पर विमान मे पुण्यवान् की भांति चढ़ गया ॥१७—१८॥

आरुरोह तदा पार्थो विमानं सुकृती यथा ।
तच्च दिव्यं धनुः श्रेष्ठं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा ॥ १६ ॥

इस धनुष श्रेष्ठ को पूर्व काल में स्वयं ब्रह्मा ने ही बनाया था। इस गाण्डीव धनुष को लेकर अर्जुन बड़ा प्रसन्न हुआ ॥१६॥

गाण्डीवमुपसंगृह्य बभूव मुदितोऽर्जुनः ।
हुताशनं पुरस्कृत्य ततस्तदपि वीर्यवान् ॥ २० ॥

इसके अनन्तर वीर्यवान अर्जुन ने अग्नि को आगे करके उस धनुष को अपना बल लगाकर उठाया, तथा प्रत्यञ्चा (धनुष की की डोरी) को खैंच कर चलाने के योग्य बना लिया ॥२०॥

जग्राह बलमास्थाय ज्यया च युयुजे धनुः ।
मौर्व्यान्तु योज्यमानायां बलिना पाण्डवेन ह ॥ २१ ॥

महाबली अर्जुन द्वारा, धनुष की डोरी पर चढ़ाने के समय जिन्हों ने उसका शब्द सुना वे प्राणी, बड़े भयभीत हुए, ॥२१॥

येऽशृण्वन्कूजितं तत्र तेषां वै व्यथितं मनः ।
लब्ध्वा रथं धनुश्चैव तथाऽक्षय्ये महेषुधी ॥ २२ ॥

धनुष रथ और अक्षय तरकसों को प्राप्त करके, अर्जुन बड़ा प्रसन्न हुआ और सहायता करने के योग्य होगया ॥२२॥

बभूव कल्पः कौन्तेयः प्रहृष्टः साह्यकर्मणि ।
वज्रतुल्यं ततश्चक्रं ददौ कृष्णाय पावकः ॥ २३ ॥

अग्निने वज्र के तुल्य चक्र और अपना प्रिय, अग्नेयास्त्र भी श्रीकृष्ण के लिए प्रदान कर दिया; जिसको लेकर भगवान् सहायता करने में समर्थ हुए॥२३॥

आग्नेयमस्त्रं दयितं स च कल्पोऽभवत्तदा।
अब्रवीत्पावकश्चैनमेतेन मधुसूदन ! ॥ २४ ॥

अग्नि, श्रीकृष्ण से कहने लगे—हे भगवन् ! आप इस शस्त्र से मनुष्यों से भिन्न देव दानवादि सबों को रण मे जीत सकेंगे इसमे सन्देह नहीं है ॥२४॥

अमानुषानपि रणे जेष्यसि त्वमसंशयम्।
अनेन तु मनुष्याणां देवनामपि चाऽऽहवे ॥ २५ ॥
रक्षःपिशाचदैत्यानां नागानांचाऽधिकस्तथा।
भविष्यसि न संदेहः प्रवरोऽपि निबर्हणे ॥ २६ ॥

हे मधुसूदन इस शस्त्र से मनुष्य, देव, दक्ष, पिशाच, दैत्य, और नागों मे तुम सबसे अधिक रहोगे। इसमे कोई संशय नहीं है और उनके आक्रमण के रोकने मे भी सब प्रकार से समर्थ रह सकोगे॥२५—२६॥

क्षिप्तं क्षिप्तं रणे चैतत्त्वया माधव ! शत्रुषु।
हत्वाऽप्रतिहतं सङ्ख्ये पाणिमेष्यति ते पुनः॥ २७ ॥

हेमाधव ! शत्रुओं के मध्यमे रण के समय बारबार फैंका हुआ भी यह चक्र युद्ध मे तुम्हारे हाथ मे फिर आजावेगा॥२७॥

वरुणश्च ददौ तस्मै गदामशनिनिःस्वनाम्।
दैत्यान्तकरणीं घोरां नाम्ना कौमोदकीं प्रभुः॥ २८ ॥

शक्तिशाली वरुण ने वज्र के तुल्य शब्द करने वाली, दैत्यों के विनाश करने में समर्थ भयङ्कर, कौमोदी की नामकी गदा भी दे दी ॥२८॥

ततः पावकमब्रूतां प्रहृष्टवसुनाच्युतौ ।
कृतास्त्रौ शस्त्रसंपन्नौ रथिनौ ध्वजिनावपि ॥ २९ ॥
कल्पौ स्वो भगवन्योद्धुमपि सर्वैः सुरासुरैः ।
किं पुनर्वज्रिणैकेन पन्नगार्थे युयुत्सुना ॥ ३० ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन प्रसन्नता पूर्वक बोले—हे अग्निदेव! अब हम दोनों अस्त्रविद्या के जानने वाले शस्त्रों से सम्पन्न हो चुके हैं और अपने रथ पर ध्वजा का आरोहण कर चुके। इस समय सारे सुर और असुरों से भी युद्ध करने में समर्थ हैं फिर एक तक्षक की रक्षा के लिए युद्ध करने वाले इन्द्र से युद्ध करना कौन कठिन है ॥२९—३०॥

अर्जुन उवाच—

चक्रपाणिर्हृषीकेशो विचरन्युधि वीर्यवान् ।
त्रिषु लोकेषु तन्नाऽस्ति यन्न कुर्याज्जनार्दनः ॥ ३१ ॥

अर्जुन बोले—भगवन्! आप शक्तिशाली चक्र को हाथ में लेकर जब रण में विचरेंगे उस समय त्रिलोकी में ऐसा कोई दुष्कर कार्य नहीं हो सकता, जिसको आप न कर सकें ॥३१॥

गाण्डीवं धनुरादाय तथाऽक्षय्ये महेषुधी ।
अहमप्युत्सहे लोकान्विजेतुं युधि पावक! ॥ ३२ ॥

हे अग्निदेव! इस गाण्डीवधनुष और क्षीण होने वाले तरकसों को प्राप्त करके मैं भी त्रिलोकी के विजय करने का उत्साह करता हूँ ॥ ३२ ॥

सर्वतः परिवार्यैव दावमेतं महाप्रभो!।
कामं संप्रज्वलाद्यैव कल्पौ स्वः साह्यकर्मणि॥ ३३॥

हे महाप्रभो! इस वन को चारों ओर से घेर कर आज ही तुम इसको अपनी इच्छा के अनुसार जला सकते हो, हम सहायता करने मे सर्वथा सन्नद्ध हैं ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तः स भगवान्दाशार्हेणाऽर्जुनेन च ।
तैजसं रूपमास्थाय दावं दग्धुं प्रचक्रमे ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! श्रीकृष्ण और अर्जुन के इतना कहने पर भगवान् अग्निदेव तेज के रूप को धारण करके वन को जलाने लगे ॥ ३४ ॥

सर्वतः परिवार्याऽथ सप्तार्चिर्ज्वलनस्तथा ।
ददाह खाण्डवं दावं युगान्तमिव दर्शयन् ॥ ३५ ॥

सात प्रकार की ज्वालाओं को धारण करके प्रलय का सादृश्य दिखाता हुआ अग्नि सब ओर से घेर कर खाण्डव वन को जलाने लगा ॥ ३५ ॥

प्रतिगृह्य समाविश्य तद्वनं भरतर्षभ! ।
मेघस्तनितनिर्घोषः सर्वभूतान्यकम्पयत् ॥ ३६ ॥

हे भरतर्षभ ! उस वन का भ्रमण करके तथा उसमें प्रविष्ट हो कर मेघ की गर्जना के तुल्य शब्द करता हुआ, अग्नि, सबप्राणियों को कम्पित करने लगा ॥ ३६ ॥

दह्यतस्तस्य च बभौ रूपं दावस्य भारत ।
मेरोरिव नगेन्द्रस्य कीर्णस्यांशुमतोंऽशुभिः ॥३७॥[८४३६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि खाण्डवदाहे सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२७ ॥

हे भारत ! वनको जलाने के समय सूर्य की किरणोंसे चमकते हुए विशाल मेरुपर्वत के तुल्य अग्नि का रूप प्रतीत होने लगा। ३७

इति श्री महाभारत आदिपर्वा अर्गत खाण्डवदाह पर्व में खाण्डव वन के दाह दो सौ सत्ताइसवां अध्याय समाप्त हुआ।



दो सौ अट्ठाइसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

तौ रथाभ्यां रथिश्रेष्ठौ दावस्योभयतः स्थितौ।
दिक्षु सर्वासु भूतानां चक्राते कदनं महत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे राजन ! ये दोनो महारथी, वन के दोनों ओर खड़े हो गए और चारों ओर भागते हुए भयानक जन्तुओं का विध्वंस करने लगे ॥ १ ॥

यत्र यत्र च दृश्यन्ते प्राणिनः खाण्डवालयाः।
पलायन्तः प्रवीरौ तौ तत्र तत्राऽभ्यधावताम् ॥ २ ॥

जहां २ खाण्डव वन के निवासी भयानक जन्तु भाग कर जा रहे थे, वहां २ ही ये महारथी भाग कर पहुंच जाते थे ॥ २ ॥

छिद्रं न स्म प्रपश्यन्ति रथयोराशुचारिणोः।
आविद्धाविव दृश्येते रथिनौ तौ रथोत्तमौ ॥ ३ ॥

शीघ्रता से चलने वाले रथों के फासले का कुछ ज्ञान नहीं होता था। वे इतनी शीघ्रता से घूम जाते थे कि दोनों रथ और महारथी साथ ही दिखाई देते थे ॥ ३ ॥

खाण्डवे दह्यमाने तु भूतानि शतसङ्घशः।
उत्पेतुर्भैरवान्नादान्विनदन्तः समन्ततः ॥ ४ ॥

खाण्डव वन के दाह के समय सैकड़ों प्राणी भयानक रोते हुए सब ओर भागने लगे ॥ ४ ॥

दग्धैकदेशा बहवो निष्टप्ताश्च तथाऽपरे।
स्फुटिताक्षा विशीर्णाश्च विप्लुताश्च तथा परे ॥ ५ ॥

किन्ही प्राणियों के शरीर का एक भाग जल गया और कोई बिल्कुल जल गए। किसी २ की आंख फूट कर बाहर निकल आई और झुलस गए ॥ ५ ॥

समालिंग्य सुतानन्ये पितॄन्भ्रातॄनथाऽपरे।
त्यक्तुं न शेकुः स्नेहेन तत्रैव निधनं गताः ॥ ६ ॥

कोई अपने पुत्र, पिता और भाइयों के लिपट गए और मोह के मारे छोड़ कर नहीं गए तथा वहीं पर भस्म हो गए ॥ ६ ॥

संदष्टदशनाश्चान्ये समुत्पेतुरनेकशः ।
ततस्तेऽतीव घूर्णन्तः पुनरग्नौ प्रपेदिरे ॥ ७ ॥

कोई २ जन्तु दांत पीसता हुआ, अनेक रीतिसे भागने की चेष्टा करने लगा, परन्तु वे घूम २ कर उसी अग्नि में पड़ने लगे ॥ ७ ॥

दग्धपक्षाक्षिचरणा विचेष्टन्तो महीतले ।
तत्र तत्र स्म दृश्यन्ते विनशन्तः शरीरिणः ॥ ८ ॥

पंख आंख और चरणों के दग्ध होजाने से पृथिवीमें तड़फड़ाते हुए अनेक प्राणी नष्ट होते हुए दिखाई देने लगे ॥ ८ ॥

जलाशयेषु तप्तेषु क्वाथ्यमानेषु वह्निना ।
गतसत्त्वाः स्म दृश्यन्ते कूर्ममत्स्याः समन्ततः ॥ ९ ॥

अग्नि में औटा देने से तप्त हुए जलाशयों में अनेक कूर्म और मत्स्य सब ओर मरे ही दिखाई देने लगे ॥ ९ ॥

शरीरैरपरैर्दीप्तैर्देहवन्त इवाग्नयः ।
अदृश्यन्त वने तत्र प्राणिनः प्राणसंक्षये ॥ १० ॥

उस प्रलयकाल में प्रदीप्त ज्वालाओं से युक्त शरीर वाले प्राणी अन्य देहधारी अग्नि से ही प्रतीत होने लगे ॥ १० ॥

कांश्चिदुत्पततः पार्थः शरैः संछिद्य खण्डशः ।
पातयामास विहगान्प्रदीप्ते कृष्णवर्त्मनि ॥ ११ ॥

उड़ कर जलते हुए कुछ पक्षियों को बाण से खण्ड कर २ के अर्जुन प्रदीप्त अग्नि में डालने लगे ॥ ११ ॥

ते शराश्चितसर्वांगा निनदन्तो महारवान् ।
ऊर्ध्वमुत्पत्य वेगेन निपेतुः खाण्डवे पुनः ॥ १२ ॥

बाण से पूर्णविद्ध हुए वे पक्षी चिल्ला २ कर एक बार तो बड़े वेग से ऊपर को उड़े, परन्तु फिर उसी खाण्डव वन की अग्नि में गिर गए ॥ १२ ॥

शरैरभ्याहतानां च सङ्घशः स्म वनौकसाम् ।
विरावः शुश्रुवे घोरः समुद्रस्येव मथ्यतः ॥ १३ ॥

बाण से विद्ध हुए वनैले जीव-जन्तुओं के समूह का समुद्र मन्थन के तुल्य घोर शब्द सुनाई देने लगा ॥ १३ ॥

वह्नेश्चापि प्रदीप्तस्य खमुत्पेतुर्महार्चिषः ।
जनयामासुरुद्वेगं सुमहान्तं दिवौकसाम् ॥ १४ ॥

प्रदीप्त हुए अग्नि की लम्बी २ लपटें भी आकाश में जा पहुंची जिन्होंने देवताओं के हृदय मे भी महाउद्वेग खड़ा कर दिया। १४।

तेनार्चिषा सुसंतप्ता देवाः सर्षिपुरोगमाः ।
ततो जग्मुर्महात्मानः सर्वे एव दिवौकसः ॥ १५ ॥
शतक्रतुं सहस्राक्षं देवेशमसुरार्दनम् ॥ १६ ॥

उन ज्वालाओं से सन्तप्त हो कर सारे स्वर्ग निवासी देव, ऋषियों को आगे करके असुरनाशक, सहस्राक्ष, देवराज इन्द्र के पास गये ॥ १५-१६ ॥

देवा ऊचुः—

किन्विमे मानवाः सर्वे दह्यन्ते चित्रभानुना।
कच्चिन्न संक्षयः प्राप्तो लोकानाममरेश्वर ! ॥ १७ ॥

देव बोले—हे सुरराज ! क्या यह अग्निदेव सारे ही मनुष्यों को जला डालेगा । हे भगवान् ! क्या इस समय जगत् के प्रलय का ही समय आगया है ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तच्छ्रुत्वा वृत्र हा तेभ्यः स्वयमेवाऽन्ववेक्ष्य च ।
खाण्डवस्य विमोक्षार्थं प्रययौ हरिवाहनः ॥ १८ ॥

वैशम्पायन बोले—वृत्रासुर का घाती इन्द्र उन से इस वृत्तान्त सुन कर और स्वयं भी प्रज्वलित अग्नि को देख कर खाण्डव वन की रक्षा के लिए चल दिया ॥ १८ ॥

महता रथवृन्देन नानारूपेण वासवः ।
आकाशं समवाकीर्य प्रववर्ष सुरेश्वरः ॥ १९ ॥

सुरेश्वर इन्द्र अनेक रूपों को रथ समूह से आकाश को व्याप्त करके बरसने लगा ॥ १९ ॥

ततोऽक्षमात्रा व्यसृजन्धाराः शतसहस्रशः ।
चोदिता देवराजेन जलदाः खाण्डवं प्रति ॥ २० ॥

इन्द्र से प्रेरित हुए मेघ, खाण्डव वन में रथ के धुरे के तुल्य आकार की सहस्रों धाराओं को बरसाने लगे ॥ २० ॥

असंप्राप्तास्तु ता धाराधस्तेजसा जातवेदसः ।
ख एव समशुष्यन्त न काश्चित्पावकं गताः ॥ २१ ॥

अग्नि के तेज से ये धारायें नीचे तक आकर पहुंची ही नहीं, आकाश में ही सूख गईं और कोई भी अग्नि को नहीं बुझा सकी ॥ २१ ॥

ततो नमुचिहा क्रुद्धो भृशमर्चिषमतस्तदा ।
पुनरेव महामेघैरम्भांसि व्यसृजद्बहु ॥ २२ ॥

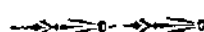
इस पर नमुचिदैत्य का मारनेवाला इन्द्र, अग्नि पर बड़ा कुपित हुआ और बड़े २ मेघों से जल बरसाने लगा ॥ २२ ॥

अर्चिर्धाराभिसंबद्धं धूमविद्युत्समाकुलम् ।
बभूव तद्वनं घोरं स्तनयित्नुसमाकुलम् ॥२३॥[८४५६]

इति श्रीमहाभारते खाण्डवदाहपर्वणीन्द्रक्रोधेऽष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२८ ॥

अग्नि की लपटों, जल की धाराओं, धूप बिजली और मेघों से व्याप्त हुआ खाण्डव वन बड़ा ही भयानक सा प्रतीत होता था। २३

इति श्री महाभारत आदि पर्वान्तर्गत खाण्डवदाह पर्व में इन्द्र क्रोध का दो सौ अट्ठाइसवां अध्याय समाप्त हुआ।



दो सौ उन्तीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

तस्याऽथ वर्षतो वारि पाण्डवः प्रत्यवारयत् ।
शरवर्षेण बीभत्सुरुत्तमास्त्राणि दर्शयन् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! इन्द्र के वर्षा करने पर पाण्डु पुत्र अर्जुन ने उत्तम २ अस्त्रों के प्रयोग दिखा कर बाण वर्षा से जल की वर्षा को रोक दिया ॥ १ ॥

खाण्डवं च वनं सर्वं पाण्डवो बहुभिःशरैः ।
प्रच्छादयदमेयात्मा नीहारेणेव चन्द्रमाः ॥ २ ॥

महात्मा अर्जुन ने अनेक बाणों से खाण्डव वन को इस प्रकार आच्छादित कर दिया, जिस तरह कुहरा चन्द्रमा को ढक लेता है

न चस्म किंचिच्छक्नोति भूतं निश्चरितुं ततः ।
संछाद्यमाने खे बाणैरस्यता सव्यसाचिना ॥ ३ ॥

अर्जुन के बाण फैंकने से आकाश के ढक जाने पर कोई भी प्राणी निकल कर भाग नहीं सका ॥ ३ ॥

तक्षकस्तु न तत्राऽऽसीन्नागराजो महाबलः ।
दह्यमाने वने तस्मिन् कुरुक्षेत्रं गतो हि मः ॥ ४ ॥

उस समय महाबली नागराज तक्षक वहांपर नहीं था। वन के जलने के समय, वह कुरुक्षेत्र चला गया था ॥ ४ ॥

अश्वसेनोऽभवत्तस्य तक्षकस्य सुतो बली ।
स यत्नमकरोत्तीव्रं मोक्षार्थं जातवेदसः ॥ ५ ॥

तक्षक का पुत्र महाबली अश्वसेन उस समय वहां पर था। इसने अग्नि के बुझाने का बड़ा प्रयत्न किया ॥ ५ ॥

न शशाक स निर्गन्तुं निरुद्धोऽर्जुनपत्रिभिः ।
मोचयामास तं माता निगीर्य भुजगात्मजा ॥ ६ ॥

अर्जुन के बाणों से घिरजाने के कारण वह अश्वसेन निकल कर नहीं भाग सका ! सर्प कन्या उसकी माता ने उसको निगल कर जैसे तैसे बचाया ॥ ६ ॥

तस्य पूर्वं शिरो ग्रस्तं पुच्छमस्य निगीर्यते ।
निगीर्यमाणा साऽक्रामत्सुतं नागी मुमुक्षया ॥ ७ ॥

इसने पहले तो इसका शिर निगला फिर वह पूंछ को निगलना ही चाहती थी । अपने पुत्र के छुटकारे का प्रयत्न करती हुई नाग कन्या उसको निगलती २ भाग निकली ॥ ७ ॥

तस्याः शरेण तीक्ष्णेन पृथुधारेण पाण्डवः ।
शिरश्चिच्छेद गच्छन्त्यास्तामपश्यच्छचीपतिः ॥ ८ ॥

अर्जुन ने बड़ी तीक्ष्ण और विशाल धार वाले बाण से भागती हुई नाग कन्या का शिर काट डाला, इसको इन्द्र ने देखा ॥ ८ ॥

तं मुमोचयिषुर्वज्री वातवर्षेण पाण्डवम् ।
मोहयामास तत्कालमश्वसेनस्त्वमुच्यत ॥ ९ ॥

इन्द्र, इसको छुटाना चाहता था, इससे इसने वायु की वर्षा की जिससे अर्जुन मोहित होगया और अश्वसेन भाग निकला ॥९॥

तां च मायां तदा दृष्ट्वा घोरां नागेन वञ्चितः ।
द्विधा त्रिधा च खगतान्प्राणिनः पाण्डवोऽच्छिनत् ॥ १० ॥

अश्वसेन नाग से धोखा खाये हुए अर्जुन ने उस घोर माया को देख कर आकाश मे पहुंचे हुए प्राणियों को दो या तीन खण्डों में काट गिराया ॥ १० ॥

शशाप तं च संक्रुद्धो बीभत्सुर्जिह्मगामिनम् ।
पावको वासुदेवश्चाऽप्यप्रतिष्ठो भविष्यसि ॥ ११ ॥

छुपकर भागजाने वाले अश्वसेन को अर्जुन कृष्ण और अग्नि ने शाप दिया, कि संसार में तेरी प्रतिष्ठा नष्ट हो जावेगी ॥ ११ ॥

ततो जिष्णुः सहस्राक्षं खं वितत्याऽऽशुगैः शरैः ।
योधयामास संक्रुद्धो वञ्चनां तामनुस्मरन् ॥ १२ ॥

इसके अनन्तर उस वञ्चना को याद करके अर्जुन ने शीघ्रगामी शिरों से आकाश को भर कर इन्द्र से लड़ना आरम्भ किया ॥ १२ ॥

देवराजोऽपि तं दृष्ट्वा संरब्धं समरेऽर्जुनम् ।
स्वमस्त्रमसृजत्तीव्रं छादयित्वाऽखिलं नभः ॥ १३ ॥

इन्द्र भी, युद्ध में कुपित हुए अर्जुन को देख कर सारे आकाश को बाणों से व्याप्त करके अपने तीव्र अस्त्र को छोड़ने लगा ॥ १३ ॥

ततो वायुर्महाघोषः क्षोभयन्सर्वसागरान् ।
वियत्स्थो जनयन्मेघाञ्जलधारासमाकुलान् ॥ १४ ॥

अब सारे समुद्रों को क्षुभित करके महाघोष करते हुए आकाश स्थित वायु ने, जलधारा से पूर्ण मेघों को रचा ॥ १४ ॥

ततोऽशनिमुचो घोरांस्तडित्स्तनितनिःस्वनान् ।
तद्विघातार्थमसृजदर्जुनोऽप्यस्त्रमुत्तमम् ॥ १५ ॥

बिजली चमकते हुए, गर्जना करते हुए और वज्र चलाते हुए घोर मेघों को देख कर उनके नष्ट करने के लिए अर्जुन ने भी अपना दिव्य अस्त्र संभाला ॥ १५ ॥

वायव्यमभिमन्त्र्याऽथ प्रतिपत्तिविशारदः ।
तेनेन्द्राशनिमेघानां वीर्यौजस्तद्विनाशितम् ॥ १६ ॥

प्रतीकार की चेष्टा में कुशल अर्जुन ने वायव्य अस्त्र का आह्वान करके उससे वज्र छोड़ने वाले मेघों का बल नष्ट कर दिया ॥ १६ ॥

जलधाराश्च ताः शोषं जग्मुर्नेशुश्च विद्युतः ।
क्षणेन चाऽभवद्व्योम संप्रशान्तरजस्तमः ॥ १७॥

उस अस्त्र से जलधारा सूख गई और विजली नष्ट होगई, तथा क्षणभर में ही रज और अन्धकार से रहित आकाश होगया ॥ १७ ॥

सुखशीतानिलवहं प्रकृतिस्थार्कमण्डलम् ।
निष्प्रतीकारहृष्टश्च हुतभुग्विविधाकृतिः ॥ १८ ॥

सुखकारी शीत वायु चलने लगा और सूर्य मण्डल अपनी प्रकृति को प्राप्त करके धमकने लगा । अब किसी प्रकार के प्रतीकार के नहीं रहने से अग्नि, अनेक तरह से प्रज्वलित हो उठा ॥ १८ ॥

सिच्यमानो वसौघैस्तैः प्राणिनां देहनिःसृतैः ।
प्रजज्वालाऽथ सोर्चिष्मान्स्वनादैः पूरयञ्जगत् ॥ १९ ॥

प्राणियों के देह से निकले हुए चर्बी के समूह से तृप्त हुआ अग्नि, अपने शब्द से जगत को भरता हुआ, जलने लगा ॥ १९ ॥

कृष्णाभ्यां रक्षितं दृष्ट्वा तं च दावमहंकृताः ।
खमुत्पेतुर्महाराज ! सुपर्णाद्याः पतत्रिणः ॥ २० ॥

हे राजन् ! श्री कृष्ण और अर्जुन द्वारा उस खाण्डव वन को सुरक्षित देखकर सुपर्ण आदि पक्षी युद्ध करने के लिए अहङ्कार के साथ आकाश को उड़े ॥ २० ॥

गरुत्मान्वज्रदृग्भिः पक्षतुण्डनखैस्तथा ।
प्रहर्तुकामो न्यपतदाकाशात्कृष्णपाण्डवौ ॥ २१ ॥

गरुड़, अपने वज्र के तुल्य, पङ्ख चोंच और चरणों से कृष्ण और अर्जुन पर चोट करने के लिए आकाश से नीचे उतरे ॥२१॥

तथैवोरगसङ्घाताः पाण्डवस्य समीपतः ।
उत्सृजन्तो विषं घोरं निपेतुर्ज्वलिताननाः ॥ २२ ॥

इसी के साथ नागों के समूह भी अर्जुन के समीप में मुख खोल कर विष उगालते हुए झपटने लगे ॥२२॥

तांश्चकर्त शरैः पार्थः स्वरोषाग्निसमुक्षितैः ।
विविशुश्चापि तं दीप्तं देहभावाय पावकम् ॥ २३ ॥

अर्जुन ने अपने रोष की अग्नि में बुझाये हुए बाणों से उन सर्पों को काट डाला। वे भी देवयोनि प्राप्त करने के लिए जलती हुई आग में जा गिरे ॥ २३ ॥

ततोऽसुराः सगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
उत्पेतुर्नादमतुलमुत्सृजन्तो रणार्थिनः ॥ २४ ॥

इसके अनन्तर असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पन्नग सब युद्धकी इच्छा से गर्जना करते हुए आक्रमण करने लगे ॥ २४ ॥

अयःकणपचक्राश्मभुशुण्ड्युद्यतबाहवः ।
कृष्णपार्थौ जिघांसन्तः क्रोधसंमूर्छितौजसः ॥ २५ ॥

इन्हों ने अयः कणप चक्राश्म भुशुण्डी आदि शस्त्र धारण कर रखे थे। वे क्रोध से भरे हुए अपने ओज का आश्रय लेकर कृष्ण तथा अर्जुन का वध करना चाहते थे ॥ २५ ॥

तेपामतिव्याहरतां शस्त्रवर्षं च मुञ्चताम् ।
प्रममाथोत्तमांगानि बीभत्सुर्निशितैः शरैः ॥ २६ ॥

अत्यन्त प्रहार करने वाले और बाण वर्षा को छोड़ने वाले, उन विरोधियों के शिर अर्जुन ने अपने तीक्ष्ण बाणों से काट गिराये ॥ २६ ॥

कृष्णश्च सुमहातेजाश्चक्रेणारिविनाशनः ।
दैत्यदानवसङ्घानां चकार कदनं महत् ॥ २७ ॥

महा तेजस्वी शत्रु निवासी श्रीकृष्ण ने भी अपने चक्र से दैत्य और दानवों के समूह का नाश कर डाला ॥ २७ ॥

अथाऽपरे शरैर्विद्धाश्चक्रवेगेरितास्तथा ।
वेलामिव समासाद्य व्यतिष्ठन्नमितौजसः ॥ २८ ॥

इनके अतिरिक्त बाण से विद्ध हुए तथा चक्र के वेग से रोके गए अत्यन्त ओजस्वी अन्य शत्रु भी वेला में रुके हुए समुद्र के तुल्य वहीं रुक गए ॥ २८ ॥

ततः शक्रोऽतिसंक्रुद्धस्त्रिदशानां महेश्वरः ।
पाण्डुरं गजमास्थाय तावुभौ समुपाद्रवत् ॥ २९ ॥

इसके अनन्तर देवों का ईश्वर इन्द्र बड़ा क्रुद्ध हुआ और श्वेत गज पर बैठ कर उन दोनों पर आक्रमण करने के लिए झपटा ।२९

वेगेनाऽशनिमादाय वज्रमस्त्रं च सोऽसृजत् ।
हतावेताविति प्राह सुरानसुरसूदनः ॥ ३० ॥

इन्द्र ने बड़े वेग से अपने वज्र को हाथ में लेकर उस वज्र को कृष्ण और अर्जुन पर छोड़ दिया और देवों से कहा—लो इन दोनों को नष्ट ही हुए समझो ॥ ३० ॥

ततः समुद्यतां दृष्ट्वा देवेन्द्रेण महाशनिम् ।
जगृहुः सर्वशस्त्राणि स्वानि स्वानि सुरास्तथा ॥ ३१ ॥

देवराज इन्द्र के वज्रको सम्भाल लेने पर सारे देवों ने अपने अपने शस्त्र उठा लिए ॥३१॥

कालदण्डं यमो राजन्गदां चैव धनेश्वरः ।
पाशांश्च तत्र वरुणो विचित्रं च तथाऽशनिम् ॥ ३२ ॥
स्कन्दः शक्तिं समादाय तस्थौ मेरुरिवाऽचलः ।
ओषधीर्दीप्यमानाश्च जगृहातेऽश्विनावपि ॥ ३३ ॥

हे राजन् ! यमराज कालदण्ड और कुबेर गदा, वरुण पाश, और अद्भुत वज्र, स्कन्द शक्ति को लेकर मेरुपर्वत के तुल्य स्थिर होगया और देदीप्यमान ओषधियों को लेकर अश्विनी कुमार भी तय्यार हुए ॥३२—३३॥

जगृहे च धनुर्धाता मुसलं तु जयस्तथा ।
पर्वतं चाऽपि जग्राह क्रुद्धस्त्वष्टा महाबलः ॥ ३४ ॥

धाता ने धनुष, जय ने मूसल और क्रुद्ध हुए महाबली त्वष्टा ने पर्वत को ग्रहण किया ॥३४॥

अंशस्तु शक्तिं जग्राह मृत्युर्देवःपरश्वधम् ।
प्रगृह्य परिघं घोरं विचचाराऽर्यमा अपि ॥ ३५ ॥

अंशदेव शक्ति मृत्युदेव परशु और अर्यमा भी घोर परिघ को ग्रहण करके उस युद्ध में घूमने लगा ॥ ३५ ॥

मित्रश्च क्षुरपर्यन्तं चक्रमादाय तस्थिवान् ।
पूषा भगश्च संक्रुद्धः सविता च विशांपते !।
आत्तकार्मुकनिस्त्रिंशाः कृष्णपार्थौ प्रदुद्रुवुः ॥ ३६ ॥

मित्र नामक देव ने छुरे के तुल्य, तीक्ष्ण धार का चक्र उठाया। पूषा, भग और सविता क्रुद्ध होकर और धनुष तथा खड्ग ग्रहण करके श्रीकृष्ण और अर्जुन पर टूट पड़े ॥ ३६ ॥

रुद्राश्च वसवश्चैव मरुतश्च महाबलाः ।
विश्वेदेवास्तथा साध्या दीप्यमाना: स्वतेजसा ॥ ३७ ॥
एते चान्ये च बहवो देवास्तौ पुरुषोत्तमौ ।
कृष्णपार्थौ जिघांसन्तः प्रतीयुर्विविधायुधाः ॥ ३८ ॥

रुद्र, वसु, महाबली, मरुत, अपने तेज से दीप्तिमान् विश्वेदेवा और साध्य, आदि अनेक देवता अनेक शस्त्र लेकर पुरुषोत्तम श्री कृष्ण और अर्जुन का बध करने के लिए उन पर झपटे ॥३७-३८

तत्राद्भुतान्यदृश्यन्त निमित्तानि महाहवे ॥ ३९ ॥
युगान्तसमरूपाणि भूतसंमोहनानि च ।

उस महायुद्ध में बड़े २ अद्भुत निमित्त दिखाई देने लगे, जो प्रलय काल के से लक्षण थे। जिनको देखकर प्राणियों को संमोहन हो जाता था ॥३९॥

तथा दृष्ट्वा सुसंरब्धं शक्रं देवैः सहाच्युतौ ॥ ४० ॥
अभीतौ युधि दुर्धर्षौ तस्थतुः सज्यकार्मुकौ ।

देवों के साथ क्रुद्ध हुए इन्द्र को देखकर अपने च्युत लक्ष्य से नहीं होने वाले, युद्ध में दुर्धर्ष, श्रीकृष्ण और अर्जुन धनुष चढ़ाकर निर्भयता से खड़े होगए ॥४०॥

आगच्छतस्ततो देवानुभौ युद्धविशारदौ ॥ ४१ ॥
व्यताडयेतां संक्रुद्धौ शरैर्वज्रोपमैस्तदा ।

ये दोनों युद्ध कुशल कृष्ण और अर्जुन, देवों को अपनी ओर आते हुए देखकर क्रोध के साथ वज्र तुल्य बाणों से प्रहार करने लगे ॥ ४१ ॥

असकृद्भग्नसंकल्पाः सुराश्च बहुशः कृताः ॥ ४२ ॥
भयाद्रणं परित्यज्य शक्रमेवाऽभिशिश्रियुः ।

इन्होंने देवों के मनोरथ बार २ भग्न कर दिए और वे पराजित हुए रण को छोड़कर भय से इन्द्र के पास पहुचे ॥ ४२ ॥

दृष्ट्वा निवारितान्देवान्माधवेनाऽर्जुनेन च ॥ ४३ ॥
आश्चर्यमगमंस्तत्र मुनयो नभसि स्थिताः ।

श्री कृष्ण और अर्जुन द्वारा देवों का पराजय देखकर, आकाश में स्थित मुनिलोग आश्चर्य करने लगे ॥ ४३ ॥

शक्रश्चापि तयोर्वीर्यमुपलभ्याऽसकृद्रणे ॥ ४४ ॥
बभूव परमप्रीतो भूयश्चैतावयोधयत् ।

इन्द्र भी बार बार इन दोनों के पराक्रम को युद्ध में देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और फिर युद्ध करने लगा ॥ ४४ ॥

ततोऽश्मवर्षं सुमहद्व्यसृजत्पाकशासनः ॥ ४५ ॥
भूय एव तदा वीर्यं जिज्ञासुः सव्यसाचिनः ।

इन्द्र फिर अर्जुन के पराक्रम की परीक्षा करने के लिए बड़े २ पत्थरों की वर्षा करने लगा ॥ ४५॥

तच्छरैरर्जुनो वर्षं प्रतिजघ्नेऽत्यमर्षितः ॥ ४६ ॥
विफलं क्रियमाणं तत्समवेक्ष्य शतक्रतुः ।
भूयः संवर्धयामास तद्वर्षं पाकशासनः ॥ ४७ ॥

अत्यन्त कुपित हुए अर्जुन ने बाणों से उस 'अश्मवर्षा' को नष्ट कर दिया। इन्द्र ने अपनी अश्मवर्षा को असफल हुई देख कर फिर जोर से पत्थरों की वर्षा करना आरम्भ किया।४६।४७।

सोऽश्मवर्षं महावेगैरिषुभिः पाकशासनिः ।
विलयं गमयामास हर्षयन्पितरं तथा ॥ ४८ ॥

इन्द्र के पुत्र अर्जुन ने अपने महावेगशील बाणों से उस अश्मवर्षा का निवारण कर दिया। इससे अर्जुन का पिता इन्द्र बड़ा हर्षित हुआ ॥ ४८ ॥

तत उत्पाट्य पाणिभ्यां मन्दराच्छिखरं महत् ।
सद्रुमं व्यसृजच्छक्रो जिघांसुः पाण्डुनन्दनम् ॥ ४९ ॥

अब इन्द्र ने अपने हाथों से मन्दर पर्वत का शिखर उखाड़ कर वृक्षों के सहित अर्जुन के नष्ट करने के लिए उस पर फेंका। ४९।

ततोऽर्जुनो वेगवद्भिर्ज्वलिताग्रैरजिह्मगैः ।
शरैर्विध्वंसयामास गिरेः शृंगं सहस्रधा ॥ ५० ॥

अर्जुन ने भी बड़े वेगशील, जलते हुए पैने बाणों से पर्वत की चोटी को नष्ट भ्रष्ट कर दिया ॥ ५० ॥

गिरेर्विशीर्यमाणस्य तस्य रूपं तदा बभौ ।
सार्कचन्द्रग्रहस्येव नभसः परिशीर्यतः ॥ ५१ ॥

उस समय निखरते हुए पर्वत का रूप, आकाश से गिरते हुए सूर्य और चांद के समान प्रतीत होने लगा ॥ ५१ ॥

तेनाऽभिपतता दावं शैलेन महता भृशम् ।
शृंगेण निहतास्तत्र प्राणिनः खाण्डवालयाः॥५२॥[८५११]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि देवकृष्णार्जुनयुद्ध ऊनत्रिंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२६ ॥

उस बड़े विशाल पर्वत खण्ड के गिरने से खाण्डव वन के रहने वाले अनेक प्राणी उस पर्वत के खण्ड से दब कर मर गए ॥ ५२ ॥

इति श्री महाभारत आदिपर्वान्तर्गत खाण्डवपर्व मे देवता और श्री कृष्ण तथा अर्जुन के युद्ध का दो सौ उनतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ।



दो सौ तीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

तथा शैलनिपातेन भीषिताः खाण्डवालयाः ।
दानवा राक्षसा नागास्तरक्ष्वृक्षवनौकसः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इस पर्वत खण्ड के गिरने से खाण्डव वन के वासी दानव, राक्षस, नाग, भेड़िये, ऋक्ष, वानर आदि प्राणी बड़े भय-भीत हुए ॥ १ ॥

द्विपाः प्रभिन्नाः शार्दूलाः सिंहाः केसरिणस्तथा ।
मृगाः समहिषाश्चैव शरभाः पक्षिणस्तथा ॥
समुद्विग्ना विससृपुस्तथाऽन्या भूतजातयः ॥ २ ॥

हाथी, शार्दूल, सिंह, केशरी आदि अनेक अवान्तर जाति के नख वाले वनैले जन्तु, मृग, भैंसे, शरभ तथा पक्षी सब भाग गए। इनके अतिरिक्त अन्य प्राणियों की जातियां भी घबरा कर भाग निकलीं ॥ २ ॥

तं दावं समुदैक्षन्त कृष्णौ चाभ्युद्यतायुधौ ।
उत्पातनादशब्देन संत्रासितमिव स्थितम् ॥ ३ ॥

शस्त्र धारण किये हुए कृष्ण और अर्जुन ने उत्पात कालीन भयानक शब्द से डरे हुए जगत् के तुल्य उस वन को देखा ।३।

ते वनं प्रसमीक्ष्याऽथ दह्यमानमनेकधा ।
कृष्णमभ्युद्यतास्त्रं च नादं मुमुचुरुल्बणम् ॥ ४ ॥

ये प्राणी अनेक भान्ति से वन को जलाता हुआ तथा श्रीकृष्ण को शस्त्र उठाये देख कर बड़ा उत्कट शब्द करने लगे ॥ ४ ॥

तेन नादेन रौद्रेण नादेन च विभावसोः ।
ररास गगनं कृत्स्नमुत्पातजलदैरिव ॥ ५ ॥

उन प्राणियों के चीत्कार और अग्नि के शब्दों से उत्पात कालीन मेघों की भान्ति आकाश शब्दायमान हो उठा ॥ ५ ॥

ततः कृष्णो महाबाहुः स्वतेजोभास्वरं महत् ।
चक्रं व्यसृजदत्युग्रं तेषां नाशाय केशवः ॥ ६ ॥

महाबाहु कृष्ण ने इस समय उन प्राणियों के नाश के लिए अपने तेज से चमचमाते हुए, अत्यन्त उग्र, महाचक्र को छोड़ा ।६।

तेनाऽऽर्ता जातयः क्षुद्राः सदानवनिशाचराः ।
निकृत्ताः शतशः सर्वा निपेतुरनलं क्षणात् ॥ ७ ॥

उस चक्र से आर्त हुई, दानव और निशाचरों के सहित क्षुद्र प्राणियों की जातियां, सैकड़ों खण्डों में कट गईं और अग्नि में जा गिरीं ॥७॥

तत्राऽदृश्यन्त ते दैत्याः कृष्णचक्रविदारिताः ।
वसारुधिरसंपृक्ताः सन्ध्यायामिव तोयदाः ॥ ८ ॥

कृष्ण के चक्र से कटे हुए, चर्बी और रुधिर से सने हुए दैत्य, सायंकाल के मेघों के तुल्य प्रतीत होने लगे ॥८॥

पिशाचान्पक्षिणो नागान्पशूंश्चैव सहस्रशः ।
निघ्नंश्चरति वार्ष्णेयः कालवत्तत्र भारत ! ॥ ९ ॥

हे भारत ! पिशाच, पक्षी, नाग और सहस्रों पशुओं को मारते हुए श्रीकृष्ण, उस वन में काल के तुल्य घूमने लगे ॥९॥

क्षिप्तं क्षिप्तं पुनश्चक्रं कृष्णस्याऽमित्रघातिनः ।
छित्वाऽनेकानि सत्त्वानि पाणिमेति पुनः पुन ॥ १० ॥

शत्रुघाती कृष्ण का फैंका हुआ चक्र, अनेक प्राणियों को मार कर फिर उनके ही हाथ में आ जाता था ॥१०॥

तथा तु निघ्नतस्तस्य पिशाचोरगराक्षसान् ।
बभूव रूपमत्युग्रं सर्वभूतात्मनस्तदा ॥ ११ ॥

इस प्रकार पिशाच, नाग और राक्षसों को मारते हुए सब भूतों के आत्मा श्रीकृष्ण का रूप बड़ा उग्र प्रतीत होने लगा ॥११॥

समेतानां तु सर्वेषां देवतानां च सर्वशः ।
विजेता नाऽभवत्कश्चित्कृष्णपाण्डवयोर्मृधे ॥ १२ ॥

इस युद्ध में सब ओर देवता खड़े थे, परन्तु उनमें कोई ऐसा समर्थ नहीं हुआ, जो कृष्ण या अर्जुन को जीत सके ॥१२॥

तयोर्बलात्परित्रातुं तं च दावं यदा सुराः ।
नाऽशक्नुवञ्शमयितुं तदाऽभूवन्पराङ्मुखाः ॥ १३ ॥

जब देवता बल से उस वनकी रक्षा नहीं कर सके और अग्नि को नहीं बुझा सके तब मुंह मोड़ कर चल दिए ॥१३॥

शतक्रतुस्तु संप्रेक्ष्य विमुखानमरांस्तथा ।
बभूव मुदितो राजन्प्रशंसन्केशवार्जुनौ ॥ १४ ॥

हे राजन्! जब इन्द्र ने देखा, कि देवता युद्ध से विमुख होगए तो कृष्ण और अर्जुन के पराक्रम को इतना अधिक देख इन्द्र को बड़ा सन्तोष हुआ ॥१४॥

निवृत्तेष्वथ देवेषु वागुवाचाऽशरीरिणी ।
शतक्रतुं समाभाष्य महागम्भीरनिःस्वना ॥ १५ ॥

जब देवता युद्ध से चले गए तो इन्द्र को लक्ष्य करके बड़े गम्भीर स्वर में आकाशवाणी हुई ॥१५॥

न ते सखा संनिहितस्तक्षको भुजगोत्तमः ।
दाहकालेखाण्डवस्य कुरुक्षेत्रं गतो ह्यसौ ॥ १६ ॥
न च शक्यो युधा जेतुं कथंचिदपि वासव ! ।
वासुदेवार्जुनावेतौ निबोध वचनान्मम ॥ १७ ॥
नरनारायणावेतौ पूर्वदेवौ दिविश्रुतौ ।
भवानप्यभिजानाति यद्वीर्यौ यत्पराक्रमौ ॥ १८ ॥

हे इन्द्र! तेरा मित्र नागराज तक्षक खाण्डव वन के दाह के समय यहां नहीं है, वह कुरुक्षेत्र को चलागया है, इससे वह भस्म नहीं हुआ है और युद्ध में तू कृष्ण और अर्जुन को जीत भी नहीं सकता है। ये दोनों नर नारायण नामक ऋषियों के अवतार हैं। आप स्वयं जानते होंगे, कि जो इनका बल और पराक्रम है ॥१६-१८

नैतौ शक्यौ दुराधर्षौ विजेतुमजितौ युधि ।
अपि सर्वेषु लोकेषु पुराणावृषिसत्तमौ ॥ १९ ॥
पूजनीयतमावेतावपि सर्वैः सुरासुरैः ।
यक्षराक्षसगन्धर्वनरकिंनरपन्नगैः ॥ २० ॥

तस्मादितः सुरैः सार्धं गन्तुमर्हसि वासव !।
दिष्टंचाऽप्यनुपश्यैतत्खाण्डवस्य विनाशनम् ॥२१॥

ये बड़े दुराधर्ष हैं, इनको तू युद्ध में जीत नहीं सकता है, क्योंकि ये प्राचीन ऋषि सब लोकों में अजेय हैं। ये सब सुर, असुर यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, पन्नग आदि देव योनियों के पूजनीय हैं। इन्द्र ! इसलिए तूझे देवों के साथ ही लौट जाना चाहिए और इस खाण्डव वन का जलना उत्तम ही हुआ है ॥१६-२१॥

इति वाक्यमुपश्रुत्य तथ्यमित्यमरेश्वरः ।
क्रोधामर्षौ समुत्सृज्य संप्रतस्थे दिवं तदा ॥ २२ ॥

इन्द्र इस वाक्य को सुनकर और सत्य मानकर क्रोध और आवेश को छोड़ कर स्वर्ग की ओर चलागया ॥२२॥

तं प्रस्थितं महात्मानं समवेक्ष्य दिवौकसः।
सहिताः सेनया राजन्ननुजग्मुः पुरंदम् ॥ २३ ॥

हे राजन् ! महात्मा इन्द्र को लौटता हुआ देख कर सारे देवता सेना के साथ इन्द्र के पीछे २ चल पड़े ॥२३॥

देवराजं तदा यान्तं सह देवैरवेक्ष्य तु ।
वासुदेवार्जुनौ वीरौ सिंहनादं विनेदतुः ॥ २४ ॥

देवों के साथ देवराज इन्द्र को लौट कर जाता हुआ देख कर श्री कृष्ण और इन्द्र सिंहनाद करने लगे ॥२४॥

देवराजे गते राजन्प्रहृष्टौ केशवार्जुनौ ।
निर्विशङ्कं वनं वीरौ दाहयामासतुस्तदा ॥ २५ ॥

हे राजन ! देवराज इन्द्र के चले जाने पर कृष्ण और अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए और अब निःशङ्क होकर इन्होंने खाण्डव वन को जला डाला ॥२५॥

स भारत इवाऽभ्राणि नाशयित्वाऽर्जुनः सुरान ।
व्यधमच्छरसङ्घातैर्देहिनः खाण्डवालयान् ॥ २६ ॥

मेघों को वायु के तुल्य देवों को इधर-उधर भगा कर अर्जुन ने सैकड़ों शरों से खाण्डव वन में रहने वाले प्राणियों को नष्ट कर दिया ॥ २६ ॥

न च स्म किंचिच्छक्नोति भूतं निश्चरितुं ततः ।
संछिद्यमानमिषुभिरस्यता सव्यसाचिना ॥ २७॥

बाण फेंकते हुए अर्जुन के बाण से छिदा हुआ कोई भी प्राणी वहां से निकलकर जा नहीं सका ॥२७॥

नाऽशक्नुवंश्च भूतानि महान्त्यपि रणेऽर्जुनम् ।
निरीक्षितुममोघास्त्रं योद्धुं चापि कुतो रणे ॥ २८ ॥

इस युद्ध में बड़े २ विरोधी अमोघ अस्त्र धारी अर्जुन की ओर दृष्टि भी नहीं उठा सके, युद्ध करना तो अन्य बात है ॥२८॥

शतं चैकेन विव्याध शतमेकं पतत्रिणाम् ।
व्यसवस्तेऽपतन्नग्नौ साक्षात्कालहता इव ॥ २९ ॥

अर्जुन पक्षियों के एक सौ को भी एक ही बाण से बेध लेता था। साक्षात् काल से हत हुए के तुल्य वे प्राणी, मर २ कर अग्नि में पड़ने लगे ॥२९॥

न चाऽलभन्त ते शर्म रोधःसु विषमेषु च ।
देवपितृनिवासेषु संतापश्चाऽप्यजायत ॥ ३० ॥

उनको ऊंचे-नीचे, नदियों के तट या गुप्त पितर और देवमंदिर में भी सुख नहीं मिला। उनको मृत्यु के सन्ताप ने वहां भी जा घेरा॥ ३०॥

भूतसंघाश्च बहवो दीनाश्चक्रुर्महास्वनम् ।
रुरुदुर्वारणाश्चैव तथा मृगतरक्षवः ॥ ३१ ॥

अनेक क्षुद्र जन्तु दीन स्वर से चीत्कार करने लगे और हाथी, हिरन, और भेड़िए, भी उच्चस्वर से रोने लगे ॥ ३१ ॥

तेन शब्देन वित्रेसुर्गङ्गोदधिचरा झषाः ।
विद्याधरगणाश्चैव ये च तत्र वनौकसः ॥ ३२ ॥

गङ्गा और समुद्र के रहने वाले जलचर मत्स्य, उस शब्द से बड़े डरे और विद्याधर, तथा अन्य वनवासी भी भयभीत हो गए ॥३२॥

न त्वर्जुनं महाबाहो ! नापि कृष्णं जनार्दनम् ।
निरीक्षितुं वै शक्नोति कश्चिद्योद्धुं कुतः पुनः ॥३३॥

हे महाबाहो ! उस समय जनार्दन श्रीकृष्ण और अर्जुन को कोई देख भी नहीं सकता था, युद्ध करने की तो कथा ही क्या है ॥३३॥

एकायनगता येऽपि निष्पेतुस्तत्र केचन ।
राक्षसा दानवा नागा जघ्ने चक्रेण तान्हरिः ॥३४॥

इकट्ठे होकर भागने की चेष्टा करने वाले अनेक राक्षस, दानव और नाग भी उधर ही आ निकले, उनको अपने चक्र से अर्जुन ने मार गिराया ॥३४॥

ते तु भिन्नशिरोदेहाश्चक्रवेगाद्गतासवः ।
पेतुरन्ये महाकायाः प्रदीप्ते वसुरेतसि ॥ ३५ ॥

चक्र के वेग से शिर और देह से भिन्न २ हुए मृतक विशाल-काय ये राक्षस आदि भी उसी प्रदीप्त अग्नि में गिर गए ॥३५॥

स मांसरुधिरौघैश्च वसाभिश्चापि तर्पितः ।
उपर्याकाशगो भूत्वा विधूमः समपद्यत ॥ ३६ ॥

अग्नि, मांस व रुधिर के समूह और चर्बी से तृप्त होकर आकाश में धूमरहित होकर जलने लगा ॥३६॥

दीप्ताक्षो दीप्तजिह्वश्च संप्रदीप्तमहाननः ।
दीप्तोर्ध्वकेशः पिङ्गाक्षः पिबन्प्राणभृतां वसाः ॥३७॥

तां स कृष्णार्जुनकृतां सुधां प्राप्य हुताशनः
बभूव मुदितस्तृप्तः परां निर्वृतिमागतः ॥ ३८ ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन द्वारा तय्यार की हुई, सुधा तुल्य उन प्राणियों की चर्बी को पीता हुआ दीप्ताक्ष, दीप्त जिह्वावाला, प्रदीप्त मुखवाला,प्रदीप्त और ऊर्ध्व केशोंका धारक,पिङ्ग नेत्रोंवाला,अग्नि बड़ा प्रसन्न और तृप्त हुआ तथा बड़ा सन्तोष प्राप्त करने लगा ॥३७-३८।

तथाऽसुरं मयं नाम तक्षकस्य निवेशनात् ।
विप्रद्रवन्तं सहसा ददर्श मधुसूदनः ॥ ३९ ॥

इस समय तक्षक के महलों से मयदानव असुर को भागकर जाते हुए कृष्ण ने देखा ॥३९॥

तमग्निः प्रार्थयामास दिधक्षुर्वातसारथिः ।
शरीरवाञ्जटी भूत्वा नदन्निव बलाहकः ॥ ४० ॥

वायु को साथ लेकर चलने वाले शरीर और जटाधारी अग्नि ने मेघ के तुल्य गर्जना करके उसको जलाना चाहा ॥४०॥

विज्ञाय दानवेन्द्राणां मयं वै शिल्पिनां वरम् ।
जिघांसुर्वासुदेवस्तं चक्रमुद्यम्य धिष्ठितः ॥ ४१ ॥

श्री कृष्ण ने इसको दानवों का उत्तम शिल्पी मय नामक दैत्य जानकर मारने के लिए चक्र उठाया ॥४१॥

स चक्रमुद्यतं दृष्ट्वा दिधक्षन्तं च पावकम् ।
अभिधावार्जुनेत्येवं मयस्त्राहीति चाब्रवीत् ॥४२॥

श्रीकृष्ण को चक्र उठाते और अग्नि को जलाने को तय्यार देख कर मय दैत्य चिल्लाने लगा—हे अर्जुन ! दौड़ और मेरी रक्षा कर ॥४२॥

तस्य भीतस्वनं श्रुत्वा मा भैरिति धनंजयः ।
प्रत्युवाच मयं पार्थो जीवयन्निव भारत ! ॥ ४३ ॥
तं न भेतव्यमित्याह मयं पार्थो दयापरः ॥ ४४ ॥

हे भारत ! उसके भय-पूर्ण शब्द को सुनकर मय को जीवित सा करता हुआ दयालु अर्जुन बोला ! हे मय ! तू डर नहीं ॥४३-४४॥

तं पार्थेनाऽभये दत्ते नमुचेर्भ्रातरं मयम् ।
न हन्तुमैच्छद्दाशार्हः पावको न ददाह च ॥ ४५ ॥

जब अर्जुन ने नमुचि के भाई मय को अभय दान दे दिया तो अब श्री कृष्ण ने भी उसको नहीं मारा और अग्नि ने भी उसको नहीं जलाया ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

वहनं पावको धीमान्दिनानि दश पञ्च च ।
ददाह कृष्णपार्थाभ्यां रक्षितं पाकशासनात् ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन ! कृष्ण और अर्जुन से सुरक्षित होकर अग्नि पन्द्रह दिन तक इन्द्र से रक्षा करने की चेष्टा करने पर भी उस वन को जलाता रहा ॥ ४६ ॥

तस्मिन्वने दह्यमाने षडग्निर्न ददाह च ।
अश्वसेनं मयं चैव चतुरः शार्ङ्गकांस्तथा ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते० खाण्डवदाहपर्वणि मयदानवत्राणे त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्याय. ॥ २३० ॥

उस वन के जलाने के समय अग्नि, अश्वसेन, मय और चार शार्ङ्गकों को नहीं जला सका था ॥ ४७ ॥

इति श्री महाभारत आदिपर्वान्तर्गत खाण्डवदाहपर्व में मयदानव की रक्षा का दो सौ तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ।

दो सौ इकतीसवां अध्याय

जनमेजय उवाच—

किमर्थं शार्ङ्कानग्निर्न ददाह तथागते ।
तस्मिन्वने दह्यमाने ब्रह्मन्नेतत्प्रचक्ष्व मे ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—हे ब्रह्मन्! इस प्रकार उस सारे वन के जलाने पर भी अग्नि ने शार्ङ्कों को क्यों नहीं भस्म किया, यह आप मुझे बताइये ॥ १ ॥

अदाहे ह्यश्वसेनस्य दानवस्य मयस्य च ।
कारणं कीर्तितं ब्रह्मञ्शार्ङ्काणां न कीर्तितम् ॥ २ ॥

हे ब्रह्मन्! अश्वसेन और मयदानव के नहीं जलाने के कारण तो आपने बता दिये, परन्तु शार्ङ्कों के नहीं जलाने के कारण का कथन नहीं किया ॥ २ ॥

तदेतदद्भुतं ब्रह्मञ्शार्ङ्काणामनामयम् ।
कीर्तयस्वाऽग्निसंमर्दे कथं ते न विनाशिताः ॥ ३ ॥

हे ब्रह्मन्! यह बड़ी अद्भुत बात मालूम होती है कि अग्नि का इतना भीषण रूपधारण कर लेने पर भी शार्ङ्क निरामय ही रहे। अब आप यह कहिये कि वे क्यों नहीं नष्ट हुए ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

यदर्थं शार्ङ्कानग्निर्न ददाह यथागते ।
तत्ते सर्वं प्रवक्ष्यामि तथाभूतमरिंदम! ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! अग्नि ने अपने प्रचण्ड रूप के धारण करने पर भी शार्ङ्गकों को जिस कारण से नहीं जलाया वह मैं तुम से ज्यों का त्यों कहता हूं ॥ ४ ॥

धर्मज्ञानां मुख्यतमस्तपस्वी संशितव्रतः ।
आसीन्महर्षिः श्रुतवान्मन्दपाल इति श्रुतः ॥ ५ ॥

हे अरिमर्दन! धर्मात्माओं में अत्यन्त मुख्य, व्रतशील, वेदपाठी, तपस्वी, मन्दपाल नामक एक ऋषि हुए हैं ॥ ५ ॥

स मार्गमाश्रितो राजन्नृषीणामूर्ध्वरेतसाम् ।
स्वाध्यायवान्धर्मरतस्तपस्वी विजितेन्द्रियः ॥ ६ ॥

हे राजन्! इसने ऊर्ध्व रेता ऋषियों के मार्ग को स्वीकार किया। यह बड़ा स्वाध्यायशील, धर्म में निरत, जितेन्द्रिय, और तपस्वी था।६

स गत्वा तपसः पारं देहमुत्सृज्य भारत!।
जगाम पितृलोकाय न लेभे तत्र तत्फलम् ॥ ७ ॥

हे भारत! इसने अपने तपको सम्पूर्ण करके देह का परित्याग किया। जब यह पितृलोक में पहुंचा तो इसको अपनी तपस्या के अनुरूप फल वहां नहीं मिला ॥ ७ ॥

स लोकानफलान्दृष्ट्वा तपसा निर्जितानपि ।
पप्रच्छ धर्मराजस्य समीपस्थान्दिवौकसः ॥ ८ ॥

इसने जब तप से जीते हुए उत्तम लोकों को भी अपनी तपस्या के फलसे शून्य देखा, तो धर्मराज के समीप रहने वाले देवताओं से पूछा ॥ ८ ॥

मन्दपाल उवाच—

किमर्थमावृता लोका ममैते तपसार्जिताः ।
किं मया न कृतं तत्र यस्यैतत्कर्मणः फलम् ॥ ९ ॥

मन्दपाल बोला—हे देवो ! मेरे तप से उपार्जित किये हुए ये लोक क्यों बन्द हैं ? क्या, मैंने मृत्युलोक में ऐसा कर्म नहीं किया जिससे इन लोकों मे प्रविष्ट हो कर अपने तप का फल प्राप्त कर सकूं ॥ ९ ॥

तत्राऽहं तत्करिष्यामि यदर्थमिदमावृतम् ।
फलमेतस्य तपसः कथयध्वं दिवौकसः ॥ १० ॥

अब मैं फिर मृत्युलोक में जा कर उसी कर्म को करना चाहता हूं, जिसके नहीं करने से ये बन्द हो रहे है। हे देवगण ! आप उस तप को फल के सहित बताइये ॥ १० ॥

देव उवाच:—

ऋणिनो मानवा ब्रह्मञ्जायन्ते येन तच्छृणु ।
क्रियाभिर्ब्रह्मचर्येण प्रजया च न संशयः ॥ ११ ॥

देवता बोले—हे ब्रह्मन् ! मनुष्य जिस प्रकार ऋणी होकर जन्म लेते हैं, वह कहता हूं तू सुन। एक तो देवऋण या क्रियाऋण, दूसरा ब्रह्मचर्यऋण या ऋषिऋण और तीसरा प्रजाऋण या पितृऋण होते हैं॥ ११ ॥

तदपाक्रियते सर्वं यज्ञेन तपसा सुतैः ।
तपस्वी यज्ञकृच्चापि न च ते विद्यते प्रजा ॥ १२ ॥

ये तीनों, यज्ञ, वेदाध्ययन रूप तप और सन्तानोत्पत्ति से निवृत्त होते हैं। तू तपस्वी और यज्ञशील तो है, परन्तु तेरे सन्तान नहीं है ॥ १२ ॥

त इमे प्रसवस्यार्थे तव लोकाः समावृताः ।
प्रजायस्व ततो लोकानुपभोक्ष्यसि पुष्कलान् ॥ १३ ॥

ये लोक सन्तान उत्पत्ति नहीं करने के कारण ही बन्द हैं। अब तू सन्तान उत्पन्न कर, फिर तू इन सर्वैश्वर्य-सम्पन्न लोकों को भोगेगा ॥ १३ ॥

पुंनाम्नो नरकात्पुत्रस्त्रायते पितरं श्रुतिः ।
तस्मादपत्यसंताने यतस्व ब्रह्मसत्तम ! ॥ १४ ॥

हे ब्रह्मसत्तम ! वेद में लिखा है कि पुनाम नरक से त्राण करने के कारण ही पुत्र, पुत्र कहाता है, इसलिए तू पुत्र उत्पादन करने में प्रयत्न कर ॥ १४ ॥

तच्छ्रुत्वा मन्दपालस्तु वचस्तेषां दिवौकसाम् ।
क नु शीघ्रमपत्यं स्याद्बहुलं चेत्यचिन्तयत् ॥ १५ ॥

वैशम्पायन बोले —मन्दपालऋषि देवताओं के ये वचन सुन कर विचारने लगा कि अब किस प्रकार शीघ्र पुत्र उत्पन्न हो सकता है ॥ १५ ॥

स चिन्तयन्नभ्यगच्छत्सुबहुप्रसवान्खगान् ।
शार्ङ्गिकां शार्ङ्गको भूत्वा जरितां समुपेयिवान् ।
तस्यां पुत्रानजनयच्चतुरो ब्रह्मवादिनः ॥ १६ ॥

मन्दपाल सोच विचार कर शीघ्र बहुत सन्तान उत्पन्न करने वाले पक्षियों के पास पहुंचा और वहां शार्ङ्गक पक्षी बनकर जरिता नाम शार्ङ्गिका पक्षिणी से मिल गया और उस पक्षिणी में उसने चार ब्रह्मवादी पुत्र उत्पन्न किये ॥ १६ ॥

तानपास्य स तत्रैव जगाम लपितां प्रति ।
बालान्सुतानण्डगतान्सह मात्रा मुनिर्वने ॥ १७ ॥

मन्दपालऋषि उस वन में अपनी माताओं के साथ अण्डों में स्थित, बच्चों को छोड़ कर लपिता के साथ चले गये ॥ १७ ॥

तस्मिन्गते महाभागे लपितां प्रति भारत! ।
अपत्यस्नेहसंयुक्ता जरिता बह्वचिन्तयत् ॥ १८ ॥

हे भारत ! लपिता के साथ उन महाभागऋषि के चले जाने पर पुत्र के स्नेह से कातर हुई, जरिता विचार करने लगी ॥ १८ ॥

तेन त्यक्तानसंत्याज्यानृषीनण्डगतान्वने ।
न जहौ पुत्रशोकार्त्ता जरिता खाण्डवे सुतान् ॥ १९ ॥

उस खाण्डव वन में मन्दपाल ऋषि से परित्याग किये हुए, परित्याग के अयोग्य, अण्डों में स्थित उन पुत्र ऋषियों को पुत्र शोक से कातर जरिता ने परित्याग नहीं किया ॥ १९ ॥

बभार चैतान्संजातान्स्ववृत्त्या स्नेहविक्लवा ।
ततोऽग्निं खाण्डवं दग्धुमायान्तं दृष्टवानृषिः ॥ २० ॥

यह माता स्नेह से कातर हुई अपनी वृत्ति से उन उत्पन्न हुए बच्चों का भरण-पोषण करने लगी । इसी समय में मन्दपाल ऋषि ने खाण्डव वन को जलाने के लिए प्रज्वलित हुए अग्नि को देखा ।२०

मन्दपालश्चरंस्तस्मिन्वने लपितया सह ।
तं संकल्पं विदित्वाऽग्नेर्ज्ञात्वा पुत्रांश्च बालकान् २१ ॥
सोऽभितुष्टाव विप्रर्षिर्ब्राह्मणो जातवेदसम् ।
पुत्रान्प्रति वदन्भीतो लोकपालं महौजसम् ॥ २२ ॥

मन्दपाल उस वन में अपनी द्वितीय भार्या लपिता के साथ घूम रहा था कि उसको अग्निदेव के इस संकल्प का ज्ञान हुआ। इस महर्षि ने अपने पुत्रों को बालक देखकर अग्नि की स्तुति करनी प्रारम्भ की। यह महा ओजस्वी लोकपाल अग्नि से पुत्रों के निमित्त प्रार्थना करता हुआ वड़ा भयभीत हो रहा था ॥ २१-२२ ॥

त्वमग्ने सर्वलोकानां मुखं त्वमसि हव्यवाट् ।
त्वमन्तः सर्वभूतानां गूढश्चरसि पावक ! ॥ २३ ॥

मन्दपाल बोला—हे अग्ने ! तू सब लोकों का मुख और हव्य का वहन करने वाला है। हे पावक ! तू सब प्राणियों के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो रहा है ॥ २३ ॥

त्वामेकमाहुः कवयस्त्वामाहुस्त्रिविधं पुनः ।
त्वामष्टधा कल्पयित्वा यज्ञवाहमकल्पयन् ॥ २४ ॥

विद्वान तुम्हें ही एक रूप, तीन रूप और आठ रूपमें कल्पित करते हैं। तू यज्ञ में प्रदान की हुई हवि को देवों के समीप ले जाने वाला है ॥ २४ ॥

त्वया विश्वमिदं सृष्टं वदन्ति परमर्षयः ।
त्वदृते हि जगत्कृत्स्नं सद्यो नश्येद्धुताशन ! ॥ २५ ॥

महर्षिगण कहते हैं कि तू ने इस सारे विश्व को रचा है। हे हुताशन! यदि तू नहीं हो तो यह सारा जगत् क्षण भर में नष्ट हो जावे ॥ २५ ॥

तुभ्य कृत्वा नमो विप्राः स्वकर्मविजितां गतिम्।
गच्छन्ति सह पत्नीभिः सुतैरपि च शाश्वतीम् ॥ २६ ॥

हे अग्ने! तुम्हें ही नमस्कार करके विद्वान् लोग, अपने कर्मों से प्राप्त की हुई गति को अपने पुत्र और स्त्रियों के साथ प्राप्त करते हैं ॥ २६ ॥

त्वामग्ने जलदानाहुः खे विषक्तान्सविद्युतः ।
दहन्ति सर्वभूतानि त्वत्तो निष्क्रम्य हेतयः ॥ २७ ॥

हे अग्ने! बिजली के सहित मेघ भी तुम्हें ही बताते हैं। तेरी ही ज्वालाएं निकल कर सारे प्राणियों को भस्म कर देती हैं ॥२७॥

जातवेदस्त्वयैवेद विश्वं सृष्टं महाद्युते ! ।
तवैव कर्म विहितं भूतं सर्वं चराचरम् ॥ २८ ॥

हे महाद्युते! जातवेद! तू ने इस जगत् को रचा है। यह सारा चर और अचर प्राणी समूह तेरे ही कर्म का फल है ॥२८॥

त्वयाऽऽपो विहिताः पूर्वं त्वयि सर्वमिदं जगत्।
त्वयि हव्यं च कव्यं च यथावत्सप्रतिष्ठितम् ॥ २९ ॥

तू ने प्रथम जल को उत्पन्न किया और तुम में ही सारा जगत् व्याप्त है। तुम में ही हव्य और कव्य का उचित प्रकार से स्थिति है ॥ २९ ॥

त्वमेव दहनो देव! त्वं धाता त्वं बृहस्पतिः।
त्वमश्विनो यमो मित्रः सोमस्त्वमसि चाऽनिलः ३०॥

हे अग्ने तू ही दहन, धाता और बृहस्पति है। तू ही अश्विनीकुमार, यम, मित्र, सोम और वायु है ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवं स्तुतस्तदा तेन मन्दपालेन पावकः ।
तुतोष तस्य नृपते ! मुनेरमिततेजसः ॥ ३१ ॥
उवाच चैनं प्रीतात्मा किमिष्टं करवाणि ते ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन बोले—हे नृपते ! मन्दपाल के इस प्रकार स्तुति करने पर उस अत्यन्त तेजस्वी मुनि पर अग्नि प्रसन्न हो गया और प्रसन्न होकर बोला—हे मन्दपाल ! तू क्या चाहता है ? मैं तेरा क्या उपकार करूं ॥ ३१-३२ ॥

तमब्रवीन्मन्दपालः प्राञ्जलिर्हव्यवाहनम् ।
प्रदहन्खाण्डवं दावं मम पुत्रान्विसर्जय ॥ ३३ ॥

मन्दपाल अग्नि से हाथ जोड़ कर कहने लगा, हे अग्ने ! जब तू खाण्डव वन को जलाने लगे, उस समय मेरे पुत्रों को नहीं जलाना ॥ ३३ ॥

तथेति तत्प्रतिश्रुत्य भगवान्हव्यवाहनः ।
खाण्डवे तेन कालेन प्रजज्वाल दिधक्षया ॥३४॥ [८५६२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि
खाण्डवदाहपर्वणि शार्ङ्गकोपाख्याने
एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३१ ॥

भगवान् अग्नि ने उससे उनके नहीं जलाने की प्रतिज्ञा करली और फिर खाण्डव वन जलाने की इच्छा से प्रज्वलित हो उठा ॥३४

इति श्री महाभारत आदिपर्वान्तर्गत खाण्डवदाह के पर्व में शार्ङ्गकों के अध्याय का दो सौ इक्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ।

दो सौ बत्तीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततः प्रज्वलिते वह्नौ शार्ङ्गकास्ते सुदुःखिताः ।
व्यथिताःपरमोद्विग्ना नाऽधिजग्मुः परायणम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर वे शार्ङ्ग के बच्चे बड़े दुःखी व्याकुल और उद्विग्न हो गये। उनको कोई उस समय रक्षक दिखलाई नहीं दिया ॥ १ ॥

निशम्य पुत्रकान्बालान्माता तेषां तपस्विनी ।
जरिता दुखःशोकार्ता विललाप सुदुःखिता ॥ २ ॥

उन बच्चों की बेचारी माता जरिता, यह देख कर बड़े दुःख और शोक से कातर हो,उठी और विलाप करने लगी ॥ २ ॥

अयमग्निर्दहन्कक्षमित आयाति भीषणः ।
जगत्सन्दीपयन्भीमो मम दुःखविवर्धनः ॥ ३ ॥

जरिता बोली—हाय ! यह भीषण अग्नि इस वन को जलाता हुआ, मेरी ही ओर आ रहा है। इस भयङ्कर अग्नि ने अपनी ज्वालाओं से सारे जगत् को प्रदीप्त कर दिया है। जिससे मेरा शोक बढ़ा जा रहा है ॥ ३ ॥

इमे च मां कर्षयन्ति शिशवो मन्दचेतसः ।
अबर्हाश्चरणैर्हीनाः पूर्वेषां नः परायणाः ॥ ४ ॥

पक्षों से रहित, चरणों से भोगने में असमर्थ, ज्ञान रहित, ये बच्चे मेरे चित्त को बड़ा आलोडित कर रहे हैं। हमारे पूर्वजों के तो ये ही आधार हैं ॥ ४ ॥

त्रासयंश्चाऽयमायाति लेलिहानो महीरुहान् ।
अजातपक्षाश्च सुता न शक्ताः सरणे मम ॥ ५ ॥

यह अग्नि वृक्षों को भस्म करता हुआ इधर ही आ रहा है और ये मेरे बच्चे पंखों से रहित होने के कारण भागने में समर्थ नहीं हैं ॥ ५ ॥

आदाय च न शक्नोमि पुत्रांस्तरितुमात्मना ।
न च त्यक्तुमहं शक्ता हृदयं दूयतीव मे ॥ ६ ॥

मैं इन को उठाकर भाग जाऊँ, यह भी ठीक नहीं हो सकता और मैं ही इनको छोड़ कर भाग जाऊ, यह भी अशक्य है। इससे मेरा हृदय बड़ा व्याकुल है ॥ ६ ॥

कं तु जह्यामहं पुत्रं कमादाय व्रजाम्यहम् ।
किं नु मे स्यात्कृतं कृत्यं किं वामन्यत पुत्रकाः ! ॥७॥

किस पुत्र को लेकर उड़ जाऊँ और किस को छोड़ जाऊँ। यह समझ में नहीं आता है। अब मैं इस समय क्या क्या करूं ? हे पुत्रो ! तुम इस समय क्या उचित समझ रहे हो ॥ ७ ॥

चिन्तयाना विमोक्षं वो नाधिगच्छामि किंचन ।
छादयिष्यामि वो गात्रैः करिष्ये मरणं सह ॥ ८ ॥

तुम्हारे छुटकारे का उपाय सोचती हुई भी मैं किसी उपाय को नहीं कर सकती हूँ। अब तो केवल अपने पंखों से तुम को ढक कर तुम्हारे साथ ही मैं भी प्राण त्याग करूँगी ॥ ८ ॥

जरितारौ कुलं ह्येतज्ज्येष्ठत्वेन प्रतिष्ठितम् ।
सारिसृक्वः प्रजायेत पितॄणां कुलवर्धनः ॥ ९ ॥

स्तम्बमित्रस्तपः कुर्याद् द्रोणो ब्रह्मविदां वरः ।
इत्येवमुक्त्वा प्रययौ पिता वो निर्घृणः पुरा ॥ १० ॥

हे प्रभो ! तुम्हारे पिता ने मुझसे कहा था, कि जरितारि मेरा जेष्ठ पुत्र है, इससे यह कुलका आधार हो गया और पितरों का आनन्द बढ़ाने वाला सारिसृक्क भी अनेक सन्तान उत्पन्न करेगा। स्तम्बमित्र तप करेगा और द्रोण ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ होगा। यह कह कर वह निर्दयी तो चला गया ॥ ९-१० ॥

कमुपादाय शक्येयं गन्तुं कष्टाऽऽपदुत्तमा ।
किं नु कृत्वा कृतं कार्यं भवेदिति च विह्वला ।
नाऽपश्यत्स्वधिया मोक्षं स्वसुतानां तदाऽनलात् ॥११॥

अब मैं कौन से पुत्र को लेकर जा सकती हूं, बड़ी कष्ट युक्त आपत्ति आई। किस उपाय के अवलम्बन से मेरा यह कार्य बन सकेगा। इससे मैं बड़ी विह्वल हो रही हूं। इस समय मैं तो अपने पुत्रों का मोक्ष इस अग्नि से देखती नहीं हूं ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवं ब्रुवाणां शार्ङ्गास्ते प्रत्यूचुरथ मातरम् ।
स्नेहमुत्सृज्य मातस्त्वं पत यत्र न हव्यवाट् ॥ १२ ॥

वैशम्पायन बोले—इस प्रकार कहती हुई माता से वे शार्ङ्गक बच्चे कहने लगे—हे माता ! तू स्नेह को छोड़कर वहां उड़जा, जहां अग्नि नहीं जल रहा हो ॥ १२ ॥

अस्मास्विह विनष्टेषु भवितारः सुतास्तव ।
त्वयि मातर्विनष्टायां न नः स्यात्कुलसन्ततिः ॥ १३ ॥

हे माता! हमारे नष्ट हो जाने पर भी तेरे अन्य पुत्र उत्पन्न हो जावेंगे और तेरे नष्ट हो जाने पर तो हमारा कुल ही नष्ट हो जावेगा॥ १३॥

अन्ववेक्ष्यैतदुभयं क्षेमं स्याद्यत्कुलस्य नः।
तद्वै कर्तुं परः कालो मातरेष भवेत्तव॥ १४॥

हे माता! इस समय तू दोनों बातों पर विचार करले। हमारी सम्मति में तो जिससे हमारे कुल का कल्याण हो, तुम्हें वही करना उचित है॥ १४॥

मा त्वं सर्वविनाशाय स्नेहं कार्षीः सुतेषु नः।
न हीदं कर्म मोघं स्याल्लोककामस्य नः पितुः॥ १५॥

तू स्नेह से यह भी न सोच, कि हम सब ही जल जावेंगे, क्योंकि सन्तान द्वारा परलोक प्राप्त करने की चेष्टा वाले हमारे पिता का यह कर्म नष्ट कभी नहीं हो सकता है अर्थात् हम सब जल भी नहीं सकेंगे॥ १५॥

जरितोवाच—

इदमाखोर्बिलं भूमौ वृक्षस्यास्य समीपतः।
तदा विशध्वं त्वरिता वह्नेरत्र न वो भयम्॥ १६॥

जरिता बोली—हे पुत्रो! इस वृक्ष के समीप की भूमि में चूहे का बिल है, इस में तुम निःशङ्क हो कर घुस जाओ। यहां तुम को कोई भय नहीं रहेगा॥ १६॥

ततोऽहं पांशुना छिद्रमपिधास्यामि पुत्रकाः!।
एवं प्रतिकृतं मन्ये ज्वलतः कृष्णवर्त्मनः॥ १७॥

मैं इस बिल को मिट्टी से ढक दूंगी, मैं तो इस जलती हुई आग से बचने का यही उपाय सोचती हू ॥ १७ ॥

तत एष्याम्यतीतेऽग्नौ विहन्तुं पांसुसंचयम् ।
रोचतामेष वो वादो मोक्षार्थं च हुताशनात् ॥ १८ ॥

अग्नि के बुझ जाने पर मैं इस मिट्टी की ढेरी को हटाने के लिए आजाऊगी। यदि इस अग्नि से छुटकारे का यह उपाय तुम्हें उचित प्रतीत हो तो इसका अनुष्ठान करू ॥ १८ ॥

शार्ङ्गा ऊचु —

अबर्हान्मासभूतान्नः क्रव्यादाखुर्विनाशयेत्।
पश्यमाना भयमिदं प्रवेष्टुं नाऽत्र शक्नुमः ॥ १९ ॥

शार्ङ्क बोले ! हे माता हमारे पक्ष भी नहीं जमे हैं, और हम तो केवल मास के पिण्ड हैं। मास भोजी चूहे हमें मार डालेंगे। इससे इस भय को विचार कर हम वहा घुसना नहीं चाहते हैं ॥ १९ ॥

कथमग्निर्न नो धक्ष्येत्कथमाखुर्न नाशयेत् ।
कथं न स्यात्पिता मोघः कथं माता ध्रियेच नः ॥ २० ॥

अग्नि, हमारा दाह न करे या चूहे हमे न खासकें, हमारे पिता का प्रयत्न असफल न हो, माता भी जीवित रह सके, इन सब बातों का कोई उपाय नहीं देखते हैं ॥ २० ॥

बिल आखोर्विनाशः स्यादग्नेराकाशचारिणाम् ।
अन्ववेक्ष्यैतदुभयं श्रेयान्दाहो न भक्षणम् ॥ २१ ॥

हम पक्षियों का बिल मे तो मूषकों से नाश होगा और आकाश मे अग्नि से दाह हो जायेगा। इन दोनों को देख कर अग्नि से जलना अच्छा है मूषकों से मरना अच्छा नहीं ॥ २१ ॥

गर्हितं मरणं नः स्यादाखुना भक्षिते बिले ।

शिष्टादिष्टः परित्यागः शरीरस्य हुताशनात् ॥२२॥ [८६१४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि जरिताविलापे द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

बिल मे चूहों से भक्षण करने पर मरना निन्दित है, इससे तो अग्नि मे शरीर परित्याग करना ही उत्तम है ॥ २२ ॥

इति श्री महाभारत आदिपर्वान्तर्गत खाण्डवदाह पर्व मे जरिता विलाप का दो सौ बत्तीसवा अध्याय समाप्त हुआ।



दो सौ तैंतीसवा अध्याय

जरितोवाच—

अस्माद्बिलान्निष्पतितमाखुं श्येनो जहार तम्।
क्षुद्रं पद्भ्यां गृहीत्वा च यातो नाऽभयं हि वः ॥ १ ॥

जरिता बोली—हे पुत्रों ! इस बिल से निकले हुये छोटे से मूषक को झपट कर अपने पैरों से श्येन (बाज) पक्षी ले कर उड़ गया, इससे तुमको इस बिल मे भय नहीं करना चाहिये॥ १॥

शार्ङ्गा ऊचु —

न हृतं तं वयं विद्मः श्येनेनाऽऽखुं कथंचन ।
अन्येऽपि भवितारोऽत्र तेभ्योऽपि भयमेव नः॥ २ ॥

शार्ङ्गक बोले—हे माता ! हमने तो चूहे को श्येन द्वारा ले जाते हुये नहीं देखा है, इसके अतिरिक्त इस बिल में अन्य भी चूहे हो सकते हैं, उनसे तो हमें भय ज्यों का त्यों बना है ॥ २ ॥

संशयो वह्निरागच्छेद् दृष्टं वायोर्निवर्तनम् ।
मृत्युर्नो बिलवासिभ्यो बिले स्यान्नाऽत्र संशयः ॥ ३ ॥

अग्नि इधर आवे इसमें तो सन्देह है, क्यों कि वायु के झोंकों से उसका अन्य ओर जाना देखा गया है, परन्तु बिलवासी जन्तुओं से हमारी मृत्यु अवश्य हो जावेगी, इसमें संदेह नहीं है ॥ ३ ॥

निःसंशयात्संशयितो मृत्युर्मातर्विशिष्यते ।
चर खे त्वं यथान्यायं पुत्रानाप्स्यसि शोभनान् ॥ ४ ॥

हे माता ! निःसंशय मृत्यु से संशय युक्त मृत्यु के स्थान में ही रहना चाहिये, अब तू शीघ्र आकाश को उड़ जा, लौट कर प्यारे पुत्रों को यहीं देखेगी ॥ ४ ॥

जरितोवाच—

अहं वेगेन तं यान्तमद्राक्षं पततांवरम् ।
बिलादाखुसमादाय श्येनं पुत्रा ! महाबलम् ॥ ५ ॥

जरिता बोली—हे पुत्रों ! मैंने वेग से झपट कर और चूहे को बिल से पकड़ कर ले जाते हुये महाबली पक्षी श्येन को स्वयं देखा है ॥ ५ ॥

तं पतन्तं महावेगा चारिता पृष्ठतोऽन्वगाम् ।
आशिषोऽस्य प्रयुञ्जाना हरतो मूषिकं बिलात् ॥ ६ ॥

यो नो द्वारमादाय श्येनराज ! प्रधावसि ।
भव त्वं दिवमास्थाय निरमित्रो हिरण्मयः ॥ ७ ॥

उस श्येन पक्षी के रोकने पर भी मैंने महावेग से चूहे को ले जाने वाले पक्षी को आशीस दी थी, कि तू ने हमारे शत्रु को बिल से अपहरण करके नाश किया है, हे श्येनराज ! इससे तू शत्रु रहित हो कर और सुनहरी देह प्राप्त करके स्वर्ग को प्राप्त कर ॥ ६-७ ॥

स यदा भक्षितस्तेन श्येनेनाऽऽखुः पतत्रिणा ।
तदाऽहं तमनुज्ञाप्य प्रत्युपायां पुनर्गृहम् ॥ ८ ॥

उस श्येन पक्षी ने जब उस चूहे को खा लिया, तब उसको आज्ञा देकर मैं भी घर को लौट आई ॥ ८ ॥

प्रविशध्वं बिलं पुत्रा ! विस्रब्धा नास्ति वो भयम् ।
श्येनेन मम पश्यन्त्या हृत आखुर्महात्मना ॥ ९ ॥

हे पुत्रों ! तुम निःशङ्क होकर बिल में घुस जाओ, कोई डर की बात नहीं है, मेरे देखते २ महाबली श्येन ने चूहे का हरण कर लिया है ॥ ९ ॥

शार्ङ्गका ऊचुः—

न विद्महे हृतं मातः श्येनेनाऽऽखुं कथंचन ।
अविज्ञाय न शक्यामः प्रवेष्टुं विवरं भुवः ॥ १० ॥

शार्ङ्गक बोले—हे माता ! हमने तो श्येन द्वारा चूहे को ले जाते देखा नहीं, चूहे के अपहरण को बिना देखे, इस भूमि के बिल में भय से हम से घुसा ही नहीं जाता है ॥ १० ॥

जरितोवाच—

अहं तमभिजानामि हृतं श्येनेन मूषिकम् ।
नाऽस्ति वोऽत्र भयं पुत्राः! क्रियतां वचनं मम॥ ११॥

जरिता बोली—हे पुत्रों ! मैं तो जानती हूं, कि श्येन मूषक को ले गया, अब तुमको कुछ भय नहीं है, मेरी आज्ञा मानो ॥११॥

शाङ्गका ऊचुः—

न त्वं मिथ्योपचारेण मोक्षयेथा भयाद्धि नः ।
समाकुलेषु ज्ञानेषु न बुद्धिकृतमेव तत् ॥ १२ ॥

शाङ्गक बोले—क्या पता है ? तू भय के कारण मिथ्या बोल कर हमारा भय निकाल रही हो ? जब ज्ञान समाकुल हो जाता है, तो बुद्धिपूर्ण कृत्य नहीं हो सकते हैं ॥ १२ ॥

न चोपकृतमस्माभिर्न चाऽस्मान्वेत्थ ये वयम् ।
पीड्यमाना बिभर्ष्यस्मान्का सती के वयं तव ॥ १३ ॥

हमने तेरा कभी उपकार नहीं किया और न तू यह जानती है कि हम कौन हैं । तू बड़ी कातर हो कर हमारी रक्षा करना चाहती है, परन्तु यह तो बता तू कौन है और हम कौन हैं ? ॥ १३ ॥

तरुणी दर्शनीयाऽसि समर्था भर्तुरेषणे ।
अनुगच्छ पतिं मातः! पुत्रानाप्स्यसि शोभनान् ॥ १४ ॥

तू अभी युवति और सुन्दर है तथा अपने पति की खोज कर सकती है । हे माता ! तू पिता जी के पास जा और अन्य शोभन पुत्रों को उत्पन्न कर ॥ १४ ॥

वयमग्निं समाविश्य लोकानाप्स्याम शोभनान् ।
अथाऽस्मान्न दहेदग्निरायास्त्वं पुनरेव नः ॥ १५ ॥

हम भी अग्नि में दग्ध होकर उत्तम लोकों को प्राप्त करेंगे और यदि अग्नि ने नहीं जलाये तो आ कर हम प्रिय पुत्रों को फिर प्राप्त कर लेना ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्ता ततः शार्ङ्गी पुत्रानुत्सृज्य खाण्डवे ।
जगाम त्वरिता देशं क्षेममग्नेरनामयम् ॥ १६ ॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे राजन्! पुत्रों के इस प्रकार ज्ञान देने पर शार्ङ्गिका पक्षिणी तो पुत्रों को छोड़ कर उड़ गई और शीघ्र अग्नि से बचने के उपयुक्त निराबाध प्रदेश में पहुंच गई ॥ १६ ॥

ततस्तीक्ष्णार्चिरभ्यागाज्ज्वलितो हव्यवाहनः ।
यत्र शार्ङ्गा बभूवुस्ते मन्दपालस्य पुत्रकाः ॥ १७ ॥

इसके अनन्तर तीक्ष्ण ज्वालाओं से जलता हुआ अग्नि वहां आ पहुंचा, जहां मन्दपाल मुनि के वे पुत्र स्थित थे ॥ १७ ॥

ततस्तं ज्वलितं दृष्ट्वा ज्वलनं ते विहङ्गमाः ।
जरितारिस्ततो वाक्यं श्रावयामास पावकम् ॥१८॥[६६३२

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि शार्ङ्गोपाख्याने त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

वे सारे पक्षी जलते हुए अग्नि को देख कर उन में से जरितारि नामक मुनि पुत्र अग्नि से यह वाक्य कहने लगा ॥ १८ ॥

इति श्री महाभारत आदिपर्वान्तर्गत खाण्डवदाह पर्व के शार्ङ्गोपाख्यान में दो सौ तेतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ।

दोसौ चौतीसवां अध्याय

जरितारिरुवाचः—

पुरतः कृच्छ्रकालस्य धीमाञ्जागर्ति पूरुषः।
स कृच्छ्रकालं संप्राप्य व्यथां नैवैति कर्हिचित् ॥ १ ॥

जरितारि बोला—हे भ्राताओं! बुद्धिमान् पुरुष मृत्यु से पूर्व ही जगता रहता है, इससे मृत्युकाल को प्राप्त करके वह कभी दुःखी नहीं होता है॥ १॥

यस्तु कृच्छ्रमनुप्राप्तं विचेता नावबुध्यते।
स कृच्छ्रकाले व्यथितो न श्रेयो विन्दते महत् ॥ २ ॥

जो अचेत मनुष्य अपने प्राप्त होने वाले कष्ट के समय को नहीं जानता है, वह कष्ट अर्थात् मृत्यु के समय क्लेशित होता है और उसे कोई कल्याण प्राप्त नहीं होता है॥ २॥

सारिसृक्क उवाचः—

धीरस्त्वमसि मेधावी प्राणकृच्छ्रमिदं च नः।
प्राज्ञः शूरो बहूनां हि भवत्येको न संशयः ॥ ३ ॥

सारिसृक्क बोला—हे जरितारि! तू बड़ा बुद्धिमान् और धीर है। इस समय हमको प्राणों का कष्ट आकर उपस्थित होगया है, इस लिए हमारी रक्षा कर, क्योंकि प्रायः अनेकों में कोई ही बुद्धिमान् और शूर-वीर उपजता है॥ ३॥

स्तम्बमित्र उवाचः—

ज्येष्ठस्तातो भवति वै ज्येष्ठो मुञ्चति कृच्छ्रतः।
ज्येष्ठश्चेन्न प्रजानाति कनीयान्किं करिष्यति ॥ ४ ॥

सम्त्रमित्र बोला—बड़ा भाई पिता के तुल्य होता है और वही समय पर विपत्ति से बचाने में समर्थ होता है। यदि किसी आपत्ति का उपाय बड़ा भ्राता न कर सके तो फिर छोटा क्या कर सकता है ॥ ४ ॥

द्रोण उवाच:—

हिरण्यरेतास्त्वरितो ज्वलन्नायाति नः क्षयम् ।
सप्तजिह्वाननः क्रूरो लेलिहानो विसर्पति ॥ ५ ॥

द्रोण बोला—देखो ? यह सात जीभ और मुखवाला, क्रूर अग्नि हमको भक्षण करने की चेष्टा करता हुआ हमारे स्थान की ओर ही आ रहा है ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच:—

एवं संभाष्य तेऽन्योन्यं मन्दपालस्य पुत्रकाः ।
तुष्टुवुः प्रयता भूत्वा यथाऽग्निं शृणु पार्थिव ! ॥ ६ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन ! मन्दपालऋषि के पुत्रों ने परस्पर इस प्रकार वार्तालाप करके सावधानी से जिस प्रकार अग्नि की स्तुति करनी आरम्भ की, वह मैं तुमको सुनाता हूं, तू सुन ॥ ६ ॥

जरितारिरुवाच:—

आत्माऽसि वायोर्ज्वलन ! शरीरमसि वीरुधाम् ।
योनिरापश्च ते शुक्र ! योनिस्त्वमसि चाऽम्भसः ॥ ७ ॥

जरितारि बोला—हे अग्ने ! तू वायु का आत्मा है और लताओं का शरीर है। तेरी उत्पत्ति का कारण जल और जल की उत्पत्ति का कारण तू है ॥ ७ ॥

ऊर्ध्वं चाऽधश्च सर्पन्ति पृष्ठतः पार्श्वतस्तथा ।
अर्चिषस्ते महावीर्य ! रश्मयः सवितुर्यथा ॥ ८ ॥

हे महावीर्य अग्ने ! तेरी ज्वालाएँ सूर्यकिरणों के तुल्य ऊपर नीचे-आगे-पीछे सब ओर फैलती रहती हैं ॥ ८॥

सारिसृक्त उवाच—

माता प्रणष्टा पितरं न विद्मः पक्षा जाता नैव नो धूमकेतो !
न नस्त्राता विद्यते वै त्वदन्यस्तस्मादस्मांस्त्राहि बालांस्त्वमग्ने !

सारिसृक्त बोला—हे धूमकेतो ! अग्ने ! हमारी माता चली गई और पिता को तो हम जानते भी नहीं हैं, हमारे अभी पक्ष भी उत्पन्न नहीं हुए हैं। हमारा रक्षक तेरे अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। इस लिए तू ही हमारी रक्षा कर ॥ ९॥

यदग्ने ते शिवं रूपं ये च ते सप्त हेतयः ।
तेन नः परिपाहि त्वमार्तान्नः शरणैषिणः ॥ १० ॥

हे अग्ने ! तेरा कल्याणकारी रूप है और तेरी सात ज्वालाएँ हैं। अब तू हम आर्त शरणागतों की रक्षा कर ॥१०॥

त्वमेवैकस्तपसे जातवेदो नाऽन्यस्तप्ता विद्यते गोषु देव ! ।
ऋषीनस्मान्बालकान्पालयस्व परेणाऽस्मान्प्रैहि वै हव्यवाह !

हे अग्नि देव ! तू ही एक जगत् को ताप देने वाला है। तेरे सिवा किरणों के भीतर भी अन्य तापकारी नहीं है। हे जातवेद ! हम बालक ऋषि पुत्रों की रक्षा कर और हमसे दूर चला जा ।११।

स्तम्बमित्र उवाच—

सर्वमग्ने त्वमेवैकस्त्वयि सर्वमिदं जगत् ।
त्वं धारयसि भूतानि भुवनं त्वं बिभर्षि च ॥ १२ ॥

स्तम्बमित्र बोला—हे अग्ने ! तू ही यह सारा जगत् है और तुझमें यह जगत् ओत प्रोत हो रहा है । तू ही प्राणियों को और भुवनों को धारण करता है ॥१२॥

त्वमग्निर्हव्यवाहस्त्वं त्वमेव परमं हविः ।
मनीषिणस्त्वां जानन्ति बहुधा चैकधापि च ॥ १३ ॥

हे अग्ने ! तू ही हवि का वहन करने वाला और तू ही परम हवि है । मनीषी गण तुझ एक को ही अनेक रूप में देखते हैं ।१३।

सृष्ट्वालोकांस्त्रीनिमान्हव्यवाह ! कालेप्राप्तेपचसि पुनःसमिद्धः
त्वं सर्वस्य भुवनस्य प्रसूतिस्त्वमेवाग्ने भवसि पुनः प्रतिष्ठा ।१४।

हे अग्ने ! तू इन तीनों लोकों को रचकर फिर समय प्राप्त होने पर प्रज्वलित होकर सबको पचा जाता है । तू ही इस सारे ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का कारण है और तू ही इस जगत का रक्षक है ॥१४।

द्रोण उवाच—

त्वमन्नं प्राणिभिर्भुक्तमन्तर्भूतो जगत्पते ! ।
नित्यप्रवृद्धः पचसि त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

द्रोण बोला—हे अग्ने ! प्राणियों के भोजन किये हुए अन्न को उदर के भीतर वृद्धि प्राप्त करके पचाता रहता है तुझमें ही सब कुछ स्थित है ॥१५॥

सूर्यो भूत्वा रश्मिभिर्जातवेदो भूमेरम्भो भूमिजातान्रसांश्च ।
विश्वानादाय पुनरुत्सृज्य काले वृष्ट्या सृष्टिं भावयसीह शुक्र!

हे जातवेद ! तू ही सूर्य होकर अपनी किरणों में भूमि के जल और भूमि मे उत्पन्न सब रसों को लेकर और फिर वृष्टि द्वारा समय पर छोड़कर सृष्टि का उपकार करता रहता है ॥१६॥

त्वत्त एताः पुनः शुक्र! वीरुधो हरितच्छदाः ।
जायन्ते पुष्करिण्यश्च सुभद्रश्च महोदधिः ॥ १७ ॥

हे अग्ने ! तुमसे ही बार २ ये हरे २ पत्तों की लताएँ उत्पन्न होती है। तुमसे ही नदी और कल्याणकारी समुद्र पैदा होते हैं ॥१७॥

इदं वै सद्म तिग्मांशो वरुणस्य परायणम् ।
शिवस्त्राता भवाऽस्माकं माऽस्मानद्य विनाशय ॥ १८ ॥

हे अग्ने ! यह हमारा स्थान वरुण (जल) से सुरक्षित है। तू हमारा कल्याणकारी रक्षक है। हमारा विनाश न कर ॥१८॥

पिङ्गाक्ष ! लोहितग्रीव ! कृष्णवर्त्मन्हुताशन ।
परेण प्रैहि मुञ्चाऽस्मान्सागरस्य गृहानिव ॥ १९ ॥

हे पीली आंख वाले ! लाल ग्रीवा धारी ! धूम को छोड़ने वाले ! अग्ने ! तू हमारे इस स्थान को समुद्र से सुरक्षित घर के तुल्य छोड़कर दूर से ही निकल जा ॥१९॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तो जातवेदा द्रोणेन ब्रह्मवादिना ।
द्रोणमाह प्रतीतात्मा मन्दपालप्रतिज्ञया ॥ २० ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन ! इस प्रकार ब्रह्मवादी द्रोण के कहने पर प्रसन्न हुआ अग्नि, मन्दपाल से की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार कहने लगा ॥२०॥

अग्निरुवाच—

ऋषिर्द्रोणस्त्वमसि वै ब्रह्मैतद्व्याहृतं त्वया ।
ईप्सितं ते करिष्यामि न च ते विद्यते भयम् ॥ २१ ॥

हे द्रोण ! तू सचमुच ऋषि है, तू ने यह ब्रह्म का निरूपण किया है । मैं तुम्हारे मनोरथो को पूरा करूंगा, तुम भय मत करो ॥२१॥

मन्दपालेन वै यूयं मम पूर्वं निवेदिताः ।
वर्जयेः पुत्रकान्मह्यं दहन्दावमिति स्म ह ॥ २२ ॥

हे द्रोण ! मुझसे पूर्व ही तुम्हारे पिता मन्दपाल ने कह दिया था कि जब तू खाण्डव वन को जलावे, तो मेरे पुत्रों को नहीं जलाना॥२२॥

तस्य तद्वचनं द्रोण ! त्वया यच्चेह भाषितम् ।
उभयं मे गरीयस्तु ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ २३ ॥
भृशं प्रीतोऽस्मि भद्रं ते ब्रह्मन्स्तोत्रेण सत्तम ! ॥ २४ ॥

हे द्रोण ! तेरे पिता मन्दपाल और तेरा कथन दोनों ही बड़े प्रभाव शाली हैं । दोनों का बड़ा आदर करता हूँ । अब कह मैं तेरा क्या कार्य करूं । हे ब्रह्मन् ! मैं तुम्हारी इस स्तुति से बड़ा प्रसन्न हूँ । ॥२३—२४॥

द्रोण उवाचः—

इमे मार्जारकाः शुक्र ! नित्यमुद्वेजयन्ति नः ।
एतान्कुरुष्व दग्धांस्त्वं हुताशन ! सबान्धवान् ॥ २५ ॥

द्रोण बोला—हे शुद्ध स्वरूपाग्ने ! ये बिल्लियां हमको नित्य दु खी करती हैं, तू इनको सपरिवार भस्म करदे ॥२५॥

तथा तत्कृतवानग्निरभ्यनुज्ञाय शाङ्र्गकान् ।
ददाह खाण्डवं दावं समिद्धो जनमेजय ! ॥२६॥ [८६५८]

इति श्रीमहाभारते० खाण्डवदाहपर्वणि शाङ्र्गोपाख्याने चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३४

हे जनमेज्य ! इन शाङ्र्गकों को संतोष देकर अग्नि ने उस विलाव परिवार को दग्ध कर दिया और प्रज्वलित होकर फिर खाण्डव वन जलाना आरम्भ किया ॥२६॥

इति श्री महाभारत आदि पर्वान्तर्गत खाण्डवदाह पर्व मे शाङ्र्गकोपाख्यान का दो सौ चौतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

दो सौ पैंतीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाचः—

मन्दपालोऽपि कौरव्य ! चिन्तयामास पुत्रकान् ।
उक्त्वाऽपि च स तिग्मांशुं नैव शर्माऽधिगच्छति ॥ १ ॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे राजन ! मन्दपाल ऋषि भी अपने पुत्रों की चिन्ता कर रहा था, वह अग्नि से कह कर भी शान्ति मे नहीं था ॥ १ ॥

स तप्यमानः पुत्रार्थे लपितामिदमब्रवीत् ।
कथं त्वशक्ताः शरणे लपिते ! मम पुत्रकाः ॥ २ ॥

यह ऋषि, पुत्रों के दुःख से सन्तापित होकर लपिता से बोला—हे लपिते ! अपनी रक्षा में असमर्थ मेरे पुत्रों का जाने क्या हाल होगा ॥ २ ॥

वर्धमाने हुतवहे वाते चाऽऽशु प्रवायति ।
असमर्था विमोक्षाय भविष्यन्ति ममात्मजाः ॥ ३ ॥

इस अग्नि के प्रज्वलित होने और वायु के वेग से चलने के समय मे मेरे पुत्र अपना मोक्ष करने में निश्चय असमर्थ रहेंगे ॥ ३ ॥

कथन्त्वशक्ता त्राणाय माता तेषां तपस्विनी ।
भविष्यति हि शोकार्ता पुत्रत्राणमपश्यती ॥ ४ ॥

उनकी रक्षा करने में असमर्थ उनकी बिचारी माता भी, पुत्रों की रक्षा न देखकर कितनी शोकार्त हो रही होगी !॥ ४ ॥

कथमुड्डीयनेऽशक्तान्पतने च ममात्मजान् ।
संतप्यमाना बहुधा वाशमाना प्रधावती ॥ ५ ॥

उड़ने और भागने मे असमर्थ मेरे पुत्रों के अर्थ बहुत संतापित होकर उनकी रक्षा के लिए वह बिचारी इधर उधर दौड़ेगी ॥ ५ ॥

जरितारिः कथं पुत्रः सारिसृक्वः कथं च मे ।
स्तम्बमित्रः कथं द्रोणः कथं सा च तपस्विनी ॥ ६ ॥

मेरा पुत्र जरितारि सारिसृक्क स्तम्बमित्र, द्रोण और यह दीना उनकी माता का क्या हाल होगा ! ॥ ६ ॥

लालप्यमानं तमृषिं मन्दपालं तथा वने।
लपिता प्रत्युवाचेदं मामूयमिव भारत ! ॥ ७ ॥

हे भारत ! उस वन में इस प्रकार कहते हुए मन्दपाल ऋषि से ईर्ष्या के साथ लपिता इस प्रकार कहने लगी ॥ ७ ॥

न ते पुत्रेष्ववेचाऽस्ति यानृषीनुक्तवानसि।
तेजस्विनो वीर्यवन्तो न तेषां ज्वलनाद्भयम् ॥ ८ ॥

हे ऋषे ! तू उन पुत्रों का ध्यान न कर, क्योंकि तू तो उनको ऋषि बताता था। जब वे तेजस्वी और शक्ति शाली हैं, तो उनको अग्नि से भय ही क्या हो सकता है।

त्वयाऽग्नौ ते परीताश्च स्वयं हि मम संनिधौ।
प्रतिश्रुतं तथा चेति ज्वलनेन महात्मना ॥ ९ ॥

तूने तो मेरे सामने ही अग्नि से भी उनकी रक्षा के लिए आग्रह कर दिया है और महात्मा अग्नि ने तुमसे प्रतिज्ञा भी करली है ॥ ९ ॥

लोकपालो न तां वाचमुक्त्वा मिथ्या करिष्यति।
समर्थं बन्धुकृत्ये न न ते स्वस्थं मानसम् ॥ १० ॥

लोकपाल, अग्नि अपना वचन देकर उसको मिथ्या नहीं करेगा। तू बन्धु के कृत्य के समय समर्थ नहीं है, इससे तेरा मन अस्वस्थ है ॥ १० ॥

तामेव तु ममाऽमित्रां चिन्तयन्परितप्यसे।
ध्रुवं मयि न ते स्नेहो यथा तस्यां पुराऽभवत् ॥ ११ ॥

उसमें मेरी शत्रु जरिता को ही याद करके तू सन्तप्त हो रहा है, इससे यही प्रतीत होता है, कि उसके तुल्य मुझ में तेरा स्नेह नहीं है ॥ ११ ॥

न हि पक्षवता न्याय्यं निःस्नेहेन सुहृज्जने ।
पीड्यमान ! उपद्रष्टुं शक्तेनाऽऽत्मा कथंचन ॥ १२ ॥

पक्ष स्वीकार करके फिर प्रिय जन में निःस्नेहता से रहना योग्य नहीं है। जो समर्थ है, वह अपने को इस प्रकार पीड़ित कैसे देख सकता है ॥ १२ ॥

गच्छ त्वं जरितामेव यदर्थं परितप्यसे ।
चरिष्याम्यहमप्येका यथा कुपुरुषाश्रिता ॥ १३ ॥

अब तू जिस जरिता के लिए चिन्ता कर रहा है, उसी के पास जा। मैं तो कुपुरुष के आश्रित वधू के समान अकेली ही रहूंगी ॥ १३ ॥

मन्दपाल उवाच—

नाहमेवं चरे लोके यथा त्वमभिमन्यसे ।
अपत्यहेतोर्विचरे तच्च कृच्छ्रगतं मम ॥ १४ ॥

मन्दपाल बोला—हे भार्ये ! तुम जैसा मुझे कामी समझ रही हो मैं वैसा नहीं हूं। मैं तो सन्तान के लिए स्त्री का उपभोग करता हूं, और वही सन्तान इस समय आपत्ति में फंसी हुई है ॥ १४ ॥

भूतं हित्वा च भाव्यर्थे योऽवलम्बेत्स मन्दधीः ।
अवमन्येत तं लोको यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १५ ॥

जो सिद्ध हुए कार्य को छोड़ कर भविष्य की आशा करता है, वह मूर्ख है उसकी संसार निन्दा करता है। इस दशा में जैसी तेरी इच्छा है, वैसा कर ॥ १५ ॥

एष हि प्रज्वलन्नग्निर्लेलिहानो महीरुहान् ।
आविग्ने हृदि संतापं जनयत्यशिवं मम ॥ १६ ॥

यह वृक्षों को चाटता हुआ अग्नि, प्रज्वलित हो उठा है। यह मेरे उद्विग्न हृदय मे बड़ा दुःखदायी सन्ताप उत्पन्न कर रहा है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तस्माद्देशादतिक्रान्ते ज्वलने जरिता पुनः ।
जगाम पुत्रकानेव जरिता पुत्रगृद्धिनी ॥ १७ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! उस स्थान से अग्नि के चले जाने पर पुत्र के प्रेम मे फँसी हुई जरिता फिर अपने पुत्रों के पास पहुंची ॥ १७ ॥

सा तान्कुशलिनः सर्वान्विमुक्ताञ्जातवेदसः ।
रोरूयमाणान्ददृशे वने पुत्रान्निरामयान् ॥ १८ ॥

उसने उस वन मे अग्नि से छोड़े हुए कुशल युक्त, निरामय, चूं चाते हुए अपने पुत्रों को देखा ॥ १८ ॥

अश्रूणि मुमुचे तेषां दर्शनात्सा पुनः पुनः ।
एकैकश्येन तान्सर्वान्क्रोशमानाऽन्वपद्यत ॥ १९ ॥

उनके देखते ही जरिता बार बार प्रेम के अश्रु छोड़ने लगी। और एक २ को प्रेम का शब्द करती हुई जरिता अपने गले से लगाने लगी ॥ १९ ॥

ततोऽभ्यगच्छत्सहसा मन्दपालोऽपि भारत ।
अथ ते सर्व एवैनं नाऽभ्यनन्दंस्तदा सुताः ॥ २० ॥

हे भारत ! इतने में ही अचानक मन्दपाल मुनि भी वहां आ पहुंचा। उन पुत्रों ने उस समय उसका कुछ भी स्वागत नहीं किया ॥ २० ॥

लालप्यमानमेकैकं जरितां च पुनः पुनः ।
न चैवोचुस्तदा किंचित्तमृषिं साध्वसाधु वा ॥ २१ ॥

वे एक २ अपनी माता जरिता से बातें कर रहे थे, इसमें उन्होंने मन्दपाल से अच्छा बुरा कुछ भी नहीं कहा॥ २१ ॥

मन्दपाल उवाच—

ज्येष्ठः सुतस्ते कतमः कतमस्तस्य चाऽनुजः ।
मध्यमः कतमश्चैव कनीयान्कतमश्च ते ॥ २२ ॥

मन्दपाल बोला—हे जरिते ! इनमें तेरा बड़ा पुत्र कौनसा है और उससे छोटा कौनसा है । मध्यम और सबसे छोटा पुत्र कौनसा है ॥ २२ ॥

एवं ब्रुवन्तं दुःखार्तं किं मां न प्रतिभाषसे ।
त्वत्कृतानपि हि त्यागं नैव शान्तिमितो लभे ॥ २३ ॥

मैं बड़ा दुःखी होकर तुमसे बातें कर रहा हूं । तेरा त्याग जो मैंने किया, परन्तु मुझे यहां कुछ भी शान्ति नहीं मिली ॥ २३ ॥

जरितोवाच—

किं नु ज्येष्ठेन ते कार्यं किमनन्तरजेन ते ।
किं वा मध्यमजातेन किं कनिष्ठेन वा पुनः ॥ २४ ॥

जरिता बोली—हे ऋषे ! तुझे बड़े या उससे छोटे तथा मध्यम या सबसे छोटे पुत्र की क्या पड़ी ? ॥ २४ ॥

यां त्वं मां सर्वतो हीनामुत्सृज्याऽसि गतः पुरा ।
तामेव लपितां गच्छ तरुणीं चारुहासिनीम् ॥ २५ ॥

तुम तो सब तरह से ही दीन मुझ अभागिनी को छोड़ कर चले गए थे । अब तुम उसी सुन्दर हंसने वाली तरुणी लपिता के पास जाओ ॥ २५ ॥

मन्दपाल उवाच—

न स्त्रीणां विद्यते किंचिदमुत्र पुरुषान्तरात् ।
सापत्नकमृते लोके नाऽन्यदर्थविनाशनम् ।
वैराग्निदीपनं चैव भृशमुद्वेगकारि च ॥ २६ ॥

मन्दपाल बोला—स्त्रियों को पुरुष के सिवा अन्य कुछ भी परलोक में तत्व नहीं दिखाई पड़ता है परन्तु इस सौतिया डाह से अधिक धर्म का नाश करने वाला अन्य कोई पाप नहीं है। यह वैर की अग्नि का प्रज्वलित करने वाला और उद्वेग जनक है ॥ २६ ॥

सुव्रता चाऽपि कल्याणि सर्वभूतेषु विश्रुता ।
अरुन्धती महात्मानं वशिष्ठं पर्यशङ्कत ॥ २७ ॥
विशुद्धभावमत्यन्तं सदा प्रियहिते रतम् ।
सप्तर्षिमध्यगं वीरमवमेने च तं मुनिम् ॥ २८ ॥

हे कल्याणी ! सब प्राणियों में प्रसिद्ध व्रतशील, अरुन्धती ने भी, अत्यन्त विशुद्ध आत्मा वाले सदा प्रिय मे तत्पर, सप्तर्षियों के

मध्य में रहने वाले, मुनिवर महात्मा वसिष्ठ पर शंका की और उनका अपमान किया ॥ २७-२८ ॥

अपध्यानेन सा तेन धूमारुणसमप्रभा ॥
लक्ष्यालक्ष्या नाऽभिरूपा निमित्तमिव पश्यति ॥ २९ ॥

इस कुदृष्टि के कारण वह अरुन्धती धूम और कुछ २ प्रकाश से युक्त हुई कभी दिखाई पड़ती है और कभी आभासित हो जाती है। उसका वह सुन्दर तेज दिखाई नहीं पड़ता; केवल चिन्ह सा दिखाई देता है ॥ २९ ॥

अपत्यहेतोः संप्राप्तं तथा त्वमपि मामिह ।
इष्टमेवं गते हि त्वं सा तथैवाऽद्य वर्तते ॥ ३० ॥

मैं तो आज अपने पुत्रों के प्रेम से तेरे समीप आया हूं तुझे प्रिय प्रतीत होना चाहिए था । परन्तु तू भी वैसाही वर्ताव करती है ॥ ३० ॥

न हि भार्येति विश्वासः कार्यः पुंसा कथंचन ।
न हि कार्यमनुध्याति नारी पुत्रवती सती ॥ ३१ ॥

किसी भी पुरुष को यह मेरी भार्या है, ऐसा विश्वास नहीं करना चाहिये । जब स्त्री पुत्रवती हो जाती है, तब वह पति का कुछ भी ध्यान नहीं रखती है ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाचः—

ततस्ते सर्व एवनं पुत्राः सम्यगुपासते ।
स च तानात्मजान्सर्वानाश्वासयितुमुद्यतः ॥ ३२ ॥ [८६६०]

इति श्रीमहाभारतेशतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि शार्ङ्गोपाख्याने पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३५ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! इसके अनन्तर सारे पुत्र अपने पिता को पहचान कर उसके पास प्रेम से जा पहुंचे वह भी उन अपने पुत्रों को स्नेह से आनन्दित करने के लिए तत्पर हुआ ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारत आदिपर्वान्तर्गत खाण्डवदाह पर्व में शार्ङ्गिकोपाख्यान में दोसौ पैंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ।



दो सौ छत्तीसवां अध्याय

मन्दपाल उवाचः—

युष्माकमपवर्गार्थं विज्ञप्तो ज्वलनो मया।
अग्निना च तथेत्येवं प्रतिज्ञातं महात्मना ॥ १ ॥

मन्दपाल कहने लगे— हे पुत्रों! मैंने तुम्हारे नहीं जलाने के लिये पूर्व में ही अग्नि को सूचित कर दिया था और महात्मा अग्नि ने मुझसे इसको स्वीकार करके तुम्हारे नहीं जलाने की प्रतिज्ञा की थी ॥ १ ॥

अग्नेर्वचनमादाय मातुर्धर्मज्ञतां च वः।
भवतां च परं वीर्यं पूर्वं नाऽहमिहाऽऽगतः ॥ २ ॥

मैं अग्नि के वचन से विश्वास करके और तुम्हारी माता की धर्मज्ञता को देख कर तथा तुम्हारे आत्मबल पर विश्वास कर के ही अब तक नहीं आया था ॥ २ ॥

न संतापो हि वः कार्यः पुत्रका! हृदि मां प्रति ।
ऋषीन्वेद हुताशोऽपि ब्रह्म तद्विदितं च वः ॥ ३ ॥

हे पुत्रों ! तुम लोगों को मेरी ओर से हृदय में कुछ भी क्लेश नहीं मानना चाहिये । तुम लोगों को जन्म से ही ब्रह्मज्ञान है, इस बात को जान कर अग्नि भी तुम्हारे ऋषि होने को जानता है ॥३॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमाश्वासितान्पुत्रान्भार्यामादाय स द्विजः ।
मन्दपालस्ततो देशादन्यं देशं जगाम ह ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! वह मन्दपाल ऋषि, अपने पुत्रों को आश्वासन देकर अपनी भार्या को लेकर अन्य स्थान को चला गया ॥ ४ ॥

भगवानपि तिग्मांशुः समिद्धः खाण्डवं गतः ।
ददाह सह कृष्णाभ्यां जनयञ्जगतो हितम् ॥ ५ ॥

भगवान् अग्निदेव भी प्रज्वलित होकर खाण्डव वन को चले गए और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन की सहायता से जगत् का हित करने के लिए उस वन को जलाने लगे ॥ ५ ॥

वसामेदोवहाः कुल्यास्तत्र पीत्वा च पावकः ।
जगाम परमां तृप्तिं दर्शयामास चार्जुनम् ॥ ६ ॥

वर्षा और मेद की राशि का पान करके अग्निदेव बड़े तृप्त हुए और अर्जुन को प्रत्यक्ष दर्शन देने लगे ॥ ६ ॥

ततोऽन्तरिक्षाद्भगवानवतीर्य पुरंदरः ।
मरुद्गणैर्वृतः पार्थं केशवं चेदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

इसके अनन्तर आकाश से देवों के साथ भगवान् इन्द्र उतर कर अर्जुन और कृष्ण से कहने लगा ॥ ७ ॥

कृतं युवाभ्यां कर्मेदममरैरपि दुष्करम् ।
वरं वृणीतं तुष्टोऽस्मि दुर्लभं पुरुषेष्विह ॥ ८ ॥

हे महानुभावों! तुमने यह बड़ा दुष्कर कर्म कर डाला है। मैं तुम पर प्रसन्न हो गया हूं, तुम वर मागो। यह मेरा वर पुरुषों को नहीं प्राप्त हो सकता है ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच—

पार्थस्तु वरयामास शक्रादस्त्राणि सर्वशः ।
प्रदातुं तच्च शक्रस्तु कालं चक्रे महाद्युतिः ॥ ९ ॥

वैशम्पायन बोले—अर्जुन ने इन्द्र से सारी अस्त्रविद्या सीखनी चाही। महातेजस्वी इन्द्र ने उसके देने के लिए भविष्य में काल निश्चित किया ॥ ९ ॥

यदा प्रसन्नो भगवान्महादेवो भविष्यति ।
तदा तुभ्यं प्रदास्यामि पाण्डवास्त्राणि सर्वशः ॥१०॥

हे अर्जुन! जब तुम पर भगवान् महादेव प्रसन्न होंगे, तब मैं तुमको अस्त्र विद्या सिखाऊंगा ॥ १० ॥

अहमेव च तं कालं वेत्स्यामि, कुरुनन्दन! ।
तपसा महता चापि दास्यामि भवतोऽप्यहम् ॥ ११ ॥

हे कुरुनन्दन ! मैं उस काल को जानता हूं, मैं अपने महान् तप की शक्ति से तुमको यह दे सकूंगा ॥ ११ ॥

आग्नेयानि च सर्वाणि वायव्यानि च सर्वशः ।
मदीयानि च सर्वाणि ग्रहीष्यसि धनंजय ! ॥ १२ ॥

हे धनञ्जय ! सारे आग्नेय और वायव्यास्त्र, जो मेरे पास हैं, उनको तू अवश्य ग्रहण कर सकेगा ॥ १२ ॥

वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम् ।
ददौ सुरपतिश्चैव वरं कृष्णाय धीमते ॥ १३ ॥

श्रीकृष्ण ने इन्द्र से वरदान मांगा कि मेरी अर्जुन से सर्वदा प्रीति रहे । इन्द्र ने धीमान् कृष्ण के लिए यह वर दे दिया ॥१३॥

एवं दत्वा वरं ताभ्यां सह देवैर्मरुत्पतिः ।
हुताशनमनुज्ञाप्य जगाम त्रिदिवं प्रभुः ॥ १४ ॥

इस प्रकार उन दोनों को वरदान देकर और अग्नि से आज्ञा (इजाजत) लेकर देवों के साथ शक्तिशाली इन्द्र, स्वर्ग को चले गए ॥ १४ ॥

पावकश्च तदा दावं दग्ध्वा समृगपक्षिणम् ।
अहानि पंच चैकं च विरराम सुतर्पितः ॥ १५ ॥

अग्नि भी मृग और पक्षियों के साथ खाण्डव वन को छः दिन में दाव करके तृप्ति के साथ शान्त हो गया ॥ १५ ॥

जग्ध्वा मांसानि पीत्वा च मेदांसि रुधिराणि च ।
युक्तः परमया प्रीत्या तावुवाचाऽच्युतार्जुनौ ॥१६ ॥

अग्नि, मांस खाकर और मेद तथा रुधिर पीकर बड़ी प्रीति के साथ श्रीकृष्ण और अर्जुन से कहने लगा ॥ १६ ॥

युवाभ्यां पुरुषाग्राभ्यां तर्पितोऽस्मि यथासुखम् ।
अनुजानामि वां वीरौ चरतं यत्र वाञ्छितम् ॥ १७ ॥

हे महानुभावों! तुम पुरुष रत्नों ने मुझे सुख के साथ तृप्त कर दिया है। अब मैं तुमको आज्ञा देता हूं, तुम जहां जाना चाहो, पधारो ॥ १७ ॥

एवं तौ समनुज्ञातौ पावकेन महात्मना ।
अर्जुनो वासुदेवश्च दानवश्च मयस्तथा ॥ १८ ॥
परिक्रम्य ततः सर्वे त्रयोऽपि भरतर्षभ! ।
रमणीये नदीकूले सहिताः समुपाविशन् ॥१९॥ [८७००]

इति श्री महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि वरप्रदाने षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्याय.
॥ २३६ ॥

समाप्तमिदं खाण्डवदाहपर्व ॥ समाप्तं आदिपर्व ॥

हे भारत! इस प्रकार महात्मा अग्नि से फुर्सत पाकर अर्जुन, श्रीकृष्ण और मय दानव, तीनों इकट्ठे ही नदी के तट पर बैठ गये ॥ १८-१९ ॥

इति श्रीमहारत आदिपर्वान्तर्गत खाण्डवदाहपर्व में वर प्रदान का दो सौ छत्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ, और यहीं पर खाण्डव दाहपर्व तथा आदिपर्व भी समाप्त हो गया।

महाभारत

महाभारत

अथ सभापर्व



पहला अध्याय



सभाक्रियापर्व ।

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनबोले— हे जनमेजय ! पुरुषोत्तम भगवान् नर और नारायण तथा सरस्वती को नमस्कार करके महाभारत का पठन करे ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततोऽब्रवीन्मयः पार्थं वासुदेवस्य संनिधौ ।
प्राञ्जलिः श्लक्ष्णया वाचा पूजयित्वा पुनः पुनः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर मय नामक दैत्य, हाथ जोड़कर और बार बार सम्मान युक्त नम्र वाणी से श्रीकृष्ण के समीप में स्थित अर्जुन से कहने लगा ॥ २ ॥

अस्मात्कृष्णात्सुसंरब्धात्पावकाच्च दिधक्षतः ।
त्वया त्रातोऽस्मि कौन्तेय ! ब्रूहि किं करवाणि ते ॥३॥

मय बोला—हे अर्जुन ! इस कुपित हुए श्रीकृष्ण और प्रदीप्त हुए अग्नि से आपने मेरी रक्षा की है, अब बताइये मैं आपका क्या प्रत्युपकार करूं ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच—

कृतमेव त्वया सर्वं स्वस्ति गच्छ महासुर ! ।
प्रीतिमान्भव मे नित्यं प्रीतिमन्तो वयं च ते ॥ ४ ॥

अर्जुन कहने लगे हे महासुर ! इतनी कृतज्ञता प्रकाशित करने पर ही तूने सब कुछ बदला चुका दिया । अब तू जा तेरा कल्याण हो । तू हमसे प्रेम बनाये रखना, हम तुझ पर बड़े प्रसन्न हैं ॥ ४ ॥

मय उवाच—

युक्तमेतत्त्वयि विभो ! यथाऽऽत्थ पुरुषर्षभ ! ।
प्रीतिपूर्वमहं किंचित्कर्तुमिच्छामि भारत ! ॥ ५ ॥

मय बोला—हे शक्तिशाली ! पुरुष रत्न ! तुमने यह बात अपने स्वरूप के योग्य ही कही है, परन्तु मैं अपनी प्रसन्नता से ही कुछ आपकी सेवा करना चाहता हूं ॥ ५ ॥

अहं हि विश्वकर्मा वै दानवानां महाकविः ।
सोऽहं वै त्वत्कृते किंचित्कर्तुमिच्छामि पाण्डव ! ॥ ६ ॥

हे पाण्डव ! मैं दानवों का विश्वकर्मा हूं और शिल्प विद्या

में बड़ा निपुण हूं। मैं आपकी सेवा के निमित्त कुछ शिल्प रचना करने की इच्छा करता हूं ॥ ६ ॥

अर्जुन उवाच—

प्राणकृच्छ्राद्विमुक्तं त्वमात्मानं मन्यसे मया।
एवं गते न शक्यामि किंचित्कारयितुं त्वया ॥ ७ ॥

अर्जुन बोले—हे मय! मुझसे तेरे प्राणों को छुटकारा प्राप्त हुआ है, ऐसा तू भी मानता है॥ इस दशा में मैं तुमसे कुछ भी सेवा कराना उचित नहीं समझता हूं ॥ ७ ॥

न चापि तव संकल्पं मोघमिच्छामि दानव!।
कृष्णस्य क्रियतां किंचित्तथा प्रतिकृतं मयि ॥ ८ ॥

हे दानव! इसके अतिरिक्त मैं तेरे संकल्पको भी व्यर्थ करना नहीं चाहता हूं। इससे तू कुछ श्रीकृष्ण के निमित्त रचना कर, मेरा इससे ही बदला चुक जायेगा ॥ ८ ॥

चोदितो वासुदेवस्तु मयेन भरतर्षभ! ।
मुहूर्तमिव संदध्यौ किमयं चोद्यतामिति ॥ ६ ॥

हे जनमेजय! इसके अनन्तर मय ने श्रीकृष्ण से वही प्रार्थना की। श्रीकृष्ण ने थोड़ी देर विचारा कि इससे क्या सेवा लेनी चाहिए॥ ६ ॥

ततो विचिन्त्य मनसा लोकनाथः प्रजापतिः।
चोदयामास तं कृष्णः सभा वै क्रियतामिति ॥ १० ॥

इसके अनन्तर लोकों के नाथ, प्रजापति श्रीकृष्ण ने मय से कहा, कि तुम एक उत्तम राजसभा का निर्माण करो ॥ १० ॥

यदि त्वं कर्तुकामोऽसि प्रियं शिल्पवतां वर !।
धर्मराजस्य दैतेय ! यादृशीमिह मन्यसे ॥ ११ ॥
यां कृतां नानुकुर्वन्ति मानवाः प्रेक्ष्य विष्ठिताः ।
मनुष्यलोके सकले तादृशीं कुरु वै सभाम् ॥ १२ ॥

हे शिल्प विद्या के जानने वालों में श्रेष्ठ ! मय ! यदि तू हमारा प्रिय करना चाहता है तो जैसी तू उत्तम समझता है वैसी धर्मराज के लिए राजसभा निर्माण करदे । इस राजसभा के समान सारे संसार में अन्य कोई सभा न हो और मनुष्य इसको देख कर ऐसी सभा बना भी न सकें ॥ ११-१२ ॥

यत्र दिव्यानभिप्रायान्पश्येम हि कृतांस्त्वया ।
आसुरान्मानुषांश्चैव सभां तां कुरु वै मय ! ॥ १३ ॥

इस सभा में इस प्रकार के चित्र हों जिनसे हम नाना प्रकार के असुर और मनुष्यों के व्यवहारों का दर्शन कर सकें ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं संप्रहृष्टो मयस्तदा ।
विमानप्रतिमां चक्रे पाण्डवस्य शुभां सभाम् ॥ १४ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! श्रीकृष्ण के इन वाक्यों को सुन कर मय बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने युधिष्ठिर के लिए विमान के सदृश राजसभा बनाने की प्रतिज्ञा की ॥ १४ ॥

ततः कृष्णश्च पार्थश्च धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
सर्वमेतत्समावेद्य दर्शयामासतुर्मयम् ॥ १५ ॥

इसके अनन्तर श्रीकृष्ण और अर्जुन ने धर्मराज युधिष्ठिर से यह सारा वृत्तान्त कहा—और मय दैत्य से परिचय कराया।१५।

तस्मै युधिष्ठिरः पूजां यथार्हामकरोत्तदा ।
स तु तां प्रतिजग्राह मयः सत्कृत्य भारत ! ॥ १६ ॥

हे भारत ! युधिष्ठिर ने मय दैत्य की यथा योग्य पूजा की। मय ने भी उस पूजा को बड़े आदर के साथ ग्रहण किया॥ १६॥

स पूर्वदेवचरितं तदा तत्र विशांपते ! ।
कथयामास दैतेयः पाण्डुपुत्रेषु भारत ! ॥ १७ ॥

हे राजन ! उस समय मय दैत्य ने पाण्डवोंको वृषपर्वा नाम दानव का विन्दुसर पर यज्ञ करने आदि का चरित सुनाया।१७।

स कालं कंचिदाश्वस्य विश्वकर्मा विचिन्त्य तु ।
सभां प्रचक्रमे कर्तुं पाण्डवानां महात्मनाम्॥ १८ ॥

कुछ काल तक विश्राम लेकर और सोच विचार करके सम्पूर्ण शिल्प के ज्ञाता मय ने महात्मा पाण्डवों के लिए सभा निर्माण करना आरम्भ किया॥ १८॥

अभिप्रायेण पार्थानां कृष्णस्य च महात्मनः ।
पुण्येऽहनि महातेजाः कृतकौतुकमङ्गलः ॥ १९॥

इस महा तेजस्वी मय ने पाण्डव और महात्मा श्री कृष्ण की इच्छा के अनुसार मङ्गलाचार के साथ उत्तम मुहूर्त में सभा बनाना आरम्भ किया॥ १९॥

तर्पयित्वा द्विजश्रेष्ठान्पायसेन सहस्रशः ।
धनं बहुविधं दत्वा तेभ्य एव च वीर्यवान् ॥२०॥
सर्वर्तु गुणसंपन्नां दिव्यरूपां मनोरमाम् ।
दशकिष्कुसहस्रान्तां मापयामास सर्वतः ॥२१॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभास्थाननिर्णये प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

प्रथम पायस (खीर) से सहस्रों ब्राह्मणों को भोजन करा के और उनको अनेक प्रकार से द्रव्य दक्षिणा देकर मय ने सब ऋतुओं में आनन्द दायिनी दिव्य, मनको आकर्षण करने वाली राजसभा रचना के लिए दश दश हजार हाथ भूमि चारों ओर नाप ली ॥ २० २१ ॥

इति श्रीमहाभारत सभापर्वान्तर्गत सभाक्रियापर्व में सभास्थान की भूमि के निर्णय का प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।



दूसरा अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

उषित्वा खाण्डवप्रस्थे सुखवासं जनार्दनः ।
पार्थैः प्रीतिसमायुक्तैः पूजनार्होऽभिपूजितः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन्! इस समय खाण्डवप्रस्थ में श्रीकृष्ण सुख पूर्वक निवास करते थे और बड़े प्रेम से युक्त हो कर पाण्डव इन पूजनीय श्री कृष्ण की पूजा मे तत्पर थे ॥१॥

गमनाय मतिं चक्रे पितुर्दर्शनलालसः ।
धर्मराजमथाऽऽमन्त्र्य पृथां च पृथुलोचनः ॥ २ ॥

इनके अनन्तर अपने पिता वसुदेव के दर्शन की उत्कण्ठा से कमल के तुल्य विशाल नेत्र वाले श्रीकृष्ण ने कुन्ती और धर्मराज से सम्मति करके द्वारका जाने का विचार किया ॥ २ ॥

ववन्दे चरणौ मूर्ध्ना जगद्वन्द्यः पितृष्वसुः ।
स तया मूर्ध्न्युपाघ्रातः परिष्वक्तश्च केशवः ॥ ३ ॥

जगत्पूज्य श्री कृष्ण ने मस्तक नवां कर अपने पिता की भगिनी कुन्ती के चरणों मे प्रणाम किया। कुन्ती ने भी प्रेम से उनके मस्तक को सूंघा और हृदय से लगाया ॥ ३ ॥

ददर्शाऽनन्तरं कृष्णो भगिनीं स्वां महायशाः ।
तामुपेत्य हृषीकेशः प्रीत्या बाष्पसमन्वितः ॥ ४ ॥

इसके अनन्तर महायशा श्री भगवान श्रीकृष्ण अपनी बहिन सुभद्रा के पास पहुंचे और वहां पहुंच कर प्रेम के अश्रुओं से रोने लगे ॥ ४ ॥

अर्घ्यं तथ्यं हितं वाक्यं लघु युक्तमनुत्तरम्।
उवाच भगवान्भद्रां सुभद्रां भद्रभाषिणीम् ॥ ५ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण, कल्याण वचन बोलने वाली सुभद्रा से सार्थक, हितकारी, सत्य, सारयुक्त, संक्षिप्त, शङ्कारहित वचन बोले ॥ ५ ॥

तया स्वजनगामीनि श्रावितो वचनानि सः।
संपूजितश्चाऽप्यसकृच्छिरसा चाऽभिवादितः ॥ ६ ॥

सुभद्रा ने भी अपने परिवार के सन्देश के योग्य वचन कहे, और श्री कृष्ण का अत्यन्त सत्कार करके उनको शिर झुकाकर किया ॥ ६ ॥

तामनुज्ञाप्य वार्ष्णेयः प्रतिनन्द्य च भामिनीम्।
ददर्शाऽनन्तरं कृष्णां धौम्यां चापि जनार्दनः ॥ ७ ॥

श्री कृष्ण अपनी बहिन से विदा लेकर और उसको प्रीति युक्त वचनों से अल्हादित करके द्रौपदी तथा पुरोहित धौम्य के पास पहुंचे ॥ ७ ॥

ववन्दे च यथान्यायं धौम्यं पुरुषसत्तमः।
द्रौपदीं सान्त्वयित्वा च आमन्त्र्य च जनार्दनः ॥ ८ ॥
भ्रातॄनभ्यगमद्विद्वान्पार्थेन सहितो बली।
भ्रातृभिः पञ्चभिः कृष्णो वृतः शक्र इवाऽमरैः ॥ ९ ॥

पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण ने धौम्य मुनि को विधि पूर्वक प्रणाम किया। इसके अनन्तर महात्मा श्री कृष्ण द्रौपदी को

समझा कर और उससे विदा लेकर अर्जुन के साथ अपने भाइयों से मिलने के लिए चल पड़े। युधिष्ठिरादि पांचों भाइयों से घिरा हुआ श्री कृष्ण, देवों से घिरे हुए इन्द्र के तुल्य प्रतीत होता था॥९॥

यात्राकालस्य योग्यानि कर्माणि गरुडध्वजः।
कर्तुकामः शुचिर्भूत्वा स्नातवान्समलंकृतः ॥१०॥

यात्रा के समय करने योग्य कर्मों के करने के लिए गरुडध्वज श्री कृष्ण ने शौच आदि करके स्नान किया और वस्त्र भूषण धारण किये ॥ १० ॥

अर्चयामास देवांश्च द्विजांश्च यदुपुङ्गवः।
माल्यजाप्यनमस्कारैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ॥११॥

काञ्चनं रथमास्थाय तार्क्ष्यकेतनमाशुगम् ।
गदाचक्रासिशार्ङ्गाद्यैरायुधैरावृतं शुभम् ॥ १४ ॥
तिथावप्यथ नक्षत्रे मुहूर्ते च गुणान्विते ।
प्रययौ पुण्डरीकाक्षः शैव्यसुग्रीववाहनः ॥ १५ ॥

गरुड़ की ध्वजा वाले शीघ्रगामी, गदा, चक्र, खड्ग, धनुष आदि शस्त्रों से युक्त, सुवर्ण के रथ मे बैठ कर और शैव्य तथा सुग्रीव नामक अश्वों को रथ मे जोत कर, शुभ तिथि और नक्षत्र मे चल दिये ॥ १४-१५ ॥

अन्वारुरोह चाऽप्येनं प्रेम्णा राजा युधिष्ठिरः ।
अपास्य चाऽस्य यन्तारं दारुकं यन्तृसत्तमम् ॥ १६ ॥
अभीषून्संप्रजग्राह स्वयं कुरुपतिस्तदा ।

कुरुपति राजा युधिष्ठिर भी प्रेम के कारण इनके रथ पर चढ़ गया और उत्तम सारथि दारुक को हटा कर प्रेम से घोड़ों की रस्सी पकड़ कर रथ चलाने लगा ॥ १६ ॥

उपारुह्याऽर्जुनश्चापि चामरव्यजनं सितम् ॥ १७ ॥
रुक्मदण्डं बृहद्बाहुर्विदुधाव प्रदक्षिणम् ।

विशाल बाहु अर्जुन भी रथ पर चढ़ कर सुवर्ण के दण्ड वाले श्वेत चमर को दायी ओर से कंपाने लगा ॥ १७ ॥

तथैव भीमसेनोऽपि यमाभ्यां सहितो बली ॥ १८ ॥
पृष्ठतोऽनुययौ कृष्णमृत्विक्पौरजनैः सह ।

महाबली भीमसेन भी, नकुल और सहदेव तथा ऋत्विक और पुरवासियों के साथ १ श्री कृष्ण के पीछे २ चल दिया ॥ १८ ॥

स तथा भ्रातृभिः सर्वैः केशवः परिवीरहा ॥ १९ ॥
अन्वीयमानः शुशुभे शिष्यैरिव गुरुः प्रियैः ।

शत्रुओं के वीरों का मर्दन करने वाले श्रीकृष्ण, उन सब भाइयों से युक्त हुए, प्रिय शिष्यों से युक्त, गुरु के तुल्य सुशोभित होने लगे ॥ १९ ॥

पार्थमामन्त्र्य गोविन्दः परिष्वज्य सुपीडितम् ॥ २० ॥
युधिष्ठिरं पूजयित्वा भीमसेनं यमौ तथा ।
परिष्वक्तो भृशं तैस्तु यमाभ्यामभिवादितः ॥ २१ ॥
योजनार्धमथो गत्वा कृष्णः परपुरंजयः ।
युधिष्ठिरं समामन्त्र्य निवर्तस्वेति भारत !॥ २२ ॥

इसके अनन्तर दो कोश पहुंच कर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से विदा मागी और प्रेम से गाढ आलिङ्गन किया। युधिष्ठिर, भीमसेन नकुल और सहदेव का भी भगवान् ने बडा आदर किया। युधिष्ठिर भीम, और अर्जुन ने आलिङ्गन किया और नकुल तथा सहदेव ने झुक कर प्रणाम किया। हे भारत ! इसके बाद युधिष्ठिर से विदा माग कर उनके लौट जाने के लिये श्रीकृष्ण आग्रह करने लगे ॥ २०-२२ ॥

ततोऽभिवाद्य गोविन्दः पादौ जग्राह धर्मवित् ।
उत्थाप्य धर्मराजस्तु मूर्ध्न्युपाघ्राय केशवम् ॥ २३ ॥

पाण्डवो यादवश्रेष्ठं कृष्णं कमललोचनम्।
गम्यतामित्यनुज्ञाप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

धर्मात्मा श्रीकृष्ण ने प्रणाम करके युधिष्ठिर के चरण पकड़ लिए और धर्मराज युधिष्ठिर ने भी श्रीकृष्ण को उठा कर, अपने गले से लगाया, और मस्तक सूंघ कर कमल-लोचन, यदुवंश श्रेष्ठ, श्रीकृष्ण को गमन की अनुमति दे दी ॥ २३-२४ ॥

ततस्तैः संविदं कृत्वा यथावन्मधुसूदनः ।
निवर्त्य च तथा कृच्छ्रात्पाण्डवान्सपदानुगान् ॥ २५ ॥
स्वां पुरीं प्रययौ हृष्टो यथा शक्रोऽमरावतीम् ।
लोचनैरनुजग्मुस्ते तमादृष्टिपथात्तदा ॥ २६ ॥
मनोभिरनुजग्मुस्ते कृष्णं प्रीतिसमन्वयात् ।

उनसे फिर शीघ्र आकर मिलने का आश्वासन देकर और पैदल ही पीछे २ चलने वाले पाण्डवों को कठिनता से लौटा कर भगवान् श्रीकृष्ण, प्रसन्नता के साथ, अमरावती को इन्द्र के तुल्य, अपनी पुरी को चल दिये । जब तक श्रीकृष्ण दृष्टि के पथ में रहे, तब तक पाण्डवों ने अपने मन और नेत्रों से उनका पीछा किया ॥ २५-२६ ॥

अतृप्तमनसामेव तेषां केशवदर्शने ॥
क्षिप्रमन्तर्दधे शौरिश्चक्षुषां प्रियदर्शनः ॥ २७ ॥
अकामा एव पार्थास्तु गोविन्दगतमानसाः ।
निवृत्योपययुस्तूर्णं स्वपुरं पुरुषर्षभाः ॥ २८ ॥
स्यन्दनेनाऽथ कृष्णोऽपि त्वरितं द्वारकामगात् ।

ये पाण्डव, श्रीकृष्ण के दर्शन से तृप्त नहीं होते थे। प्रिय और दर्शनीय आकृति वाले भगवान उनके देखते २ दृष्टि से बाहर हो गये। अब पाण्डवों ने श्रीकृष्ण में प्रीति होने के कारण अपने मन से उनका पीछा किया। ये पाण्डव श्रीकृष्ण में स्वभाव से ही अनुरक्त थे। वे पुरुष श्रेष्ठ, पाण्डव, लौट कर अपने नगर हस्तिनापुर को आये और श्रीकृष्ण भी अपने रथ के द्वारा द्वारका को गये ॥२७-२८॥

सात्वतेन च वीरेण पृष्ठतो यायिना तदा ॥ २९ ॥
दारुकेण च सूतेन सहितो देवकीसुतः ।
स गतो द्वारकां विष्णुर्गरुत्मानिव वेगवान् ॥ ३० ॥

श्रीकृष्ण, अनुयायी सात्वत वीर और दारुक सारथी के साथ वेगवान् गरुड के तुल्य द्वारका में पहुंचे ॥ २९-३० ॥

वैशम्पायन उवाच—

निवृत्य धर्मराजस्तु सह भ्रातृभिरच्युतः ।
सुहृत्परिवृतो राजा प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन बोले—धर्मशील राजा युधिष्ठिर भी लौट कर अपने भाई और सुहृदों के साथ नगर में प्रविष्ट हुआ ॥ ३१ ॥

विसृज्य सुहृदः सर्वान्भ्रातॄन्पुत्रांश्च धर्मराट् ।
मुमोद पुरुषव्याघ्रो द्रौपद्या सहितो नृप ! ॥ ३२ ॥

हे राजन् ! पुरुष श्रेष्ठ धर्मराज, अपने भाई, मित्र और पुत्रों से पृथक् होकर द्रौपदी के पास आराम करने चला गया ॥३२॥

वैशम्पायन उवाच—

केशवोऽपि मुदा युक्तः प्रविवेश पुरोत्तमम् ।
पूज्यमानो यदुश्रेष्ठै रुग्रसेनमुखैस्तथा ॥ ३३ ॥

श्री कृष्ण भी यादव और राजा उग्रसेन से सत्कृत हो कर अपनी नगरी द्वारका में प्रविष्ट हुए ॥ ३३ ॥

आहुकं पितरं वृद्धं मातरं च यशस्विनीम् ।
अभिवाद्य बलं चैव स्थितः कमललोचनः ॥ ३४ ॥

श्री कमल-लोचन श्रीकृष्ण ने आहुक अपने वृद्ध पिता और यशस्विनी माता को प्रणाम किया और वहीं पर बैठ गये ॥३४॥

प्रद्युम्नसाम्बनिशठञ्चारुदेष्णं गदं तथा ।
अनिरुद्धं च भानुं च परिष्वज्य जनार्दनः ॥ ३५ ॥
स वृद्धैरभ्यनुज्ञातो रुक्मिण्या भवनं ययौ ॥ ३६ ॥

प्रद्युम्न, सांब, निशठ, चारुदेष्ण, गद, अनिरुद्ध, और भानु को आलिङ्गन करके श्रीकृष्ण, अपने वृद्धों से आज्ञा लेकर रुक्मिणी के भवन में पहुंचे ॥ ३५-३६ ॥

मयोऽपि स महाभागः सर्वरत्नविभूषिताम् ।
विधिवत्कल्पयामास सभां धर्मसुताय वै ॥ ३७ ॥ [५८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि भगवद्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

महा शिल्पी मय ने भी सब रत्नों से विभूषित, राजसभा, युधिष्ठिर के लिये इस समय बिल्कुल तय्यार करदी ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारत सभापर्वान्तर्गत सभाक्रिया पर्व में श्रीकृष्ण के गमन का दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ।



तीसरा अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

अथाऽब्रवीन्मयः पार्थमर्जुनं जयतां वरम् ।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि पुनरेष्यामि चाऽप्यहम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे राजन् ! इसके अनन्तर मयदैत्य विजयशील अर्जुन से बोला—हे अर्जुन ! अब मैं जाना चाहता हूं, थोड़े ही दिनों मे लौट कर आता हूं ॥ १ ॥

उत्तरेण तु कैलासं मैनाकं पर्वतम्प्रति ।
यियक्षमाणेषु पुरा दानवेषु मया कृतम् ॥ २ ॥
चित्रं मणिमयं भाण्डं रम्यं बिन्दुसरः प्रति ।
सभायां सत्यसन्धस्य यदासीद् वृषपर्वणः ॥ ३ ॥
आगमिष्यामि तद् गृह्य यदि तिष्ठति भारत ! ।

पूर्वकाल में कैलास के उत्तर मे मैनाक पर्वत पर दानवों ने यज्ञ करना आरम्भ किया था। उस समय मैंने कृत्रिम मयूरादि बनाने का अद्भुत रंग बनाया था। यह रंग बिन्दु सर के ऊपर दैत्यराज वृषपर्वा की सभा के लिये तय्यार किया था। वह मणिमय पात्र मे रक्खा है। हे भारत ! मैं उसको लेकर शीघ्र ही आता हूं, आप कुछ प्रतीक्षा करें ॥ २-३ ॥

मनःप्रह्लादिनीं चित्रां सर्वरत्नविभूषिताम् ।
ततः सभां करिष्यामि पाण्डवस्य यशस्विनीम् ॥ ४ ॥

इसके बाद मन को प्रसन्न करने वाली, सब रत्नों से भूषित, अद्भुत प्रशंसा के योग्य, राजसभा, कुरुराज युधिष्ठिर के लिये तय्यार करूंगा ॥ ४ ॥

अस्ति बिन्दुसरस्युग्रा गदा च कुरुनन्दन! ॥ ५ ॥
निहिता भावयाम्येवं राज्ञा हत्वा रणे रिपून् ।
सुवर्णबिन्दुभिश्चित्रा गुर्वी भारसहा दृढा ॥ ६ ॥

वहां बिन्दु सरोवर के ऊपर एक उग्र गदा भी है। दैत्यराज वृषपर्वा ने रण में शत्रुओं को उस गदा से ही मार कर उसको सम्भाल कर रक्खा था, वह मुझे मालूम है। वह गदा सुवर्ण की पच्चीकारी से युक्त और बड़ी भारी अद्भुत, और दृढ़ है ॥५-६॥

सा वै शतसहस्रस्य संमिता शत्रुघातिनी ।
अनुरूपा च भीमस्य गाण्डीवं भवतो यथा ॥ ७ ॥

यह गदा एक वार में सैकड़ों और हजारों शत्रुओं के मार देने वाली है। आपके अनुरूप गांडीव के तुल्य, भीम के योग्य यह गदा है ॥ ७ ॥

वारुणश्च महाशंखो देवदत्तः सुघोषवान् ।
सर्वमेतत्प्रदास्यामि भवते नाऽत्र संशयः ॥ ८ ॥

वरुण का महाशङ्ख देवदत्त भी है, जो बड़ा शब्द करता है। ये सब मैं लाकर आपको निस्सन्देह प्रदान करूंगा ॥ ८ ॥

इत्युक्त्वा सोऽसुरः पार्थं प्रागुदीचीं दिशं गतः ।
अथोत्तरेण कैलासान्मैनाकं पर्वतं प्रति ॥ ९ ॥

यह कह कर वह असुर मय पूर्व और उत्तर के कोने में चला गया। इससे आगे कैलाश के उत्तर में मैनाक पर्वत पर पहुंचा॥ ९॥

हिरण्यशृङ्गः सुमहान्महामणिमयो गिरिः।
रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः॥ १०॥

द्रष्टुं भागीरथीं गङ्गामुवास बहुलाः समाः।

यह मैनाक पर्वत सुवर्ण की चोटी वाला, मणियों से भरा हुआ भारी पर्वत है। इस पर ही रमणीक बिन्दु सरोवर है। इसी सरोवर पर राजा भगीरथ गङ्गा के लाने के लिये अनेक वर्षों तक तप करता रहा है।

आहृताः क्रतवो मुख्याः शतं भरतसत्तम!।
यथेष्टं सर्वभूतानामीश्वरेण महात्मना॥ ११॥

हे भरत सत्तम! इसी पर्वत पर महानुभाव प्रजापति ने भी सौ दार प्रधान २ यज्ञ किये हैं॥ ११॥

शोभार्थं विहितास्तत्र न तु दृष्टान्ततः कृताः।
यत्र यूपा मणिमयाश्चैत्याश्चापि हिरण्मयाः॥ १२॥
यत्रेष्ट्वा स गतः सिद्धिं सहस्राक्षः शचीपतिः॥ १३

इस पर्वत पर मणियों के यज्ञ स्तम्भ बने हुये हैं, और सुवर्ण के अनेक चैत्यालय (कोठिया) हैं। ये सब उस पर्वत की शोभा के लिए रचे गये हैं, इनका दूसरा दृष्टान्त नहीं है यहीं पर यज्ञ करके शचीपति इन्द्र ने सिद्धि प्राप्त की है॥ १२-१३॥

यत्र भूतपतिः सृष्ट्वा सर्वांल्लोकान्सनातनः ।
उपास्यते तिग्मतेजाः स्थितो भूतैः सहस्रशः ॥१४॥

सनातन सम्पूर्ण प्राणियों का पति महातेजस्वी महादेव सब लोकों को रच कर सहस्रों अपने भूत-गणों के साथ इसी स्थान पर रहता है ॥ १४ ॥

नरनारायणौ ब्रह्मा यमः स्थाणुश्च पञ्चमः ।
उपासते यत्र सत्रं सहस्रयुगपर्यये ॥ १५ ॥

नर, नारायण, ब्रह्मा, यम, महादेव ये पाचों सहस्रों युगों पर्यन्त इसी स्थान पर यज्ञ करते रहे हैं ॥ १५ ॥

यत्रेष्टं वासुदेवेन सत्रैर्वर्षगणान्बहून् ।
श्रद्दधानेन सततं धर्मसंप्रतिपत्तये ॥ १६ ॥
सुवर्णमालिनो यूपांश्चैत्यांश्चाऽप्यतिभास्वरान् ।
ददौ यत्र सहस्राणि प्रयुतानि च केशवः ॥ १७॥

यहीं पर वासुदेव भगवान् श्री कृष्ण ने बहुत वर्षों तक लगातार धर्म की सिद्धि के लिए श्रद्धा के साथ यज्ञ किये हैं और सुवर्णों की मालाओं से युक्त, अत्यन्त चमकते हुए यूप और चैत्यालय तथा लाखों की संख्या मे स्वर्ण मुद्राएं दान दी हैं ॥ १६-१७ ॥

तत्र गत्वा स जाग्राह गदां शंखं च भारत ! ।
स्फाटिकं च सभाद्रव्यं यदासीद्वृषपर्वणः ॥ १८ ॥

हे जनमेजय ! मय दैत्य ने वहा जाकर गदा, देवदत्त शंख और वृषपर्वा का संचित किया हुआ स्फटिक का सभाद्रव्य अपने अधिकार मे कर लिया ॥ १८ ॥

किंकरा सह रक्षोभिर्यदरक्षन्महद्धनम् ।
तदगृह्णान्मयस्तत्र गत्वा सर्वं महासुरः ॥ १९ ॥

उस महासुर ने वहा जाकर राक्षसों के साथ नौकर से सुरक्षित वृषपर्वा की महान् धन राशि को भी ग्रहण कर लिया ॥१९॥

तदाहृत्य च तां चक्रे सोऽसुरोऽप्रतिमां सभाम् ।
विश्रुतां त्रिषु लोकेषु दिव्यां मणिमयीं शुभाम् ॥ २० ॥

इस सारे सामान को लाकर मय ने अनुपम, दिव्य मणियों से युक्त, ऐसी सुन्दर सभा की रचना की कि वह तीनों लोकों में प्रसिद्ध होगई ॥ २० ॥

गदां च भीमसेनाय प्रददौ प्रवरां तदा ।
देवदत्तं चाऽर्जुनाय शङ्खप्रवरमुत्तमम् ॥
यस्य शङ्खस्य नादेन भूतानि प्रचकम्पिरे ॥ २१ ॥

मय ने उस उत्तम गदा को तो भीम के लिए दे दिया और उस महाशङ्ख देवदत्त को अर्जुन के लिए प्रदान किया। जिस के नाद से समस्त प्राणी काप जाते थे ॥२१॥

सभा च सा महाराज ! शातकुम्भमयद्रुमा ।
दशकिष्कुसहस्राणि समन्तादायताऽभवत् ॥ २२ ॥

हे महाराज ! इस सभा मे मय ने सुवर्ण के वृक्ष लगाये। वह चारों ओर से दश हजार किष्कु (हाथ) लम्बी और चौडी थी ॥ २२ ॥

यथा वह्ने र्यथाऽर्कस्य सोमस्य च यथा सभा।
भ्राजमाना तथाऽत्यर्थं दधार परमं वपुः ॥ २३ ॥

जैसी अग्नि, सोम और सूर्य की सभा थी, उसी प्रकार की देदीप्यमान यह सभा थी जिसका आकार बड़ा ही सुन्दर था।।२३

अभिघ्नतीव प्रभया प्रभामर्कस्य भास्वराम्।
प्रबभौ ज्वलमानेव दिव्या दिव्येन वर्चसा ॥ २४ ॥

यह अपनी चमक से, देदीप्यमान सूर्य की चमक को भी परास्त कर रही थी। यह मानों अलौकिक तेज से चम-चमा रही थी ॥ २४ ॥

नवमेघप्रतीकाशा दिवमावृत्य विष्ठिता ।
आयता विपुला रम्या विपाप्मा विगतक्लमा ॥ २५ ॥

यह नवीन मेघों के तुल्य आकाश को घेर कर सुशोभित हो रही थी। यह बड़ी लम्बी, चौड़ी, सुन्दर, पाप और क्लेशों से रहित थी ॥ २५ ॥

उत्तमद्रव्यसंपन्ना रत्नप्राकारतोरणा ।
बहुचित्रा बहुधना निर्मिता विश्वकर्मणा ॥ २६ ॥

उत्तम २ द्रव्यों से युक्त, रत्नों से जटित परकोटे और तोरण वाली, अनेक चित्र और धन-धान्य से परिपूर्ण, विश्वकर्मा द्वारा सुन्दर बनाई गई थी ॥ २६ ॥

न दाशार्ही सुधर्मा वा ब्रह्मणो वाऽथ तादृशी ।
सभा रूपेण संपन्ना यां चक्रे मतिमान्मयः ॥ २७ ॥

न तो बाण या बलि की ही ऐसी सभा थी और न देवों तथा ब्रह्मा की ही ऐसी सभा थी, जिस आकार में बुद्धिमान मय ने यह सभा बना डाली ॥ २७ ॥

तां स्म तत्र मयेनोक्ता रक्षन्ति च वहन्ति च।
सभामष्टौ सहस्राणि किंकरा नाम राक्षसाः॥ २८ ॥

इस सभा की मय की आज्ञा में किंकर नाम के आठ हजार राक्षस रक्षा करते थे और इसको धारण करके इधर-उधर ले जाते थे ॥ २८ ॥

अन्तरिक्षचरा घोरा महाकाया महाबलाः ।
रक्ताक्षाः पिंगलाक्षाश्च शुक्तिकर्णाः प्रहारिणः॥ २९ ॥

ये राक्षस, आकाश मे उड़ने वाले थे, महाघोर विशालकाय वाले, महाबली, लाल और पीली आंख वाले तथा सीपी के समान कर्णधारी और प्रहार करने में दक्ष थे ॥ २९ ॥

तस्यां सभायां नलिनीं चकाराऽप्रतिमां मयः।
वैदूर्यपत्रविततां मणिनालमयाम्बुजाम् ॥ ३० ॥

इस मय ने इस सभा में एक अद्‌भुत कमलिनी बनाई, जिस मे वैदूर्य मणि के पत्र लगे हुए थे और मणियों की नाल के साथ कमल लगा रखे थे ॥ ३० ॥

पद्मसौगन्धिकवतीं नानाद्विजगणायुताम्।
पुष्पितैः पङ्कजैश्चित्रां कूर्ममत्स्यैश्च काञ्चनैः ॥ ३१ ॥
चित्रस्फटिकसोपानां निष्पङ्कसलिलां शुभाम्॥ ३२ ॥

कमल के आकार की पद्मराग मणियों से युक्त, अनेक पक्षियों से सुशोभित तथा पुष्प और कमलों से चित्र विचित्र थी। यह सुवर्ण के फूलों और मञ्जरियों से और भी अद्भुत हो रही थी। ॥ ३१-३२ ॥

मन्दानिलसमुद्भूतां मुक्ताबिन्दुभिराचिताम् ।
महामणिशिलापट्टबद्धपर्यन्तवेदिकाम् ॥ ३३ ॥
मणिरत्नचितां तां तु केचिदभ्येत्य पार्थिवाः ।
दृष्ट्वाऽपि नाभ्यजानन्त तेऽज्ञानात्प्रपतन्त्युत ॥ ३४ ॥

कोई २ राजा तो मणि और रत्नों से जटित उस कमलिनी के पास जाकर और उसको देख कर भी अपने अज्ञान के कारण जान नहीं पाते थे और उससे टक्कर खाकर गिर जाते थे ॥३४॥

तामभामभितो नित्यं पुष्पवन्तो महाद्रुमाः ।
आसन्नानाविधा नीलाः शीतच्छाया मनोरमाः ॥ ३५ ॥

उस सभा के चारों ओर पुष्पों से युक्त बड़े २ वृक्ष थे। उनकी छाया शीतल थी और वे स्वयं बड़े सुन्दर थे ॥ ३५ ॥

काननानि सुगन्धीनि पुष्करिण्यश्च सर्वशः ।
हंसकारण्डवोपेताश्चक्रवाकोपशोभिताः ॥ ३६ ॥

उस सभा का उपवन बड़ा सुगन्धित और तालाब, हंस, कारण्डव तथा चकवाओं से सुशोभित था ॥३६॥

जलजानां च पद्मानां स्थलजानां च सर्वशः ।
मारुतो गन्धमादाय पाण्डवान्स्म निषेवते ॥ ३७॥

जल और थल के कमलों की सुगन्ध को लेकर वायु, पाण्डवों का मन प्रसन्न किया करता था ॥ ३६ ॥

ईदृशीं तां सभां कृत्वा मासैः परिचतुर्दशैः ।
निष्ठितां धर्मराजाय मयो राजन्न्यवेदयत् ॥३८॥[९६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभानिर्माणे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

हे राजन्! इस प्रकार की सभा को चौदह महीनों से कुछ अधिक दिनों में बना कर मय ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा ॥३७

इति श्री महाभारतान्तर्गत सभापर्व में सभा निर्माण का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

चौथा अध्याय

वैशम्पायन उवाचः—

ततः प्रवेशनं तस्यां चक्रे राजा युधिष्ठिरः ।
अयुतं भोजयित्वा तु ब्राह्मणानां नराधिपः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—इसके अनन्तर राजा युधिष्ठिर ने दस हजार ब्राह्मणों को भोजन करा के उस सभा में प्रवेश किया ॥१॥

साज्येन पायसेनैव मधुना मिश्रितेन च ।
भक्ष्यैर्मूलैः फलैश्चैव मांसैर्वाराहहारिणैः ॥ २ ॥
कृसरेणाऽथ जीवन्त्या हविष्येण च सर्वशः ।
मांसप्रकारैर्विविधैः खाद्यैश्चापि तथा नृप! ॥ ३ ॥

चोष्यैश्च विविधै राजन्पेयैश्च बहुविस्तरैः।
अर्हतैश्चैव वासोभिर्माल्यैरुच्चावचैरपि ॥ ४ ॥
तर्पयामास विप्रेन्द्रान्नानादिग्भ्यः समागतान्।

हे राजन्! धर्मराज युधिष्ठिर ने घृत और मिष्ठान्न से मिली हुई खीर, कन्द, मूल, फल तथा वराह और हरिण के मांस, तिल मिले हुए ओदन, जीवन्ती के शाक, सारे हविष्यान्न, नाना प्रकार के मांस तथा अन्य भक्ष्य, अनेक प्रकार के चूसने और पीने के पदार्थ, नवीन वस्त्र और उत्तम २ मालाओं से अनेक दिशाओं से आये हुए ब्राह्मणों को तृप्त किया॥ २-४॥

ददौ तेभ्यः सहस्राणि गवां प्रत्येकशः पुनः ॥ ५ ॥
पुण्याहघोषस्तत्राऽऽसीद्दिवस्पृगिव भारत!।
वादित्रैर्विविधैर्दिव्यैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ॥ ६ ॥

उन ब्राह्मणों में प्रत्येक को सहस्रों गायें प्रदान कीं। पुण्य वाचनादि की ध्वनि इतनी विशाल हुई कि आकाश को छूने लगी राजा युधिष्ठिर ने अनेक प्रकार के बाजों के साथ उत्तम २ दिव्य गन्धों से द्वार देश पर स्थित किये हुए देवों की पूजा की॥ ५-६॥

पूजयित्वा कुरुश्रेष्ठो दैवतानि निवेश्य च।
तत्र मल्ला नटा झल्लाः सूता वैतालिकास्तथा।
उपतस्थुर्महात्मानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ७ ॥

यहां कुश्ती लड़ने वाले पहलवान तथा लकड़ी चलाने वाले पटेबाज, सूत तथा वैतालिक, धर्म पुत्र महात्मा युधिष्ठिर के समक्ष उपस्थित हुए ॥ ७ ॥

तथा स कृत्वा पूजां तां भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
तस्यां सभायां रम्यायां रेमे शक्रो यथा दिवि ॥ ८ ॥

अपने भाइयों के सहित राजा युधिष्ठिर उस पूजा को सम्पूर्ण करके स्वर्ग में इन्द्र के समान, उस सभा में रहने लगा ॥ ८ ॥

सभायामृषयस्तस्यां पाण्डवैः सह आसते ।
आसां चक्रुर्नरेन्द्राश्च नानादेश समागताः ॥ ९ ॥

उस सभा में पाण्डवों के साथ अनेक ऋषि बैठा करते थे। एवं अनेक देशों से आये हुए राजा भी वहां आकर बैठते थे ॥९॥

असितो देवलः सत्यः सर्पिर्मालीमहाशिराः ।
अर्वावसुः सुमित्रश्च मैत्रेयः शुनको बलिः ॥ १० ॥
बको दाल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनः शुकः ।
सुमन्तुर्जैमिनिः पैलो व्यासशिष्यास्तथा वयम् ॥ ११ ॥
तित्तिरिर्याज्ञवल्क्यश्चससुतो लोमहर्षणः ।
अप्सुहोम्यश्च धौम्यश्च अणीमाण्डव्यकौशिकौ ॥ १२ ॥
दामोष्णीषस्त्रैवलिश्च पर्णादो घटजानुकः ।
मौञ्जायनो वायुभक्षः पाराशर्यश्च सारिकः ॥ १३ ॥
बलीवाकः सिनीवाकः सत्यपालः कृतश्रमः ।
जातूकर्णः शिखावांश्च आलम्बः पारिजातकः ॥ १४ ॥

पर्वतश्च महाभागो मार्कण्डेयो महामुनिः ।
पवित्रपाणिः सावर्णो भालुकिर्गालवस्तथा ॥ १५॥
जङ्घाबन्धुश्च रैभ्यश्च कोपवेगस्तथा भृगुः ।
हरिबभ्रुश्च कौण्डिन्यो बभ्रुमाली सनातनः ॥ १६ ॥
काक्षीवानौशिजश्चैव नाचिकेतोऽथ गौतमः ।
पैङ्गयो वराहः शुनकः शाण्डिल्यश्च महातपाः ॥ १७ ॥
कुक्कुरो वेणुजङ्घोऽथ कालापः कठ एव च ।
मुनयो धर्मविद्वांसो धृतात्मनो जितेन्द्रियाः ॥ १८ ॥
एते चान्ये च बहवो वेदवेदाङ्गपारगाः ।
उपासते महात्मानं सभायामृषिसत्तमाः ॥ १९ ॥
कथयन्तः कथाः पुण्या धर्मज्ञाः शुचयोऽमलाः ।

इस सभा में असित, देवल, सत्य, सर्पिर्माली, महाशिरा, अर्वावसु, सुमित्र, मैत्रेय, शुनक, बलि, वक, दाल्भ्य, स्थूलशिरा, कृष्णद्वैपायन, शुक, सुमन्तु, जैमिनि, पैल तथा व्यास के शिष्य हम लोग, तित्तिरि, याज्ञवल्क्य, पुत्र सहित लोमहर्षण, अप्सुहोम्य, धौम्य, अणीमांडव्य, कौशिक, दामोष्णीष, त्रैवलि, पर्णाद, घटजानुक, मौञ्जायन, वायुभक्ष, पाराशर्य, सारिक, बलिवाक्, सिलीवाक, सत्यपाल, कृतश्रम, जातूकर्ण, शिखावान्, आलम्ब, पारिजातक, महाभाग पर्वत, महामुनि मार्कण्डेय, पवित्रपाणि, सावर्ण, भालुकि, गालव, जघाबन्धु, रैभ्य, कोपवेग, भृगु, हरिबभ्रु, कौंडिन्य, बभ्रमाली, सनातन, काक्षीवान्, औशिज,

नाचिकेत, गौतम, पैङ्ग्य, वराह, शुनक, महात्मा शाण्डिल्य, कुकुर वेणुजंघ, कालाप, कठ, धर्म के ज्ञाता, धैर्यशील, जितेन्द्रिय, ये मुनि तथा अन्य बहुत से वेद के पारगामी मुनि श्रेष्ठ, महात्मा युधिष्ठिर के समीप बैठा करते थे। ये अनेक प्रकार की कथा कहते रहते थे। ये मुनि लोग धर्म के जानने वाले, पवित्र, शुचि और निर्मल थे। ॥ ६-१६ ॥

तथैव क्षत्रियश्रेष्ठा धर्मराजमुपासते ॥ २० ॥
श्रीमान्महात्मा धर्मात्मा मुञ्जकेतुर्विवर्धनः ।
संग्रामजिद् दुर्मुखश्च उग्रसेनश्च वीर्यवान् ॥ २१ ॥
कक्षसेनः क्षितिपतिः क्षेमकश्चाऽपराजितः ।
काम्बोजराजः कमठः कम्पनश्च महाबलः ॥ २२॥

इसी प्रकार उत्तम २ क्षत्रिय, धर्मराज युधिष्ठिर की सभा में बैठते थे, जिनके नाम श्रीमान महात्मा धर्मात्मा मुंजकेतु, विवर्धन संग्रामजित, दुर्मुख, वीर्यवान् उग्रसेन, कक्षसेन, क्षितिपति, क्षेमक, अपराजित, कंबोजराज, कमठ और महाबली कँपन हैं ॥ २०-२२ ॥

सततं कम्पयामास यवनानेक एव यः ॥ २३ ॥
बलपौरुषसम्पन्नाकृतास्त्रानमितौजसः ।
यथाऽसुरान्कालकेयान्देवो वज्रधरस्तथा ॥ २४ ॥

इस अकेले ही कंपन ने बल और पौरुष से युक्त, अस्त्र विद्या के जानने वाले, अत्यन्त तेजस्वी यवनों को, कालकेय असुरों को वज्रधारी इन्द्र के समान, सदा प्रकम्पित ही रखा ॥२३-२४॥

जटासुरो मद्रकाणां च राजा कुन्तिः पुलिन्दश्च किरातराजः ।
तथाङ्गवङ्गौ सह पुण्ड्रकेण पाण्ड्योड्रराजौ च सहान्ध्रकेण॥२५

इसी प्रकार मद्रक देश का राजा जटासुर, कुन्ति, पुलिन्द, किरातराज, पुण्ड्रक के सहित अंग और वंग के राजा, और अन्ध्र देश के स्वामी के साथ पाण्ड्य और उड्र देश के राजा युधिष्ठिर की सभा में उपस्थित रहते थे ॥ २५ ॥

अंगो वंगः सुमित्रश्च शैव्यश्चाऽमित्रकर्शनः ।
किरातराजः सुमना यवनाधिपतिस्तथा ॥ २६ ॥
चाणूरो देवरातश्च भोजो भीमरथश्च यः ।
श्रुतायुधश्च कालिंगो जयसेनश्च मागधः ॥ २७ ॥
सुकर्मा चेकितानश्च पुरुश्चाऽमित्रकर्शनः ।
केतुमान्वसुदानश्च वैदेहोऽथ कृतक्षणः ॥ २८ ॥
सुधर्मा चाऽनिरुद्धश्च श्रुतायुश्च महाबलः ।
अनूपराजो दुर्धर्षः क्रमजिच्च सुदर्शनः ॥ २९ ॥
शिशुपालः सहसुतः करूषाधिपतिस्तथा ।
वृष्णीनां चैव दुर्धर्षाः कुमारा देवरूपिणः ॥ ३० ॥
आहुको विपृथुश्चैव गदः सारण एव च ।
अक्रूरः कृतवर्मा च सत्यकश्च शिनेः सुतः ॥ ३१ ॥
भीष्मकोऽथाऽऽकृतिश्चैव द्युमत्सेनश्च वीर्यवान् ।
केकयाश्च महेष्वासा यज्ञसेनश्च सौमकिः ।
केतुमान्वसुमांश्चैव कृतास्त्रश्च महाबलः ॥ ३२ ॥

एते चाऽन्ये च बहवः क्षत्रिया मुख्यसंमताः ।
उपासते सभायां स्म कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ३३ ॥

अङ्गदेश का अधिपति सुमित्र और वंग देश का शत्रु विजयी शैव्य था। किरातराज सुमना तथा यवनाधिपति, चाणूर, देवरात, भोज, भीमरथ, कलिङ्ग देशाधिप श्रुतायुध, मगध देश का स्वामी जयसेन, सुकर्मा चेकितान, शत्रुविजयी पुरु, केतुमान् वसुदान, वैदेह कृतक्षण, सुधर्मा, अनिरुद्ध, महाबली श्रुतायु, अनूपराज, दुर्धर्ष, क्रमजित सुदर्शन, करूष देश का अधिपति पुत्र सहित शिशुपाल, वृष्णियों के देवों के तुल्य रूप वाले और अजेय राजकुमार, आहुक, विपृथु, गद, सारण, अक्रूर, कृतवर्मा शिनि का पुत्र सत्यक, भीष्मक, आकृति, वीर्यवान् द्युमत्सेन, महा धनुषधारी केकय, सोमक का पुत्र यज्ञसेन, केतुमान्, वसुमान्, और महाबली कृतास्त्र ये तथा अन्य बहुत से मुख्य २ क्षत्रिय, कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर की सभा के सभासद थे ॥ २६-३३ ॥

अर्जुनं ये च संश्रित्य राजपुत्रा महाबलाः ।
अशिक्षन्त धनुर्वेदं रौरवाजिनवाससः ॥ ३४ ॥
तत्रैव शिक्षिता राजन्कुमारा वृष्णिनन्दनाः ।

अर्जुन के पास आकर और मृगचर्म धारण करके अनेक राजपुत्र धनुर्विद्या सीखते थे। हे राजन्! यहीं पर वृष्णियों के कुमारों ने धनुर्वेद सीखा ॥ ३४ ॥

रौक्मिणेयश्च साम्बश्च युयुधानश्च सात्यकिः ॥ ३५ ॥
सुधर्मा चाऽनिरुद्धश्च शैव्यश्च नरपुङ्गवः ।

हे राजन् ! रुक्मणी का पुत्र प्रद्युम्न, साम्ब, युयुधान, सात्यकि सुधर्मा, अनिरुद्ध, नरश्रेष्ठ शैब्य, ये तथा अन्य राजा सब अर्जुन की सेवा में धनुर्वेद सीखने के लिए रहते थे ॥ ३५ ॥

एते चान्ये च बहवो राजानः पृथिवीपते ! ॥ ३६ ॥
धनञ्जयसखा चाऽत्र नित्यमास्ते स्म तुम्बुरुः ।
उपासते महात्मानमासीनं सप्तविंशतिः ॥ ३७ ॥
चित्रसेनः सहमात्यो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।

इन्हीं के पास अर्जुन के सखा गन्धर्व तुम्बुरु अपने सत्ताईस साथियों के साथ सभा में बैठे हुए युधिष्ठिर की सेवा में उपस्थित रहते थे। गन्धर्वराज चित्रसेन भी अपने अन्य गन्धर्व मन्त्री तथा अप्सराओं के सहित वहीं उपस्थित रहता था ॥ ३६-३७ ॥

गीतवादित्रकुशलाः शम्पातालविशारदाः ॥ ३८ ॥
प्रमाणेऽथ लये स्थाने किंनराः कृतनिश्रमाः ।

ये सब गाने बजाने में कुशल थे और शम्पा 'नामक ताल के विशारद थे। गाना बजाना और तालों की ध्वनि, द्रुत, मध्य, विलम्बित लय तथा उच्चारण में बड़ा श्रम किए हुए किन्नर गण भी वहीं उपस्थित रहते थे ॥ ३८ ॥

संचोदितास्तुम्बुरुणा गन्धर्वसहितास्तदा ॥ ३९ ॥
गायन्ति दिव्यतानैस्ते यथान्यायं मनस्विनः ।

तुम्बुरु की प्रेरणा से गन्धर्वों के सहित ये मनस्वी किन्नर दिव्य तानों से गान विद्या के अनुसार गाया करते थे ॥ ३९ ॥

पाण्डुपुत्रानृषींश्च रमयन्त उपासते ।। ४० ।।
तस्यां सभायामासीनाः सुव्रताः सत्यसंगराः ।
दिवीव देवा ब्रह्माणं युधिष्ठिरमुपासते ॥ ४१ ॥ [१३७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभाप्रवेशो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

समाप्तं च सभाक्रियापर्व ॥

ये व्रतशील सत्य प्रतिज्ञावाले किन्नर उस सभा में बैठ कर सब को सन्तुष्ट करते हुए पाण्डु पुत्र तथा ऋषियों को विशेष प्रकार से प्रसन्न करते थे। जिस प्रकार ब्रह्मलोक में देवता ब्रह्मा जी की उपासना करते हैं, उसी प्रकार वे युधिष्ठिर की सभा में उपस्थित रहते थे ॥ ४०-४१ ॥

इति श्री महाभारतान्तर्गत सभापर्व में सभा क्रियापर्व का सभा प्रवेश नाम का चौथा अध्याय समाप्त हुआ और यहीं पर अवान्तरपर्व सभाक्रियापर्व भी समाप्त हुआ।



पांचवां अध्याय

अथलोकपालसभाख्यानपर्व ॥

वैशम्पायन उवाच—

अथ तत्रोपविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
महत्सु चोपविष्टेषु गन्धर्वेषु च भारत ! ॥ १ ॥
वेदोपनिषदां वेत्ता ऋषिः सुरगणार्चितः ।
इतिहासपुराणज्ञः पुराकल्पविशेषवित् ॥ २ ॥

न्यायविद्धर्मतत्त्वज्ञः षडंगविदनुत्तमः ।
ऐक्यसंयोगनानात्वसमवायविशारदः ॥ ३ ॥
वक्ता प्रगल्भो मेधावी स्मृतिमान्नयवित्कविः ।
परावरविभागज्ञः प्रमाणकृतनिश्चयः ॥ ४ ॥
पञ्चावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित् ।
उत्तरोत्तरवक्ता च वदतोऽपि बृहस्पतेः ॥ ५ ॥
धर्मकामार्थमोक्षेषु यथावत्कृतनिश्चयः ।
तथा भुवनकोशस्य सर्वस्याऽस्य महामतिः ॥ ६ ॥
प्रत्यक्षदर्शी लोकस्य तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
सांख्ययोगविभागज्ञो निर्विवित्सुः सुरासुरान् ॥ ७ ॥
सन्धिविग्रहतत्त्वज्ञस्त्वनुमानविभागवित् ।
षाड्गुण्यविधियुक्तश्च सर्वशास्त्रविशारदः ॥ ८ ॥
युद्धगान्धर्वसेवी च सर्वत्राऽप्रतिघस्तथा ।
एतैश्चाऽन्यैश्च बहुभिर्युक्तो गुणगणैर्मुनिः ॥ ९ ॥
लोकाननुचरन्सर्वानागमत्तां सभां नृप ! ।
नारदः सुमहातेजा ऋषिभिः सहितस्तदा ॥ १० ॥

वैशम्पायन बोले—हे जनमेजय ! एक बार इस सभा में महात्मा पाण्डव, एवं बड़े २ मनुष्य तथा गन्धर्वों की उपस्थिति में वेद तथा उपनिषदों के ज्ञाता, देवों के गण से पूजित, इतिहास और पुराण के जानने वाले, पुराकल्प (ग्रन्थों) के विद्वान्, न्याय शास्त्र के ज्ञाता, धर्मों के तत्वों को जानने वाले, वेद के छःओं

अंगो के जानने में चतुर, सर्वश्रेष्ठ, परस्पर विरुद्ध से प्रतीत होने वाले वाक्यों की एकवाक्यता, संयुक्त वाक्यों का यज्ञक्रिया विशेष में पृथक् करण, एवं एक यज्ञ कर्म में अनेक कर्मों के आ जाने के विधान मे विशारद अथवा पदार्थों के साधर्म्य वैधर्म्य और सङ्कर (मेलन) के जानने में निपुण, उत्तम रीति से शास्त्रों की व्याख्या करने मे कुशल, सुसम्बद्ध रीति से वार्तालाप करने वाले, बुद्धिमान्, स्मृतिमान, नीति के ज्ञाता, कविता करने वाले तथा भविष्य के देखलेने वाले, ज्ञान काण्ड और कर्म काण्ड के विभाग मे चतुर, प्रत्यक्ष अनुमान और आप्तप्रमाणों के निश्चय के करने वाले, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पांच अवयवों से युक्त वाक्यों के गुण और दोषों के समझने वाले, बृहस्पति के सम्मुख आ जाने पर भी उत्तरोत्तर वाक्य के बोलने वाले, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इनके विषयों में यथावत् तत्व के जानने वाले, एवं इन सारे ब्रह्माण्ड के तत्वों के ज्ञाता, महाविचार शील, ऊपर-नीचे और मध्य लोक के प्रत्यक्ष देखने वाले, सांख्य और योग (ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग) के उपयोगों के विशेष ज्ञाता, देव और असुरों के समीप में समस्त विचारों के रखने वाले, शत्रुरहित होने के समय के सन्धि, विग्रह के तत्वज्ञ अपनी और पराई शक्ति के अनुमान के विभागों के ज्ञाता, शत्रु के समक्ष सन्धि विग्रह, यान, आसन द्वैधीभाव और समाश्रय के मर्मज्ञ, युद्ध और गन्धर्व विद्या के प्रेमी, सब स्थानों में नहीं रुकने वाली गति से गमन करने वाले, अनेक प्रकार के गुणों से युक्त, मनन-

शील, महातेजस्वी नारद ऋषि लोकों में घूमते हुए अनेक ऋषियों को साथ ले कर इस पाण्डवों की सभा में पहुंचे ॥ १-१० ॥

पारिजातेन राजेन्द्र पर्वतेन च धीमता ।
सुमुखेन च सौम्येन देवर्षिरमितद्युतिः ॥ ११ ॥
सभास्थान्पाण्डवान्द्रष्टुं प्रियमाणो मनोजवः ।
जयाशीर्भिस्तु तं विप्रो धर्मराजानमार्चयत् ॥ १२ ॥

हे राजन् ! बुद्धिमान् पारिजात पर्वत, सुमुख और सौम्य आदि ऋषियों के साथ अत्यन्त तेजस्वी नारद मुनि प्रसन्न हुए, मन के तुल्य वेग से सभा में स्थित पाण्डवों से मिलने के लिए आये। नारद जी ने आशीर्वाद देकर धर्मराज युधिष्ठिर का सत्कार किया ॥ ११-१२ ॥

तमागतमृषिं दृष्ट्वा नारदं सर्वधर्मवित् ।
सहसा पाण्डवश्रेष्ठः प्रत्युत्थायाऽनुजैः सह ॥ १३ ॥
अभ्यवादयत प्रीत्या विनयावनतस्तदा ।
तदर्हमासनं तस्मै संप्रदाय यथाविधि ॥ १४ ॥

समस्त धर्म के जानने वाले राजा युधिष्ठिर ने आये हुए महर्षि नारद को देख कर अपने छोटे भाइयों के साथ शीघ्रता से उठ कर प्रणाम किया। विनय और प्रेम से झुके हुए राजा युधिष्ठिर ने विधि पूर्वक नारद जी के लिए आसन दिया ॥ १३-१४ ॥

गा चैव मधुपर्कं च संप्रदायाऽर्घ्यमेव च ।
अर्चयामास रत्नैश्च सर्वकामैश्च धर्मवित् ॥ १५ ॥

तुतोष च यथावच्च पूजां प्राप्य युधिष्ठिरात् ।
सोऽर्चितः पाण्डवैः सर्वैर्महर्षिर्वेदपारगः ॥ १६ ॥
धर्मकामार्थसंयुक्तं पप्रच्छेदं युधिष्ठिरम् ॥ १७ ॥

धर्मराज ने नारद जी को शास्त्रानुसार गौ, मधुपर्क और अर्घ्य प्रदान किया तथा अनेक प्रकार के रत्नों से एवं सब कामनाओं की पूर्णता से नारद जी को सन्तुष्ट किया। राजा युधिष्ठिर से ठीक २ पूजा प्राप्त करके नारद जी बड़ प्रसन्न हुए, इस प्रकार वेद के जानने वाले पाण्डवों से पूजित हुए महर्षि नारद, युधिष्ठिर से धर्म, अर्थ और काम से युक्त, इस विषय को पूछने लगे॥१५-१७

नारदउवाच—

कच्चिदर्थाश्च कल्पन्ते धर्मे च रमते मनः ।
सुखानि चाऽनुभूयन्ते मनश्च न विहन्यते ॥ १८ ॥

नारद जी कहने लगे—हे राजन ! युधिष्ठिर ! तुम्हारे द्रव्य, याग दान आदि में उचित रीति से खर्च तो होते रहते हैं, तुम्हारा मन धर्म में तो प्रवृत्त रहता है। तुम सुखों का उपयोग तो करते रहते हो तथा किसी कारण से मन तो नहीं मारा जाता है ॥१८॥

कच्चिदाचरितां पूर्वैर्नरदेव ! पितामहैः ।
वर्तसे वृत्तिमक्षुद्रां धर्मार्थसहितां त्रिषु ॥ १९ ॥

हे नरदेव ! आप उत्तम, मध्यम और अधम जनों में अपने पूर्वजों से व्यवहार में लाई हुई धर्म और अर्थ से युक्त उदार नीति का अवलम्बन तो किये हुए हो ॥ १९॥

कच्चिदर्थेन वा धर्मं धर्मेणाऽर्थमथापि वा ।
उभौ वा प्रीतिसारेण न कामेन प्रबाधसे ॥ २० ॥

धन से धर्म या धर्ममात्र में प्रवृत्त हो कर अर्थ को हानि तो नहीं कर रहे हो अथवा क्षणिक सुख के लोभ से युक्त काम से इन दोनों धर्म और अर्थ का ह्रास तो नहीं कर रहे हो ॥ २० ॥

कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतां वर ! ।
विभज्य काले कालज्ञ ! सर्वं वरद ! सेवसे ॥ २१ ॥

हे विजय शील ! प्रजा की इच्छा के पूर्ण करने वाले, राजन् ! तुम धर्म, अर्थ और काम को काल के अनुसार बांट २ कर साथ सेवन तो करते रहते हो, क्योंकि तुम समयानुसार त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का सेवन करना जानते हो ॥ २१ ॥

कच्चिद्राजगुणैः षड्भिः सप्तोपायांस्तथाऽनघ ! ।
बलाबलं तथा सम्यक्चतुर्दश परीक्षसे ॥ २२ ॥

हे सर्व गुण सम्पन्न ! व्याख्यान शक्ति, शत्रुदमन में वीरता, मेधावीपन, भूत, भविष्य परिणाम का जानना, नीति-शास्त्र का विवेक, ये छः गुण हैं, इन छः गुणों से साम, दाम आदि सात उपाय और इनके बलाबल को तो जानते रहते हो तथा राजाओं के नास्तिक पन आदि चौदह दोषों पर तो कठिन दृष्टि रखते हो ॥ २२ ॥

कच्चिदात्मानमन्वीक्ष्य परांश्च जयतां वर ! ।
तथा संधाय कर्माणि अष्टौ भारत ! सेवसे ॥ २३ ॥

हे जयशील भारत ! अपने बल और शत्रु की दुर्बलता को देख कर और इसके विपरीत होने पर शत्रु से सन्धि करके कृषि वाणिज्य, दुर्ग, सेतु आदि आठ कर्मों का अवलम्बन तो किये हुए हो ॥ २३ ॥

कच्चित्प्रकृतयः सप्त न लुप्ता भरतर्षभ ! ।
आढ्यास्तथाऽव्यसनिनः स्वनुरक्ताश्च सर्वशः ॥ २४ ॥

हे भरतर्षभ ! स्वामी, मन्त्री, मित्र, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और पुरवासी ये सात प्रकार के राज्य के अंग शत्रुओं से मिलते तो नहीं हैं। धनवान बुरे व्यसनों में तो नहीं लिपटे हैं तथा तुम से प्रेम तो करते रहते हैं ॥ २४ ॥

कच्चिन्न कृतकैर्दूतैर्ये चाऽप्यपरिशंकिताः ।
त्वत्तो वा तव चाऽमात्यैर्भिद्यते मन्त्रितं तथा ॥ २५ ॥

जिन में दुष्ट होने की शंका भी नहीं की जा सकती है, ऐसे दूत या मन्त्रियों से या तुम्हारे द्वारा ही तुम्हारा मन्त्र फूट तो नहीं निकलता है ॥ २५ ॥

मित्रोदासीनशत्रूणां कच्चिद्वेत्सि चिकीर्षितम् ।
कच्चित्संधिं यथाकालं विग्रहं चोपसेवसे ॥ २६ ॥

हे राजन् ! मित्र, उदासीन और शत्रुओं के विचारों का पता तो तुम लगाते रहते हो और सन्धि तथा विग्रह को यथा समय व्यवहार में लाते रहते हो या नहीं ॥ २६ ॥

कच्चिद्वृत्तिमुदासीने मध्यमे चाऽनुमन्यसे ।
कच्चिदात्मसमा वृद्धाः शुद्धाः संबोधनक्षमाः ॥ २७ ॥
कुलीनाश्चाऽनुरक्ताश्च कृतास्ते वीर ! मंत्रिणः ।
विजयो मन्त्रमूलो हि राज्ञो भवति भारत ! ॥ २८ ॥

हे भारत! उत्तमोत्तम और मध्यम जनों में समान वृत्ति का अवलम्बन करते हो या नहीं। आत्मा के समान शुद्ध, समझाने में समर्थ, कुलीन, प्रेमी वृद्ध, मन्त्री, नियुक्त किये हुए तो हैं? क्योंकि राजाओं का विजय मन्त्रियों के परामर्श पर ही आश्रित है॥ २७-२८॥

कच्चित्संवृतमन्त्रैस्ते अमात्यैः शास्त्रकोविदैः।
राष्ट्रं सुरक्षितं तात! शत्रुभिर्न विलुप्यते॥ २९॥

हे तात! अपने मन्त्र को गुप्त रखने वाले, विद्वान मन्त्री तुम्हारे राष्ट्र की रक्षा तो कर रहे हैं और इस प्रकार सुरक्षित तुम्हारे राष्ट्र पर कोई शत्रु आकर शान्ति भङ्ग तो नहीं कर पाता है॥ २९॥

कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित्काले विबुध्यसे।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थमर्थवित्॥ ३०॥

हे राजन्! तुम निद्रा के वश में तो नहीं हो जाते हो। समय पर जाग तो जाते हो। अपने अर्थ को पहचानने वाले आप रातके पिछले भाग में उठ कर अपने कार्यों पर दृष्टि तो डाल लेते हो॥३०

कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह।
कच्चित्ते मन्त्रितो मंत्रो न राष्ट्रं परिधावति॥ ३१॥

तुम केवल अकेले ही तो अपने कर्त्तव्य पर विचार नहीं करते हो या बहुतों के साथ तो कार्य का विवेचन नहीं करते हो। तुम्हारा विचारा हुआ मन्त्र कहीं फूट कर शत्रु के राष्ट्र में तो नहीं पहुंच जाता है॥ ३१॥

कच्चिदर्थान्विनिश्चित्य लघुमूलान्महोदयान् ।
क्षिप्रमारभसे कर्तुं न विघ्नयसि तादृशान् ॥ ३२ ॥

थोड़े परिश्रम से अधिक फल वाले कार्यों को निश्चय करके उनका आरम्भ शीघ्र तो कर देते हो। ऐसे कार्यों मे आलस्य आदि से विघ्न तो उत्पन्न नहीं कर लेते हो ॥ ३२ ॥

कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः परोक्षास्ते विशङ्किताः ।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टाः संसृष्टं चात्र कारणम् ॥ ३३ ॥

तुम्हारे कृषक तुम से अज्ञात तो नहीं है, अर्थात् तुम उनके सब कार्यों का ज्ञान तो रखते हो, एवं वे अविश्वासनीय तो नहीं है। इस प्रकार के उत्तम किसानों का संग्रह तो कर रखा है, क्यों कि इनका स्नेह ही उदय का कारण है ॥ ३३ ॥,

आप्तैरलुब्धैः क्रमिकैस्ते च कच्चिदनुष्ठिताः ।
कच्चिद्राजन्कृतान्येव कृतप्रायाणि वा पुनः ।
विदुस्ते वीर ! कर्माणि नाऽनवाप्तानि कानिचित् ॥३४॥

हे राजन् ! विश्वासी, लोभ रहित कुल क्रम से चले आये हुए उत्तम कर्मचारियों से ही तो उन कृषकों का काम कराया जाता है? हे युधिष्ठिर ! क्या तुम्हारे कार्यों को सिद्ध हो जाने पर या सिद्धि के समीप होने पर ही लोग जान पाते हैं। हे वीर ! सिद्धि तक पहुचने से पूर्व तो उनको कोई नहीं जान पाता है ? ॥ ३४ ॥

कच्चित्कारणिका धर्मे सर्वशास्त्रेषु कोविदाः ।
कारयन्ति कुमारांश्च योधमुख्यांश्च सर्वशः ॥ ३५ ॥

धर्म के सिखाने में कुशल, सब शास्त्रों के ज्ञाता, आचार्य, तुम्हारे वीर कुमारों को विद्या तो सिखाते रहते हैं ॥ ३५ ॥

कच्चित्सहस्रैर्मूर्खाणामेकं क्रीणासि पण्डितम् ।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं परम् ॥ ३६ ॥

क्या तुम सहस्रों मूर्खों के बदले एक बुद्धिमान को मोल लेते हो, क्योंकि पंडित ही विपत्ति के समय अत्यन्त कल्याण कर सकता है ॥ ३६ ॥

कच्चिद् दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः ।
यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः ॥ ३७ ॥

हे राजन्! तुम्हारे दुर्ग, धन, धान्य, शस्त्र, जल यन्त्र (मशीन) शिल्पी तथा धनुधरों से भरे तो रहते हैं? ॥ ३७ ॥

एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दान्तो विचक्षणः ।
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥ ३८ ॥

एक भी बुद्धिमान, शूर, उदार, विद्वान्, मन्त्री, राजा या राजकुमार को विशाल राज्य-लक्ष्मी का स्वामी बना देता है ॥३८

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च ।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ॥ ३९ ॥

क्या तुम शत्रु पक्ष के मन्त्री आदि अट्ठारह और अपने पक्ष के सेनापति आदि पन्द्रह अधिकारियों की तीन २ गुप्तचरों से पड़ताल तो करते रहते हो ॥ ३९ ॥

कच्चिद् द्विषामविदितः प्रतिपन्नश्च सर्वदा ।
नित्ययुक्तो रिपून्सर्वान्वीक्षसे रिपुमर्दन! ॥ ४० ॥

हे शत्रु विजेता ! युधिष्ठिर ! तुम्हारे कार्य शत्रुओं से छुपे तो रहते हैं, तुम इस विषय में सावधान तो हो ? नित्य उद्योग शील हो कर सारे शत्रुओं के कार्यों का पता तो लगाते रहते हो ॥ ४० ॥

कच्चिद्विनयसंपन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः ।
अनसूयुरसंकीर्णः सत्कृतस्ते पुरोहितः ॥ ४१ ॥

हे राजन् ! विनयशील, कुलीन, विद्वान्, अनिन्दक, सत्य, असत्य, का विवेचक, पुरोहित तो तुम से सत्कार पाता रहता है ॥ ४१ ॥

कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः ।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा ॥ ४२ ॥

यज्ञ विधि में नियुक्त किया हुआ यज्ञ विधि का जानने वाला बुद्धिमान, तथा सरल, ऋत्विक्, हवन किये हुए या हवन करने योग्य सामग्री को समय पर सूचित तो करता रहता है ॥ ४२ ॥

कच्चिदंगेषु निष्णातो ज्योतिषः प्रतिपादकः ।
उत्पातेषु हि सर्वेषु दैवज्ञः कुशलस्तव ॥ ४३ ॥

ज्योतिष, शास्त्र के सारे अङ्गों का ज्ञाता, नक्षत्रों की चाल का जानने वाला, सारे भूकम्प आदि उत्पातों का पूर्व से ही जानने वाला, ज्योतिषी कुशल तो है ॥ ४३ ॥

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ।
जघन्याश्च जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः ॥ ४४ ॥

हे राजन! तुमने उत्तमों को उत्तम, मध्यमों को मध्यम तथा नीच भृत्यों को नीच कार्यों में लगा तो रखा है ॥ ४४ ॥

अमात्यानुपधातीतान्पितृपैतामहाञ्शुचीन् ।
श्रेष्ठाञ्श्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥ ४५ ॥

हे युधिष्ठिर! छल रहित पिता-पितामहादि कुल क्रम से चले आये हुए, पवित्र आचरण वाले, श्रेष्ठ मन्त्रियों को श्रेष्ठ कार्यों में तो लगाते रहते हो ॥ ४५ ॥

कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्विजसे प्रजाः ।
राष्ट्रं तवाऽनुशासन्ति मन्त्रिणो भरतर्षभ ! ॥ ४६ ॥

हे भरतर्षभ! तुम्हारे मन्त्री, उग्रदण्ड से प्रजा को दुःखी तो नहीं करते रहते हैं तथा प्रेम के साथ राष्ट्र का शासन तो करते रहते हैं ॥ ४६ ॥

कच्चित्त्वां नाऽवजानन्ति याजकाः पतितं यथा ।
उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ॥ ४७ ॥

याजक, स्त्री, पतित तथा स्वेच्छाचारी पति का जैसे अनादर करती हैं इसी प्रकार प्रजापीडन द्वारा धन इकट्ठा करने से प्रजाजन, तुझे अपमान की दृष्टि से तो नहीं देखते हैं ॥ ४७ ॥

कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च मतिमान्धृतिमाञ्शुचिः ।
कुलीनश्चाऽनुरक्तश्च दक्षः सेनापतिस्तव ॥ ४८ ॥

हे राजन्! तुम्हारा सेनापति तेजस्वी, वीर, बुद्धिमान, धैर्यशील, पवित्र, कुलीन, प्रेमी और चतुर तो है ॥ ४८ ॥

कच्चिद्बलस्य ते मुख्याः सर्वयुद्धविशारदाः ।
धृष्टावदाता विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥४९॥

तुम्हारे सेना के मुख्य योधा सारे युद्ध विद्या में कुशल तो हैं, इस प्रकार के निष्कपट बोलने वाले शूर-वीर योधाओं का सत्कार करके तुम मान तो बढ़ाते रहते हो ॥ ४९ ॥

कच्चिद्बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम् ।
संप्राप्तकाले दातव्यं ददासि न विकर्षसि ॥ ५० ॥

हे राजन्! सेना का भोजन तथा वेतन जो समय पर देना चाहिये वह देते तो रहते हो । उसमें देर या कमी तो नहीं करते हो ॥ ५० ॥

कालातिक्रमणादेते भक्तवेतनयोर्भृताः ।
भर्तुः कुर्वन्ति दौर्गत्यात्सोऽनर्थः सुमहान्स्मृतः ॥५१॥

अन्न और वेतन में विलम्ब हो जाने से ये नौकर अपने क्लेश के कारण राजा को नुकसान पहुंचा देते हैं, जो बहुत ही बुरा होता है ॥ ५१ ॥

कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः ।
कच्चित्प्राणांस्तवार्थेषु संत्यजन्ति सदा युधि ॥ ५२ ॥

क्या कुलीन मन्त्री आदि सारे अधिकारी तुम से प्रीति तो रखते रहते हैं और युद्ध में तुम्हारे लिए प्राण छोड़ने को तत्पर तो रहते हैं ॥ ५२ ॥

कच्चिन्नैको बहूनर्थान्सर्वशः सांपरायिकान् ।
अनुशास्ति यथाकामं कामात्मा शासनातिगः ॥५३॥

क्या कोई अपनी इच्छा के अनुसार चलने वाला और तुम्हारे शासन को नहीं मानने वाला अकेला ही युद्ध के सारे कामों को अपनी इच्छा के अनुसार चलाने की चेष्टा तो नहीं करता है ? ॥ ५३ ॥

कच्चित्पुरुषकारेण पुरुषः कर्म शोभयन् ।
लभते मानमधिकं भूयो वा भक्तवेतनम् ॥ ५४ ॥

कोई पुरुष अपने उद्योग से किसी उत्तम कर्म को पूरा करके आता है तो क्या वह अधिक मान पाता रहता है और क्या उसका अन्न या वेतन तो तुम बढ़ा देते हो ? ॥ ५४ ॥

कच्चिद्विद्याविनीतांश्च नराञ्ज्ञानविशारदान् ।
यथार्हं गुणतश्चैव दानेनाऽभ्युपपद्यसे ॥ ५५ ॥

हे राजन् ! तुम विद्या से नम्र, ज्ञानी मनुष्यों को उन के गुणों के अनुसार दान और मान से तृप्त तो करते रहते हो ? ॥ ५५ ॥

कच्चिद्दारान्मनुष्याणां तवाऽर्थे मृत्युमीयुषाम् ।
व्यसनं चाऽभ्युपेतानां बिभर्षि भरतर्षभ ! ॥ ५६ ॥

हे भरत वंश में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तेरे निमित्त मृत्यु को प्राप्त हुए मनुष्यों के परिवार की तुम पालना तो करते रहते हो । जो मनुष्य विपत्ति में पड़ गये हैं उनके परिवार की रक्षा भी तुम करते रहते हो या नहीं ॥ ५६ ॥

कच्चिद्भयादुपगतं क्षीणं च रिपुमागतम् ।
युद्धे वा विजितं पार्थ ! पुत्रवत्परिरक्षसि ॥ ५७ ॥

हे पार्थ ! भय से शरण में आये हुए या युद्ध में जीते हुए निर्बल शत्रु की रक्षा तुम पुत्र के तुल्य करते हो या नहीं ॥ ५७ ॥

कच्चित्त्वमेव सर्वस्याः पृथिव्याः पृथिवीपते ! ।
समश्चाऽनभिशङ्क्यश्च यथा माता यथा पिता ॥ ५८ ॥

हे पृथ्वी पते ! सारे पृथ्वी के मनुष्य तुम्हें पक्ष-पात रहित तथा शङ्का से शून्य और माता-पिता के तुल्य तो देखते रहते हैं ? ॥ ५८ ॥

कच्चिद्व्यसनिनं शत्रुं निशम्य भरतर्षभ ! ।
अभियासि जवेनैव समीक्ष्य त्रिविधं बलम् ॥ ५९ ॥

हे भरतवंशश्रेष्ठ ! तुम अपने शत्रु को विपत में फंसे हुए सुन कर और उसके तीनों बलों मन्त्र कोश और भृत्यबल को देख कर वेग के साथ चढ़ाई करते हो या नहीं ॥ ५९ ॥

यात्रामारभसे दिष्ट्या प्राप्तकालमरिंदम ! ।
पार्ष्णिमूलं च विज्ञाय व्यवसायं पराजयम् ॥ ६० ॥
बलस्य च महाराज ! दत्वा वेतनमग्रतः ॥ ६१ ॥

हे अरिमर्दन ! पार्ष्णि ग्राह (मन्त्र, दुर्ग, राष्ट्र) आदि द्वादश प्रकार के मण्डल तथा अपने कृत्य एवं शत्रु के पराजय का निश्चय करके समय पर प्रसन्नता के साथ अपनी सेना का मास से पूर्व की वेतन दे कर तुम शत्रु पर चढ़ाई तो करते रहते हो ? ॥ ६०-६१ ॥

कच्चिच्च बलमुख्येभ्यः परराष्ट्रे परंतप !।
उपच्छन्नानि रत्नानि प्रयच्छसि यथार्हतः ॥ ६२ ॥

हे परन्तप ! शत्रु के प्रधान योधाओं को उनकी योग्यता के अनुसार छुपे २ रत्न आदि प्रदान करते रहते हो या नहीं ? ॥ ६२ ॥

कच्चिदात्मानमेवाऽग्रे विजित्य विजितेन्द्रियः ।
पराञ्जिगीपसे पार्थ ! प्रमत्तानजितेन्द्रियान् ॥ ६३ ॥

हे पार्थ ! जितेन्द्रिय हो कर प्रथम अपने आप को वश में करके विपयी और प्रमत्त शत्रुओं को जीतते तो रहते हो ? ॥ ६३ ॥

कच्चित्ते यास्यतः शत्रून्पूर्वं यान्ति स्वनुष्ठिताः ।
साम दानं च भेदश्च दण्डश्च विधिवद्गुणाः ॥ ६४ ॥

हे राजन् ! शत्रु पर चढ़ाई करने से पूर्व अच्छी तरह प्रयुक्त किये हुए तुम्हारे साम, दाम, दण्ड और भेद के गुण प्रथम ही पहुंच तो जाते हैं ? ॥ ६४ ॥

कच्चिन्मूलं दृढं कृत्वा परान्यासि विशांपते ! ।
तांश्च विक्रमसे जेतुं जित्वा च परिरक्षसि ॥ ६५ ॥

हे प्रजानाथ ! अपने राज्य को दृढ करके तो शत्रुओं पर चढ़ाई करते हो ? उनके जीतने के लिए अत्यन्त परिश्रम तो करते हो एवं जीते हुए राष्ट्रों की रक्षा तो करते रहते हो ? ॥ ६५ ॥

कच्चिदष्टांगसंयुक्ता चतुर्विधबला चमूः ।
बलमुख्यैः सुनीता ते द्विषतां प्रतिवर्धिनी ॥ ६६ ॥

शत्रु का नाश करने वाले रथ, हाथी आदि आठों-अङ्गों से युक्त, भृत्य आदि चार प्रकार के बल से युक्त तुम्हारी सेना सेनापतियों से संचालित की हुई शत्रु पर आक्रमण तो करती रहती है ॥६६॥

कच्चिल्लवं च मुष्टिं च परराष्ट्रे परंतप !।
अविहाय महाराज ! निहंसि समरे रिपून् ॥ ६७ ॥

हे परन्तप ! अन्न काटने का समय एवं खेत में खड़े हुए अन्न के रक्षा के समय को न छोड़ कर युद्ध में शत्रु का वध तो करते रहते हो ॥ ६७ ॥

कच्चित्स्वपरराष्ट्रेषु बहवोऽधिकृतास्तव ।
अर्थान्समधितिष्ठन्ति रक्षन्ति च परस्परम् ॥ ६८ ॥

अपने और शत्रु के राज्य में नियुक्त किये हुए पुरुष अपने काम को तो पूरा करते रहते हैं एवं परस्पर एक दूसरे की रक्षा तो करते हैं ॥ ६८ ॥

कच्चिदभ्यवहार्याणि गात्रसंस्पर्शजानि च ।
घ्रेयाणि च महाराज रक्षन्त्यनुमतास्तव ॥ ६९ ॥

हे महाराज ! भोजन की सामग्री, गात्र के लपेटने के लिए साधन एवं सूंघने के पदार्थों की तुम्हारे सेवक रक्षा तो करते रहते हैं ? ६९

कच्चित्कोशश्च कोष्ठश्च वाहनं द्वारमायुधम् ।
आयश्च कृतकल्याणैस्तव भक्तैरनुष्ठितः ॥ ७० ॥

कोश (खजाना) अन्न के कोठे, वाहन, (सवारी) द्वार, शस्त्र, और आपकी रक्षा तुम्हारे विश्वासी सेवक करते तो रहते हैं ? ।७०।

कच्चिदाभ्यन्तरेभ्यश्च बाह्येभ्यश्च विशांपते ।
रक्षस्यात्मानमेवाग्रे तांश्च स्वेभ्यो मिथश्च तान् ॥७१॥

हे राजन्! अपने रसोइये आदि भीतरी सेवकों से एवं सेनापति आदि बाह्य सेवकों से अपनी रक्षा तथा उन दोनों की अपने पुत्र आदि से एवं उनकी एक दूसरे से रक्षा तो करते रहते हो? ॥ ७१ ॥

कच्चिन्न पाने द्यूते वा क्रीडासु प्रमदासु च ।
प्रतिजानन्ति पूर्वाह्णे व्ययं व्यसनजं तव ॥ ७२ ॥

मदपान, जुआ, और प्रमदाओं में क्रीड़ाओं को कोई भी मनुष्य सबेरे उठकर जानता तो नहीं है अर्थात् कोई भी तुमको पानादि में आसक्त तो नहीं समझता है एवं अन्य किसी प्रकार के व्यसन के व्यय को तो कोई नहीं जानता है? ॥ ७२ ॥

कच्चिदायस्य चार्धेन चतुर्भागेन वा पुनः ।
पादभागैस्त्रिभिर्वापि व्ययः संशोध्यते तव ॥ ७३ ॥

तुम्हारी आमदनी के आधे चतुर्थ तिहाई या किसी भाग से तुम्हारा खर्च तो पूरा हो जाता है ॥ ७३ ॥

कच्चिज्ज्ञातीन्गुरून्वृद्धान्वणिजः शिल्पिनः श्रितान् ।
अभीक्ष्णमनुगृह्णासि धनधान्येन दुर्गतान् ॥ ७४ ॥

अपने कुटुम्बी, गुरुजन, वृद्ध, वैश्य, शिल्पी आश्रित तथा दरिद्री जनों का धन धान्य से सदा भरण पोषण तो करते रहते हो ॥ ७४ ॥

कच्चिदाऽऽयव्यये युक्ताः सर्वे गणकलेखकाः ।
अनुतिष्ठन्ति पूर्वाह्णे नित्यमायव्ययं तव ॥ ७५ ॥

हे राजन्! आमदनी और खर्च के काम में लगाये हुए लेखक और कर्मचारी नित्य तुम्हारे आय और व्यय का हिसाब तो कर लेते हैं ॥७५

कच्चिदर्थेषु संप्रौढान्हितकामाननुप्रियान् ।
नाऽपकर्षसि कर्मभ्यः पूर्वमप्राप्य किल्बिषम् ॥ ७६ ॥

जिन्हीं कामों में लगाये हुए वृद्धिशाली, हितकारी और प्रेमी जनों को विना अपराध के उनके पद से अलग तो नहीं कर देते हो ॥ ७६ ॥

कच्चिद्विदित्वा पुरुषानुत्तमाधममध्यमान् ।
त्वं कर्मस्वनुरूपेषु नियोजयसि भारत ! ॥ ७७ ॥

हे भारत ! उत्तम, मध्यम और अधम जनों को पहचान २ कर अपने २ काम मे तो लगाते रहते हो ?॥ ७७ ॥

कच्चिन्न लुब्धाश्चौरा वा वैरिणो वा विशांपते ! ।
अप्राप्तव्यवहारा वा तव कर्मस्वनुष्ठिताः ॥ ७८ ॥

हे प्रजापालक ! लोभी, चोर, वैरी या अनुभव से रहित पुरुष तो राज्य कार्य मे कहीं नियुक्त नहीं किये हुए हैं ? ॥ ७८ ॥

कच्चिन्न चौरैर्लुब्धैर्वा कुमारैः स्त्रीबलेन वा ।
त्वया वा पीड्यते राष्ट्रं कच्चित्तुष्टाः कृषीवलाः ॥७९॥

चोर, लालची, राजकुमार तथा स्त्री एवं स्वयं तुम से राष्ट्र को पीड़ा तो नहीं पहुंच रही है ? तुम्हारे किसान-गण तो प्रसन्न रहते हैं ? ॥ ७६ ॥

कच्चिद्राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च ।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका ॥ ८० ॥

हे राजन् ! तुम्हारे राष्ट्र में जल से भरे हुए बड़े २ तालाब स्थान २ पर बने हुए तो हैं ? यह तुम्हारा देश केवल वर्षा के अधीन ही तो नहीं है ? ॥ ८० ॥

कच्चिन्न भक्तं बीजं च कर्षकस्याऽवसीदति ।
प्रत्येकं च शतं वृद्धया ददास्यृणमनुग्रहम् ॥ ८१ ॥

हे राजन् ! कहीं पर भी कृषक का अन्न या बीज नष्ट तो नहीं होता है । प्रत्येक किसान को अनुग्रह के साथ प्रति सैकड़ा कुछ ब्याज लेकर ऋण तो देते रहते हो ॥ ८१ ॥

कच्चित्स्वनुष्ठिता तात ! वार्ता ते साधुभिर्जनैः ।
वार्तायां संश्रितस्तात ! लोकोऽयं सुखमेधते ॥ ८२ ॥

हे तात ! तुम्हारे राष्ट्र में कृषि, वाणिज्य आदि वार्ता तो श्रेष्ठ जनों से भली प्रकार की जाती है । इस प्रकार धर्म से चलती हुई वार्ता (कृषि वाणिज्य आदि) से ही प्रजा सुखी रहती है ॥ ८२ ॥

कच्चिच्छूराः कृतप्रज्ञाः पञ्च पञ्चस्वनुष्ठिताः ।
क्षेमं कुर्वन्ति संहत्य राजञ्जनपदे तव ॥ ८३ ॥

हे राजन् ! शूर, बुद्धिमान पञ्च, धन सग्रह आदि पाच कर्मों में अच्छी तरह लगे हुए देश में सुख की वृद्धि तो करते रहते हैं ? ॥ ८३ ॥

कच्चिन्नगरगुप्त्यर्थं ग्रामा नगरवत्कृताः ।
ग्रामवच्च कृताः प्रान्तास्ते च सर्वे त्वदर्पणाः ॥ ८४ ॥

नगर की रक्षा के लिए ग्राम भी नगर के समान योद्धाओं से भरे हुए हैं या नहीं ? ग्राम के अधिपतियों के समान ही प्रान्त के अधिपति हैं या नहीं और वे सब तुम्हें इकट्ठे किये धन को अर्पण करते हैं या नहीं ? ॥ ८४ ॥

कच्चिद्बलेनाऽनुगताः समानि विषमाणि च ।
पुराणि चौरा निघ्नन्तश्चरन्ति विषये तव ॥ ८५ ॥

हे राजन् ! तुम्हारे राष्ट्र में सम तथा विषम स्थानों में सेना से भगाये हुए पुर के पीडा देने वाले चोर इधर उधर भागते तो नहीं फिरते हैं ? ॥ ८५ ॥

कच्चित्स्त्रियः सान्त्वयसि कच्चित्ताश्च सुरक्षिताः ।
कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद्गुह्यं न भाषसे ॥ ८६ ॥

हे राजन् ! तुम स्त्रियों को सन्तुष्ट तो रखते हो, और वे सुरक्षित तो हैं । उनमें तुम श्रद्धा तो नहीं रखते हो और उनसे गुप्त बातें तो कभी नहीं कह देते हो ? ॥ ८६ ॥

कच्चिदात्ययिकं श्रुत्वा तदर्थमनुचिन्त्य च ।
प्रियाण्यनुभवञ्छेषे न त्वमन्तःपुरे नृप ! ॥ ८७ ॥

हे नृप ! आयी हुई विपत्ति को सुन कर और उस पर विचार करके भी रनवास में भोग विलास करते हुए सो तो नहीं जाते हो ? ॥ ८७ ॥

कच्चिद् द्वौ प्रथमौ यामौ रात्रेः सुप्त्वा विशांपते ! ।
संचिन्तयसि धर्मार्थौ याम उत्थाय पश्चिमे ॥ ८८ ॥

हे प्रजानाथ ! रात के प्रथम दो पहरों में सोकर फिर अन्तिम पहर में जाग कर धर्म और अर्थ का चिन्तन तो करते रहते हो ॥ ८८ ॥

कच्चिदर्थयसे नित्यं मनुष्यान्समलंकृतः ।
उत्थाय काले कालज्ञैः सह पाण्डव ! मन्त्रिभिः ॥ ८९ ॥

हे पाण्डव ! श्रेष्ठ ! काल के जानने वाले, अपने मन्त्रियों के साथ समय पर उठ कर तथा वस्त्रों और अलङ्कारों से सुशोभित होकर आये हुए मनुष्यों से भेंट का द्रव्य तो ग्रहण करते रहते हो ॥ ८९ ॥

कच्चिद्रक्ताम्बरधराः खड्गहस्ताः स्वलंकृताः ।
उपासते त्वामभितो रक्षणार्थमरिन्दम ! ॥ ९० ॥

हे अरिमर्दन ! लाल वस्त्र पहने हुए, खड्गधारी अलङ्कारों से युक्त योद्धा, चारों ओर से रक्षा करने के लिए तुम्हारी सेवा में उपस्थित तो रहते है ? ॥ ९० ॥

कच्चिद्दण्ड्येषु यमवत्पूज्येषु च विशांपते ! ।
परीक्ष्य वर्तसे सम्यगप्रियेषु प्रियेषु च ॥ ९१ ॥

हे प्रजापालक ! दण्ड देने योग्य व्यक्तियों में यम की तरह और पूज्यों में विजयी रहते हो या नहीं ? । अप्रिय और प्रिय जनों में अच्छी तरह परीक्षा करके व्यवहार करते हो न ? ॥ ६१ ॥

कच्चिच्छारीरमाबाधमौषधैर्नियमेन वा ।
मानसं वृद्धसेवाभिः सदा पार्थाऽपकर्षसि ॥ ६२ ॥

हे पार्थ ! शरीर की पीडा औषध या नियम से रह कर नष्ट करते रहते हो ? । इसी तरह मानसिक पीड़ा को भी वृद्धों के उपदेश से नष्ट करते रहते हो या नहीं ॥ ६२ ॥

कच्चिद्वैद्याश्चिकित्सायामष्टाङ्गायां विशारदाः ।
सुहृदश्चाऽनुरक्ताश्च शरीरे ते हिताः सदा ॥ ६३ ॥

शल्य शालाक्य आदि अष्टाग चिकित्सा मे कुशल वैद्य तथा हितकारी और प्रेमी मित्र तुम्हारे शरीर के हित मे तत्पर तो रहते हैं ? ॥ ६३ ॥

कच्चिन्न लोभान्मोहाद्वा मानाद्वापि विशांपते ! ।
अर्थिप्रत्यर्थिनः प्राप्तान्न पश्यसि कथंचन ॥ ६४ ॥

हे राजन् ! लोभ, मोह या अभिमान से आये हुए अर्थी और प्रत्यर्थी की उपेक्षा तो नहीं करते हो ॥ ६४ ॥

कच्चिन्न लोभान्मोहाद्वा विश्रम्भात्प्रणयेन वा ।
आश्रितानां मनुष्याणां वृत्तिं त्वं संरुणत्सि वै ॥६५॥

लोभ, मोह, विश्वास या प्रेम से शरण में आये हुए मनुष्यों की वृत्ति या उपरोध तो नहीं करते हो ॥ ६५ ॥

कच्चित्पौरा न सहिता ये च ते राष्ट्रवासिनः ।
त्वया सह विरुध्यन्ते परैः क्रीताः कथंचन ॥ ६६ ॥

तुम्हारे पुर तथा राष्ट्र के निवासी, शत्रु से वश में किये हुए एकता के साथ तुमसे विरोध तो नहीं करते ? ॥ ६६ ॥

कच्चिन्न दुर्बलः शत्रुर्बलेन परिपीडितः ।
मन्त्रेण बलवान्कश्चिदुभाभ्यां च कथंचन ॥ ६७ ॥

हे राजन् ! कहीं पर दुर्बल शत्रु तुम्हारी सेना से पीसा तो नहीं जा रहा है एवं बलवान् शत्रु, सेना और मन्त्र बल, इन दोनों से पीडित तो किया जाता है ? ॥ ६७ ॥

कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां भूमिपालाः प्रधानतः ।
कच्चित्प्राणांस्त्वदर्थेषु संत्यजन्ति त्वया हृताः ॥ ६८ ॥

हे युधिष्ठिर ! प्रधान २ सारे राजा तुम में अनुरक्त तो हैं ? । तेरे प्रेम से वश मे हुए वे राजा, तेरे लिए प्राण छोड़ने को तय्यार रहते हैं या नहीं ? ॥ ६८ ॥

कच्चित्ते सर्वविद्यासु गुणतोऽर्चा प्रवर्तते ।
ब्राह्मणानां च साधूनां तव नैःश्रेयसी शुभा ।
दक्षिणास्त्वं ददास्येषां नित्यं स्वर्गापवर्गदाः ॥ ६९ ॥

हे राजन् ! सम्पूर्ण विद्याओं के जानने वालों में आचरण की परीक्षा करके तेरी पूजा प्रवृत्त होती है या नहीं । इस प्रकार से ब्राह्मण और साधुओं की की हुई पूजा तेरे लिए अत्यन्त

कल्याणकारी है। इन विद्वान् सदाचारी ब्राह्मणों को तुम स्वर्ग और मोक्ष देने वाली दक्षिणा तो देते रहते हो ? ॥ ६६ ॥

कच्चिद्धर्मे त्रयीमूले पूर्वैराचरिते जनैः ।
यतमानस्तथा कर्तुं तस्मिन्कर्मणि वर्तसे ॥ १०० ॥

पूर्वजों से आचरण में लाए हुए वेद मूलक धर्म में तुम्हारी प्रवृत्ति तो रहती है। पूर्वजों से किए हुए कर्मों के करने में प्रयत्न करके कृतार्थ तो होते रहते हो ? ॥ १०० ॥

कच्चित्तव गृहेऽन्नानि स्वादून्यश्नन्ति वै द्विजाः ।
गुणवन्ति गुणोपेतास्तवाऽध्यक्षं सदक्षिणम् ॥ १०१ ॥

हे युधिष्ठिर ! क्या तुम्हारे घरमें गुणकारी तथा स्वादिष्ट भोजन तुम्हारे सामने ही गुणवान् ब्राह्मण करते हैं और दक्षिणा पाते रहते हैं ? ॥ १०१ ॥

कच्चित्क्रतूनेकचित्तो वाजपेयांश्च सर्वशः ।
पुण्डरीकांश्च कार्त्स्न्येन यतसे कर्तुमात्मवान् ॥ १०२ ॥

हे राजन् ! तुम जितेन्द्रियता के साथ मन लगाकर विधि पूर्वक वाजपेय या पुण्डरीक आदि यज्ञ तो पूरे करते रहते हो॥१०२॥

कच्चिज्ज्ञातीन्गुरून्वृद्धान्दैवतांस्तापसानपि ।
चैत्यांश्च वृक्षान्कल्याणान्ब्राह्मणांश्च नमस्यसि ॥ १०३ ॥

जाति में पूज्य, गुरु, वृद्ध, देवता, तपस्वी, देवस्थान, उत्तम छाया वाले वृक्ष और ब्राह्मणों को झुकते तो रहते हो ? ॥ १०३ ॥

कच्चिच्छोको न मन्युर्वा त्वया प्रोत्पाद्यतेऽनघ ! ।
अपि मङ्गलहस्तश्च जनः पार्श्वेऽनुतिष्ठति ॥ १०४ ॥

हे पापरहित ! युधिष्ठिर ! तुम किसी को शोक या क्रोध तो उत्पन्न नहीं कराते हो । तुम्हारे पास मे पुरोहित आदि श्रेष्ठ पुरुष मंगल वस्तु हाथमे लेकर तो खडे रहते है ॥ १०४ ॥

कच्चिदेषा च ते बुद्धिर्वृत्तिरेषा च तेऽनघ ! ।
आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थदर्शिनी ॥ १०५ ॥

हे अनघ ! धर्म मे प्रवृत्त होने वाली बुद्धि और इसी प्रकार की वृत्ति तुम्हारी बनी तो रहती है । धर्म और काम के देने वाली ये बुद्धि और वृत्तिया आयु और यश की देने वाली है ॥ १०५ ॥

एतया वर्तमानस्य बुद्धया राष्ट्रं न सीदति ।
निर्जित्य च महीं राजा सोऽत्यन्तं सुखमेधते ॥ १०६ ॥

इस प्रकारकी बुद्धि से राष्ट्र मे कोई कष्ट नहीं रहता है। जिस राजा की ऐसी बुद्धि है, वह सारी पृथ्वी को जीतकर अत्यन्त सुख पाता रहता है ॥ १०६ ॥

कच्चिदार्यो विशुद्धात्मा चारितश्चौरकर्मणि ।
अदृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद्बध्यते शुचिः ॥ १०७ ॥

शास्त्र कुशल मन्त्रियों के अज्ञान मे कोई पवित्र शुद्धात्मा आर्य पुरुष चोर आदि कर्म मिथ्या अपराध लगाकर तेरे अधिकारियों से लूटा तो नहीं जाता है ? ॥ १०७ ॥

दुष्टो गृहीतस्तत्कारी तज्ज्ञैर्दृष्टः सकारणः ।

कच्चिन्न मुच्यते स्तेनो द्रव्यलोभान्नरर्षभ ! ॥ १०८ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! कोई दुष्ट चोर, चोरी आदि दुष्ट कर्म का करने वाला, प्रमाण के साथ पकड़ा जाकर भी धन के लोभ से छुटकारा तो नहीं पाजाता है ? ॥ १०८ ॥

उत्पन्नान्कच्चिदाढ्यस्य दरिद्रस्य च भारत ! ।
अर्थान्न मिथ्या पश्यन्ति तवाऽमात्या हृता धनैः ॥१०६॥

हे भारत ! धन के लोभ में फंसे हुए तेरे मन्त्री या अधिकारी किसी धनी और दरिद्री के आपस में उत्पन्न हुए विवाद मे धन के लोभ से धनी की ओर हो कर झूठा न्याय तो नहीं करते हैं ? ।१०६

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् ।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम् ॥ ११० ॥
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च चिन्तनम् ।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्याऽपरिरक्षणम् ॥ १११ ॥
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः ।
कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान्राजदोषांश्चतुर्दश ।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूलापि पार्थिवाः ॥११२॥

हे राजन् ! क्या तुम नास्तिकता, झूठ, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानियों से नहीं मिलना, आलस्य, चित्त की चंचलता, अर्थों का अकेले ही विचार करना, अर्थ को नहीं जाने वालों के साथ सलाह करना, निश्चित की हुई बात का प्रारम्भ नहीं करना,

वैशम्पायन उवाच—

एतदाख्याय स मुनिर्नारदो वै महातपाः ।
पप्रच्छाऽनन्तरमिदं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥ ११६ ॥

वैशम्पायन बोले—इस प्रकार महातपस्वी नारद मुनि कह कर धर्मात्मा युधिष्ठिर से फिर पूछने लगे ॥ ११६ ॥

नारद उवाच—

कच्चिदभ्यागता दूराद्वणिजो लोककारणात् ।
यथोक्तमनहार्यन्ते शुल्कं शुल्कोपजीविभिः ॥ ११७ ॥

नारद जी बोले—हे युधिष्ठिर ! जगत् के निमित्त, व्यापारिक वस्तुएँ लाने वाले वैश्यों से तुम्हारे कर्मचारी ठीक २ कर तो वसूल करते हैं ॥११७

कच्चित्ते पुरुषा राजन्पुरे राष्ट्रे च मानिताः ।
उपानयन्ति पण्यानि उपधाभिरवञ्चिताः ॥ ११८ ॥

हे राजन् ! ये व्यापारी पुरुष, पुर और राष्ट्र में सम्मानित हो कर छल से ठगे न जा कर अपनी बेचने की वस्तुओं को उचित रीति से बेच तो लेते हैं ॥ ११८ ॥

कच्चिच्छृणोषि वृद्धानां धर्मार्थसहिता गिरः ।
नित्यमर्थविदां तात ! तथा धर्मार्थदर्शिनाम् ॥ ११९ ॥

हे तात ! तुम धर्म के तत्त्व को जानने वाले तथा सम्पूर्ण विषयों के ज्ञाता वृद्धों को धर्म और अर्थ के सहित वाणियों को सुनते रहते हो या नहीं ॥ ११९ ॥

कच्चित्ते कृषितन्त्रेषु गोषु पुष्पफलेषु च ।
धर्मार्थं च द्विजातिभ्यो दीयेते मधुसर्पिषी ॥ १२० ॥

हे युधिष्ठिर! खेती से उत्पन्न होने वाले अन्न और गौ से उत्पन्न होने वाले दुग्ध, घृत आदि पदार्थ धर्म समझ कर ब्राह्मणों के लिए दान तो करते रहते हो ॥ १२० ॥

द्रव्योपकरणं किंचित्सर्वदा सर्वशिल्पिनाम् ।
चातुर्मास्यावरं सम्यङ्नियतं संप्रयच्छसि ॥ १२१ ॥

हे महाराज! सारे शिल्पियों को उनका वेतन और वस्तु बनाने की सामग्री तो आप देते रहते हैं। वह द्रव्य कम से कम चार महीने तक को पर्याप्त होना चाहिये ॥ १२१ ॥

कच्चित्कृतं विजानीषे कर्तारं च प्रशंससि ।
सतां मध्ये महाराज सत्करोषि च पूजयन् ॥ १२२ ॥

हे राजन्! तुम किसी के किये हुए उपकार को जानते तो रहते हो और काम करने वाले की प्रशंसा तो करते हो। इसके अतिरिक्त उस कर्मशील का सज्जनों के बीच मे आदर-सत्कार तो करते हो ॥ १२२ ॥

कच्चित्सूत्राणि सर्वाणि गृह्णासि भरतर्षभ ।
हस्तिसूत्राश्वसूत्राणि रथसूत्राणि वा विभो ॥ १२३ ॥

हे भरत वंश श्रेष्ठ! तुमने सारे सूत्र ग्रंथ तो देखे होंगे। हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र और रथसूत्र तो तुमने विशेषता से ग्रहण किये होंगे ॥ १२३ ॥

कच्चिदभ्यस्यते सम्यग्गृहे ते भरतर्षभ ।
धनुर्वेदस्य सूत्रं वै यन्त्रसूत्रं च नागरम् ॥ १२४ ॥

हे भरतर्षभ ! तुम्हारे राज्य में धनुर्वेद के सूत्र एवं नगर के हितकारी यन्त्रसूत्रों के अभ्यास (पठन-पाठन) तो होते होंगे ॥१२४॥

कच्चिदस्त्राणि सर्वाणि ब्रह्मदण्डश्च तेऽनघ ! ।
विषयोगास्तथा सर्वे विदिताः शत्रुनाशनाः ॥ १२५ ॥

हे अनघ ! मारे अस्त्र, मारण प्रयोग तथा शत्रुनाशक विष योग (विषैली गैस) तो आप जानते होंगे ॥ १२५ ॥

कच्चिदग्निभयाच्चैव सर्वं व्यालभयात्तथा ।
रोगरक्षोभयाच्चैव राष्ट्रं स्वं परिरक्षसि॥ ॥१२६॥

हे राजन् ! तुम अग्निभय, व्याघ्रादिभय एवं रोग और दुष्ट जनों के भय से तो प्रजा की रक्षा करते रहते हो ॥ १२६ ॥

कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पंगून्व्यङ्गानबान्धवान् ।
पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रव्रजितानपि ॥ १२७॥

हे धर्मशील ! अन्धे, गूंगे, लगड़े, लूले, साधु, सन्यासी जिनके कोई उपकारी नहीं हैं इन सबके आप पिता के तुल्य पालना तो करते हो ॥ १२७ ॥

षडनर्था महाराज कच्चित्ते पृष्ठतः कृती ।
निद्राऽऽलस्यं भयं क्रोधो मार्दवं दीर्घसूत्रता ॥ १२८॥

हे महाराज ! निद्रा, आलस्य, भय, क्रोध, मृदुता, आलस्य आदि छ दोषों का तो आपने परित्याग कर रखा है ॥ १२८ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततः कुरूणामृषभो महात्मा श्रुत्वा गिरो ब्राह्मणसत्तमस्य।
प्रणम्य पादावभिवाद्य तुष्टो राजाऽब्रवीन्नारदं देवरूपम् ॥१२६

वैशम्पायन बोले—कुरुवंश में श्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिर, नारदजी के ये वचन सुन कर बड़े प्रसन्न हुए और चरणों में प्रणाम करके नारदजी से इस प्रकार कहने लगे ॥ १२६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

एवं करिष्यामि यथा त्वयोक्तं प्रज्ञा हि मे भूय
एवाऽभिवृद्धा । उक्त्वा तथा चैव चकार राजा
लेभे महीं सागरमेखलां च ॥१३०॥

युधिष्ठिर बोले—हे महर्षे ! जैसे आपने कहा है, मैं उसी प्रकार करूंगा। आपकी कृपा से मेरी बुद्धि बहुत बढ़ गई है। नारद जी से ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिर ने उसी के अनुसार व्यवहार किया जिससे समुद्र की मेखला वाली सारी पृथ्वी का राज्य प्राप्त किया ॥ १३० ॥

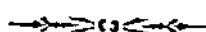
नारद उवाच—

एवं यो वर्तते राजा चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे ।
स विहृत्येह सुसुखी शक्रस्यैति सलोकताम् ॥१३१॥ [२६८

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि
लोकपालसभाख्यानपर्वणि नारदप्रश्नमुखेन राजधर्मानुशासने
पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

नारदजी बोले ! जो राजा इस प्रकार अपनी प्रजाकी रक्षा में तत्पर रहता है, वह इस लोक में आनन्द करके सुखी होता है और अन्त में इन्द्र के लोक स्वर्ग को प्राप्त करता है ॥ १३१ ॥

इति श्रीमहाभारत सभापर्वान्तर्गत लोकपाल सभाख्यानपर्व का नारद द्वारा राजधर्म अनुशासन का पांचवां अध्याय पूरा हुआ।



छठा अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

संपूज्याऽथाऽभ्यनुज्ञातो महर्षेर्वचनात्परम् ।
प्रत्युवाचाऽऽनुपूर्व्येण धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—इसके अनन्तर नारदजी की पूजा करके और उनकी आज्ञा से उनके कथन के पश्चात् क्रमानुसार धर्मराज युधिष्ठिर कहने लगे ॥ १ ॥

भगवन्न्याय्यमाहैतं यथावद्धर्मनिश्चयम् ।
यथा शक्ति यथान्यायं क्रियतेऽयं विधिर्मया ॥ २ ॥

हे भगवन ! आपने जो कुछ कहा है वह न्याय और धर्मानुसार है । मैं भी यथा शक्ति और न्याय के अनुकूल इस विधि का आचरण करूंगा ॥ २ ॥

राजभिर्यद्यथा कार्यं पुरा वै तन्न संशयः ।
यथान्यायोपनीतार्थं कृतं हेतुमदर्थवत् ॥ ३ ॥

हे महर्षे ! पूर्वकाल में राजाओं ने जो कार्य किये हैं, वे न्याय से युक्त, युक्ति के साथ एवं प्रयोजन को लिए हुए थे ॥ ३ ॥

वयं तु सत्पथं तेषां यातुमिच्छामहे प्रभो ।
न तु शक्यं तथा गन्तुं यथा तैर्नियतात्मभिः ॥ ४ ॥

हे प्रभो ! हम भी उन राजाओं के उत्तम मार्ग पर चलना चाहते हैं परन्तु उन महात्मा जितेन्द्रिय राजाओं के तुल्य आचरण कर दिखाना बड़ा ही कठिन कार्य है ॥ ४ ॥

वैशम्पायनउवाच—

तं तु विश्रान्तमालक्ष्य देवर्षिममितद्युतिम् ।
एव मुक्त्वा स धर्मात्मा वाक्यं तदभिपूज्य च ॥ ५ ॥
मुहूर्तात्प्राप्तकालं च दृष्ट्वा लोकचरं मुनिम् ।
नारदं सुस्थमासीनमुपासीनो युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥
अपृच्छत्पाण्डवस्तत्र राजमध्ये महाद्युतिः ॥ ७ ॥

वैशम्पायन् बोले—धर्मात्मा युधिष्ठिर, ऐसा कहकर और नारद जी के वाक्य की प्रशंसा करके उन के पास बैठ गए और अत्यन्त तेजस्वी, काम रहित, जगत् में घूमने वाले, समय पर प्राप्त हुए सुख से बैठे हुए देवर्षि नारद से राज सभा में यह पूछने लगे ॥ ५–७ ॥

युधिष्ठिरउवाच—

भवान्संचरते लोकान्सदा नानाविधान्बहून् ।
ब्रह्मणा निर्मितान्पूर्वं प्रेक्षमाणो मनोजवः ॥ ८ ॥

ईदृशी भवता काचिद्दृष्टपूर्वा सभा क्वचित् ।
इतो वा श्रेयसी ब्रह्मंस्तन्ममाऽऽचक्ष्व पृच्छतः ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे ब्रह्मन् ! आप सदा अनेक प्रकार के ब्रह्मा द्वारा निर्मित लोकों को देखते हुए मन के तुल्य वेग से घूमते हो। मैं आप से यह पूछता हूं कि क्या कहीं पर आपने इस प्रकार की या इस से अधिक सुन्दर कोई सभा देखी है, यह मुझे कहिए ॥ ६ ॥

वैशम्पायनउवाच—

तच्छ्रुत्वा नारदस्तस्य धर्मराजस्य भाषितम् ।
पाण्डवं प्रत्युवाचेदं स्मयन्मधुरया गिरा ॥ १० ॥

वैशम्पायन बोले—नारद जी, इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिर के वचन सुन कर मुसकुराते हुए मधुर वाणी से युधिष्ठिर से कहने लगे ॥ १० ॥

नारदउवाच—

मानुषेषु न मे तात दृष्टपूर्वा न च श्रुता ।
सभा मणिमयी राजन्यथेयं तव भारत ॥ ११ ॥

नारद जी बोले—हे राजन् ! मनुष्यों में मैंने ऐसी सभा न कहीं देखी है और न कहीं सुनी है; हे भारत ! जैसी यह मणियों से बनायी हुई आपकी सभा है ॥ ११ ॥

सभां तु पितृराजस्य वरुणस्य च धीमतः ।
कथयिष्ये तथेन्द्रस्य कैलासनिलयस्य च ॥ १२ ॥

ब्रह्मणश्च सभां दिव्यां कथयिष्ये गतक्लमाम् ।
दिव्यादिव्यैरभिप्रायैरुपेतां विश्वरूपिणीम् ॥ १३ ॥
देवैः पितृगणैःसाध्यैर्यज्वभिर्नियतात्मभिः ।
जुष्टां मुनिगणैः शान्तैर्वेदयज्ञैः सदक्षिणैः ॥
यदि ते श्रवणे बुद्धिर्वर्तते भरतर्षभ ॥ १४ ॥

हे युधिष्ठिर ! यदि तुम सुनना ही चाहते हो तो मैं तम को यमराज, बुद्धिमान् वरुण, इन्द्र, कुवेर तथा ब्रह्मा की सभा का वर्णन सुनाता हूं। ये सब क्लेशों से रहित, दिव्य तथा अदिव्य शिल्प से युक्त, सब रूपों वाली, देव, पितर, साध्य जितेन्द्रिय यज्ञ करने वालों से युक्त, एवं दक्षिणा ग्रहण करने वाले वेदानुसार यज्ञ क्रिया के कर्ता शान्त मुनीश्वरों से अन्वित हैं ॥ १२-१४॥

नारदेनैवमुक्तस्तु धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
प्राञ्जलिर्भ्रातृभिः सार्धं तैश्च सर्वैर्द्विजोत्तमैः ॥ १५ ॥
नारदं प्रत्युवाचेदं धर्मराजो महामनाः ।
सभाः कथय ताः सर्वाः श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ १६ ॥

मनस्वी धर्मराज युधिष्ठिर, नारद के इतना कहने पर हाथ जोडकर अपने भाई तथा सारे ब्राह्मणों के साथ नारद जी से कहने लगे—हे मुने! उन सब सभाओं को सुनाइये, हम सुनना चाहते हैं ॥ १५-१६ ॥

किंद्रव्यास्ताः सभा ब्रह्मन्किंविस्ताराः किमायताः ।
पितामहं च के तस्यां सभायां पर्युपासते ॥ १७ ॥

हे ब्रह्मन्! उन सभाओं में कितना द्रव्य व्यय हुआ है, वे किस २ सामग्री से युक्त, कितनी चौडी और कितनी लम्बी हैं। उस सभा में ब्रह्मा जी की कौन २ सेवा करते हैं।॥ १८ ॥

वासवं देवराजं च यमं वैवस्वतं च के।
वरुणं च कुबेरं च सभायां पर्युपासते ॥ १८ ॥

देवों के राजा इन्द्र विवस्वान के पुत्र यम, वरुण तथा कुबेर की उपासना उन सभाओं में कौन २ करते हैं॥ १८॥

एतत्सर्वं यथान्यायं ब्रह्मर्षे वदतस्तव।
श्रोतुमिच्छामः सहिताः परं कौतूहलं हि नः॥ १९ ॥

हे ब्रह्मर्षे! न्यायानुसार आप के कथन करने पर यह सब कुछ हम सुनना चाहते हैं। इसके सुनने की हमारी बडी इच्छा है॥ १९ ॥

एवमुक्तः पाण्डवेन नारदः प्रत्यभाषत।
क्रमेण राजन्दिव्यास्ताः श्रूयन्तामिह नः सभाः ॥२०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि युधिष्ठिरसभाजिज्ञासायां षष्ठोऽध्यायः ।६।

हे राजन्! इस प्रकार युधिष्ठिर के कहने पर नारद जी क्रम से उन दिव्य सभाओं का वर्णन करने लगे॥ २० ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत लोकपाल सभाख्यान पर्व में युधिष्ठिर की सभाओं की जिज्ञासा का छठा अध्याय पूरा हुआ।

सातवां अध्याय

नारद उवाच

शक्रस्य तु सभा दिव्या भास्वरा कर्मनिर्मिता ।
स्वयं शक्रेण कौरव्य निर्जिताऽर्कसमप्रभा ॥ १ ॥

नारद जी कहने लगे—हे कुरुवंश श्रेष्ठ ! इन्द्र की सभा बड़ी चमकीली है, जिसको विश्वकर्मा ने बनाया है। सूर्य के तुल्य चमकने वाली उस सभा को स्वयं इन्द्र ने जीता है ॥ १ ॥

विस्तीर्णा योजनशतं शतमध्यर्धमायता ।
वैहायसी कामगमा पञ्चयोजनमुच्छ्रिता ॥ २ ॥

यह सभा सौ योजन चौड़ी और डेढ़ सौ योजन लम्बी है। यह आकाश में बनी हुई चलती फिरती रहती है। यह पांच योजन ऊंची है ॥ २ ॥

जराशोकक्लमापेता निरातङ्का शिवा शुभा ।
वेश्मासनवती रम्या दिव्य पादपशोभिता ॥ ३ ॥

इस सभा में जरा शोक, क्लेश नहीं रह पाते हैं। सब प्रकार के कष्टों से रहित शुभ और कल्याणकारी है। इसमें सुन्दर २ कमरे और सुन्दर २ बिछाने के आसन पड़े हैं। यह बड़ी सुन्दर है और इसमें उत्तम २ वृक्ष लगे हैं ॥ ३ ॥

तस्यां देवेश्वरः पार्थ सभायां परमासने ।
आस्ते शच्या महेन्द्राण्या श्रिया लक्ष्म्या च भारत ॥४॥
बिभ्रद्वपुरनिर्देश्यं किरीटी लोहिताङ्गदः ।
विरजोम्बरश्चित्रमाल्यो ह्रीकीर्तिद्युतिभिः सह ॥५॥

हे भारत वंश श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! सुन्दर लक्ष्मी के तुल्य रूप वाली इन्द्राणी के साथ, अवर्णनीय शरीर का धारण करने वाला, मुकुट-धारी, लाल सुवर्ण के आभूषण धारण करने वाला, श्वेतवस्त्र पहने हुए, मालाधारी, ह्री, कीर्ति और द्युति के साथ देवों का स्वामी इन्द्र, इस सभा में उच्च आसन पर विराजता है ॥४-५॥

तस्यामुपासते नित्यं महात्मान शतक्रतुम् ।
मरुतः सर्वशो राजन्सर्वे च गृहमेधिनः ॥ ६ ॥

हे राजन् ! इस सभा में सारे गृहस्थी देवता नित्य महात्मा इन्द्र की उपासना करते रहते हैं ॥ ६ ॥

सिद्धा देवर्षयश्चैव साध्या देवगणास्तथा ।
मरुत्वन्तश्च सहिता भास्वन्तो हेममालिनः ॥ ७ ॥
एते सानुचराः सर्वे दिव्यरूपाः स्वलंकृताः ।
उपासते महात्मानं देवराजमरिंदमम् ॥ ८ ॥

सिद्ध, देवर्षि, साध्य, देवगण, सोने के मालाधारी चमकते हुए मरुद्गण ये सब अपने अनुचरों के साथ दिव्य रूप धारण करके अलंकार पहिने हुए अरिमर्दन महात्मा देवराज इन्द्र की उपासना करते रहते हैं ॥ ७-८ ॥

तथा देवर्षयः सर्वे पार्थ शक्रमुपासते ।
अमला धूतपाप्मानो दीप्यमाना इवाऽग्नयः ॥ ९ ॥
तेजस्विनः सोमसुतो विशोका विगतज्वरा ।

हे पार्थ सोम के उत्पादक, दुःख और शोक से रहितशुद्ध, पाप से शून्य, अग्नि के तुल्य, तेजस्वी देवर्षि, इस सभा में इन्द्र की उपासना करते रहते हैं ॥ ९ ॥

पराशरः पर्वतश्च तथा सावर्णिगालवौ ॥ १०
शङ्खश्च लिखितश्चैव तथा गौरशिरा मुनिः ।
दुर्वासाः क्रोधनः श्येनस्तथा दीर्घतमा मुनिः ॥११॥
पवित्रपाणिः सावर्णिर्याज्ञवल्क्योऽथ भालुकिः ।
उद्दालकः श्वेतकेतुस्ताण्ड्यो भाण्डायनिस्तथा ॥१२॥
हविष्मश्च गरिष्ठश्च हरिश्चन्द्रश्च पार्थिवः ।
हृद्यश्चोदरशाण्डिल्यः पाराशर्यः कृषीवलः ॥१३॥
वातस्कन्धो विशाखश्च विधाता काल एव च ।
करालदन्तस्त्वष्टा च विश्वकर्मा च तुम्बुरुः ॥१४॥
अयोनिजा योनिजाश्च वायुभक्षा हुताशिनः ।
ईशानं सर्वलोकस्य वज्रिणं समुपासते ॥ १५ ॥

पराशर, पर्वत, सावर्णि, गालव, शङ्ख, लिखित, गौरशिरा, क्रोधी दुर्वासा, श्येन, दीर्घतमा, पवित्रपाणि, सावर्णि, याज्ञवल्क्य भालुकि, उद्दालक, श्वेतकेतु, ताण्ड्य, भाण्डायनि, हविष्मान्, गरिष्ठ, राजा हरिश्चन्द्र, हृद्य, उदर शाण्डिल्य, पराशर पुत्र, कृषीवल, वातस्कन्ध, विशाख, विधाता, काल, करालदन्त, त्वष्टा, विश्वकर्मा, तुम्बुरु, अयोनिज या योनिज मुनि, वायु के भक्षण करने वाले, हुत वस्तु के भोजी मुनि, सब लोक के स्वामी इन्द्र की उपासना करते रहते हैं ॥ १०-१५ ॥

सहदेवः सुनीथश्च वाल्मीकिश्च महातपाः ।
शमीकः सत्यवाक्चैव प्रचेताः सत्यसंगरः ॥ १६ ॥

मेधातिथिर्वामदेवः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
मरुत्तश्च मरीचिश्च स्थाणुश्चाऽत्र महातपाः ॥१७॥
कक्षीवान्गौतमस्तार्क्ष्यस्तथा वैश्वानरो मुनिः ।
मुनिः कालकवृक्षीय आश्राव्योऽथ हिरण्मयः ॥१८॥
संवर्तो देवहव्यश्च विष्वक्सेनश्च वीर्यवान् ।
कण्वः कात्यायनो राजन्गार्ग्यः कौशिक एव च ॥१९॥
दिव्या आपस्तथौषध्यः श्रद्धा मेधा सरस्वती ॥२०॥
अर्थो धर्मश्च कामश्च विद्युतश्चैव पाण्डव ।
जलवाहास्तथा मेघा वायवः स्तनयित्नवः ॥ २१ ॥
प्राची दिग्यज्ञवाहाश्च पावकाः सप्तविंशतिः ।
अग्नीषोमौ तथेन्द्राग्नी मित्रश्च सविताऽर्यमा ॥ २२ ॥
भगो विश्वे च साध्याश्च गुरुः शुक्रस्तथैव च ।
विश्वावसुश्चित्रसेनः सुमनस्तरुणस्तथा ॥ २३ ॥
यज्ञाश्च दक्षिणाश्चैव ग्रहास्ताराश्च भारत ।
यज्ञवाहाश्च ये मन्त्राः सर्वे तत्र समासते ॥ २४ ॥

हे राजन् ! सहदेव, सुनीथ, महातपा वाल्मीकि, सत्यवाक्, शमीक सत्यसंगर प्रचेता, मेधातिथि,. वामदेव, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, मरुत्त, मरीचि, महातपस्वी स्थाणु, कक्षीवान् गौतम, तार्क्ष्य, वैश्वानर मुनि, कालकवृक्षीय आश्राव्य, हिरण्मय, संवर्त, देवहव्य, वीर्यवान् विष्वक्सेन, कण्व, कात्यायन, गार्ग्य, कौशिक दिव्य जल, तथा औषधि, श्रद्धा, मेधा सरस्वती, अर्थ, धर्म,

काम, विद्युत्, जल बरसाने वाले मेघ, वायु, गर्जने वाले मेघ, प्राची दिशा, यज्ञ की हवि के वहन करने वाले सत्ताईस अग्नि, अग्निषोम, इन्द्राग्नी, मित्र, सविता, अर्यमा, भग, विश्वे देवा, साध्य, गुरु, शुभ, विश्वावसु, चित्रसेन, सुमन तरुण, यज्ञ, दक्षिणा, ग्रह, तारा, यज्ञ के धारण करने वाले, मन्त्र, इन्द्र की सभा में बैठे रहते हैं ॥ १६-२४ ॥

तथैवाऽप्सरसो राजन्गान्धर्वाश्च मनोरमाः ।
नृत्यवादित्रगीतैश्च हास्यैश्च विविधैरपि ॥ २५ ॥
रमयन्ति स्म नृपते देवराजं शतक्रतुम् ।

हे राजन्! सुन्दर अप्सराएँ और गाने वाले गन्धर्व, नाच गान, और बाजे बजाने, तथा अनेक प्रकार के हास्य विनोद के कार्यों से देवराज इन्द्र को प्रसन्न करते रहते हैं ॥ २५ ॥

स्तुतिभिर्मङ्गलैश्चैव स्तुवन्तः कर्मभिस्तथा ॥ २६ ॥
विक्रमैश्च महात्मानं बलवृत्रनिषूदनम् ।
ब्रह्मराजर्षयश्चैव सर्वे देवर्षयस्तथा ॥ २७ ॥
विमानैर्विविधैर्दिव्यैर्दीप्यमाना इवाऽग्नयः ।
स्रग्विणो भूषिताः सर्वे यान्ति चायान्ति चापरे ॥२८॥

हे राजन्! अनेक प्रकार के विमानों में बैठकर अग्नि के तुल्य देदीप्यमान हुए माला और अलङ्कारधारी ब्रह्मर्षि तथा राजर्षि, उस सभा में आते और जाते रहते हैं और अनेक प्रकार की स्तुति और विक्रम की कथाओं से महात्मा बल और वृत्रासुर के मारने वाले इन्द्र की स्तुति करते रहते हैं ॥ २६-२८ ॥

वृहस्पतिश्च शुक्रश्च नित्यमास्ता हि तत्र वै ।
एते चाऽन्ये च बहवो महात्मानो यतव्रताः ॥२६ ॥
विमानैश्चन्द्रसंकाशैः सोमवत्प्रियदर्शनाः ।
ब्रह्मणः सदृशा राजन्भृगुः सप्तर्षयस्तथा ॥ ३० ॥

हे राजन् ! वृहस्पति तथा शुक्राचार्य वहा नित्य बैठे रहते हैं। इस प्रकार के अनेक नियमशील महात्मा चन्द्र तुल्य विमानों से सुशोभित, सोम के समान सुन्दर ब्रह्मा के समान विद्वान, भृगु तथा सप्तर्षि उस सभा मे विराजते हैं ॥ २६-३० ॥

एषा सभा मया राजन्दृष्टा पुष्करमालिनी ।
शतक्रतोर्महाबाहो याम्यामपि सभां शृणु ॥३१॥ [३१६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि इन्द्रसभावर्णनं नाम सप्तमोऽध्याय ॥ ७ ॥

हे महाबाहो ! मैंने यह पुष्कर मालिनी नामवाली इन्द्र की सभा अपने आखों से देखी है। अब तुम यमराज की सभा के विषय मे सुनो ॥ ३१ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत लोकपालों की सभा के वर्णन का सातवा अध्याय समाप्त हुआ।

आठवां अध्याय

नारद उवाच—

कथयिष्ये सभां याम्यां युधिष्ठिर निबोध ताम्।
वैवस्वतस्य यां पार्थ विश्वकर्मा चकार ह ॥ १ ॥

नारद जी कहने लगे—हे युधिष्ठिर ! मैं तुम से अब यमराज की सभा का वर्णन करता हूँ, जिसकी रचना स्वयं विश्वकर्मा ने की है ॥ १ ॥

तैजसी सा सभा राजन्बभूव शतयोजना ।
विस्तारायामसंपन्ना भूयसी चाऽपि पाण्डव ॥ २ ॥

हे राजन् ! यह सभा अत्यन्त तेजवाली और सौ योजन फैली हुई है । यह लम्बी और चौड़ी अतीव विशाल और सुन्दर है ॥२

अर्कप्रकाशा भ्राजिष्णुः सर्वतः कामरूपिणी ।
नाऽतिशीता न चाऽत्युष्णा मनसश्च प्रहर्षिणी ॥ ३ ॥

यह सूर्य के तुल्य देदीप्यमान, अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण करने वाली न तो अत्यन्त शीतल है और न अत्यन्त गर्म रहती है। यह दर्शक के मन को हर्षित करने वाली है ॥ ३ ॥

न शोको न जरा तस्यां क्षुत्पिपासे न चाऽप्रियम् ।
न च दैन्यं क्लमो वापि प्रतिकूलं न चाप्युत ॥ ४ ॥

इसमे शोक, बुढ़ापा, भूख, प्यास, अप्रिय, दीनता, क्लेश और किसी प्रकार की प्रतिकूलता नहीं है ॥ ४ ॥

सर्वे कामाः स्थितास्तस्यां ये दिव्या ये च मानुषाः ।
रसवच्च प्रभूतं च भक्ष्यं भोज्यमरिन्दम ॥ ५ ॥

हे अरिमर्दन ! जो दैवी और मानुषी भोग हैं; वे सब इस में प्राप्त हैं। इस में अनेक प्रकार के स्वादु, अन्न सँचित रहते हैं ॥ ५

लेह्यं चोष्यं च पेयं च हृद्यं स्वादु मनोहरम् ।
पुण्यगन्धाः स्रजस्तस्यां नित्यं कामफला द्रुमाः ॥६॥
रसवन्ति च तोयानि शीतान्युष्णानि चैव ह ।

चाटने, चूसने और पीने के योग्य, भक्ष्य, मन को हरण करने वाले, स्वादु तथा हृदय को आनन्ददायी हैं। उत्तम सुगन्ध वाली मालाएँ तथा इच्छानुसार फल देने वाले वृक्ष हैं। यह समयानुसार शीतल और उष्ण स्वादिष्ट जल से भरी रहती है ॥६

तस्यां राजर्षयः पुण्यास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ७ ॥
यमं वैवस्वतं तात प्रहृष्टाः पर्युपासते ।

हे तात ! इस सभा में पवित्र राजर्षि और ब्रह्मर्षि प्रसन्नता के साथ विवस्वान के पुत्र यम की उपासना करते रहते हैं ॥ ७ ॥

ययातिर्नहुषः पूरुर्मान्धाता सोमको नृगः ॥ ८ ॥
त्रसदस्युश्च राजर्षिः कृतवीर्यः श्रुतश्रवाः ।
अरिष्टनेमिः सिद्धश्च कृतवेगः कृतिर्निमिः ॥ ९ ॥
प्रतर्दनः शिविर्मत्स्यः पृथुलाक्षो बृहद्रथः ।
वार्तो मरुत्तः कुशिकः सांकाश्यः सांकृतिर्ध्रुवः ॥१०॥
चतुरश्वः सदश्वोर्मिः कार्तवीर्यश्च पार्थिवः ।
भारतः सुरथश्चैव सुनीथो निशठोऽनलः ॥ ११ ॥

दिवोदासश्च सुमना अम्बरीषो भगीरथः ।
व्यश्वः सदश्वोवध्र्यश्च पृथुवेगः पृथुश्रवाः ॥ १२ ॥
पृषदश्वो वसुमनाः क्षुपश्च सुमहाबलः ।
रुषद्गुः षसेनश्च पुरुकुत्सो ध्वजी रथी ॥ १३ ॥
आर्ष्टिषेणो दिलीपश्च महात्मा चाऽप्युशीनरः ।
औशीनरिः पुण्डरीकः शर्यातिः शरभः शुचिः ॥१४॥
अङ्गोऽरिष्टश्च वेनश्च दुष्यन्तः सृञ्जयो जयः ।
भाङ्गासुरिः सुनीथश्च निषधोऽथ वहीनरः ॥ १५ ॥
करन्धमो बाह्लिकश्च सुद्युम्नो बलवान्मधुः ।
ऐलो मरुत्तश्च तथा बलवान्पृथिवीपतिः ॥ १६ ॥
कपोतरोमा तृणकः सहदेवार्जुनौ तथा ।
व्यश्वःसाश्व कृशाश्वश्च शशबिन्दुश्च पार्थिवः ॥१७॥
रामो दाशरथिश्चैव लक्ष्मणोऽथ प्रतर्दनः ।
अलर्कः कक्षसेनश्च गयो गौराश्व एव च ॥ १८ ॥
जामदग्न्योऽथ रामश्च नाभागसगरौ तथा ।
भूरिद्युम्नो महाश्वश्च पृथाश्वो जनकस्तथा ॥ १९ ॥
राजा वैन्यो वारिषेणः पुरुजिज्जनमेजयः ।
ब्रह्मदत्तस्त्रिगर्तश्च राजोपरिचरस्तथा ॥ २० ॥
इन्द्रद्युम्नो भीमजानुर्गौरपृष्ठोऽनघो लयः ।
पद्मोऽथ मुचुकुन्दश्च भूरिद्युम्नः प्रसेनजित् ॥ २१ ॥

अरिष्टनेमिः सुद्युम्नः पृथुलाश्वोऽष्टकस्तथा ।
शतं मत्स्या नृपतयः शतं नीपाः शतं हयाः ॥ २२ ॥
धृतराष्ट्राश्चैकशतमशीतिर्जनमेजयाः ।
शतं च ब्रह्मदत्तानां वीरणामीरिणां शतम् ॥ २३ ॥
भीष्माणां द्वे शतेऽप्यत्र भीमानां तु तथा शतम् ।
शतं च प्रतिविन्ध्यानां शतं नागाः शतं हयाः ॥२४॥
पलाशानां शतं ज्ञेयं शतं काशकुशादयः ।
शान्तनुश्चैव राजेन्द्र ! पाण्डुश्चैव पिता तव ॥ २५ ॥
उशंगवः शतरथो देवराजो जयद्रथः ।
वृषदर्भश्च राजर्षिर्बुद्धिमान्सह मंत्रिभिः ॥ २६ ॥
अथाऽपरे सहस्राणि ये गताः शशबिन्दवः ।
इष्ट्वाऽश्वमेधैर्बहुभिर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २७ ॥
एते राजर्षयः पुण्याः कीर्तिमन्तो बहुश्रुताः ।
तस्यां सभायां राजेन्द्र ! वैवस्वतमुपासते ॥ २८ ॥

ययाति, नहुष, पूरु, मान्धाता, सोमक, नृग, त्रसदस्यु, कृतवीर्य, श्रुतश्रवा, अरिष्टनेमि, सिद्ध, कृतवेग, कृति, निमि, प्रतर्दन शिबि, मत्स्य, पृथुलाक्ष, बृहद्रथ, वार्त मरुत्त, कुशिक, सांकाश्य, सांकृति, ध्रुव, चतुरश्व, सदश्वोर्मि, कार्तवीर्य, भरत, सुरथ, सुनीथ, निशठ, नल, दिवोदास, सुमना, अम्बरीष, भगीरथ, व्यश्व, सदश्व, वध्र्यश्व, पृथुवेग पृथुश्रवा, पृषदश्व, वसुमना, बलवान, क्षुप, वृषद्भु, वृषसेन, पुरुकुत्स ध्वजी, रथी, आर्ष्टिषेण, दिलीप, महात्मा उशीनर, औशीनरि, पुण्डरीक,

शर्याति; शरभ; शुचि, अङ्ग, अरिष्ट, वेन, दुष्यन्त, सृञ्जय, जय, भाङ्गासुरि, सुनीथ, निषध, वहीनर, करन्धम, वाहिलक; सुद्युम्न, वलवान् मधु, ऐल, मरुत्त, वलवान पृथिवी पति, कपोत रोमा, तृणक, सहदेव, अर्जुन, व्यश्व, साश्व, कृशाश्व, शशविन्दु, दशरथ पुत्र राम, लक्ष्मण, प्रतर्दन, अलर्क, कक्षसेन गय, गौराश्व, जमदग्नि पुत्र परशुराम, नाभाग सगर, भूरिद्युम्न, महाश्व, पृथाश्व, जनक, राजा वैन्य, वारिषेण, पुरुजित, जनमेजय, ब्रह्मदत्त, त्रिगर्त, उपरिचर, इन्द्रद्युम्न, भीमजानु, गौरपृष्ठ, अनघ, लय, पद्म, मुचुकुन्द, अरिद्युम्न, प्रसेनजित, अरिष्टनेमि, सुद्युम्न, पृथुलाश्व, अष्टक, मत्स्य, नीप और हयवंशी सौ २ राजा, एक सौ एक धृतराष्ट्र के, अस्सी जनमेजय, सौ ब्रह्मदत्त, धीरिण और ईरिण वंश के सौ २ राजा, दो सौ भीष्म, सौ भीम, सौ प्रतिविन्ध्य, सौ नागवंशी, सौ हय, सौ पलाश, सौ, काश और कुशवंशी, शान्तनुराजा, और तुम्हारे पिता पाण्डु, उशंगव, शतरथ, देवराज जयद्रथ, मन्त्रियों के साथ बुद्धिमान राजर्षि वृषदर्भ, बड़ी दक्षिणा के अश्वमेधयज्ञ करने वाले, सहस्रों शशविन्दु आदि कीर्तिशाली, विद्वान, पवित्र राजर्षि, इस सभा में, यमराज की उपासना करते हैं ॥८-२८॥

अगस्त्योऽथ मतङ्गश्च कालो मृत्युस्तथैव च ।
यज्वानश्चैव सिद्धाश्च ये च योगशरीरिणः ॥ २९ ॥
अग्निष्वात्ताश्च पितरः फेनपाश्चोष्मपाश्च ये ।
स्वधावन्तो बर्हिषदो मूर्तिमन्तस्तथाऽपरे ॥ ३० ॥

कालचक्रं च साक्षाच्च भगवान्हव्यवाहनः ।
नरा दुष्कृतकर्माणो दक्षिणायनमृत्यवः ॥ ३१ ॥
कालस्य नयने युक्ता यमस्य पुरुषाश्च ये ।
तस्यां शिंशपपालाशास्तथा काशकुशादयः ॥
उपासते धर्मराजं मूर्तिमन्तो जनाधिप ! ॥ ३२ ॥

हे राजन् ! अगस्य, मतङ्ग, काल, मृत्यु, यागशील और योग से शरीर धारण करने वाले सिद्ध, अग्निष्वात्त पितर, फेनपा और उष्णपा पितर, स्वधा वाले मूर्तिमान बर्हिषद् पितर तथा अन्य पितर, कालचक्र, मूर्तिमान भगवान् अग्नि, पापी मनुष्य, दक्षिणायन सूर्य मे मरने वाले, काल के चलाने वाले यमराज के किङ्कर शिंशप, पालाश (ढाक) काश, कुश, आदि वृक्ष मूर्ति धारण करके उस सभा मे यमराज की उपासना कर रहे थे ॥ २६–३२

एते चाऽन्ये च बहवः पितृराजसभासदः ।
न शक्याः परिसंख्यातुं नामभिः कर्मभिस्तथा ॥३३॥

ये तथा अन्य यमराज के सभासद उस सभा मे थे, जिनकी संख्या नाम या कर्म इन दोनों से नहीं की जासकती है ॥ ३३ ॥

असंबाधा हि सा पार्थ ! रम्या कामगमा सभा ।
दीर्घकालंतपस्तप्त्वा निर्मिता विश्वकर्मणा ॥ ३४ ॥

हे पार्थ ! यह सभा अत्यन्त विशाल, रम्य और कामनाओं के पूर्ण करने वाली या कामना के अनुसार गमन करने वाली थी। बहुत काल तप करके विश्वकर्मा ने उसे बनाया था ॥३४॥

ज्वलन्ती भासमाना च तेजसा स्वेन भारत ! ।
तामुग्रतपसो यान्ति सुव्रताः सत्यवादिनः ॥ ३५ ॥
शान्ताः संन्यासिनः शुद्धाः पूताः पुण्येन कर्मणा ।

हे भारत ! यह सभा अत्यन्त प्रकाशमान और अपने तेज से देदीप्यमान थी। उस सभा में उग्र तप करने वाले, व्रतशील सत्यवादी शान्त सन्यासी, अपने कर्म से शुद्ध पवित्र हुए पुरुष जाते हैं ॥ ३५ ॥

सर्वे भास्वरदेहाश्च सर्वे च विरजोम्बराः ॥ ३६ ॥
चित्राङ्गदाश्चित्रमाल्याः सर्वे ज्वलितकुण्डलाः ।
सुकृतैः कर्मभिः पुण्यैः पारिबर्हैश्च भूषिताः ॥३७॥

ये सब सुन्दर देह वाले, उज्ज्वल वस्त्रधारी, विचित्र भूषण पहिने हुए मालाओं से सुशोभित, कुण्डल धारी, उत्तम पुण्य कर्म, तथा राजाओं के उपयोगी वस्त्रों से सुशोभित थे ॥ ३६-३७॥

गन्धर्वाश्च महात्मानः संघशश्चाऽप्सरोगणाः ।
वादित्रं नृत्यगीतं च हास्यं लास्यं च सर्वशः ॥३८॥

गान विद्या में कुशल, गन्धर्व और अप्सराओं के गण, नाच, गान, हास्य, लास्य (शनै. २ नाच) से सारी सभा भरी रहती थीं ॥ ३८ ॥

पुण्याश्च गन्धाः शब्दाश्च तस्यां पार्थ ! समन्ततः ।
दिव्यानि चैव माल्यानि उपतिष्ठन्ति नित्यशः ॥३९॥

हे पार्थ ! उस सभा के सब स्थानों में उत्तम गन्ध और शब्दों का व्यवहार हो रहा था। दिव्य २ मालाएँ उस सभा में बिखरी पड़ी रहती हैं ॥ ३९ ॥

शतं शतसहस्राणि धर्मिणां तं प्रजेश्वरम् ।
उपासते महात्मानं रूपयुक्ता मनस्विनः ॥ ४० ॥

अत्यन्त रूपवाले मनस्वी सैंकड़ों हज़ारों धार्मिक पुरुष प्रजा के स्वामी यमराज की वहां सेवा करते रहते हैं ॥ ४० ॥

ईदृशी सा सभा राजन्पितृराज्ञो महात्मनः ।
वरुणस्यापि वक्ष्यामि सभां पुष्करमालिनीम् ॥४१॥[३६०

इति श्री शत० संहि० वैया० सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि यमसभावर्णनं नामाऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

हे राजन् ! महात्मा पितृराज यम की सभा इस प्रकार की सुन्दर है। अब मूर्तिमान तीर्थों से युक्त वरुण की सभा का वर्णन करता हूं ॥ ४१ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत, लोकपाल सभा वर्णन के पर्व में यम सभा वर्णन का आठवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥



नवाँ अध्याय

नारद उवाच—

युधिष्ठिर सभा दिव्या वरुणस्याऽमितप्रभा ।
प्रमाणेन यथा याम्या शुभ्रप्राकारतोरणा ॥ १ ॥

नारद जी बोले—हे युधिष्ठिर ! अत्यन्त प्रकाश वाली वरुण की दिव्य सभा नाप में यमराज की सभा के समान है। जिसमें उत्तम २ प्रकार (दीवार) और तोरण लगे हैं ॥ २ ॥

अन्तः सलिलमास्थाय विहिता विश्वकर्मणा ।
दिव्यै रत्नमयैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युता ॥ २ ॥

इस सभा को जल मे प्रविष्ट होकर विश्वकर्मा ने बनाई है। यह रत्नों के दिव्य फल और पुष्पों से युक्त वृक्षों से सुशोभित है ॥ २ ॥

नीलपीतैः सिताः श्यामैः सितैर्लोहितकैरपि ।
अवतानैस्तथा गुल्मैर्मञ्जरीजालधारिभिः ॥ ३ ॥

इस सभा के प्रदेश, नीले, पीले, श्वेत, लाल, वितानों (मण्डपों) से तथा मञ्जरी समूह के धारण करने वाली लताओं से सुशोभित है ॥ ३ ॥

तथा शकुनयस्तस्यां विचित्रा मधुरस्वराः ।
अनिर्देश्या वपुष्मन्तः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४ ॥

इस सभा मे मधुर शब्दों से बोलने वाले, जिनको बताना भी कठिन है, ऐसे अद्भुत शरीर वाले सैंकड़ों हजारों पक्षी हैं ॥४॥

सा सभा सुखसंस्पर्शा न शीता न च घर्मदा ।
वेश्मासनवती रम्या सिता वरुणपालिता ॥ ५ ॥

इस सभा मे जाने से अत्यन्त सुख की प्राप्ति होती है। न तो इस में अधिक ठंढ है और न गर्मी ही है। इस सभा में दिव्य कमरे है और उन मे आसन (कुर्सी गलीचे आदि) पड़े है। यह वरुण रक्षित सभा श्वेत रङ्ग से दमक रही है॥५॥

यस्यामास्ते स वरुणो वारुण्या च समन्वितः ।
दिव्यरत्नाम्बरधरो दिव्याभरणभूषितः ॥ ६ ॥

दिव्य रत्न और वस्त्र धारण करने वाले और दिव्य भूषणों से भूषित, राजा वरुण इस सभा मे बैठते है॥ ६॥

स्रग्विणो दिव्यगन्धाश्च दिव्यगन्धानुलेपनाः ।
आदित्यास्तत्र वरुणं जलेश्वरमुपासते ॥ ७ ॥

माला पहिने हुए, सुन्दर सुगन्ध से भरे हुए, चन्दन आदि गन्धों के लपेटे हुए, आदित्य गण, जल के स्वामी वरुण की पूजा करते रहते हैं॥ ७॥

वासुकिस्तक्षकश्चैव नागश्चैरावतस्तथा ।
कृष्णश्च लोहितश्चैव पद्मश्चित्रश्च वीर्यवान् ॥ ८ ॥
कम्बलाश्वतरौ नागौ धृतराष्ट्रबलाहकौ ।
मणिमान्कुण्डकश्चैव कर्कोटकधनञ्जयौ ॥ ९ ॥
पाणिमान्कुण्डधारश्च बलवान्पृथिवीपते ।
प्रह्लादो मूषिकादश्च तथैव जनमेजयः ॥ १० ॥

पताकिनो मण्डलिनः फणावन्तश्च सर्वशः ॥ ११ ॥
एते चाऽन्ये च बहवः सर्पास्तस्यां युधिष्ठिर ।
उपासते महात्मानं वरुणं विगतक्लमाः ॥ १२ ॥

हे राजन्! युधिष्ठिर! वासुकि, तक्षक, नागराज, ऐरावत, कृष्ण, लोहित, वीर्यवान पद्म-चित्र, कम्बल, अश्वतर, धृतराष्ट्र बलाहक, मणिमान्, कुण्डध, कर्कोटक, धनञ्जय, पाणिमान कुण्डधार प्रह्लाद, मूषिकाद, जनमेजय, पताकी, मण्डली, फणावान् आदि सर्प, उस सभा में विराजते हैं। ये क्लेश रहित हुए महात्मा वरुण की सेवा करते रहते हैं॥ ८--१२॥

बलिर्वैरोचनो राजा नरकः पृथिवीञ्जयः ।
संह्रादो विप्रचित्तिश्च कालखञ्जाश्च दानवाः ॥ १३ ॥
सुहनुर्दुर्मुखः शंखः सुमनाः सुमतिस्ततः ।
घटोदरो महापार्श्वः क्रथनः पिठरस्तथा ॥ १४ ॥
विश्वरूपः स्वरूपश्च विरूपोऽथ महाशिराः ।
दशग्रीवश्च वाली च मेघवासा दशावरः ॥ १५ ॥
टिट्टिभो विटभूतश्च संह्रादश्चेन्द्रतापनः ।
दैत्यदानवसंघाश्च सर्वे रुचिरकुण्डलाः ॥ १६ ॥
स्रग्विणो मौलिनश्चैव तथा दिव्यपरिच्छदाः ।
सर्वे लब्धवराः शूराः सर्वे विगतमृत्यवः ॥ १७ ॥
ते तस्यां वरुणं देवं धर्मपाशधरं सदा ।
उपासते महात्मानं सर्वे सुचरितव्रताः ॥ १८ ॥

हे राजन् ! विरोचन पुत्र बलि, पृथिवीनिजेता, नरक, संह्राद, विप्रचित्ति, कालखंज दानव, सुहनु, दुर्मुख, शंख सुमना सुमति, घटोदर, महापार्श्व, क्रथन, पिठर, विश्वरूप, स्वरूप, विरूप, महाशिरा, दशग्रीव, वाली, मेघवासा, दशावर, टिट्टिभ, विटभूत, संह्राद, इन्द्रतापन, सुन्दर कुण्डल धारण किये हुए माला, मुकुट और दिव्य वस्त्र धारी, सारे दैत्य और दानवों के समूह, उस सभा में धर्मराज की पाश के धारण करने वाले महात्मा वरुण की उपासना करते हैं। यह दैत्य दानवों का समूह व्रतशील, मृत्यु के भय से रहित, शूर वरदान पाये हुए है ॥ १३-१८ ॥

तथा समुद्राश्चत्वारो नदी भागीरथी च सा ।
कालिन्दी विदिशा वेणा नर्मदा वेगवाहिनी ॥ १९ ॥
विपाशा च शतद्रुश्च चन्द्रभागा सरस्वती ।
इरावती वितस्ता च सिन्धुर्देवनदी तथा ॥ २० ॥
गोदावरी कृष्णवेणा कावेरी च सरिद्वरा ।
किंपुना च विशल्या च तथा वैतरिणी नदी ॥ २१ ॥
तृतीया ज्येष्ठिला चैव शोणश्चापि महानदः ।
चर्मण्वती तथा चैव पर्णाशा च महानदी ॥ २२ ॥
सरयूर्वारवत्या च लाङ्गली च सरिद्वरा ।
करतोया तथाऽऽत्रेयी लौहित्यश्च महानदः ॥ २३ ॥
लङ्घती गोमती चैव सन्ध्या त्रिःस्रोतसी तथा ।
एताश्चान्याश्च राजेन्द्र सुतीर्था लोकविश्रुताः ॥२४॥

सरितः सर्वतश्चाऽन्यास्तीर्थानि च सरांसि च ।
कूपाश्च सप्रस्रवणा देहवन्तो युधिष्ठिर ॥ २५ ॥
पल्वलानि तडागानि देहवन्त्यथ भारत ।
दिशस्तथा मही चैव तथा सर्वे महीधराः ॥ २६ ॥
उपासते महात्मानं सर्वे जलचरास्तथा ।

हे युधिष्ठिर, चारों समुद्र, भागीरथी, गङ्गानदी, यमुना, 'विदिशा, वेणा, वेगवती नर्मदा, विपाशा, शतद्रु, चन्द्रभागा, सरस्वती, इरावती, वितस्ता, सिन्धु, देवनदी, गोदावरी, कृष्ण-वेणा, नदी श्रेष्ठ कावेरी, किंपुना, विशल्या, वैतरणी, तृतीया, -ज्येष्ठिला, महानद शोण, चर्मण्वती, महानदी पर्णाशा, सरयू, वारवत्या सरिच्छ्रेष्ठ, लाङ्गली, करतोया, आत्रेयी, महानद लौहित्य, लङ्घती, गोमती, सन्ध्या, त्रिस्रोतसी' ये तथा अन्य लोक प्रसिद्ध तीर्थ, अन्य नदियां, तीर्थ, सर, कूप, झरने, मूर्ति -धारण करके इस सभा में बैठे रहते हैं। तलाई, तालाब, दिशा, पृथिवी, पर्वत, जलचर सब देह धारण किये हुए महात्मा वरुण की उपासना करते हैं ॥ १९–२६ ॥

गीतवादित्रवन्तश्च गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ २७ ॥
स्तुवन्तो वरुणं तस्यां सर्व एव समासते ।

गाने बजाने वाले गन्धर्व और अप्सराओं के समूह स्तुति करते हुए महात्मा वरुण के सभा में विराजते रहते हैं ॥ २७ ॥

महीधरा रत्नवन्तो रसा ये च प्रतिष्ठिताः ॥ २८ ॥
कथयन्तः सुमधुराः कथास्तत्र समासते ।

रत्नों की खान वाले पर्वत, और सारे रसों को धारण करने वाली कन्यायें, मधुर कथन करती हुई सभा में सुशोभित रहती हैं। ॥ २८ ॥

वारुणश्च तथा मन्त्री सुनामः पर्युपासते ॥ २९ ॥
पुत्रपौत्रैः परिवृतो गोनाम्ना पुष्करेण च ।
सर्वे विग्रहवन्तस्ते तमीश्वरमुपासते ॥ ३० ॥

वरुण का सुनाभ नाम का मन्त्री, अपने पुत्र पोते तथा गोनामक पुष्कर तीर्थ के साथ शरीर धारण करके, वरुण की सेवा करते हैं ॥ ३० ॥

एषा मया संपतता वारुणी भरतर्षभ ।
दृष्टपूर्वा सभा रम्या कुबेरस्य सभां शृणु ॥ ३१ ॥ [३९१]
इति श्री महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि वरुणसभावर्णनं नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

हे भरतर्षभ ! आते हुए मैंने यह वरुण की सभा देखी है, जो बड़ी सुन्दर है। अब तुम कुबेर की सभा के विषय में सुनो ॥ ३१ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत, लोकपालों की सभा के वर्णन में वरुण की सभा वर्णन का नवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

दशवाँ अध्याय

नारद उवाच—

सभा वैश्रवणी राजञ्छतयोजनमायता ।
विस्तीर्णा सप्ततिश्चैव योजनानि सितप्रभा ॥ १ ॥

नारद जी कहने लगे—हे राजन्! कली से श्वेत, कुवेर की सभा, सौ योजन लम्बी और सत्तर योजन चौड़ी थी ॥ १ ॥

तपसा निर्जिता राजन्स्वयं वैश्रवणेन सा ।
शशिप्रभाप्रावरणा कैलासशिखरोपमा ॥ २ ॥

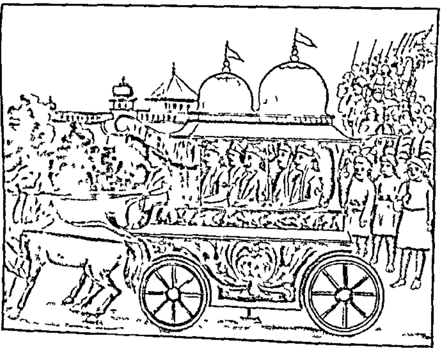
हे राजन्! स्वयं कुवेर ने इस सभा को प्राप्त किया था, जो चन्द्र की चांदनी सी चमकदार और कैलास की शिखर के तुल्य सुन्दर थी ॥ २ ॥

गुह्यकैरुह्यमाना सा खे विषक्तेव शोभते ।
दिव्या हेममयैरुच्चैः प्रासादैरुपशोभिता ॥ ३ ॥

यह सभा गुह्यक नामक गणों से धारण की हुई थी, जो आकाश में चिपटी हुई सी प्रतीत होती थी। यह दिव्य सुनहरी ऊंचे २ महलों से सुशोभित है ॥ ३ ॥

महारत्नवती चित्रा दिव्यगन्धा मनोरमा ।
सिताभ्रशिखराकारा प्लवमानेव दृश्यते ।
दिव्यैर्हेममयै रङ्गैर्विद्युद्भिरिव चित्रिता ॥ ४ ॥

इस में अनेक बड़े २ रत्न लगे हुए हैं यह अत्यन्त सुगन्ध से भरी हुई, सुन्दर और अद्भुत तथा श्वेत बादलों की चोटी के



पाण्डवों की दिग्विजय यात्रा

तुल्य तैरती सी दृष्टिगोचर होती है। दिव्य सुनहली रङ्गशालाओं से बिजली के तुल्य सुशोभित है ॥ ४ ॥

तस्यां वैश्रवणो राजा विचित्राभरणाम्बरः ।
स्त्रीसहस्रैर्वृतः श्रीमानास्ते ज्वलितकुण्डलः ॥ ५ ॥
दिवाकरनिभे पुण्ये दिव्यास्तरणसंवृते ।
दिव्यपादोपधाने च निषण्णः परमासने ॥ ६ ॥

विचित्र आभूषण और वस्त्रों से युक्त, चमकते हुए कुण्डल धारी, सहस्रों स्त्री समूहों से समन्वित, सूर्य तुल्य चमकते हुए दिव्य बिछौनों से युक्त, पवित्र, सुन्दर तकियों से सुशोभित, सुन्दर आसनों पर बैठा हुआ, कुवेर, इस सभा में विराजित रहता है ॥ ५-६ ॥

मन्दाराणामुदाराणां वनानि परिलोडयन् ।
सौगन्धिकवनानां च गन्धं गन्धवहो वहन् ॥ ७ ॥
नलिन्याश्चाऽलकाख्याया नन्दनस्य वनस्य च ।
शीतो हृदयसंह्लादी वायुस्तमुपसेवते ॥ ८ ॥

उत्तम २ कल्प वृक्ष के वनों को हिलाता हुआ, सुगन्धित वनों की सुगन्ध का धारी हृदय को प्रसन्न करने वाला कमलिनी, अलकापुरी, तथा नन्दन वन का शीत वायु, सभा में कुवेर की सेवा करता रहता है ॥ ७-८ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वा गणैरप्सरसां वृताः ।
दिव्यतानैर्महाराज गायन्ति स्म समागताः ॥ ९ ॥

हे महाराज! उस सभा में गन्धर्वों तथा अप्सराओं से युक्त, देवों के गण, दिव्यतानों के साथ २ सभा में बैठे हुए गाते रहते हैं ॥ ६ ॥

मिश्रकेशी च रम्भा च चित्रसेना शुचिस्मिता।
चारुनेत्रा घृताची च मेनका पुञ्जिकस्थला ॥ १० ॥
विश्वाची सहजन्या च प्रम्लोचा उर्वशी इरा ॥ ११ ॥
वर्गा च सोरभेयी च समीची बुद्बुदा लता।
एता सहस्रशश्चान्या नृत्यगीतविशारदाः ॥ १२ ॥
उपतिष्ठन्ति धनदं गन्धर्वाप्सरसां गणाः।

मिश्रकेशी, रम्भा चित्रसेना, शुचिस्मिता, चारुनेत्रा, घृताची मेनका, पुञ्जिकस्थला, विश्वाची, सहजन्या, प्रम्लोचा, उर्वशी, इरा, वर्गा सोरभेयी, समीची, बुद्बुदा लता, ये तथा अन्य गाने बजाने मे कुशल, अप्सरा तथा गन्धर्वों के समूह, कुबेर की सेवा करते रहते हैं ॥ १०–१२ ॥

अनिशं दिव्यवादित्रैर्नृत्यगीतैश्च सा सभा ॥ १३ ॥
अशून्या रुचिरा भाति गन्धर्वाप्सरसां गणैः।

सर्वदा गान और नाच से एवं दिव्य २ वाजों से भरी हुई यह सभा, गन्धर्व और अप्सराओं के गणों से सुशोभित है॥१३॥

किंनरा नाम गन्धर्वा नरा नाम तथा परे ॥ १४ ॥
मणिभद्रोऽथ धनदः श्वेतभद्रश्च गुह्यकः।
कशेरको गण्डकण्डुः प्रद्योतश्च महाबलः ॥ १५ ॥
कुस्तुम्बुरुः पिशाचश्च गजकर्णो विशालकः।
वराहकर्णस्ताम्रौष्ठः फलकक्षः फलोदकः ॥ १६ ॥

हंसचूडः शिखावर्तो हेमनेत्रो विभीषणः ।
पुष्पाननः पिंगलकः शोणितोदः प्रवालकः ॥ १७ ॥
वृक्षवाप्यनिकेतश्च चीरवासाश्च भारत ।
एते चान्ये च बहवो यक्षाः शतसहस्रशः ॥ १८ ॥

हे भारत ! किन्नर, गन्धर्व और मनुष्य तथा मणिभद्र, धनद, श्वेतभद्र, गुह्यक, कशेरक, गण्डकण्डू, महाबली प्रद्योत, कुस्तुम्बुरु पिशाच, गजकर्ण, विशालक, वराहकर्ण, ताम्रोष्ठ, फलकक्ष, फलोदक, हंसचूड़, शिखावर्त, हेमनेत्र, विभीषण, पुष्पानन, पिंगलक, शोणितोद, प्रवालक, वृक्षवाप्यनिकेत, चीरवासा, ये तथा अन्य बहुत से सैकड़ों और हजारों की संख्या में यक्ष, कुबेर की सेवा करते हैं ॥ १४-१८ ॥

सदा भगवती लक्ष्मीस्तत्रैव नलकूबरः ।
अहं च बहुशस्तस्यां भवन्त्यन्ये च मद्विधाः ॥ १९ ॥

उस सभा में भगवती लक्ष्मी, नलकूबर, मैं और मुझ जैसे अनेक मनुष्य, सदा आते जाते रहते हैं ॥ १९ ॥

ब्रह्मर्षयो भवन्त्यत्र तथा देवर्षयोऽपरे ।
क्रव्यादाश्च तथैवान्ये गन्धर्वाश्च महाबलाः ॥ २० ॥
उपासते महात्मानं तस्यां धनदमीश्वरम् ।

ब्रह्मर्षि तथा देवर्षि, राक्षस और अति बलवान् अन्य गन्धर्व, उस सभा में महात्मा, ऐश्वर्यशाली कुबेर की सेवा करते रहते हैं ॥ २० ॥

भगवान्भूतसंघैश्च वृतः शतसहस्रशः ॥ २१ ॥
उमापतिः पशुपतिः शूलभृद्भगनेत्रहा ।

त्र्यम्बको राजशार्दूल देवी च विगतक्लमा ॥ २२ ॥
वामनैर्विकटैः कुब्जैः क्षतजाक्षैर्महारवैः ।
मेदोमांसाशनैरुग्रै रुग्रधन्वा महाबलः ॥ २३ ॥
नानाप्रहरणैरुग्रै र्वातैरिव महाजवैः ।
वृतः सखायमन्वास्ते सदैव धनदं नृप ॥ २४ ॥

हे राजशार्दूल ! सैंकड़ हजारों अपने भूतसंघों से युक्त, वामन, विकट, कुब्ज, क्षतजाक्ष, महारव, मेदमांस भक्षण करने वाले नानाशस्त्रधारी, वायु के तुल्य, महावेग वाले, उग्रगणों से समन्वित, उग्र धनुष के धारी, महाबली, उमा के पति, पशुपति, शूलधारी, भग देवता के नेत्रों के अपहर्ता, भगवान् शंकर क्लेश रहित पार्वतीदेवी के सहित अपने मित्र कुवेर की उपासना करते रहते हैं ॥ २१-२४ ॥

प्रहृष्टाः शतश्चाऽन्ये बहुशः सपरिच्छदाः ।
गन्धर्वाणां च पतयो विश्वावसुर्हहा हूहूः ॥ २५ ॥
तुम्बुरुः पर्वतश्चैव शैलूषश्च तथाऽपरः ।
चित्रसेनश्च गीतज्ञस्तथा चित्ररथोऽपि च ॥ २६ ॥
एते चान्ये च गन्धर्वा धनेश्वरमुपासते ।

अनेक सुन्दर वस्त्र पहिने हुए, प्रसन्न चित्त, सैंकड़ों गन्धर्वों के पति, विश्वावसु, हाहा, हूहू, तुम्बरु, पर्वत, शैलूष, चित्रसेन, गान विद्या का जानने वाला चित्ररथ; गन्धर्व तथा अन्य गन्धर्व भी धन के पति कुवेर की उपासना करते रहते हैं ॥ २५-२६ ॥

विद्याधराधिपश्चैव चक्रधर्मा सहानुजैः ॥ २७ ॥
उपाचरति तत्र स्म धनानामीश्वरं प्रभुम् ।

हे राजन् ! उस सभा में विद्याधरों के स्वामी चक्रधर्मा अपने छोटे भाइयों के साथ धन के ईश्वर; शक्तिशाली कुबेर की उपासना करते हैं ॥ २७ ॥

किंनराः शतशस्तत्र धनानामीश्वरं प्रभुम् ॥ २८ ॥
आसते चाऽपि राजानो भगदत्तपुरोगमाः ।

सैकड़ों किन्नर तथा भगदत्त आदि राजा लोग धनपति कुबेर की उपासना करते रहते हैं ॥ २८ ॥

द्रुमः किंपुरुषेशश्च उपास्ते धनदेश्वरम् ॥ २९ ॥
राक्षसाधिपतिश्चैव महेन्द्रो गन्धमादनः ।
सह यक्षैः सगन्धर्वैः सह सर्वैर्निशाचरैः ॥ ३० ॥
विभीषणश्च धर्मिष्ठ उपास्ते भ्रातरं प्रभुम् ।

द्रुम किन्नरों का स्वामी, महेन्द्र, गन्धमादन पर्वत, सारे यक्ष, गन्धर्व और राक्षसों के सहित धर्मात्मा राक्षसराज विभीषण, अपने भाई कुबेर की सभा में पधारते रहते हैं ॥ २९-३० ॥

हिमवान्पारियात्रश्च विन्ध्यकैलासमन्दराः ॥ ३१ ॥
मलयो दर्दुरश्चैव महेन्द्रो गन्धमादनः ।
इन्द्रकीलः सुनाभश्च तथा दिव्यौ च पर्वतौ ॥ ३२ ॥
एते चाऽन्ये च बहवः सर्वे मेरुपुरोगमाः ।
उपासते महात्मानं धनानामीश्वरं प्रभुम् ॥ ३३ ॥

हिमालय, पारियात्र, विन्ध्य, कैलाश, मन्दराचल, मलय, दर्दुर, महेन्द्र, गन्धमादन, इन्द्रकील, सुनाभ, दिव्यपर्वत तथा मेरु आदि अन्य पर्वत भी उस सभा में कुबेर की उपासना करते रहते हैं ॥ ३१-३३ ॥

नन्दीश्वरश्च भगवान्महाकालस्तथैव च ।
शंकुकर्णमुखाः सर्वे दिव्याः पारिषदास्तथा ॥ ३४ ॥
काष्ठः कुटीमुखो दन्ती विजयश्च तपोधिकः ।
श्वेतश्च वृषभस्तत्र नर्दन्नास्ते महाबलः ॥ ३५ ॥

भगवान् नन्दीश्वर, महाकाल, शंकुकर्ण, सारे दिव्यपार्षद, काष्ठ, कुटीमुख, दन्ती, अत्यन्त तपस्वी विजय, महाबली श्वेत, वृषभ, ये सब गर्जना करते हुए वहां सुशोभित रहते हैं ॥ ३५ ॥

धनदं राक्षसाश्चाऽन्ये पिशाचाश्च उपासते ।
पारिषदैः परिवृतमुपायान्तं महेश्वरम् ॥ ३६ ॥
सदा हि देवदेवेशं शिवं त्रैलोक्यभावनम् ।
प्रणम्य मूर्ध्ना पौलस्त्यो बहुरूपमुमापतिम् ॥ ३७ ॥
ततोऽभ्यनुज्ञां संप्राप्य महादेवाद्धनेश्वरः ।
आस्ते कदाचिद्भगवान्भवो धनपतेः सखा ॥३८॥

इसके अतिरिक्त अनेक राक्षस और पिशाच कुबेर की सेवा करते हैं। अपने सभासदों से युक्त, देवों के देव, त्रैलोक्य पति उमा के स्वामी, आये हुए महेश्वर को मस्तक झुका कर कुबेर

प्रणाम करते हैं ! उनकी आज्ञा पाकर ये उनके समीप में ही बैठ जाते हैं। धनपति कुबेर के सखा भगवान् शिव भी उनकी सभा में समय २ पर पधारते हैं ॥ ३६-३८ ॥

निधिप्रवरमुख्यौ च शङ्खपद्मौ धनेश्वरौ ।
सर्वान्निधीन्प्रगृह्याऽथ समास्तां वै धनेश्वरम् ॥ ३९॥

निधियों में श्रेष्ठ, धनपति, शङ्ख और पद्म सारे कोषों को ग्रहण करके कुबेर की उपासना करते हैं ॥ ३९ ॥

सा सभा तादृशी रम्या मया दृष्टाऽन्तरिक्षगा ।
पितामहसभां राजन्कीर्तयिष्ये निबोध ताम् ।४०। [४३१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि वैश्रवणसभावर्णनं नाम दशमोऽध्यायः

हे राजन्! वह आकाश में घूमने वाली, कुबेर की सुन्दर सभा मैंने स्वयं देखी है। अब मैं ब्रह्मा की सभा का वर्णन करता हूं, तुम सुनो ॥ ४० ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत लोक पालों की सभा के वर्णन में कुबेर सभा के वर्णन का दशवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥



ग्यारहवाँ अध्याय

नारद उवाच—

पितामहसभां तात कथ्यमानां निबोध मे ।
शक्यते या न निर्देष्टुमेवंरूपेति भारत ॥ १ ॥

नारदजी बोले—हे भारत ! अब मैं तुमसे ब्रह्मा जी की सभा के विषय में कुछ कहता हूं, तुम सुनो । ब्रह्मा जी की सभा ऐसी है, यह कोई भी ठीक २ नहीं कह सकता ॥ १ ॥

पुरा देवयुगे राजन्नादित्यो भगवान्दिवः ।
अगच्छन्मानुषं लोकं दिदृक्षुर्विगतक्लमः ॥ २ ॥
चरन्मानुषरूपेण सभां दृष्ट्वा स्वयंभुवः ।
स तामकथयन्मह्यं दृष्ट्वा तत्त्वेन पाण्डव ॥ ३ ॥

हे राजन् ! पूर्व काल में सत्युग में क्लेश रहित लोकों के देखने की इच्छा वाले, भगवान्, सूर्य आकाश मार्ग से गमन कर रहे थे । मनुष्य रूप धारण करने वाले सूर्य ने, ब्रह्मा की सभा को बड़े ध्यान से देखा । उसने ही मुझ से इस सभा की सुन्दरता की सूचना दी ॥ २-३॥

अप्रमेयां सभां दिव्यां मानसीं भरतर्षभ ।
अनिर्देश्यां प्रभावेण सर्वभूतमनोरमाम् ॥ ४ ॥

हे भरतर्षभ ! यह सभा बड़ी दिव्य और मन से रची हुई है । इसकी सुन्दरता विचार में भी नहीं आ सकती है ।

इसका प्रभाव अकथनीय है और यह इस जगत में अत्यन्त सुन्दर है ॥ ४ ॥

श्रुत्वा गुणानहं तस्याः सभायाः पाण्डवर्षभ ।
दर्शनेप्सुस्तथा राजन्नादित्यमिदमब्रुवम् ॥ ५ ॥

मैं इस सभा के गुणों को सुनकर उस सभा के देखने की इच्छा से सूर्य से यह कहने लगा ॥ ५ ॥

भगवन्द्रष्टुमिच्छामि पितामहसभां शुभाम् ।
येन वा तपसा शक्या कर्मणा वापि गोपते ॥ ६ ॥
औषधैर्वा तथा युक्तैरुत्तमा पापनाशिनी ।
तन्ममाचक्ष्व भगवन्पश्येयं तां सभां यथा ॥ ७ ॥

हे भगवन् ! मैं ब्रह्मा की सभा को देखना चाहता हूँ। यह उत्तम, पापनाशिनी सभा, जिस तप, शक्ति, कर्म, औषध, युक्ति से मेरे दृष्टिगोचर हो सकती है, वही उपाय मुझे बताओ ॥ ६-७ ॥

स तन्मम वचः श्रुत्वा सहस्रांशुर्दिवाकरः ।
प्रोवाच भरतश्रेष्ठ व्रतं वर्षसहस्रकम् ॥ ८ ॥

हे भरतवंशश्रेष्ठ ! सहस्र किरण धारी सूर्य ने मेरे वचनों को सुनकर एक सहस्र वर्ष पर्यन्त व्रत धारण करने का निर्देश किया ॥ ८ ॥ ||259

ब्रह्मव्रतमुपास्स्व त्वं प्रयतेनाऽन्तरात्मना ।
ततोऽहं हिमवत्पृष्ठे समारब्धो महाव्रतम् ॥ ९ ॥

सूर्य ने मुझे उपदेश दिया, कि नारद! तू उद्यम शील होकर अन्तरात्मा से इस ब्रह्मव्रत को कर तब मैंने हिमालय की चोटी पर महाव्रत करना आरम्भ किया ॥ ९ ॥

ततः स भगवान्सूर्यो मामुपादाय वीर्यवान् ।
अगच्छत्तां सभां ब्राह्मीं विपाप्मा विगतक्रमः ॥ १० ॥

इसके बाद, सब पाप और क्लेशों से मुक्त शक्ति-शाली सूर्य, मुझे लेकर ब्रह्मा जी की उस सभा में पहुंचे ॥ १० ॥

एवंरूपेति सा शक्या न निर्देष्टुं नराधिप ।
क्षणेन हि बिभर्त्यन्यदनिर्देश्यं वपुस्तथा ॥ ११ ॥

हे नराधिप! वह सभा इतनी सुन्दर है, यह कोई भी नहीं बता सकता है। यह क्षण भर में ही अकथनीय दूसरा सुन्दर रूप धारण कर लेती है ॥ ११ ॥

न वेद परिमाणं वा संस्थानं चाऽपि भारत ।
न च रूपं मया तादृग्दृष्टपूर्वं कदाचन ॥ १२ ॥

हे भारत! इस सभा का परिमाण और स्थिति कोई नहीं जानता है। मैंने ऐसी सुन्दर सभा कभी पूर्व में नहीं देखी ॥१२॥

सुसुखा सा सदा राजन्न शीता न च घर्मदा ।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिं प्राप्य तां प्राप्नुवन्त्युत १३ ॥

हे राजन्! यह सभा सदा सुख देने वाली है; न अधिक ठण्डी होती है और न अधिक गर्म है। इसमें जा कर मनुष्य को भूख, प्यास, या ग्लानि नहीं रहती है ॥ १३ ॥

नानारूपैरिव कृता मणिभिः सा सुभास्वरैः ।
स्तम्भैर्न च धृता सा तु शाश्वती न च साक्षरा ॥१४॥

यह चमकते हुए अनेक प्रकार के मणियों से बनी है। इस की रचना बिना खम्भों के की गई है। यह सदा रहने वाली कुछ भी क्षीण नहीं होती है॥ १४॥

दिव्यैर्नानाविधैर्भावैर्भासद्भिरमितप्रभैः ।
अतिचन्द्रं च सूर्यं च शिखिनं च स्वयंप्रभा ॥ १५ ॥

यह अत्यन्त चमकने वाले, अनेक पदार्थों से चन्द्र, सूर्य और अग्नि का अतिक्रमण करती है; यह अपने आप प्रकाशवती है ।१५

दीप्यते नाकपृष्ठस्था भर्त्सयन्तीव भास्करम् ।
तस्यां स भगवानास्ते विदधद्देवमायया ॥ १६ ॥
स्वयमेकोऽनिशं राजन्सर्वलोकपितामहः ।
उपतिष्ठन्ति चाप्येनं प्रजानां पतयः प्रभुम् ॥ १७॥

यह सूर्य का तिरस्कार सा करती हुई स्वर्ग की चोटी पर विराजमान है। हे राजन्! देवमाया को धारण करके सब लोक का पिता भगवान् ब्रह्मा, इसमें नित्य विराजते हैं। इन ब्रह्मा जी के समीप में सारे प्रजा पति बैठे रहते हैं॥ १६-१७॥

दक्षः प्रचेताः पुलहो मरीचिः कश्यपः प्रभुः ।
भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च गौतमोऽथ तथाऽङ्गिराः ॥ १८ ॥
पुलस्त्यश्च क्रतुश्चैव प्रह्लादः कर्दमस्तथा ।
अथर्वाङ्गिरसश्चैव वालखिल्या मरीचिपाः ॥ १९ ॥

मनोऽन्तरिक्षं विद्याश्च वायुस्तेजो जलं मही।
शब्दस्पर्शौ तथा रूपं रसो गन्धश्च भारत ॥ २० ॥

प्रकृतिश्च विकारश्च यच्चाऽन्यत्कारणं भुवः ।
अगस्त्यश्च महातेजा मार्कण्डेयश्च वीर्यवान् ॥ २१ ॥
जमदग्निर्भरद्वाजः संवर्तश्च्यवनस्तथा ।
दुर्वासाश्च महाभाग ऋष्यशृङ्गश्च धार्मिकः ॥ २२ ॥
सनत्कुमारो भगवान्योगाचार्यो महातपाः ।
असितो देवलश्चैव जैगीषव्यश्च तत्त्ववित् ॥ २३ ॥
ऋषभो जितशत्रुश्च महावीर्यस्तथा मणिः ।
आयुर्वेदस्तथाऽष्टांगो देहवांस्तत्र भारत ॥ २४ ॥
चन्द्रमाः सह नक्षत्रैरादित्यश्च गभस्तिमान् ।
वायवः क्रतवश्चैव संकल्पः प्राण एव च ॥ २५ ॥
मूर्तिमन्तो महात्मानो महाव्रतपरायणाः ।
एते चान्ये च बहवो ब्रह्माणं समुपस्थिताः ॥ २६ ॥

दक्ष, प्रचेता, पुलह, मरीचि, कश्यप, भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, गौतम, अङ्गिरा, पुलस्त्य, क्रतु, प्रह्लाद, कर्दम, अथर्वाङ्गिरस, सूर्य किरणों का पान करने वाले वालखिल्य, मन, आकाश, विद्यावायु, तेज, जल, पृथिवी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, प्रकृति, विकृति तथा अन्य पृथिवी रचना के कारण, महातेजस्वी अगस्त्य, वीर्यवान् मार्कण्डेय, जमदग्नि, भरद्वाज, संवर्त, च्यवन, महाभाग दुर्वासा, धार्मिक ऋष्यशृङ्ग, भगवान् सनत्कुमार, महा

तपा, योगाचार्य, असित, देवल, तत्वों के जानने वाले, जैगीषव्य ऋषभ, जितशत्रु, महावीर्य मणि, देहधारी अष्टांग आयुर्वेद, नक्षत्रों के साथ चन्द्रमा, किरणधारी सूर्य, वायु, यज्ञ, संकल्प, प्राण, बड़े व्रत के धारण करने वाले, ये महात्मा तथा मूर्तिधारण किये हुए जलादितत्व, ब्रह्मा जी के पास उपस्थित रहते हैं।१८-२६

अर्थो धर्मश्च कामश्च हर्षो द्वेषस्तपो दमः ।
आयान्ति तस्यां सहिता गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ २७॥

अर्थ, धर्म, काम, हर्ष, द्वेष, तप, दम और अप्सरा तथा गन्धर्वों के समूह इस सभा मे इकट्ठे ही आते हैं॥ २७॥

विंशतिः सप्त चैवाऽन्ये लोकपालाश्च सर्वशः ।
शुक्रो बृहस्पतिश्चैव बुधोऽङ्गारक एव च ॥ २८॥
शनैश्चरश्च राहुश्च ग्रहाः सर्वे तथैव च ।
मन्त्रो रथन्तरं चैव हरिमान्वसुमानपि ॥ २९ ॥
आदित्याः साधिराजानो नामद्वन्द्वैरुदाहृताः ।
मरुतो विश्वकर्मा च वसवश्चैव भारत ॥ ३० ॥
तथा पितृगणाः सर्वे सर्वाणि च हवींष्यथ ।
ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदश्च पाण्डव ॥ ३१ ॥
अथर्ववेदश्च तथा सर्वशास्त्राणि चैव ह ।
इतिहासोपवेदाश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥ ३२ ॥
ग्रहा यज्ञाश्च सोमश्च देवताश्चापि सर्वशः ।
सावित्री दुर्गतरणी वाणी सप्तविधा तथा ॥ ३३ ॥

मेधा धृतिः श्रुतिश्चैव प्रज्ञा बुद्धिर्यशः क्षमा ।
सामानि स्तुतिशस्त्राणि गाथाश्च विविधास्तथा ॥३४॥
भाष्याणि तर्कयुक्तानि देहवन्ति विशाम्पते ।
नाटका विविधाः काव्याः कथाख्यायिककारिकाः॥३५॥
तत्र तिष्ठन्ति ते पुण्या ये चाऽन्ये गुरुपूजकाः ।

बीस अप्सराओं के गण, सात हंस, हाहा, हूहू आदि गन्धर्व, सारे लोकपाल, शुक्र, बृहस्पति, बुध, मंगल, शनैश्चर, राहु आदि नवग्रह, मन्त्र, रथन्तर साम, हरिमान्, वसुमान्, (इन्द्र) इन्द्र सहित आदित्य, इन्द्राग्नि, अग्नीषोम आदि देवता, मरुत्, विश्वकर्मा, वसु, सारे पितृगण, सम्पूर्ण हविः, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, सारे शास्त्र, इतिहास, उपवेद, वेदाङ्ग, ग्रह, यज्ञ, सोम, अन्य देवता, सावित्री, दुर्गतरणी, सात प्रकार की वाणी, (प्रणवरूप) मेधा, धृति, श्रुति, प्रज्ञा, बुद्धि, यश, क्षमा, साम, स्तुति शास्त्र, अनेक गाथा, देहधारी तर्क युक्त भाष्य, नाटक, अनेक काव्य, कथा और आख्यायिका के रचने वाले कवि तथा गुरु पूजक पवित्र विद्वान्, उस ब्रह्मा की सभा में उपस्थित रहते हैं ॥ २८-३५ ॥

क्षणा लवा मुहूर्ताश्च दिवा रात्रिस्तथैव च ॥ ३६ ॥
अर्धमासाश्च मासाश्च ऋतवः षट् च भारत ।
संवत्सराः पञ्चयुगमहोरात्रश्चतुर्विधः ॥ ३७ ॥

कालचक्रं च तद्दिव्यं नित्यमक्षयमव्ययम् ।
धर्मचक्रं तथा चापि नित्यमास्ते युधिष्ठिर ॥ ३८ ॥

हे युधिष्ठिर ! क्षण, लव, मुहूर्त, दिन, रात, अर्धमास, मास, षट्ऋतु, संवत्सर, पांचों युग, चारों प्रकार के अहोरात्र, दिव्य, नित्य, क्षीण नहीं होने वाला, कालचक्र और धर्मचक्र भी इस सभा में सदा विराजते हैं ॥ ३६-३८ ॥

अदितिर्दितिर्दनुश्चैव सुरसा विनता इरा ।
कालिका सुरभी देवी सरमा चाऽथ गौतमी ॥ ३९ ॥
प्रभा कद्रुश्च वै देव्यौ देवतानां च मातरः ।
रुद्राणी श्रीश्च लक्ष्मीश्च भद्रा षष्ठी तथापरा ॥ ४० ॥
पृथिवी गाङ्गता देवी ह्रीः स्वाहा कीर्तिरेवच ।
सुरादेवी शची चैव तथापुष्टिररुन्धती ॥ ४१ ॥
संवृत्तिराशा नियतिः सृष्टिर्देवी रतिस्तथा ।
एताश्चान्याश्च वै देव्य उपतस्थुः प्रजापतिम् ॥ ४२ ॥

अदिति, दिति, दनु, सुरसा, विनता, इरा, कालिका, सुरभी, देवी, सरमा, गौतमी, प्रभा, कद्रू, देवों की माताऐं, रुद्राणी, श्री लक्ष्मी, भद्रा, षष्ठी, पृथिवी, गङ्गादेवी, ह्री, स्वाहा, कीर्ति, सुरादेवी शची, पुष्टि, अरुन्धती, संवृत्ति, आशा, नियति, सृष्टिदेवी, रति, तथा अन्य देवियां, ब्रह्मा जी की उपासना में तत्पर रहती हैं ॥ ३९-४२ ॥

आदित्या वसवो रुद्रा मरुतश्चाऽश्विनावपि ।
विश्वेदेवाश्च साध्याश्च पितरश्च मनोजवाः ॥ ४३ ॥

आदित्य, वसु, रुद्र, मरुत्, अश्विन, विश्वेदेवा, साध्य, मन के तुल्य वेगवान् पितृगण भी ब्रह्मा की सभा में सुशोभित रहते हैं ॥ ४३ ॥

पितृणां च गणान्विद्धि सप्त वै पुरुषर्षभ ।
मूर्तिमन्तो वै चत्वारस्त्रयश्चाप्यशरीरिणः ॥ ४४ ॥

हे पुरुषोत्तम ! पितरों के सात गण होते हैं; जिन में चार मूर्तिमान् और तीन मूर्तिरहित होते हैं ॥ ४४ ॥

वैराजाश्च महाभागा अग्निष्वात्ताश्च भारत ।
गार्हपत्या नाकचराः पितरो लोकविश्रुताः ॥ ४५ ॥

हे भारत ! महाभाग वैराज, अग्निष्वात्त, गार्हपत्य आदि स्वर्ग में फिरने वाले पितर, लोक में प्रसिद्ध हैं ॥ ४५ ॥

सोमपा एकशृङ्गाश्च चतुर्वेदाः कलास्तथा ।
एते चतुर्षु वर्णेषु पूज्यन्ते पितरो नृप ॥ ४६ ॥
एतैराप्यायितैः पूर्वं सोमश्चाऽऽप्यायते पुनः ॥ ४७ ॥

सोमपा, एकशृङ्ग, चतुर्वेद तथा कलायें चारों प्रकार के पितर, चारों वर्णों में पूजे जाते हैं। पूर्व में इन पितरों के तृप्त हो जाने पर सोम की तृप्ति की जाती है ॥ ४६-४७ ॥

त एते पितरः सर्वे प्रजापतिमुपस्थिताः ।
उपासते च संहृष्टा ब्रह्माणममितौजसम् ॥ ४८ ॥

ये सारे पितर, ब्रह्मा की सभा में उपस्थित रहते हैं और प्रसन्नता के साथ अत्यन्त तेजस्वी ब्रह्मा की उपासना करते रहते हैं ॥ ४८ ॥

राक्षसाश्च पिशाचाश्च दानवा गुह्यकास्तथा ।
नागाः सुपर्णाः पशवः पितामहमुपास्ते ॥ ४६

इस सभा में राक्षस, पिशाच, दानव, गुह्यक, नाग, सुपर्ण और पशु, पितामह ब्रह्मा की उपासना करते हैं ॥ ४६ ॥

स्थावरा जङ्गमाश्चैव महाभूतास्तथाऽपरे ।
पुरन्दरश्च देवेन्द्रो वरुणो धनदो यमः ॥ ५० ॥
महादेवः सहोमोऽत्र सदा गच्छति सर्वशः ।
महासेनश्च राजेन्द्र सदोपास्ते पितामहम् ॥ ५१ ॥

हे राजेन्द्र ! स्थावर, जङ्गम, पञ्चमहाभूत, पुरन्दर, देवेन्द्र, वरुण, धनद, यम, पार्वती के साथ महादेव, इस सभा में सदा आते हैं। इसी प्रकार महादेव के पुत्र कार्तिकेय भी पितामह के समीप बैठे होते हैं ॥ ५०-५१ ॥

देवो नारायणस्तस्यां तथा देवर्षयश्च ये ।
ऋषयो वालखिल्याश्च योनिजायोनिजास्तथा ॥ ५२ ॥

हे राजन् ! इस सभा में देव नारायण, देवर्षि वालखिल्य ऋषि, योनिज या अयोनिज आदि सब होते हैं ॥ ५२ ॥

यच्च किंचित्त्रिलोकेऽस्मिन्दृश्यते स्थाणुजङ्गमम् ।
सर्वं तस्यां मया दृष्टमिति विद्धि नराधिप ॥ ५३ ॥

हे युधिष्ठिर ! इस त्रिलोकी मे जो कुछ स्थावर जङ्गम दिखाई देता है, वह सब मैं ने इस सभा मे देखा है, यह तुम निश्चय जानो ॥ ५३ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि ऋषीणामूर्ध्वरेतसाम् ।
प्रजावतां च पञ्चाशदृषीणामपि पाण्डव ॥ ५४ ॥
ते स्म तत्र यथाकामं दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः ।
प्रणम्य शिरसा तस्मै सर्वे यान्ति यथागतम् ॥ ५५ ॥

हे पाण्डव ! अट्ठाईस हजार ऊर्ध्वरेता (ब्रह्मचारी) ऋषि और पचास हजार सन्तान वाले मुनि, ये सब तथा सारे देवता, अपनी इच्छा के अनुसार ब्रह्मा जी के दर्शन करके और प्रणाम करके अपने अभीष्ट स्थान को चले जाते हैं ॥ ५४-५५ ॥

अतिथीनागतान्देवान्दैत्यान्नागांस्तथा द्विजान् ।
यक्षान्सुपर्णान्कालेयान्गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ५६ ॥
महाभागानमितधीर्ब्रह्मा लोकपितामहः ।
दयावान्सर्वभूतेषु यथार्हं प्रतिपद्यते ॥ ५७ ॥

अतिथि रूप से आये हुए महाभाग देव, दैत्य, नाग, द्विज, यक्ष, सुपर्ण, कालेय, गन्धर्व, और अप्सराओं से, अत्यन्त बुद्धिमान् लोक का पिता महादयालु ब्रह्मा सब के साथ उनके पद के अनुसार मिलता रहता है ॥ ५६-५७ ॥

प्रतिगृह्य तु विश्वात्मा स्वयंभूरमितद्युतिः ।
सान्त्वमानार्थसंभोगैर्युनक्ति मनुजाधिप ॥ ५८ ॥

हे मनुजेश्वर ! अत्यन्त तेजस्वी, स्वयम्भू, विश्व का आत्मा ब्रह्मा उन सबका आदर से स्वागत करके मधुर वचन, मान, दान, और भोग विलास से इनको सन्तुष्ट करता है ॥ ५८ ॥

तथा तैरुपयातैश्च प्रतियद्भिश्च भारत ।
आकुला सा सभा तात भवतिस्म सुखप्रदा ॥५९॥

हे भारत ! आने और जाने वालों से यह सभा भरी रहती है, परन्तु फिर भी किसी को कुछ भी क्लेश नहीं होता है, क्योंकि यह अत्यन्त विशाल है ॥ ५९ ॥

सर्व तेजोमयी दिव्या ब्रह्मर्षिगणसेविता ।
ब्राह्मया श्रिया दीप्यमाना शुशुभे विगतक्लमा ॥ ६० ॥

सब तेजों से युक्त, दिव्य, ब्रह्मर्षि गण से सेवित, ब्राह्म लक्ष्मी से दीप्तमान्, सब क्लेशों से रहित यह सभा सब से अधिक सुन्दर है ॥ ६० ॥

सा सभा तादृशी दृष्टा मया लोकेषु दुर्लभा ।
सभेयं राजशार्दूल मनुष्येषु यथा तव ॥ ६१ ॥

हे राजशार्दूल ! मैंने यह सब से श्रेष्ठ, सभा देखी है, जो सब लोकों में तेरी सभा के समान दुर्लभ है ॥ ६१ ॥

एता मया दृष्टपूर्वाः सभा देवेषु भारत ।
सभेयं मानुषे लोके सर्वश्रेष्ठतमा तव ॥६२॥ [४६३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि ब्रह्मसभावर्णनं नामैकादशोऽध्याय॥११॥

हे भारत ! मैंने देवों में तो यह ब्रह्मा की सभा देखी है और मनुष्य लोक में यह तेरी उत्तम सभा है ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारत सभापर्वान्तर्गत लोकपाल सभा के वर्णन में ब्रह्मसभा के वर्णन का ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ।

बारहवाँ अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

प्रायशो राजलोकस्ते कथितो वदतां वर।
वैवस्वतसभायां तु यथा वदसि मे प्रभो॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे महर्षे ! आपने अपने कथन के अनुसार यमराज की सभा में समस्त राजाओं का वर्णन करदिया॥ १ ॥

वरुणस्य सभायां तु नागास्ते कथिता विभो।
दैत्येन्द्राश्चापि भूयिष्ठाः सरितः सागरास्तथा॥२॥

हे विभो ! वरुण की सभा के वर्णन के प्रसङ्ग में नागों का वर्णन किया। अनेक दैत्यराज तथा नदी और समुद्रों का वर्णन किया॥ २ ॥

तथा धनपतेर्यक्षा गुह्यका राक्षसास्तथा।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव भगवांश्च वृषध्वजः॥ ३ ॥

इसी प्रकार कुबेर की सभा मे यक्ष, गुह्यक, राक्षस, गन्धर्व भगवान् शकर का वर्णन कर दिया ॥ ३ ॥

पितामहसभायां तु कथितास्ते महर्षयः ।
सर्वे देवनिकायाश्च सर्वशास्त्राणि चैव ह ॥४॥

हे प्रभो ! आपने ब्रह्मा की सभामे सारे महर्षि, देवो के समूह और मूर्तिमान् शास्त्रो की स्थिति का दिग्दर्शन करदिया ॥ ४ ॥

शक्रस्य तु सभायां तु देवाः संकीर्तिता मुने ।
उद्देशतश्च गन्धर्वा विविधाश्च महर्षयः ॥ ५ ॥

हे मुने ! आपने इन्द्र की सभा मे देव, किन्नर, गन्धर्व और अनेक महर्षियों का कथन कर दिया ॥ ५ ॥

एक एव तु राजर्षिर्हरिश्चन्द्रो महामुने ।
कथितस्ते सभायां वै देवेन्द्रस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

हे महामुने ! महात्मा इन्द्र की सभा मे आपने राजर्षियों में केवल एक ही हरिश्चन्द्र का वर्णन किया इसका क्या कारण है।

किं कर्म तेनाऽऽचरितं तपो वा नियतव्रतं ।
येनासौ सह शक्रेण स्पर्धते सुमहायशाः ॥ ७ ॥

हे व्रतशील ! इस राजा हरिश्चन्द्र ने कौन सा सुकर्म या तप किया है, जिससे वह महायशस्वी, इन्द्र से बराबरी करता है ॥ ७ ॥

पितृलोकगतश्चैव त्वया विप्र पिता मम ।
दृष्टः पाण्डुर्महाभागः कथं वापि समागतः ॥ ८ ॥

हे ब्रह्मन्! पितृलोक में आपने मेरे पिता महाभाग पाण्डु को भी देखा है। आपकी उनसे किस प्रकार भेंट हुई ॥ ८ ॥

किमुक्तवांश्च भगवंस्तन्ममाऽऽचक्ष्व सुव्रत ।
त्वत्तः श्रोतुं सर्वमिदं परं कौतूहलं हि मे ॥ ९ ॥

हे भगवन्! उन्होंने आपसे क्या कहा है। हे व्रतशील, आप मुझे सब कुछ सुनाइये मैं आपसे यह सब कुछ सुनना चाहता हूं, मुझे इसकी बड़ी इच्छा है ॥ ९ ॥

नारदउवाच—

यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र हरिश्चन्द्रं प्रति प्रभो ।
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि माहात्म्यं तस्य धीमतः ॥ १० ॥

नारद जी बोले—हे राजेन्द्र! आपने जो हरिश्चन्द्र के विषय में मुझसे पूछा है; मैं उस बुद्धिमान् राजर्षि के गौरव के विषय में वर्णन करता हूँ ॥ १० ॥

स राजा बलवानासीत्सम्राट् सर्वमहीक्षिताम् ।
तस्य सर्वे महीपालाः शासनावनताः स्थिताः ॥ ११ ॥

वह राजा हरिश्चन्द्र बड़ा बलवान् और सारे राजाओं का सम्राट् था। सारे राजा इसके शासन के आगे शिर झुकाये रहते थे ॥ ११ ॥

तेनैकं रथमास्थाय जैत्रं हेमविभूषितम् ।
शस्त्रप्रतापेन जिता द्वीपाः सप्त जनेश्वर ॥ १२ ॥

हे जनेश्वर ! इसने एक बार जयशील अपने सुनहरी रथ में बैठ कर शस्त्र के प्रताप से सातों द्वीपों को जीत लिया ॥ १२ ॥

स निर्जित्य महीं कृत्स्नां सशैलवनकाननाम् ।
आजहार महाराज राजसूयं महाक्रतुम् ॥ १३ ॥

हे महाराज ! यह पर्वत, वन और 'महावनों से भरी हुई सारी पृथिवी को जीत कर राजसूय महायज्ञ को करने लगा ॥१३

तस्य सर्वे महीपाला धनान्याजह्रु राज्ञया ।
द्विजानां परिवेष्टारस्तस्मिन्यज्ञे च तेऽभवन् ॥१४॥

इसकी आज्ञा से सारे राजा वहां धन लेकर आ पहुंचे और उस यज्ञ में ब्राह्मणों के लिए भोजन परोसने की सेवा करने लगे ॥ १४ ॥

प्रादाच्च द्रविणं प्रीत्या याचकानां नरेश्वरः ।
यथोक्तवन्तस्ते तस्मिंस्ततः पञ्चगुणाधिकम् ॥१५॥

राजा हरिश्चन्द्र ने याचकों को प्रेम के साथ उनके मांगे हुए धन से पांच गुणा अधिक प्रदान किया ॥ १५ ॥

अतर्पयच्च विविधैर्वसुभिर्ब्राह्मणांस्तदा ।
प्रसर्पकाले संप्राप्ते नानादिग्भ्यः समागतान् ॥ १६ ॥

इस राजा ने यज्ञ की समाप्ति के समय अनेक प्रकार के धन से अनेक देशों से आये हुए ब्राह्मणों को तृप्त किया ॥ १६ ॥

भक्ष्यभोज्यैश्च विविधैर्यथाकामपुरस्कृतैः ।
रत्नौघतर्पितैस्तुष्टैर्द्विजैश्च समुदाहृतम् ॥ १७ ॥

तेजस्वी च यशस्वी च नृपेभ्योऽभ्यधिकोऽभवत् ।
एतस्मात्कारणाद्राजन्हरिश्चन्द्रो विराजते ॥
तेभ्यो राजसहस्रेभ्यस्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ १८ ॥

अपनी २ इच्छा के अनुसार अनेक प्रकार के भक्ष्य और भोज्य तथा रत्नों के समूह से प्रसन्न हुए ब्राह्मणों ने। सर्वत्र यह उद्घोषित किया कि राजा हरिश्चन्द्र सब राजाओं से अधिक तेजस्वी और यशस्वी हो गया है। हे राजन्! यही कारण है कि हजारों राजाओं से आगे बढकर हरिश्चन्द्र, इन्द्र की सभा में विराजता है ॥ १७-१८ ॥

समाप्य च हरिश्चन्द्रो महायज्ञं प्रतापवान् ।
अभिषिक्तश्च शुशुभे साम्राज्येन नराधिप ॥ १९ ॥

हे राजन् प्रतापी हरिश्चन्द्र, इस राजसूय महायज्ञ को समाप्त करके अपने साम्राज्य पर अभिषिक्त होकर चमकने लगा ॥१९॥

ये चाऽन्ये च महीपाला राजसूयं महाक्रतुम् ।
यजन्ते ते सहेन्द्रेण मोदन्ते भरतर्षभ ॥ २० ॥

हे भरतर्षभ! जो अन्य राजा भी इस महायज्ञ राजसूय का अनुष्ठान करते हैं, वे भी इन्द्र के साथ आनन्द प्राप्त करते हैं २०

ये चापि निधनं प्राप्ताः संग्रामेष्वपलायिनः ।
ते तत्सदनमासाद्य मोदन्ते भरतर्षभ ॥ २१ ॥

हे भरतवंश श्रेष्ठ! जो युद्ध में पीठ न दिखाकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं वे भी इन्द्र की सभा मे पहुच कर आनन्द भोगते हैं २१

तपसा ये च तीव्रेण त्यजन्तीह कलेवरम् ।
ते तत्स्थानं समासाद्य श्रीमन्तो भांति नित्यशः ॥२२॥

इसके अतिरिक्त जो मनुष्य, तीव्र तप करके शरीर छोड़ते हैं, वे महानुभाव भी इन्द्र के भवन में जाकर नित्य आनन्द मनाते हैं ॥ २२ ॥

पिता च त्वाऽऽह कौन्तेय पाण्डुः कौरवनन्दन ।
हरिश्चन्द्रे श्रियं दृष्ट्वा नृपतौ जातविस्मयः ॥ २३ ॥
विज्ञाय मानुषं लोकमायान्तं मां नराधिप ।
प्रोवाच प्रणतो भूत्वा वदेथास्त्वं युधिष्ठिरम् ॥ २४ ॥
समर्थोऽसि महीं जेतुं भ्रातरस्ते स्थिता वशे ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठमाहरस्वेति भारत ॥ २५ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! कौरव वंश के आनन्द देने वाले ! नराधिप ! तुम्हारे पिता राजा पाण्डु ने राजा हरिश्चन्द्र के इस वैभव को देख कर और अचम्भे में आकर मनुष्य लोक में आते हुए मुझे जानकर बड़ी नम्रता से कहा है, कि तुम युधिष्ठिर से कहना कि हे भारत ! तू सारी पृथिवी के जीतने में समर्थ है, सारे भाई तेरे वश में है, इसलिए तू भी राजसूय यज्ञ कर ॥२३-२५ ॥

त्वयीष्टवति पुत्रेऽहं हरिश्चन्द्रवदाशु वै ।
मोदिष्ये बहुलाः शश्वत्समाः शक्रस्य संसदि ॥ २६ ॥

हे पुत्र ! तेरे राजसूय यज्ञ करने पर मैं भी हरिश्चन्द्र के तुल्य ही बहुत वर्षों तक इन्द्र की सभा में आनन्द करूंगा ॥२६॥

एवं भवतु वक्ष्येऽहं तव पुत्रं नराधिपम् ।
भूलोकं यदि गच्छेयमिति पाण्डुमथाऽब्रुवम् ॥ २७ ॥

हे युधिष्ठिर ! मैंने भी कहा, अच्छी बात है। मैं जब भूलोक मे जाऊंगा, तब युधिष्ठिर से कह दूंगा। यह मैंने राजा पाण्डु से कह दिया है ॥ २७ ॥

तस्य त्वं पुरुषव्याघ्र संकल्पं कुरु पाण्डव ।
गन्ताऽसि त्वं महेन्द्रस्य पूर्वैः सह सलोकताम् ॥ २८ ॥

हे पुरुष श्रेष्ठ ! पाण्डव ! तू भी अपने पिता के संकल्प को पूरा कर। मृत्यु के अनन्तर तू भी महेन्द्र की सभा मे अपने पूर्वजों साथ आनन्द प्राप्त करेगा ॥ २८ ॥

बहुविघ्नश्च नृपते क्रतुरेष स्मृतो महान् ।
छिद्राण्यस्य तु वाञ्छन्ति यज्ञघ्ना ब्रह्मराक्षसाः ॥ २९ ॥

हे राजन् ! इस यज्ञ मे बहुत से विघ्न आते हैं। विघ्न करने वाले यज्ञनाशक, ब्रह्म राक्षस इसमे विघ्न करना चाहते रहते हैं ॥ २९ ॥

युद्धं च क्षत्रशमनं पृथिवीक्षयकारणम् ।
किंचिदेव निमित्तं च भवत्यत्र क्षयावहम् ॥ ३० ॥

हे राजेन्द्र ! क्षत्रियों के शमन करने वाले, पृथिवी के विनाश के कारण युद्ध उठते हैं और साधारण निमित्त भी क्षयकारी हो जाता है ॥ ३० ॥

एतत्संचिन्त्य राजेन्द्र यत्क्षेमं तत्समाचर।
अप्रमत्तोत्थितो नित्यं चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे ॥ ३१ ॥
भव एधस्व मोदस्व धनैस्तर्पय च द्विजान् ॥ ३२ ॥

हे राजन्! यह विचार कर जिस मे तुम्हें 'कल्याण दिखाई दे, वह करो। चारों वर्णों की रक्षा में नित्य प्रमाद छोड़ कर तत्पर रहो, इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त करके आनन्द करो और धन से ब्राह्मणों को तृप्त करो ॥ ३१-३२ ॥

एतत्ते निस्तरेणोक्तं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि दाशार्हनगरीं प्रति ॥ ३३ ॥

हे राजन्! यह जो तुमने पूछा है, वह मैंने विस्तार से कह दिया है। अब मैं तुमसे आज्ञा (इजाजत) मागता हूं क्योंकि दाशार्ह नगरी को जाना है ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमाख्याय पार्थेभ्यो नारदो जनमेजय।
जगाम तैर्वृतो राजन्नृषिभिर्यैः समागतः ॥ ३४ ॥

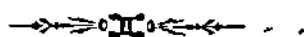
वैशम्पायन बोले—हे जनमेजय! कुन्ती पुत्रों से यह कह कर नारद जी, जिन ऋषियों के साथ आये थे, उनके ही साथ चल दिए हैं ॥ ३४ ॥

गते तु नारदे पार्थो भ्रातृभिः सह कौरव।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिन्तयामास पार्थिवः ॥३५॥[५२८]

इति श्री महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि - पाण्डुसन्देशकथने द्वादशोऽध्यायः॥१२ समाप्तं च लोकपालसभाख्यानं पर्व ।

हे कौरव ! नारद के चले जाने पर राजा युधिष्ठिर, अपने भाइयों के साथ यज्ञ श्रेष्ठ, राजसूय करने की सलाह करने लगे ३५

इति श्रीमहाभारत सभापर्वान्तर्गत लोकपालसभा के वर्णन में पाण्डु सन्देश कथन का बारहवां अध्याय समाप्त हुआ ।



तेरहवां अध्याय

* अथ राजसूयारम्भ पर्व *

वैशम्पायन उवाच—

ऋषेस्तद्वचनं श्रुत्वा निशश्वास युधिष्ठिरः ।
चिन्तयन्राजसूयेष्टिं न लेभे शर्म भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे भारत ! नारद जी के वचन सुन कर राजा युधिष्ठिर निःश्वास मारने लगे और राजसूय यज्ञ की चिन्ता करके व्याकुल होने लगे॥ १ ॥

राजर्षीणां च तं श्रुत्वा महिमानं महात्मनाम् ।
यज्वनां कर्मभिः पुण्यैर्लोकप्राप्तिं समीक्ष्य च ॥ २ ॥
हरिश्चन्द्रं च राजर्षिं रोचमानं विशेषतः ।
यज्वानं यज्ञमाहर्तुं राजसूयमियेष सः ॥ ३ ॥

महात्मा राजर्षियों की महिमा सुन कर और पवित्र कर्मों से यज्ञशील इन राजाओं की उत्तम लोक प्राप्ति एवं यज्ञ करने वाले राजा हरिश्चन्द्र के वैभव को देख कर राजा युधिष्ठिर भी राजसूय यज्ञ करने की इच्छा करने लगे ॥ २-३ ॥

युधिष्ठिरस्ततः सर्वानर्चयित्वा सभासदः ।
प्रत्यर्चितश्च तैः सर्वैर्यज्ञायैव मनो दधे ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ने प्रथम सारे सभासदों का सत्कार किया । सभासदों से पूजित होकर राजा युधिष्ठिर ने उन से राजसूय यज्ञ करने का अपना विचार प्रकट किया ॥ ४ ॥

स राजसूयं राजेन्द्र कुरूणामृषभस्तदा ।
आहर्तुं प्रवणं चक्रे मनः संचिन्त्य चाऽसकृत् ॥५॥

हे राजेन्द्र ! कुरुवंश श्रेष्ठ, राजा युधिष्ठिर ने बार २ विचार कर राजसूय यज्ञ करने में अपना मन लगाया ॥ ५ ॥

भूयश्चाऽद्भुतवीर्यौजा धर्ममेवाऽनुचिन्तयन् ।
किं हितं सर्वलोकानां भवेदिति मनो दधे ॥ ६ ॥

इस के बाद अत्यन्त पराक्रमी राजा युधिष्ठिर ने धर्म का विचार करके प्रजा का हित किस प्रकार हो, इस बात में मन लगाया ॥ ६ ॥

अनुगृह्णन्प्रजाः सर्वाः सर्वधर्मभृतांवरः ।
अविशेषेण सर्वेषां हितं चक्रे युधिष्ठिरः ॥ ७ ॥

सब धर्मों के धारण करने वाले युधिष्ठिर ने सारी प्रजा पर कृपा की और बिना तारतम्य के सब का हित करना आरम्भ किया ॥ ७ ॥

सर्वेषां दीयतां देयं मुष्णन्कोपमदावुभौ ।
साधु धर्मेति धर्मेति नाऽन्यच्छ्रूयेत भाषितम् ॥ ८ ॥

राजा युधिष्ठिर ने आज्ञा दी कि जिसको 'जो 'देना है, वह कोप और अभिमान छोड़ कर प्रदान करो। उस समय धर्म ही श्रेष्ठ है; ये ही शब्द सर्वत्र सुनाई दे रहे थे ॥ ८ ॥

एवं गते ततस्तस्मिन्पितरीवाऽऽश्वसञ्जनाः ।
न तस्य विद्यते द्वेष्टा ततोऽस्याऽजातशत्रुता ॥ ६ ॥

इस प्रकार सर्वत्र सुख हो जाने से सारी प्रजा इसके पिता के शासन काल के समान सुखी हुए 'निश्चिन्त रहने लगी। इस समय इस का कोई भी द्वेष करने वाला नहीं था; इससे इसका नाम अजातशत्रु प्रसिद्ध हो गया ॥ ६ ॥

परिग्रहान्नरेन्द्रस्य भीमस्य परिपालनात् ।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव बीभत्सोः सव्यसाचिनः ॥ १० ॥
धीमतः सहदेवस्य धर्माणामनुशासनात् ।
वैनत्यात्सर्वतश्चैव नकुलस्य स्वभावतः ॥ ११ ॥
अविग्रहा वीतभयाः स्वकर्मनिरताः सदा ।
निकाम वर्षाः स्फीताश्च आसञ्जनपदास्तथा ॥१२॥

राजा युधिष्ठिर सबको अपना बन्धु समझने, भीम रक्षा करने, सव्यसाची अर्जुन शत्रुओं का नाश करने, बुद्धिमान् सहदेव धर्मानुसार शासन करने, नकुल के स्वभाविक विनय के प्रदर्शन से, सारा देश, कलह रहित, भय शून्य, अपने कार्य में संलग्न, समयोपयोगी वर्षा से युक्त एवं सुख सहित हो गया ॥ १०-१२ ॥

वार्द्धुषी यज्ञसत्त्वानि गोरक्षं कर्षणं वणिक् ।
विशेषात्सर्वमेवैतत्संजज्ञे राजकर्मणा ॥ १३ ॥

राजा के सुशासन से व्याज की वृद्धि, यज्ञ की सामर्थ्य, गौ रक्षा, हल जोतना, व्यापार आदि की अत्यन्त उन्नति हुई ॥ १३॥

अनुकर्षं च निष्कर्षं व्याधिपावकमूर्च्छनम् ।
सर्वमेव न तत्राऽऽसीद्धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ॥ १४ ॥

प्रजा के कर का शेष रहना या कर लेने के समय प्रजा पीड़न करना, रोग और अग्नि की वृद्धि, राजा युधिष्ठिर के शासन काल में बिल्कुल नहीं थी ॥ १४॥

दस्युभ्यो वञ्चकेभ्यश्च राज्ञः प्रति परस्परम् ।
राजवल्लभतश्चैव नाश्रूयत मृषाकृतम् ॥ १५ ॥

दस्यु और ठगों का भय नहीं था। राजा तथा राजसेवकों का आपस में मिथ्या व्यवहार बिल्कुल नहीं सुना जाता था ॥ १५ ॥

प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वकर्मजम् ।
अभिहर्तुं नृपाः षट्सु पृथग्जात्यैश्च नैगमैः ॥ १६ ॥

राजा युधिष्ठिर का हित करने, सेवा में उपस्थित होने, अपने काम से द्रव्यार्जन करके कर देने के लिए एवं संधि विग्रह आदि के समय भिन्न भिन्न देश में उत्पन्न वैश्यों के साथ आकर अन्य सामन्त राजा, युधिष्ठिर की सभा में तत्पर रहते थे ॥१६॥

ववृधे विषयस्तत्र धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ।
कामतोऽप्युपयुञ्जानै राजसैर्लोभजैर्जनैः ॥ १७ ॥

उस राजा युधिष्ठिर के राजत्वकाल में काम, लोभ और रजो गुण की प्रवृत्ति से भी लोग वृद्धि की ही प्राप्ति कर रहे थे ॥ १७

सर्वव्यापी सर्वगुणी सर्वसाहः स सर्वराट् ।
यस्मिन्नधिकृतः सम्राट् भ्राजमानो महायशाः ॥ १८ ॥
यत्र राजन्दश दिशः पितृतो मातृतस्तथा ।
अनुरक्ताः प्रजा आसन्नागोपाला द्विजातयः ॥ १९ ॥

यह राजा युधिष्ठिर, सब जगह गमन करने वाला, सर्व गुण सम्पन्न, सब कुछ सह लेने में तत्पर, सब तरह से प्रकाशमान् था। इस महायशस्वी, तेजस्वी सम्राट् ने जिस २ देश पर अधिकार किया, उस २ देश की गोपालों से लेकर द्विजाति तक सारी प्रजा तथा नीति आदि पिता के और वात्सल्य आदि माता के गुणों के कारण दसों दिशाएं इसमें अनुरक्त थीं ॥ १८-१९ ॥

स मन्त्रिणः समानाय्य भ्रातृंश्च वदतां वरः ।
राजसूयं प्रति तदा पुनः पुनरपृच्छत ॥ २० ॥

बोलने वालों में चतुर राजा युधिष्ठिर ने सारे मन्त्री और भाइयों को बुला कर राजसूय यज्ञ करने के लिए बार २ पूछा ॥ २० ॥

ते पृच्छ्यमानाः सहिता वचोऽर्थ्यं मन्त्रिणस्तदा ।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञं यियक्षुमिदमब्रुवन् ॥ २१ ॥

तब सारे मन्त्री, यज्ञ करने की इच्छा वाले, बुद्धिमान् युधिष्ठिर से सार युक्त, यह वचन कहने लगे ॥ २१ ॥

येनाऽभिषिक्तो नृपतिर्वारुणं गुणमृच्छति ।
तेन राजापि तं कृत्स्नं सम्राड्गुणमभीप्सति ॥२२॥

जल से राजा का अभिषेक होता है इससे वह राजा जल के शीतलतादिगुणों का अभिलाषी होता है। फिर वह राजा सारे सम्राट् के गुणों की इच्छा करता है ॥ २२ ॥

तस्य सम्राड्गुणार्हस्य भवतः कुरुनन्दन ।
राजसूयस्य समयं मन्यन्ते सुहृदस्तव ॥ २३ ॥

हे कुरुनन्दन ! आप सम्राट् के गुणों के योग्य हैं। इससे तुम्हारे सारे मित्र इस काल को राजसूय के उपयोगी स्वीकार करते हैं ॥ २३ ॥

तस्य यज्ञस्य समयः स्वाधीनः क्षत्रसंपदा ।
साम्ना षडग्नयो यस्मिंश्चीयन्ते संशितव्रतैः ॥२४॥

उस यज्ञ का समय तो क्षत्र सम्पत्ति बल के आधीन है। व्रतशील मुनि इसमें सामवेद के अनुसार छः अग्नियों का चयन करते हैं ॥ २४ ॥

दर्वीहोमानुपादाय सर्वान्यः प्राप्नुते क्रतून् ।
अभिषेकं च यस्यान्ते सर्वजित्तेन चोच्यते ॥२५॥

दर्वी होम से लेकर जो सारे यज्ञों को करता है और फिर उसके अन्त में अभिषेक प्राप्त करता है, इसीसे तो राजा सर्वजित् कहाता है ॥ २५ ॥

समर्थोऽसि महाबाहो सर्वे ते वशगा वयम् ।
अचिरात्त्वं महाराज राजसूयमवाप्स्यसि ॥२६॥

हे महाबाहो ! तुम सब प्रकार से समर्थ हो। हम सब तुम्हारे वश में हैं। हे महाराज ! आप शीघ्र ही राजसूय यज्ञ करें ॥ २६ ॥

अविचार्य महाराज राजसूये मनः कुरु ।
इत्येवं सुहृदः सर्वे पृथक्च सह चाब्रुवन् ॥२७॥

हे महाराज ! अब चिन्ता छोड़कर राजसूय यज्ञ के पूरा करने मे मन लगाओ। इस प्रकार पृथक् २ और इकट्ठे भी सारे मित्रों ने राजा युधिष्ठिर को सम्मति दी ॥ २७ ॥

स धर्म्यं पाण्डवस्तेषां वचः श्रुत्वा विशाम्पते ।
धृष्टमिष्टं वरिष्ठं च जग्राह मनसाऽरिहा ॥२८॥

हे प्रजापते ! शत्रुनिहन्ता युधिष्ठिर ने धर्मानुसार, तेजयुक्त, अभीष्ट और श्रेष्ठ वचन सुनकर मन से ग्रहण किया ॥ २८ ॥

श्रुत्वा सुहृद्वचस्तच्च जानंश्चाप्यात्मनः क्षमम् ।
पुनः पुनर्मनो दध्रे राजसूयाय भारत ॥ २९॥

स भ्रातृभिः पुनर्धीमानृत्विग्भिश्च महात्मभिः ।
मन्त्रिभिश्चापि सहितो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥३०॥
धौम्यद्वैपायनाद्यैश्च मन्त्रयामास मन्त्रवित् ॥ ३१ ॥

हे भारत ! राजा युधिष्ठिर अपने मित्रों के वचन सुन कर और अपनी शक्ति जान कर राजसूय यज्ञ, करने के लिए बार २ मन मे विचार करने लगे और धौम्य तथा वेद व्यास जी से इस विषय में बार २ सम्मति करने लगे ॥ ३०-३१ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

इयं या राजसूयस्य सम्राडर्हस्य सुक्रतोः ।
श्रद्दधानस्य वदत स्पृहा मे सा कथं भवेत् ॥ ३२॥

युधिष्ठिर बोले—सम्राट् के योग्य उत्तम यज्ञ राजसूय के करने की मेरी इच्छा है; मुझ श्रद्धालु को बताइये, यह किस प्रकार पूर्ण होगी ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तास्तु ते तेन राज्ञा राजीवलोचन ।
इदमूचुर्वचः काले धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ३३ ॥
अर्हस्त्वमसि धर्मज्ञ राजसूयं महाक्रतुम् ।

वैशम्पायन बोले—हे कमल लोचन ! राजा युधिष्ठिर के इतना कहने पर उन लोगों ने उस समय धर्मराज युधिष्ठिर से ये वचन कहे। हे धर्मात्मन् ! आप सब प्रकार से राजसूय महायज्ञ के अधिकारी हैं ॥ ३३ ॥

अथैवमुक्ते नृपतावृत्विग्भिर्ऋषिभिस्तथा ॥
मन्त्रिणो भ्रातरश्चाऽस्य तद्वचः प्रत्यपूजयन् ॥३४॥

ऋत्विक् और ऋषियों के इतना कहने पर मन्त्री और भाइयों ने भी इन के वचन का अनुमोदन किया ॥ ३४ ॥

स तु राजा महाप्राज्ञः पुनरेवाऽऽत्मनाऽऽत्मवान् ।
भूयो विममृशे पार्थो लोकानां हितकाम्यया ॥ ३५ ॥

इस आत्मवान् और महा बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर ने लोकों के हित की कामना से फिर यह विचार किया ॥ ३५ ॥

सामर्थ्ययोगं संप्रेच्य देशकालौ व्ययागमौ ।
विमृश्य सम्यक्च धियं कुर्वन्प्राज्ञो न सीदति ॥ ३६ ॥

जो बुद्धिमान्, अपनी सामर्थ्य, देश, काल, व्यय और आमदनी को देख कर अपनी बुद्धि को दृढ़ करता है, वह अन्त में दुःखी नहीं होता ॥ ३६ ॥

न हि यज्ञसमारम्भः केवलात्मविनिश्चयात् ।
भवतीति समाज्ञाय यत्नतः कार्यमुद्वहन् ॥ ३७ ॥

केवल अपने निश्चय कर लेने से यज्ञ का आरम्भ नहीं हो जाता है । इतना जान कर यत्न से कार्य करना चाहिये ॥३७॥

स निश्चयार्थं कार्यस्य कृष्णमेव जनार्दनम् ।
सर्वलोकात्परं मत्वा जगाम मनसा हरिम् ॥ ३८ ॥

राजा ने अपने कार्य के निश्चय के लिए सब मनुष्यों से श्रेष्ठ, जनार्दन श्रीकृष्ण का मन से ध्यान किया ॥ ३८ ॥

अप्रमेयं महाबाहुं कामाज्जातमजं नृषु।
पाण्डवस्तर्कयामास कर्मभिर्देवसंमितैः ॥ ३९ ॥

राजा युधिष्ठिर ने देवों के तुल्य कर्मों से अजन्मा होकर भी मनुष्यों मे जन्म लेने वाले तर्क के अगोचर महाबाहु श्रीकृष्ण को पहचाना ॥ ३९ ॥

नाऽस्य किंचिदविज्ञातं नाऽस्य किंचिदकर्मजम्।
न स किंचिन्न विषहेदिति कृष्णममन्यत ॥ ४० ॥

श्री कृष्ण को कोई वस्तु अविदित नहीं है और न कोई ऐसी वस्तु है, जिसे वह न कर सके। क्या चीज है, जिसे वह सह न सके। इस प्रकार युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को समझा ॥ ४० ॥

स तु तां नैष्ठिकीं बुद्धिं कृत्वा पार्थो युधिष्ठिरः।
गुरुवद्भूतगुरवे प्राहिणोद्दूतमञ्जसा ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्री कृष्ण मे श्रद्धा युक्त बुद्धि करके राजा युधिष्ठिर ने सर्व प्राणियों मे पूज्य श्रीकृष्ण के पास गुरु के तुल्य आदर से शीघ्र दूत भेजा ॥ ४१ ॥

शीघ्रगेण रथेनाऽऽशु स दूतः प्राप्य यादवान्।
द्वारकावासिनं कृष्णं द्वारवत्यां समासदत् ॥ ४२ ॥

शीघ्रगामी, रथ से वह दूत, यादवों के पास पहुंच कर द्वारकावासी श्री कृष्ण के पास द्वारका मे पहुंचा ॥ ४२ ॥

दर्शनाकांक्षिणं पार्थं दर्शनाकांक्षयाऽच्युतः।
इन्द्रसेनेन सहित इन्द्रप्रस्थमगात्तदा ॥ ४३ ॥

दर्शन की इच्छा वाले राजा युधिष्ठिर के दर्शनों की इच्छा से भगवान श्रीकृष्ण, इन्द्रसेन के साथ इन्द्रप्रस्थ को चल दिए ॥ ४३ ॥

व्यतीत्य विविधान्देशांस्त्वरावान्क्षिप्रवाहनः ।
इन्द्रप्रस्थगतं पार्थमभ्यगच्छज्जनार्दनः ॥ ४४ ॥

शीघ्रगामी सवारी में बैठ कर शीघ्र पहुंचने की इच्छा वाले श्री कृष्ण, अनेक देशों का उल्लंघन करके इन्द्रप्रस्थ में बैठे हुए राजा युधिष्ठिर के पास पहुंचे ॥ ४४ ॥

स गृहे पितृवद्भ्रात्रा धर्मराजेन पूजितः ।
भीमेन च ततोऽपश्यत्स्वसारं प्रीतिमान्पितुः ॥ ४५ ॥

अपने पिता की बहन के पुत्र, भाई धर्मराज और भीम से पिता के समान पूजित होकर प्रसन्न चित्त श्रीकृष्ण अपनी भूवा से मिले ॥ ४५ ॥

प्रीतः प्रीतेन सुहृदा रेमे स सहितस्तदा ।
अर्जुनेन यमाभ्यां च गुरुवत्पर्युपासितः ॥ ४६ ॥

इसके अनन्तर अपने प्रिय मित्र अर्जुन, नकुल, और सहदेव से पूज्यों की भांति पूजित होकर प्रसन्न चित्त श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए ॥ ४६ ॥

तं विश्रान्तं शुभे देशे क्षणिनं कल्पमच्युतम् ।
धर्मराजः समागम्य ज्ञापयत्स्वप्रयोजनम् ॥ ४७ ॥

शुभस्थान में विश्राम करते हुए 'अवसर पाये हुए समर्थ, श्रीकृष्ण के पास आकर धर्मराज ने अपना प्रयोजन कह सुनाया॥४७

युधिष्ठिर उवाच—

प्रार्थितो राजसूयो मे न चाऽसौ केवलेप्सया।
प्राप्यते येन तत्ते हि विदितं कृष्ण सर्वशः॥ ४८॥

युधिष्ठिर कहने लगे—हे कृष्ण, मैं राजसूययज्ञ करना चाहता हूँ; परन्तु वह केवल इच्छा करने से ही पूरा नहीं हो सकता है। जिस प्रकार से वह पूर्ण हो सकता है, वह तुम जानते हो॥४८॥

यस्मिन्सर्वं संभवति यश्च सर्वत्र पूज्यते।
यश्च सर्वेश्वरो राजा राजसूयं स विन्दति॥ ४९॥

जो सब कुछ कर सकता है और जो सब जगह पूजा जाता है। जो सबका स्वामी है, वही राजसूय यज्ञ कर सकता है॥४९

तं राजसूयं सुहृदः कार्यमाहुः समेत्य मे।
यत्र मे निश्चततमं तत्र कृष्ण गिरा भवेत्॥ ५०॥

हे कृष्ण! मेरे मित्र इकट्ठे हो कर मुझसे राजसूय यज्ञ करने को कह रहे हैं। इस विषय में तुम्हारा मत ही प्रमाण होगा॥५०

केचिद्धि सौहृदादेव न दोषं परिचक्षते।
स्वार्थहेतोस्तथैवाऽन्ये प्रियमेव वदन्त्युत॥ ५१॥

इनमें कुछ तो प्रेम के कारण दोषों का वर्णन नहीं करते हैं और कोई २ अपने स्वार्थ के कारण प्यारी २ बात बनाते हैं॥५१

प्रियमेव परीप्सन्ते केचिदात्मनि यद्धितम्।
एवंप्रायाश्च दृश्यन्ते जनवादाः प्रयोजने ॥ ५२ ॥

कोई २ जो अपने लिए हित है उसे ही मेरे लिये भी प्रिय समझ बैठे हैं। इस प्रकार किसी प्रयोजन के निर्णय के समय ये वाद खड़े हो जाते हैं ॥ ५२ ॥

त्वं तु हेतूनतीत्यैतान्कामक्रोधौ व्युदस्य च।
परमं यत्क्षमं लोके यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ ५३ ॥ [५८१]

इति श्रीमहा०श० सं० वै० सभापर्वणि राजसूयारंभपर्वणि वासुदेवागमनं नाम त्रयोऽदशोध्यायः ॥ १३ ॥

परन्तु आप तो इन सारे हेतुओं का उल्लंघन करके और काम तथा क्रोध को दूर करके जो इस लोक में मुझे अत्यन्त हितकारी हो; मुझे ठीक २ वही बताइये ॥ ५३ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत राजसूयारंभपर्व में श्रीकृष्ण के आगमन का तेरहवां अध्याय पूरा हुआ।



चौदहवां अध्याय

श्रीकृष्णउवाच—

सर्वैर्गुणैर्महाराज राजसूयं त्वमर्हसि।
जानतस्त्वेव ते सर्वं किंचिद्वक्ष्यामि भारत ॥ १ ॥

श्री कृष्ण कहने लगे—हे महाराज! आप सर्व गुण सम्पन्न हैं; इससे अवश्य राजसूय यज्ञ करने के अधिकारी हैं। आप इस विषय में सब कुछ जानते हैं; तथापि मैं कुछ कहता हूं॥ १॥

जामदग्न्येन रामेण क्षत्रं यदवशेषितम्।
तस्मादवरजं लोके यदिदं क्षत्रसंज्ञितम्॥ २ ॥

जमदग्नि पुत्र परशुराम ने जिस क्षत्रिय वंशको अपनी कृपासे छोड़ दिया है; वह इस संसार में क्षत्रिय कहा कर भी क्षुद्र ही है॥२

कृतोऽयं कुलसंकल्पः क्षत्रियैर्वसुधाधिप।
निदेशभाग्भिस्तत्ते विदितं हि भरतर्षभ ॥ ३ ॥

हे वसुधाधिप! आज्ञा के उठाने वाले इन सारे क्षत्रियों ने जो कुछ नियम बना लिया है; वह आप जानते ही हैं॥ ३॥

ऐलस्येक्ष्वाकुवंशस्य प्रकृतिं परिचक्षते।
राजानः श्रेणिवद्धाश्च तथाऽन्ये क्षत्रिया भुवि ॥४ ॥

ये ऐल के समान आज्ञा उठाने वाले राजा और अन्य क्षत्रिय पृथिवी पर अपने आपको ऐल तथा इक्ष्वाकु की संतान कहते रहते हैं॥ ४॥

ऐलवंश्याश्च ये राजंस्तथैवेक्ष्वाकवो नृपाः ।
तानिचैकशतं विद्धि कुलानि भरतर्षभ ॥ ५ ॥

हे राजन् ! ऐल वंशी तथा इक्ष्वाकु वंशी राजाओं के एक सौ कुल भूमि पर फैले हुए हैं ॥ ५ ॥

ययातेस्त्वेव भोजानां विस्तरो गुणतो महान् ।
भजतेऽद्य महाराज विस्तरं स चतुर्दिशम् ॥ ६ ॥
तेषां तथैव तां लक्ष्मीं सर्वक्षत्रमुपासते ॥ ७ ॥

हे महाराज ! ययाति और भोजवंश का बड़ा विस्तार है; जो अत्यन्त गुणवान् हैं। इन वंशों ने चारो दिशाओं मे अपना फैलाव फैला लिया है। इन राजाओं की लक्ष्मी की ही सारे क्षत्रिय पूजा करते हैं; अर्थात् सारे क्षत्रिय इनके अधीन हो चुके हैं ।६-७

इदानीमेव वै राजञ्जरासन्धो महीपतिः ।
अभिभूय श्रियं तेषां कुलानामभिषेचितः ॥ ८ ॥

हे राजन् ! आज कल इन राजाओं की राज्य लक्ष्मी को जीत कर राजा जरासन्ध राज्य-गद्दी पर बैठा है ॥ ८ ॥

स्थितो मूर्धि नरेन्द्राणामोजसाऽऽक्रम्य सर्वशः ।
सोऽवनिं मध्यमां भुक्त्वा मिथो भेदममन्यत ॥ ९ ॥

इसने अपने तेज से सब पर आक्रमण करके,भारत के मध्य-भाग पर अपना अधिकार जमा लिया है और अन्य राजाओं में परस्पर भेद करने की चेष्टा कर रहा है या हमसे बैर रखता है॥९

प्रभुर्यस्तु परो राजा यस्मिन्नेकवशे जगत्।
स साम्राज्यं महाराज प्राप्तो भवति योगतः॥ १० ॥

हे महाराज ! जो शक्तिशाली राजा सब का स्वामी है और जिसके वश में सारा जगत् है। वही अपनी योग्यता से इस साम्राज्य के पाने का अधिकारी है॥ १० ॥

तं स राजा जरासन्धं संश्रित्य किल सर्वशः।
राजन्सेनापतिर्जातः शिशुपालः प्रतापवान्॥ ११ ॥

हे राजन् ! प्रतापी राजा शिशुपाल सब प्रकार से जरासन्ध का आश्रय लेकर उसका सेनापति बना हुआ है॥ ११ ॥

तमेव च महाराज शिष्यवत्समुपस्थितः।
वक्रः करूषाधिपतिर्मायायोधी महाबलः॥ १२॥

हे महाराज ! करूष देश का स्वामी माया से युद्ध करने वाला, महाबली वक्र भी, जरासन्ध का शिष्य सा बना हुआ है॥ १२ ॥

अपरौ च महावीर्यौ महात्मानौ समाश्रितौ।
जरासन्धं महावीर्यं तौ हंसडिम्भकावुभौ॥ १३ ॥

इसके सिवा महात्मा हंस और डिम्भक ये दोनों महापराक्रमी भी, महाशक्तिशाली राजा जरासन्ध के आश्रय में रह रहे हैं॥१३।

दन्तवक्रः करूषश्च करभो मेघवाहनः।
मूर्ध्ना दिव्यमणिं बिभ्रद्यमद्भुतमणिं विदुः॥ १४ ॥

दन्तवक्र, करूष, करभ और मेघवाहन ये चारों राजा मस्तक पर दिव्य मणिधारण करके भी राजा जरासन्ध की ही अद्भुत मणि जान कर सिर पर धारण करते हैं॥ १४॥

मुरुं च नरकं चैव शास्ति यो यवनाधिपः।
अपर्यन्तबलो राजा प्रतीच्यां वरुणो यथा॥ १५॥
भगदत्तो महाराज वृद्धस्तव पितुः सखा।
स वाचा प्रणतस्तस्य कर्मणा च विशेषतः॥ १६॥
स्नेहबद्धश्च मनसा पितृवद्भक्तिमांस्त्वयि।

हे महाराज ! मुरु और नरक नामक राजाओं पर जो यवनाधिप शासन करता है, वह पश्चिम दिशा में वरुण के समान महाबली तेरे पिता का सखा राजा भगदत्त, वाणी और विशेष कर कर्म से राजा जरासन्ध के सम्मुख झुका रहता है यह भगदत्त तुम में मन से प्रेम करता है और तुम्हारे पिता के समान ही तुम मे भी भक्ति युक्त है॥ १५-१६॥

प्रतीच्यां दक्षिणं चान्तं पृथिव्याः प्रति यो नृपः॥ १७॥
मातुलो भवतः शूरः पुरुजित्कुन्तिवर्धनः।
स ते सन्नतिमानेकः स्नेहतः शत्रुसूदनः॥ १८॥
जरासन्धं गतस्त्वेव पुरा यो न मया हतः।

पश्चिम से लेकर दक्षिण के अन्त तक की भूमि का जो राजा है, जो शूरवीर, कुन्तिवंश का बढ़ाने वाला तुम्हारा मामा है, वह शत्रुविजयी अकेला स्नेह से तुम्हारे सन्मुख विनयी होकर भी जरासन्ध से मिल गया है। जिसको पूर्वकाल में मैंने जान कर नहीं मारा॥ १७-१८॥

पुरुषोत्तमविज्ञातो योऽसौ चेदिषु दुर्मतिः ॥ १९ ॥
आत्मानं प्रति जानाति लोकेऽस्मिन्पुरुषोत्तमम् ।
आदत्ते सततं मोहाद्यः स चिह्नं च मामकम् ॥ २० ॥
वङ्गपुण्ड्रकिरातेषु राजा बलसमन्वितः
पौण्ड्रको वासुदेवेति योऽसौ लोकेऽभिविश्रुतः ॥ २१ ॥

यह दुर्मति, चेदिदेश में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। यह अपने आपको पुरुषोत्तम मानता है। जो अज्ञान से सदा मेरे चिन्हों को धारण किये हुए है। वङ्ग; पुण्ड्र और किरात देश में जो बड़ा बलवान् है। यह पौण्ड्रक राजा लोक में वासुदेव नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यह भी जरासन्ध के आश्रित ही हो गया है ॥ १९-२१ ॥

चतुर्थभाङ् महाराज भोज इन्द्रसखो बली ।
विद्याबलाद्यो व्यजयत्स पाण्ड्यक्रथकैशिकान् ॥ २२ ॥

हे महाराज ! पृथिवी के चतुर्थ भाग का भोगने वाला इन्द्र का सखा बलवान् भोज है। जिसने विद्याबल से पाण्ड्य और क्रथ कैशिक देशों को जीत लिया है ॥ २२ ॥

भ्राता यस्याऽऽकृतिः शूरो जामदग्न्यसमोऽभवत् ।
स भक्तो मागधं राजा भीष्मकः परवीरहा ॥ २३ ॥

जिसका भाई आकृति में परशुराम के समान वीर है; यह शत्रु-विजयी राजा भीष्मक भी जरासन्ध का ही भक्त हो गया है ॥२३॥

प्रियाण्याचरतः प्रह्वान्सदा संबन्धिनस्ततः ।
भजतो न भजन्त्यस्मानप्रियेषु व्यवस्थितः ॥ २४ ॥

ये प्रिय करने वाले, विनयी, सम्बन्धी, प्रेम करने वाले हमसे प्रेम नहीं करते हैं और हमारे अप्रिय में ही सदा लगे रहते हैं ॥२४

न कुलं न बलं राजन्नभ्यजानात्तथाऽऽत्मनः ।
पश्यमानो यशो दीप्तं जरासन्धमुपस्थितः ॥२५॥

हे राजन् ! यह अपने कुल और बल को न देख कर यश से प्रज्वलित जरासन्ध को देखता हुआ उसके आश्रित हो गया है॥२५

उदीच्याश्च तथा भोजाः कुलान्यष्टादश प्रभो ।
जरासन्धभयादेव प्रतीचीं दिशमास्थिताः ॥२६॥

हे प्रभो ! उत्तर दिशा के रहने वाले भोजों के अट्ठारह कुल जरासन्ध के भय से ही पश्चिम दिशा को भाग गये हैं ॥ २६॥

शूरसेना भद्रकारा बोधाः शाल्वाः पटच्चराः ।
सुस्थलाश्च मुकुट्टाश्च कुलिन्दाः कुन्तिभिः सह ॥२७
शाल्वायनाश्च राजानः सोदर्यानुचरैः सह ।
दक्षिणा ये च पञ्चालाः पूर्वाः कुन्तिषु कोसलाः ॥२८॥
तथोत्तरां दिशं चापि परित्यज्य भयार्दिताः ।
मत्स्याः संन्यस्तपादाश्च दक्षिणां दिशमाश्रिताः ॥२९॥

शूरसेन, भद्रकार, बोध, शाल्व, पटच्चर, सुस्थल, मुकुट्ट, कुन्तिवंश के साथ कुलिन्द, अपने भाई और अनुचरों के साथ शाल्वायन, दक्षिण पञ्चाल, कुन्तियों के पूर्व में स्थित कोसल,

मत्स्य और सन्यस्तपाद राजा भय से उत्तर दिशा को छोड़ कर दक्षिण दिशा को भाग गये हैं ॥ २७-२६ ॥

तथैव सर्वपञ्चाला जरासन्धभयार्दिताः ।
स्वराज्यं संपरित्यज्य विद्रुताः सर्वतो दिशम् ॥३०॥

इसी प्रकार सारे पञ्चाल जरासन्ध के भय से अपने राज्य को छोड़ कर सब ओर को भाग गये हैं ॥ ३० ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य कंसो निर्मथ्य यादवान् ।
बार्हद्रथसुते देव्यावुपागच्छद् वृथामतिः ॥ ३१ ॥

उस समय में यादवों को जीत कर मूर्ख कंस ने भी जरासंध की दो पुत्रियों से विवाह कर लिया है ॥ ३१ ॥

अस्तिः प्राप्तिश्च नाम्ना ते सहदेवानुजेऽबले ।
बलेन तेन स ज्ञातीनभिभूय वृथामतिः ॥ ३२ ॥
श्रैष्ठ्यं प्राप्तः स तस्याऽऽसीदतीवाऽपनयो महान् ।

इन कन्याओं के अस्ति और प्राप्ति, ये नाम हैं; ये सहदेव की छोटी बहन हैं। जरासन्ध के बल से ही इस मूर्ख कंस ने अपने बन्धुओं को जीत कर उन्नति प्राप्त की; परन्तु इससे उसका अन्याय ही प्रकट हुआ ॥ ३२ ॥

भोजराजन्यवृद्धैश्च पीड्यमानैर्दुरात्मना ॥३३॥
ज्ञातित्राणमभीप्सद्भिरस्मत्संभावना कृता ।

इस दुरात्मा द्वारा पीड़ित हुए भोजवंश के वृद्धों ने जाति रक्षा के लिए हम पर दृष्टि लगाई है ॥ ३३ ॥

दत्वाऽक्रूराय सुतनुं तामाहुकसुतां तदा॥ ३४ ॥
संकर्षणद्वितीयेन ज्ञातिकार्यं मया कृतम्।
हतौ कंससुनामानौ मया रामेण चाप्युत ॥ ३५ ॥

मैंने आहुक की कन्या अक्रूर को प्रदान करा के बलराम के साथ अपने बन्धुओं का कार्य पूरा किया और कंस तथा सुनामा को मैंने और बलराम ने मार डाला ॥ ३४-३५ ॥

भये तु समतिक्रान्ते जरासन्धे समुद्यते ।
मन्त्रोऽयं मन्त्रितो राजन्कुलैरष्टादशावरैः ॥३६॥

हे राजन्! इस समय जरासन्ध के उठने पर बड़ा भय खड़ा हो गया। उस समय अट्ठारह छोटे २ क्षत्रिय कुलों ने यह विचार निश्चित किया ॥ ३६ ॥

अनारमन्तो निघ्नन्तो महास्त्रैः शत्रुघातिभिः ।
न हन्यामो वयं तस्य त्रिभिर्वर्षशतैर्बलम् ॥ ३७ ॥

विना विश्राम लिए शत्रुघाती अस्त्रों से लगातार हनन करते हुए भी हम, उसकी सेना को तीन सौ वर्षों में भी खतम नहीं कर सकते हैं ॥ ३७ ॥

तस्य ह्यमरसंकाशौ बलेन बलिनां वरौ ।
नामभ्यां हंसडिम्भकावशस्त्रनिधनावुभौ ॥ ३८ ॥

इसके साथी हंस और डिम्भक देवों के तुल्य और बलवानों में अत्यन्त बली हैं। ये दोनों ही शस्त्र से नहीं मारे जा सकते हैं ॥ ३८ ॥

वायुभौ सहितौ वीरौ जरासन्धश्च वीर्यवान् ।
त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ॥३९॥

ये दोनों वीर और वीर्यवान जरासन्ध, ये तीनों, तीनों लोकों के विजय में पर्याप्त हैं, ऐसा मेरा विचार है ॥३९॥

न हि केवलमस्माकं यावन्तोऽन्ये च पार्थिवा ।
तथैव तेषामासीच्च बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ॥ ४० ॥

हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ ! यह केवल मेरा ही विचार नहीं है, बल्कि जितने राजा हैं, उन सब का यही विचार है ॥ ४० ॥

अथ हंस इति ख्यातः कश्चिदासीन्महान्नृपः ।
रामेण स हतस्तत्र संग्रामेऽष्टादशावरे ॥ ४१ ॥

जो प्रसिद्ध हंस नामक राजा था, वह हमारी सतरह लड़ाइयों में बलराम ने मार डाला, यह बात प्रसिद्ध होगई ।४१ ।

हतो हंस इति प्रोक्तमथ केनापि भारत ।
तच्छ्रुत्वा डिम्भको राजन्यमुनाम्भस्यमज्जत ॥४२॥

हे भारत ! हंस मारा गया, यह समाचार किसी ने जब डिम्भक को दिया, तो डिम्भक यह सुन कर यमुना के जल में डूब मरा ॥ ४२ ॥

विना हंसेन लोकेऽस्मिन्नाऽहं जीवितुमुत्सहे ।
इत्येतां मतिमास्थाय डिम्भको निधनं गतः ॥४३॥

हंस के बिना इस संसार में मैं जीवित नहीं रह सकता हूं, यह विचार करके ही डिम्भक भी मृत्यु को प्राप्त होगया ॥ ४३ ॥

तथातु डिम्भकं श्रुत्वा हंसः परपुरंजयः ।
प्रपेदे यमुनामेव सोऽपि तस्यां न्यमज्जत ॥ ४४ ॥

शत्रुविजयी हंस ने जब यह समाचार सुना कि डिम्भक डूब मरा, वह भी यमुना पर पहुंचा और उसमें डूब गया ॥ ४४ ॥

तौ स राजा जरासन्धः श्रुत्वा च निधनं गतौ ।
पुरं शून्येन मनसा प्रययौ भरतर्षभ ॥ ४५ ॥

हे भरतर्षभ ! जब राजा जरासन्ध ने यह सुना कि वे दोनों मारे गए तो वह भी उदास होकर अपने नगर को लौट गया ४५

ततो वयममित्रघ्न तस्मिन्प्रीतगते नृपे ।
पुनरानन्दिनः सर्वे मथुरायां वसामहे ॥ ४६ ॥

हे शत्रु विजयिन् ! राजा जरासन्ध के सुख पूर्वक लौट जाने पर हम सब भी आनन्द के साथ मथुरा में रहने लगे ॥ ४६ ॥

यदात्वभ्येत्य पितरं सा वै राजीवलोचना ।
कंसभार्या जरासन्धं दुहिता मागधं नृपम् ॥ ४७ ॥
चोदयत्येव राजेन्द्र पतिव्यसनदुःखिता ।
पतिघ्नं मे जहीत्येवं पुनः पुनररिन्दम ॥ ४८ ॥

हे शत्रुओं के नाश करने वाले ! जब कमल के तुल्य नेत्रों वाली, कंस की भार्या जरासन्ध की पुत्री, पति की मृत्यु से दुःखी

हुई, अपने पिता मगधराज जरासन्ध को बार २ उभारने लगी, कि तू मेरे पति के मारने वाले कृष्ण का वध कर ॥ ४७-४८ ॥

ततो वयं महाराज तं मन्त्रं पूर्वमन्त्रितम् ।
संस्मरन्तो विमनसो व्यपयाता नराधिप ॥ ४६ ॥

हे महाराज ! तब हम अपने पूर्व निश्चय का स्मरण करके उदास होकर भाग निकले ॥ ४६ ॥

पृथक्त्वेन महाराज संक्षिप्य महतीं श्रियम् ।
पलायामो भयात्तस्य ससुतज्ञातिबान्धवाः ॥५०॥
इति संचिन्त्य सर्वे स्म प्रतीचीं दिशमाश्रिताः ।

हे राजन् ! अपनी महालक्ष्मी को समेट कर अलग २ रूप में बेटे, भाई और जातिबन्धु, सब उसके भय से भाग चलें, यह विचार कर हम सब पश्चिम दिशा को चल दिये ॥ ५० ॥

कुशस्थलीं पुरीं रम्यां रैवतेनोपशोभिताम् ॥ ५१ ॥
ततो निवेशं तस्यां च कृतवन्तो वयं नृप ।
तथैव दुर्गसंस्कारं देवैरपि दुरासदम् ॥ ५२ ॥
स्त्रियोऽपि यस्यां युध्येयुः किमु वृष्णिमहारथाः ।
तस्यां वयममित्रघ्न निवसामोऽकुतोभयाः ॥ ५३ ॥

हे नृप ! रैवत पर्वत पर सुशोभित कुशस्थली नामक सुन्दर पुरी में अपना घर बना कर हम भी रहने लगे । वहां हमने एक किला बनाया, जिसको देवता भी नहीं जीत सकते हैं । उस दुर्गमें स्त्रियां भी लड़ सकती हैं, वृष्णि वंश के महारथियों का तो कहना ही क्या है । उस किले में हम निर्भय होकर रहने लगे ॥५१-५३॥

आलोच्य गिरिमुख्यं तं मागधं तीर्णमेव च ।
माधवाः कुरुशार्दूल परां मुदमवाप्नुवन् ॥ ५४ ॥

हे कुरुशार्दूल ! उस पर्वत श्रेष्ठ, और जरासन्ध से मुक्ति पाकर, यादव लोग, बड़े प्रसन्न हुये ॥ ५४ ॥

एवं वयं जरासन्धादभितः कृतकिल्विषाः ।
सामर्थ्यवन्तः संबन्धाद्गोमन्तं समुपाश्रिताः ॥५५॥

इस प्रकार सब ओर से जरासन्ध द्वारा सताये जाकर हम शक्ति रखते हुए भी किसी प्रयोजन से गोमन्त पर्वत पर चले आये ॥ ५५ ॥

त्रियोजनायतं सद्म त्रिस्कन्धं योजनावधि ।
योजनान्ते शतद्वारं वीरविक्रमतोरणम् ॥ ५६ ॥

यह दुर्ग तीन योजन लम्बा और एक २ योजन पर तीन सेनाओं के स्कन्ध वाला है। प्रत्येक योजन के अन्त पर इसमें शत द्वार हैं और वीरों के विक्रम का सूचक तोरण स्थान है ।५६

अष्टादशावरैर्नद्धं क्षत्रियैर्युद्धदुर्मदैः ।
अष्टादशसहस्राणि भ्रातृणां सन्ति नः कुले ॥५७॥

युद्ध में उत्कट सतरह कुल के क्षत्रियों से यह द्वार घिरा रहता है। अट्ठारह हजार हमारे भाई, बेटों के कुल में योद्धा विद्यमान हैं ॥ ५७ ॥

आहुकस्य शतं पुत्रा एकैकस्त्रिदशावरः ।
चारुदेष्णः सह भ्रात्रा चक्रदेवोऽथ सात्यकिः॥५८॥

अहं च रौहिणेयश्च साम्बः प्रद्युम्न एव च ।
एवमेते रथाः सप्त राजन्नन्यान्निबोध मे ॥ ५६॥

हे राजन्! आहुक के सौ पुत्र हैं, इनमें प्रत्येक देवों के तुल्य हैं। भाइयों के साथ चारुदेष्ण, चक्रदेव, सात्यकि, मैं, बलराम, साम्ब, प्रद्युम्न, ये सात अतिरथी कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त और सुनो ॥ ५८-५६ ॥

कृतवर्मा ह्यनाधृष्टिः समीकः समितिंजयः ।
कङ्कः शंकुश्च कुन्तिश्च सप्तैते वै महारथाः ।
पुत्रौ चाऽन्धकभोजस्य वृद्धौ राजा च ते दश॥६०॥

कृतवर्मा, अनाधृष्टि, समीक, समितिञ्जय, कङ्क, शकु कुन्ति, ये सात महारथी हैं। अन्धक और भोज के पुत्र, दो वृद्ध पुत्र और स्वयं राजा, ये कुल दश महारथी हैं ॥ ६० ॥

वज्रसंहनना वीरा वीर्यवन्तो महारथाः ।
स्मरन्तो मध्यमं देशं वृष्णिमध्ये व्यवस्थिताः॥६१॥

इनके शरीर वज्र के तुल्य हैं। ये वीर बड़े शक्तिशाली महा रथी हैं। ये मध्य भारत का स्मरण करते हुए वृष्णियों के मध्य में रहते हैं ॥ ६१ ॥

स त्वं सम्राड्गुणैर्युक्तः सदा भरतसत्तम ।
क्षत्रे सम्राजमात्मानं कर्तुमर्हसि भारत ॥६२॥

हे भरत सत्तम! तुम सारे सम्राट् के गुणों से विभूषित हो। इससे सारे क्षत्रियों में अपना सम्राट् पन तुम्हें प्रदर्शित करना ही चाहिये ॥ ६२ ॥

न तु शक्यं जरासन्धे जीवमाने महाबले ।
राजसूयस्त्वयाऽऽवाप्तुमेषा राजन्मतिर्मम ॥६३॥

हे राजन् ! जरासन्ध के जीवित रहने पर तुम राजसूय को नहीं कर सकते हो; यह मेरा खयाल है ॥ ६३ ॥

तेन रुद्धा हि राजानः सर्वे जित्वा गिरिव्रजे ।
कन्दरे पर्वतेन्द्रस्य सिंहेनेव महाद्विपाः ॥ ६४ ॥

इस जरासन्ध ने सारे राजाओं को जीत कर पर्वत की गुफा में कैद कर दिया है, जैसे पर्वत की गुफा मे सिंह, हाथियों को घेर लेता है ॥ ६४ ॥

स हि राजा जरासन्धो यियक्षुर्वसुधाधिपैः ।
महादेवं महात्मानमुमापतिमरिन्दम ॥ ६५ ॥
आराध्य तपसोग्रेण निर्जितास्तेन पार्थिवाः ।
प्रतिज्ञायाश्च पारं स गतः पार्थिवसत्तम ॥ ६६ ॥

हे अरिमर्दन ! यह राजा जरासन्ध इन राजाओं को बलि चढ़ा कर यज्ञ करना चाहता है । उमा के पति, महात्मा, महादेव की उग्र तप से आराधना करके इस जरासन्ध ने सारे राजा जीत लिए हैं । हे राजसत्तम ! यह इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा को पूरा कर चुका है ॥ ६५-६६ ॥

स हि निर्जित्य निर्जित्य पार्थिवान्पृतनागतान् ।
पुरमानीय बध्वा च चकार पुरुषव्रजम् ॥ ६७ ॥

सेना के साथ युद्ध करने वाले राजाओं को जीत २ कर और पुर में लाकर तथा बांध कर इसने पुरुषों का बाड़ा बना रखा है ॥६७

वयं चैव महाराज जरासन्धभयात्तदा।
मथुरां संपरित्यज्य गता द्वारवतीं पुरीम् ॥ ६८ ॥

हे महाराज! हम भी जरासन्ध के भय से ही मथुरा छोड़ कर द्वारिका को भाग गये हैं ॥ ६८ ॥

यदि त्वेनं महाराज यज्ञं प्राप्तुमभीप्ससि।
यतस्व तेषां मोक्षाय जरासन्धवधाय च ॥ ६९ ॥

हे महाराज! यदि आप इस यज्ञको पूर्ण करना चाहते हैं, तो उन राजाओं को छुड़ाने और जरासन्धके मारने का प्रयत्न करो ॥६९

समारम्भो न शक्योऽयमन्यथा कुरुनन्दन।
राजसूयस्य कार्त्स्न्येन कर्तुं मतिमतां वर ॥ ७० ॥

हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ! कुरुनन्दन! राजसूय यज्ञ के करने का प्रारम्भ अन्य किसी प्रकार से भी पूरा नहीं हो सकता है ॥७०॥

इत्येषा मे मती राजन्यथा वा मन्यसेऽनघ।
एवं गते ममाऽऽचक्ष्व स्वयं निश्चित्य हेतुभिः ॥७१॥[६५२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि राजसूयारंभपर्वणि कृष्णवाक्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

हे राजन्! मेरा तो यही मत है, अब आप जैसा मानते हैं, वह कहिए, इस दशा में स्वयं हेतुओं से निश्चित करके मुझे भी सूचित करो ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारत सभापर्वान्तर्गत, राजसूयारम्भपर्व में कृष्ण वाक्य का चौदहवां अध्याय समाप्त हुआ।

पन्द्रहवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

उक्तं त्वया बुद्धिमता यन्नाऽन्यो वक्तुमर्हति ।
संशयानां हि निर्मोक्ता त्वन्नाऽन्यो विद्यते भुवि ॥ १ ॥

युधिष्ठिर कहने लगे—हे भगवन् ! आप बुद्धिमान् ने जो कुछ कहा है, वैसा कोई अन्य कह नहीं सकता है। संशयों का मिटाने वाला तुमसे अन्य पृथिवी पर कोई भी नहीं है ॥ १ ॥

गृहे गृहे राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः ।
न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट्शब्दो हि कृच्छ्रभाक् ।२।

अपने २ हित करने वाले घर २ में राजा हैं, परन्तु वे सम्राट् पदवी प्राप्त नहीं कर सकते हैं, क्योंकि यह सम्राट् पद बड़ा ही दुर्लभ है ॥ २ ॥

कथं परानुभावज्ञः स्वं प्रशंसितुमर्हति ।
परेण समवेतस्तु यः प्रशस्यः स पूज्यते ॥ ३ ॥

जो अन्य के प्रभाव के जानने वाला है, वह अपनी प्रशंसा कैसे कर सकता है, जो अन्य के साथ मुकाबिला पाकर भी प्रशंसित रहता है, वही पूजित होता है ॥ ३ ॥

विशाला बहुला भूमिर्बहुरत्नसमाचिता ।
दूरं गत्वा विजानाति श्रेयो वृष्णिकुलोद्वह ॥ ४ ॥

हे वृष्णिवंश मे उत्पन्न होने वाले ! यह भूमि बड़ी विशाल है और अनेक रत्नों से परिपूर्ण है, इसमे परिश्रम से पार होकर ही मनुष्य अपने कल्याण को प्राप्त कर सकता है ॥ ४ ॥

शममेव परं मन्ये शमात्क्षेमं भवेन्मम ।
आरम्भे पारमेष्ठ्यं तु न प्राप्यमिति मे मतिः ॥ ५ ॥

हे कृष्ण ! मैं, मन और इन्द्रिय के विजय को ही श्रेष्ठ मानता हूं । इससे ही मेरा कल्याण हो सकता है । इस राजसूय के प्रारम्भ कर देने पर फल प्राप्ति, ब्रह्मलोक प्राप्ति के तुल्य कठिन ही प्रतीत होती है ॥ ५ ॥

एवमेते हि जानन्ति कुले जाता मनस्विनः ।
कश्चित्कदाचिदेतेषां भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दन ॥ ६ ॥

हे जनार्दन ! हमारे कुल मे उत्पन्न हुए मनस्वी पुरुष, यह विश्वास किये हुए हैं कि उनमे कभी कोई श्रेष्ठ पुरुष अवश्य होगा ॥ ६ ॥

वयं चैव महाभाग जरासन्धभयात्तदा ।
शङ्किताः स्म महाभाग दौरात्म्यात्तस्य चाऽनघ ॥७॥

हे महाभाग ! हम भी उस जरासन्ध की दुष्टता से भय खाये हुए हैं और सदा शङ्कित रहते हैं ॥ ७ ॥

अहं हि तव दुर्धर्ष भुजवीर्याश्रयः प्रभो ।
नाऽऽत्मानं बलिनं मन्ये त्वयि तस्माद्विशङ्किते ॥ ८ ॥

हे तेजस्विन् ! हमको तो तुम्हारी ही भुजा और बल का आश्रय है । जब तुमही उस जरासन्ध से भय खाते हो तो फिर हम अपने को बलवान् कैसे मान सकते हैं ॥ ८ ॥

त्वत्सकाशाच्च रामाच्च भीमसेनाच्च माधव ।
अर्जुनाद्वा महाबाहो हन्तुं शक्यो न वेति वै ॥ ६ ॥

हे महाबाहो, माधव ! आप, बलराम, भीमसेन या अर्जुन इनमें से कोई उसको मारने में समर्थ है या नहीं ॥ ६ ॥

एवं जानन्हि वार्ष्णेय विमृशामि पुनः पुनः ।
त्वं मे प्रमाणभूतोऽसि सर्वकार्येषु केशव ॥ १० ॥
तच्छ्रुत्वा चाऽब्रवीद्भीमो वाक्यं वाक्य विशारदः ॥११॥

हे वृष्णिवंशोद्भव ! यह जानकर मैं वार २ विचारता रहता हूं । हे केशव ! आप बताइये क्योंकि सब कार्यों में आपही मेरे प्रमाण हैं यह सुन कर वाक्य बोलने में चतुर भीम कहने लगे ॥ १०-११ ॥

भीम उवाच—

अनारम्भपरो राजा वल्मीक इव सीदति।
दुर्बलश्चाऽनुपायेन बलिनं योऽधितिष्ठति ॥ १२॥

भीम बोले—जो राजा उद्योग नहीं करता है तथा दुर्बल होकर बलवान् से भिड़ जाता है और कुछ भी उपाय नहीं करता है वह वल्मीक के समान नष्ट हो जाता है ॥ १२ ॥

अतन्द्रितस्तु प्रायेण दुर्बलो बलिनं रिपुम् ।
जयेत्सम्यक्प्रयोगेण नीत्यार्थानात्मनो हितान् ॥ १३ ॥

जो राजा दुर्बल होकर भी सावधान रहता है वही उत्तम रीति से उद्योग करने के कारण नीति युक्त अपने हितों को सदा के लिए प्राप्त कर लेता है ॥ १३ ॥

कृष्णे नयो मयि बलं जयः पार्थे धनञ्जये।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाऽग्नयः॥ १४॥

श्रीकृष्ण नीति निपुण हैं, मैं बलवान् हूं और अर्जुन सदा विजयी हैं। हम तीनों मिल कर तीनों अग्नियों से सिद्ध होने वाले यज्ञ के तुल्य जरासन्ध को वश में कर लेंगे॥ १४॥

कृष्ण उवाच—

अर्थानारभते बालो नाऽनुबन्धमवेक्षते।
तस्मादरिं न मृष्यन्ति बालमर्थपरायणम्॥ १५॥

श्रीकृष्ण कहने लगे—जो वे समझ हैं, वह कार्य के परिणाम को देखे बिना ही कार्य को आरम्भ कर बैठते हैं। ऐसे स्वार्थ में तत्पर मूर्ख शत्रु की, विजयी उपेक्षा नहीं करते हैं॥ १५॥

जित्वा जय्यान्यौवनाश्विः पालनाच्च भगीरथः।
कार्तवीर्यस्तपोवीर्याद्बलात्तु भरतो विभुः॥ १६॥
ऋद्ध्या मरुत्तस्तान्पञ्च सम्राजस्त्वनुशुश्रुम।
मन्त्रान्वयानुसृत्यत्र वमेव सतां युगे॥ १७॥

जीतने योग्य शत्रुओं के विजय से यौवनाश्वि, पालन से भगीरथ तप के बल से कार्तवीर्य, बल से शक्तिशाली भरत, ऋद्धि से मरुत्त, ये पाचों इन पांच कारणों से सम्राट् माने गए हैं। इस प्रकार पूर्वकाल मे अपने अनुकूल मन्त्र करके ही ये प्रशंसित हुए हैं॥ १६-१७॥

साम्राज्यमिच्छतस्ते तु सर्वाकारं युधिष्ठिर।
निग्राह्यलक्षणं प्राप्तिर्धर्मार्थनयलक्षणैः॥ १८॥

हे युधिष्ठिर! परन्तु आप पूर्वोक्त पांचों गुणों को धारण करके ही सम्राट् वन रहे हैं। धर्म, अर्थ और नीति के द्वारा ही विजित शत्रु रूप सम्राट् पद की प्राप्ति होती है ॥ १८ ॥

निग्राह्यलक्षणं प्राप्तो धर्मार्थनयलक्षणैः ।
बार्हद्रथो जरासन्धस्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ १९ ॥

हे भरतर्षभ! धर्म, अर्थ और नीति के द्वारा शत्रुओं पर जरासन्ध विजय प्राप्त कर चुका है। इसलिए बृहद्रथ के पुत्र जरासन्ध को तुम अपने यज्ञ का विघ्न समझो ॥ १९ ॥

न चैनमनुरुध्यन्ते कुलान्येकशतं नृपाः ।
तस्मादिह बलादेव साम्राज्यं कुरुते हि सः ॥ २० ॥

इस जरासन्ध को एक सौ कुल के राजाओं में कोई भी नहीं रोक सकता है। इसलिए वह बल से ही अपना साम्राज्य भोग रहा है ॥ २० ॥

रत्नभाजो हि राजानो जरासन्धमुपासते ।
न च तुष्यति तेनाऽपि बाल्यादनयमास्थितः ॥ २१ ॥

उत्तम २ रत्नों की भेंट लेकर राजा लोग जरासन्ध के पास आते हैं; परन्तु वह मूर्खता से उनसे प्रसन्न न होकर अन्याय ही करता है ॥ २१ ॥

मूर्धाभिषिक्तं नृपतिं प्रधानपुरुषो बलात् ।
आदत्ते न च नो दृष्टो भागः पुरुषतः क्वचित् ॥ २२ ॥

यह प्रधान पुरुष जरासन्ध अभिषिक्त हुए राजाओं को बल पूर्वक वश में नहीं करता है, ऐसा नहीं देखा गया है। कौन ऐसा है, जिसको इसने साधारण पुरुष की भांति स्वीकार नहीं किया॥ २२ ॥

एवं सर्वान्वशे चक्रे जरासन्धः शतावरान् ।
तं दुर्बलतरो राजा कथं पार्थ उपैष्यति ॥२३॥

इस प्रकार सौ के करीब राजाओं को यह वश में कर चुका है। हे पार्थ ! इस जरासन्ध को आप दुर्बल कैसे वश मे ला सकते हैं ॥ २३ ॥

प्रोक्षितानां प्रमृष्टानां राज्ञां पशुपतेर्गृहे ।
पशूनामिव का प्रीतिर्जीविते भरतर्षभ ॥ २४ ॥

हे भरतर्षभ ! पशुपालक के घर मे देवता के निमित्त बलि के लिए निश्चित किये हुए पशुओं के तुल्य राजाओं की अपने जीवन में अब क्या प्रीति रह गई है ॥ २४ ॥

क्षत्रियः शस्त्रमरणो यदा भवति सत्कृतः ।
ततः स्म मागधं सह्ये प्रतिबाधेम यद्वयम् ॥२५॥

क्षत्रिय जब युद्ध मे शस्त्र से मरता है, तो यह उसका सत्कार है। इससे हम सब राजा मिल कर जरासन्ध को जीत सकते हैं॥ २५॥

षडशीतिः समानीताः शेषा राजंश्चतुर्दश ।
जरासन्धेन राजानस्ततः क्रूरं प्रवर्स्यते ॥ २६ ॥

हे राजन् ! जरासन्ध छियासी राजाओं को तो वश में करके बलि देने के लिए ले आया है और अभी चौदह बाकी हैं। जब ये चौदह बांध लिए जावेंगे, तब यह क्रूर बलि कार्य किया जावेगा ॥ २६ ॥

प्राप्नुयात्स यशो दीप्तं तत्र यो विघ्नमाचरेत् ।
जयेद्यश्च जरासन्धं स सम्राण्नियतं भवेत् ॥२७॥ [६७६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां वैयासिक्यां सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

इस बलि कार्य में जो विघ्न डालेगा, वह बड़ा यश प्राप्त करेगा। जो जरासन्ध को जीत लेगा, वह निश्चय ही सम्राट मान लिया जावेगा ॥ २७ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत राजसूयारम्भपर्व में श्री कृष्ण वाक्य का पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ।



सोलहवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

सम्राड्गुणमभीप्सन्वै युष्मान्स्वार्थपरायणः ।
कथं प्रहिणुयां कृष्ण सोऽहं केवलसाहसात् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे कृष्ण ! सम्राट् पदवी चाहता हुआ, स्वार्थ में तत्पर मैं केवल साहस करके आपको जरासन्ध के सम्मुख कैसे भेज सकता हूं ॥ १ ॥

भीमार्जुनावुभौ नेत्रे मनो मन्ये जनार्दनम् ।
मनश्चक्षुर्विहीनस्य कीदृशं जीवितं भवेत् ॥ २ ॥

भीम और अर्जुन मेरे नेत्र हैं, और आप जनार्दन को अपना मन समझता हूं, मन और नेत्रों से रहित होकर मेरा जीवन कैसे हो सकता है ॥ २ ॥

जरासन्धबलं प्राप्य दुष्पारं भीमविक्रमम् ।
यमो हि न विजेताऽऽजौ तत्र वः किं विचेष्टितम् ॥३॥

भयानक विक्रम वाले, दुष्पार, जरासन्ध के बल को पाकर युद्ध मे यमराज भी विजयी नहीं हो सकता है, फिर तुम्हारा उद्योग क्या कर सकता है ॥ ३ ॥

अस्मिंस्त्वर्थान्तरे युक्तमनर्थः प्रतिपद्यते ।
तस्मान्न प्रतिपत्तिस्तु कार्या युक्ता मता मम ॥ ४ ॥

इस कार्य मे उद्योग करने वाले पुरुष को अनर्थ ही प्राप्त होगा। इसलिए इस कार्य मे बुद्धि लगाना उचित नहीं है ॥ ४ ॥

यथाऽहं विमृशाम्येकस्तत्तावच्छ्रूयतां मम ।
संन्यासं रोचये साधु कार्यस्याऽस्य जनार्दन ॥ ५ ॥
प्रतिहन्ति मनो मेऽद्य राजसूयो दुराहरः ॥ ६ ॥

हे जनार्दन ! इस विषय में जो मेरा विचार हुआ है, वह सुनो। इस कार्य से तो मुझे संन्यास ही उत्तम प्रतीत होता है, मेरा मन आज यही समझ रहा है, कि राजसूय यज्ञ बड़ा कठिन है ॥ ५-६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

पार्थः प्राप्य धनुः श्रेष्ठमक्षय्ये च महेषुधी ।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत ॥ ७ ॥

वैशम्पायन बोले—अर्जुन ने श्रेष्ठ धनुष, नहीं क्षीण होने वाले तरकस, रथ, ध्वजा और सभा प्राप्त कर ली है, इससे उत्साह पूर्वक युधिष्ठिर से कहने लगा ॥ ७ ॥

धनुः शस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम् ।
प्राप्तमेतन्मया राजन्दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ॥ ८ ॥

अर्जुन बोले—हे राजन् ! धनुष, शस्त्र बाण, विक्रम, सहायक, भूमि, यश, और बल, ये दुर्लभ भी अपनी इच्छा के अनुकूल मैंने प्राप्त कर लिए हैं ॥ ८ ॥

कुले जन्म प्रशंसन्ति वैद्याः साधु सुनिष्ठिताः ।
बलेन सदृशं नास्ति वीर्यं तु मम रोचते ॥ ९ ॥

अनुभवी विद्वान्, उत्तम कुल में जन्म पाने की बड़ी प्रशंसा करते हैं, परन्तु बल के समान शक्तिशाली मुझे तो कुछ भी प्रतीत नहीं होता है ॥ ६ ॥

कृतवीर्यकुले जातो निर्वीर्यः किं करिष्यति ।
निर्वीर्ये तु कुले जातो वीर्यवांस्तु विशिष्यते ॥१०॥

उत्तम पराक्रम वाले वंश में जन्म लेकर भी दुर्बल क्या कर सकता है। परन्तु निर्वीर्य कुल में उत्पन्न होकर भी बलवान् सब कुछ कर सकता है ॥ १० ॥

क्षत्रियः सर्वशो राजन्यस्य वृत्तिर्द्विषज्जये ।
सर्वैर्गुणैर्विहीनोऽपि वीर्यवान्हि तरेद्रिपून् ॥ ११ ॥

हे राजन्! सच्चा क्षत्रिय वही है, जिसका पराक्रम शत्रु के विजय में प्रयुक्त होता है। जो वीर्यवान् सब गुणों से विहीन भी है, तो भी वह शत्रुओं को जीत सकता है ॥ ११ ॥

सर्वैरपि गुणैर्युक्तो निर्वीर्यः किं करिष्यति ।
गुणीभूता गुणाः सर्वे तिष्ठन्ति हि पराक्रमे ॥१२॥

शक्ति रहित मनुष्य, सब गुणों से युक्त होकर भी कुछ नहीं कर सकता है। पराक्रम के मुकाबिले में सारे गुण, फीके पड़ जाते हैं ॥ १२ ॥

जयस्य हेतुः सिद्धिर्हि कर्म दैवं च संश्रितम् ।
संयुक्तो हि बलैः कश्चित्प्रमादान्नोपयुज्यते ॥
तेन द्वारेण शत्रुभ्यः क्षीयते सबलो रिपुः ॥ १३ ॥

किसी कार्य के करने का अत्यन्त आग्रह, पुरुषार्थ और दैव ही जय के हेतु कहे गये हैं, कोई बल से युक्त होकर भी अपने प्रमाद से उसका उपयोग नहीं कर सकता है। इस कारण से बलवान् शत्रु भी अपने शत्रुओं से मारा जाता है॥ १३॥

दैन्यं यथा बलवति तथा मोहो बलान्विते।
तावुभौ नाशकौ हेतू राज्ञा त्याज्यौ जयार्थिना॥ १४॥

बलवान् में दीनता और मोह ये दोनों ही नाश के कारण हैं, इससे जय चाहने वाले राजा को ये दोनों दीनता और मोह छोड़ देने चाहिए॥ १४॥

जरासन्धविनाशं च राज्ञां च परिरक्षणम्।
यदि कुर्याम यज्ञार्थं किं ततः परमं भवेत्॥ १५॥

यदि हम जरासन्ध का वध और राजाओं की रक्षा अपने यज्ञ के प्रसङ्ग में कर डाले, तो इससे अधिक उत्तम और क्या हो सकता है॥ १५॥

अनारम्भे हि नियतो भवेदगुणनिश्चयः।
गुणान्निःसंशयाद्राजन्नैर्गुण्यं मन्यसे कथम्॥१६॥

हे राजन्! यदि इस कार्य को हमने आरम्भ नहीं किया तो हमारी अयोग्यता प्रकट होगी। सबसे प्रशंसित गुणों के बदले में तुम निर्गुणता को कैसे पसन्द कर रहे हो॥ १६॥

कषायं सुलभं पश्चान्मुनीनां शममिच्छताम्।
साम्राज्यं तु भवेच्छक्यं वयं योत्स्यामहे परान्॥१७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधवधमन्त्रणे षोडशोऽध्यायः १६[६६६]

शक्ति चाहने वाले मुनियों को आयु के अन्तिम भागमें कषाय वस्त्र सुलभ हैं। हम साम्राज्यपद प्राप्त कर सकते हैं, इससे अवश्य शत्रुओं से लड़ेंगे ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारत सभा पर्वान्तर्गत राजसूयारम्भ पर्व में जरासन्ध के वध की मन्त्रणा का सोलहवां अध्याय पूरा हुआ।



सतरहवां अध्याय

वासुदेव उवाच—

जातस्य भारते वंशे तथा कुन्त्याः सुतस्य च।
या वै युक्ता मतिः सेयमर्जुनेनप्रदर्शिता ॥१ ॥

श्रीकृष्ण बोले—हे राजन् ! भरत वंश मे उत्पन्न हुए कुन्ती के पुत्र को जैसा कहना चाहिए, अर्जुन ने वही कह दिया है ॥१॥

न स्म मृत्युं वयं विद्म रात्रौ वा यदि वा दिवा।
न चापि कंचिदमरमयुद्धेनाऽनुशुश्रुम ॥ २ ॥

हे युधिष्ठिर ! हम नहीं जानते, कि मौत दिन मे होती है या रात मे। किसी से युद्ध नहीं करने से कोई अमर रह गया हो, हमने यह भी नहीं सुना ॥ २ ॥

एतावदेव पुरुषैः कार्यं हृदयतोषणम् ।
नयेन विधिदृष्टेन यदुपक्रमते परान् ॥ ३ ॥

पुरुष का तो यही कार्य है कि वह अपने हृदय के सन्तोष का कार्य करे। क्षत्रियों के लिए तो शास्त्रानुसार नीति से शत्रुओं पर चढ़ाई ही करनी चाहिए ॥ ३ ॥

सुनयस्याऽनपायस्य संयोगे परमः क्रमः ।
संगत्या जायतेऽसाम्यं साम्यं न च भवेद् द्वयोः॥ ४ ॥

दैव के अनुकूल शोभन नीति के संयोग होने पर ही उद्योग सिद्ध होता है। दोनों के संघर्ष से ही उन्नति होती है, जब तक दोनों की टक्कर नहीं होती, उन्नति नहीं होती है ॥ ४ ॥

अनयस्याऽनुपायस्य संयुगे परमःक्षयः ।
संशयो जायते साम्याज्जयश्च न भवेद् द्वयोः ॥ ५ ॥

उपाय रहित अनीति के व्यवहार से युद्ध में अवश्य नाश होता है। दोनों के नीतिमान् होने पर संशय ही रहता है, दोनों पक्षों का जय पराजय युद्ध भी नहीं हो सकता है ॥ ५ ॥

ते वयं नयमास्थाय शत्रुदेहसमीपगाः ।
कथमन्तं न गच्छेमवृक्षस्येव नदीरयाः ॥ ६॥
पररन्ध्रे समाक्रान्ताः स्वरन्ध्रावरणे स्थिताः ॥ ७ ॥

जब हम नीति का अवलम्बन करके शत्रु के सामने पहुंच जावेंगे, तब जैसे नदी का वेग वृक्ष का अन्त कर देता है, वैसे हम शत्रु का अन्त क्यों न कर देंगे, क्योंकि हम शत्रु की दुर्बलता पर आक्रमण करेंगे और अपने छिद्रों को ढक लेंगे ॥ ६-७ ॥

व्यूढानीकैरतिबलैर्न युद्ध्येदरिभिः सह ।
इति बुद्धिमतां नीतिस्तन्ममाऽपीह रोचते ॥८॥

जिनकी दृढ सेना है, ऐसे अतिबली शत्रुओं से युद्ध न करें, यही बुद्धिमानों की नीति है; जो मुझे भी उत्तम प्रतीत होती है ॥८॥

अनवद्या ह्यसंबुद्धाःप्रविष्टाः शत्रुसद्म तत् ।
शत्रुदेहमुपाक्रम्य तं कामं प्राप्नुयामहे ॥ ९ ॥

परन्तु बलवान् शत्रु के घर में गुप्त रूप से प्रविष्ट होकर भी हम निन्दा से रहित ही रहेंगे। इस तरह शत्रुदेह पर आक्रमण करके हम अपनी कामना को प्राप्त कर सकते हैं ॥ ९ ॥

एको ह्येव श्रियं नित्यं बिभर्ति पुरुषर्षभः ।
अन्तरात्मेव भूतानां तत्क्षयं नैव लक्षये ॥ १० ॥

यह पुरुषों में श्रेष्ठ, जरासन्ध, भूतों में व्यापक अन्तरात्मा की तरह अकेला ही राज्य लक्ष्मी को भोग रहा है। इस का नाश किस तरह होगा, यह हमको दिखाई नहीं देता है ॥ १० ॥

अथ वैनं निहत्याऽऽजौ शेषेणाऽपि समाहताः ।
प्राप्नुयाम ततः स्वर्गं ज्ञातित्राणपरायणाः ॥११ ॥

या तो हम जरासन्ध को युद्ध में मार देंगे या शत्रु से मारे जाकर जातिबन्धु राजाओं की रक्षा में तत्पर हुए स्वर्ग प्राप्त करेंगे ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

कृष्ण कोऽयं जरासंधः किंवीर्यः किं पराक्रमः ।
यस्त्वां स्पृष्ट्वाऽग्निसदृशं न दग्धः शलभो यथा ॥ १२

युधिष्ठिर बोले—हे कृष्ण ! यह जरासन्ध किस शक्ति और किस पराक्रम वाला है, जो अग्नि के सदृश आपको छूकर भी पतङ्ग की तरह दग्ध नहीं हुआ ॥ १२ ॥

कृष्ण उवाच—

शृणु राजञ्जरासन्धो यद्वीर्यो यत्पराक्रमः ।
यथा चोपेक्षितोऽस्माभिर्बहुशः कृतविप्रियः ॥ १३ ॥

श्रीकृष्ण कहने लगे—यह जरासन्ध जैसा शक्तिशाली और पराक्रमी है तथा बार २ अप्रिय करके भी हमने इसकी क्यों उपेक्षा की है, यह सब कुछ सुनो ॥ १३ ॥

अक्षौहिणीनां तिसृणां पतिः समरदर्पितः ।
राजा बृहद्रथो नाम मगधाधिपतिर्बली ॥ १४ ॥

हे युधिष्ठिर ! तीन अक्षौहिणी सेना का पति, युद्ध में घमण्डी, महाबली, बृहद्रथ नामक मगध देश का राजा था ॥ १४ ॥

रूपवान्वीर्यसम्पन्नः श्रीमानतुलविक्रमः ।
नित्यं दीक्षाङ्किततनुः शतक्रतुरिवापरः ॥ १५ ॥

यह बड़ा रूपवान्, बलवान्, ऐश्वर्यशाली और अत्यन्त पराक्रमी था। यह इन्द्र के तुल्य नित्य यज्ञदीक्षा में तत्पर रहता था ॥ १५ ॥

तेजसा सूर्यसंकाशः क्षमया पृथिवीसमः ।
यमान्तकसमः क्रोधे श्रिया वैश्रवणोपमः ॥१६॥

यह तेज में सूर्य, क्षमा में पृथिवी, क्रोध में यम और काल तथा ऐश्वर्य में कुबेर के तुल्य था ॥ १६ ॥

तस्याऽभिजनसंयुक्तैर्गुणैर्भरतसत्तम ।
व्याप्तेयं पृथिवी सर्वा सूर्यस्येव गभस्तिभिः ॥१७॥

हे भरत सत्तम ! उनके कुलीनता आदि गुणों से उत्पन्न हुई प्रशंसा सारी पृथिवी पर छा गई; जैसे सूर्य की किरणें पृथिवी पर छा जाती हैं ॥ १७ ॥

स काशिराजस्य सुते यमजे भरतर्षभ ।
उपयेमे महावीर्यो रूपद्रविणसंयुते ॥१८॥

हे भरत सत्तम ! इस महावीर्य ने काशिराज की दो कन्याएँ विवाही थी; जो साथ २ उत्पन्न हुई थी और बड़ी रूपवती थी ॥ १८ ॥

तयोश्चकार समयं मिथः स पुरुषर्षभः ।
नाऽतिवर्तिष्य इत्येवं पत्नीभ्यां संनिधौ तदा ॥१९॥

इस पुरुष रत्न ने इनसे नियम कर लिया और उन पत्नियों के समीप मे यह सूचित कर दिया कि इसका कभी अतिक्रमण नहीं किया जावेगा ॥ १९ ॥

स ताभ्यां शुशुभे राजा पत्नीभ्यां वसुधाधिपः ।
प्रियाभ्यामनुरूपाभ्यां करेणुभ्यामिव द्विपः ॥२०॥

इन दोनों अनुकूल और प्रिय पत्नियों से यह राजा हथनियों से हाथी के तुल्य सुशोभित हो रहा था ॥ २० ॥

तयोर्मध्यगतश्चाऽपि रराज वसुधाधिपः ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये मूर्तिमानिव सागरः ॥२१॥

उन दोनों रानियों के मध्य में राजा, गङ्गा यमुना के बीच में मूर्तिमान् समुद्र की भांति सुशोभित हो रहा था ॥ २१ ॥

विषयेषु निमग्नस्य तस्य यौवनमभ्यगात् ।
न च वंशकरः पुत्रस्तस्याऽजायत कश्चन ॥२२॥

विषय भोगों को भोगते हुये इस राजा का यौवन व्यतीत हो चला; परन्तु इसके वंश का बढ़ाने वाला कोई पुत्र नहीं हुआ ॥२२॥

मङ्गलैर्बहुभिर्होमैः पुत्रकामाभिरिष्टिभिः ।
नाऽऽससाद नृपश्रेष्ठः पुत्रं कुलविवर्धनम् ॥२३॥

अनेक मङ्गलकारी होम, तथा पुत्र उत्पन्न करने वाले यज्ञों से भी इस राजा को कुल की वृद्धि करने वाले पुत्र की प्राप्ति नहीं हुई ॥ २३ ॥

अथ काक्षीवतः पुत्रं गौतमस्य महात्मनः ।
शुश्राव तपसि श्रान्तमुदारं चण्डकौशिकम् ॥२४॥

इसके बाद गौतमवंशी कक्षीवान् के पुत्र उदार, तप से विश्राम लिए हुये, चण्डकौशिक मुनि को सुना ॥ २४ ॥

यदृच्छयाऽऽगतं तं तु वृक्षमूलमुपाश्रितम् ।
पत्नीभ्यां सहितो राजा सर्वरत्नै रतोषयत् ॥ २५ ॥

अपनी इच्छा से आते हुये और वृक्ष की मूल में बैठे हुए, इन मुनि को अपनी पत्नियों के सहित राजा ने सब प्रकार के रत्नों से तृप्त किया ॥ २५ ॥

तमब्रवीत्सत्यधृतिः सत्यवागृषिसत्तमः ।
परितुष्टोऽस्मि राजेन्द्र वरं वरय सुव्रत ॥ २६ ॥

सत्यवादी और सत्य का धारण करने वाला ऋषि, उससे बोला—हे व्रतशील, राजेन्द्र ! मैं तुम पर प्रसन्न हो गया हूं, तुम वर मागो ॥ २६ ॥

ततः सभार्यः प्रणतस्तमुवाच बृहद्रथः ।
पुत्रदर्शननैराश्याद्बाष्पमदिग्धया गिरा ॥ २७ ॥

अपनी भार्या के सहित, नतमस्तक होकर पुत्र प्राप्ति की निराशा से व्याकुल राजा बृहद्रथ, आसुओं से गद्गद् हुई वाणी से बोला ॥ २७ ॥

राजोवाच—

भगवन्राज्यमुत्सृज्य प्रस्थितोऽहं तपोवनम् ।
किं वरेणाऽल्पभाग्यस्य किं राज्येनाऽप्रजस्य मे ॥२८॥

राजा कहने लगा—हे भगवन्, मैं राज्य छोड कर तपोवन मे जा रहा हूं । मुझ भाग्य रहित को वर से क्या लाभ है और सन्तान रहित को राज्य से भी क्या प्रयोजन है ॥ २८ ॥

कृष्ण उवाच—

एतच्छ्रुत्वा मुनिर्ध्यानमगमत्क्षुभितेन्द्रियः ।
तस्यैव चाऽऽम्रवृक्षस्य छायायां समुपाविशत् ॥२९॥

श्रीकृष्ण बोले—यह सुन कर व्याकुल हुआ मुनि ध्यान में निमग्न हो गया और उसी आम के वृक्ष की छाया में बैठ गया ॥ २९

तस्योपविष्टस्य मुनेरुत्संगे निपपात ह ।
अवानमशुकादष्टमेकमाम्रफलं किल ॥ ३० ॥

वृक्ष के नीचे बैठे हुए मुनि की गोद मे एक सरस तोते से नहीं काटा हुआ आम गिरा ॥ ३० ॥

तत्प्रगृह्य मुनिश्रेष्ठो हृदयेनाऽभिमन्त्र्य च ।
राज्ञे ददावप्रतिमं पुत्रसंप्राप्तिकारणम् ॥३१॥

मुनि ने उसको उठा लिया और हृदय से विचार कर पुत्र प्राप्ति के हेतु उस अद्वितीय आमको राजा के लिए दे दिया । ३१ ।

उवाच च महाप्राज्ञस्तं राजानं महामुनिः ।
गच्छ राजन्कृतार्थोऽसि निवर्तस्व नराधिप ॥३२ ॥

हे राजन् ! यह बुद्धिमान् महामुनि, राजा से कहने लगा, हे नरनाथ ! आप जाइये, आपका कार्य हो चुका, अब चिन्ता छोड़ दीजिए ॥ ३२ ॥

एतच्छ्रुत्वा मुनेर्वाक्यं शिरसा प्रणिपत्य च ।
मुनेः पादौ महाप्राज्ञः स नृपः स्वगृहं गतः ॥ ३३ ॥

मुनि के ये वाक्य सुन कर और उनके चरणों को प्रणाम करके वह महा बुद्धिमान् राजा, अपने घर गया ॥ ३३ ॥

यथासमयमाज्ञाय तदा स नृपसत्तमः ।
द्वाभ्यामेकं फलं प्रादात्पत्नीभ्यां भरतर्षभ ॥ ३४ ॥

हे भरतर्षभ ! उस उत्तम राजा ने ऋतुकाल देख कर उन दोनों पत्नियों के लिए एक फल को काट कर दे दिया ॥ ३४ ॥

ते तदाम्रं द्विधा कृत्वा भक्षयामासतुः शुभे ।
भावित्वादपि चार्थस्य सत्यवाक्यतया मुनेः ॥ ३५ ॥
तयोः समभवद्गर्भः फलप्राशन संभवः ।
ते च दृष्ट्वा स नृपतिः परां मुदमवाप ह ॥३६॥

उन सुन्दरियों ने उस टुकड़े हुए आमको खा लिया। होनहार के कारण तथा मुनिकी सत्यवादिता के कारण से उस फल के भक्षण के द्वारा दोनों रानियों के गर्भ रह गया। राजा उन दोनों रानियों को देख कर बड़ा प्रसन्न हुआ ॥ ३५-३६ ॥

अथ काले महाप्राज्ञ यथासमयमागते ।
प्राजायेतां शुभे राजञ्छरीरशकले तदा ॥ ३७ ॥

हे महाप्राज्ञ ! समय पर प्रसव काल के आने पर उन दोनों रानियों ने दो शरीर की फांके उत्पन्न की ॥ ३७ ॥

एकाक्षिबाहुचरणे अर्धोदरमुखस्फिचे ।
दृष्ट्वा शरीरशकले प्रवेपतुरुभे भृशम् ॥३८॥

इन फांकों में एक २ आंख, हाथ और चरण थे, आधा २ उदर, मुख और कटिका नीचे का भाग था। इस प्रकार शरीर के टुकड़े देख कर दोनों कांपने लगी ॥ ३८ ॥

उद्विग्ने सह संमन्त्र्य ते भगिन्यौ तदाऽबले ।
सजीवे प्राणिशकले तत्यजाते सुदुःखिते ॥ ३९ ॥

ये दोनों भगिनी बड़ी दुःखी हुई और इन मूर्ख अबलाओं ने सलाह करके उन दोनों जीती हुई फांको को फेंक दिया ॥ ३९ ॥

तयोर्धात्र्यौ सुसंवीते कृत्वा ते गर्भसंप्लवे ।
निर्गम्याऽन्तःपुरद्वारात्समुत्सृज्याऽभिजग्मतुः ॥ ४० ॥

इन दोनों की धायां ने उन गर्भ के टुकड़ों को ढक कर और रनवास से बाहर निकल कर फेंक दिया, और लौट आईं ॥४०॥

ते चतुष्पथनिक्षिप्ते जरा नामाऽथ राक्षसी ।
जग्राह मनुजव्याघ्र मांसशोणितभोजना ॥ ४१ ॥

हे मनुजश्रेष्ठ ! वहां चौराहे में पड़े हुये इन दोनों टुकड़ों को मांस और रक्त का भोजन करने वाली जरा राक्षसी ने उठा लिया ॥ ४१ ॥

कर्तुकामा सुखवहे शकले सा तु राक्षसी ।
संयोजयामास तदा विधानबलचोदिता ॥ ४२ ॥

विधाता की प्रेरणा से सुख से ले जाने की इच्छा से उस राक्षसी ने उन दोनों टुकड़ों को जोड़ दिया ॥ ४२ ॥

ते समानीतमात्रे तु शकले पुरुषर्षभ ।
एकमूर्तिधरो वीरः कुमारः समपद्यत ॥४३॥

हे पुरुषर्षभ ! उन दोनों टुकड़ों के जोड़ते ही एक मूर्तिधारी सुन्दर कुमार बन गया ॥ ४३ ॥

ततः सा राक्षसी राजन्विस्मयोत्फुल्ललोचना ।
न शशाक समुद्वोढुं वज्रसारमयं शिशुम् ॥ ४४ ॥

हे राजन् ! इस समय आश्चर्य से राक्षसी की आंखें फटी रह गईं और यह वज्र के तुल्य दृढ़ और भारी कुमार के ले जाने में समर्थ न हुई ॥ ४४ ॥

बालस्ताम्रतलं मुष्टिं कृत्वा चाऽऽस्ये निधाय सः ।
आक्रोशदतिसंरब्धः सतोय इव तोयदः ॥ ४५ ॥

ताम्र के समान लाल हाथों की मुट्ठी बना कर और उनको मुख पर रख के वह जल से भरे हुए बादलों के तुल्य गर्जना सी करता हुआ रोने लगा ॥ ४५ ॥

तेन शब्देन संभ्रान्तः सहसाऽन्तःपुरे जनः ।
निर्जगाम नरव्याघ्र राज्ञा सह परंतप ॥ ४६ ॥

हे परन्तप ! इस शब्द से घबरा कर अन्त पुर के लोग राजा के साथ २ बाहर निकले ॥ ४६ ॥

ते चाऽबले परिम्लाने पयःपूर्णपयोधरे ।
निराशे पुत्रलाभाय सहसैवाऽभ्यगच्छताम् ॥ ४७ ॥

वे दोनों रानियां भी अचानक बाहर निकलीं, जो बड़ी उदास थी और जिनके दूध से स्तन भरे हुए थे एवं जो पुत्र लाभ से निराश हो चुकी थी ॥ ४७ ॥

तेऽथ दृष्ट्वा तथाभूते राजानं चेष्टसंततिम् ।
तं च बालं सुबलिनं चिन्तयामास राक्षसी ॥ ४८ ॥

उन रानियों को इस दशा में और राजा को सन्तान की इच्छा वाला तथा उस बालक को बलवान् देख कर राक्षसी विचारने लगी ॥ ४८ ॥

नाऽर्हामि विषये राज्ञो वसन्ती पुत्रगृद्धिनः ।
बालं पुत्रमिमं हन्तुं धार्मिकस्य महात्मनः ॥ ४९ ॥

पुत्र की इच्छा वाले, धार्मिक और महात्मा राजा के राज्य में बस कर भी इनके इस पुत्र का मारना मुझे उचित नहीं है ॥४९॥

सा तं बालमुपादाय मेघलेखेव भास्करम् ।
कृत्वा च मानुषं रूपमुवाच वसुधाधिपम् ॥ ५० ॥

यह राक्षसी मेघ की पंक्ति जैसे सूर्य को धारण करती है, इस प्रकार इस बालक को लेकर और मनुष्य का रूप बना कर राक्षसि बोली ॥ ५० ॥

बृहद्रथ सुतस्तेयं मया दत्तः प्रगृह्यताम् ।
तव पत्नीद्वये जातो द्विजातिवरशासनात् ।
धात्रीजनपरित्यक्तो मयाऽयं परिरक्षितः ॥ ५१ ॥

राक्षसी कहने लगी—हे बृहद्रथ ! यह तेरा पुत्र है, मैं तुम्हें प्रदान करती हूं, तुम ग्रहण करो । उस मुनीश्वर के वर से यह दोनों भार्याओं के गर्भ से उत्पन्न हुआ है । धायों ने इसको फेंक दिया; परन्तु मैंने इसकी रक्षा की है ॥ ५१ ॥

ततस्ते भरतश्रेष्ठ काशिराजसुते शुभे ।
तं बालमभिपद्याऽऽशु प्रस्रवैरभ्यषिंचताम् ॥ ५२ ॥

श्री कृष्ण बोले—हे भरत श्रेष्ठ ! इसके बाद वे दोनों काशी-राज की सुन्दर पुत्री, उस बालक को लेकर अपने दूध से उसे तृप्त करने लगी ॥ ५२ ॥

ततः स राजा संहृष्टः सर्वं तदुपलभ्य च ।
अपृच्छद्धेमगर्भाभां राक्षसीं तामराक्षसीम् ॥ ५३ ॥

राजा इस सारे वृतान्त को जान कर बड़े प्रसन्न हुए और राक्षसो के आचरण से रहित, सुवर्ण के तुल्य तेज वाली उस जरा राक्षसी से पूछने लगे ॥ ५३ ॥

का त्वं कमलगर्भाभे मम पुत्रप्रदायिनी ।
कामया ब्रूहि कल्याणि देवता प्रतिभासि मे ॥५४॥[७५०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि राजसूयारंभपर्वणि जरासंधोत्पत्तौ सप्तदशोऽध्याय ॥ १७॥

राजा बोले—हे कमल के समान कान्तिमति ! महिले ! मुझे पुत्र प्रदान करने वाली तुम कौन हो । हे कल्याणि ! तुम अपनी इच्छा के अनुसार विचरने वाली हो और मुझे तो कोई देवता प्रतीत होती हो ॥ ५४ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत राजसूयपर्व में जरासन्ध उत्पत्तिका सतरहवां अध्याय समाप्त हुआ ।



अट्ठारहवां अध्याय

राक्षस्युवाच—

जरा नामाऽस्मि भद्रं ते राक्षसी कामरूपिणी ।
तव वेश्मनि राजेन्द्र पूजिता न्यवसं सुखम् ॥ १ ॥

राक्षसी बोली—हे राजेन्द्र ! मेरा नाम जरा है, मैं अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण करने वाली राक्षसी हूं और तेरे घर मे आनन्द के साथ सुख से रहती हूं ॥ १ ॥

गृहे गृहे मनुष्याणां नित्यं तिष्ठामि राक्षसी ।
गृहदेवीति नाम्ना वै पुरा सृष्टा स्वयंभुवा ॥ २ ॥
दानवानां विनाशाय स्थापिता दिव्यरूपिणी ।

मैं मनुष्यों के घर मे सदा रहती हूं । मुझे लोग गृह देवी कहते हैं मुझे ब्रह्मा जी ने पूर्वकाल मे रचा है, और दानवों के विनाश के लिये मुझे दिव्य रूप से स्थापित किया है ॥ २ ॥

यो मां भक्त्या लिखेत्कुड्ये सपुत्रां यौवनान्विताम् ॥३॥
गृहे तस्य भवेद्वृद्धिरन्यथा क्षयमाप्नुयात् ।

जो मुझे पुत्र सहित, युवति रूप मे अपने द्वार की भीत पर लिखता है, उसके घर मे वृद्धि होती है नहीं तो क्षय होता है ॥३

त्वद्गृहे तिष्ठमाना तु पूजिताऽहं सदाविभो ॥ ४ ॥
लिखिता चैव कुड्येऽहं पुत्रैर्बहुभिरावृता ।

हे प्रभो ! मैं तेरे घर मे नित्य पूजी जाती हूं, और अनेक पुत्रों से युक्त तेरे घर की भीत पर लिखी गई हूं ॥ ४ ॥

गन्धपुष्पैस्तथा धूपैर्भक्ष्यैर्भोज्यैः सुपूजिता ॥ ५ ॥
साऽहं प्रत्युपकारार्थं चिन्तयाम्यनिशं तव ।

गन्ध, पुष्प, धूप, भक्ष्य और भोज्य की सामग्री से मैं यहां नित्य पूजी जाती हूं इसलिए मैं नित्य तेरे प्रत्युपकार करने के लिए व्यग्र रहती हूं ॥ ५ ॥

तवेमे पुत्रशकले दृष्टवत्यस्मि धार्मिक ॥ ६ ॥
संश्लेषिते मया दैवात्कुमारः समपद्यत ।
तव भाग्यान्महाराज हेतुमात्रमहं त्विह ॥ ७ ॥

हे धर्मात्मन् ! मैंने तेरे इस बालक के दो टुकड़े देखे, मैंने दैव की प्रेरणा से उनको जोड़ दिया, तब यह कुमार भाग्य से ही उत्पन्न हो गया । मैं तो केवल निमित्त मात्र हूं ॥ ६–७ ॥

मेरुं वा खादितुं शक्ता किं पुनस्तव बालकम् ।
गृहसंपूजनात्तुष्टया मया प्रत्यर्पितस्तव ॥ ८ ॥

मैं तो मेरु पर्वत के भक्षण करने में समर्थ हूं, तेरे पुत्र की तो क्या चलाई है, परन्तु तेरे घर की पूजा से प्रसन्न होकर, मैंने यह पुत्र तुमको वापिस सौंप दिया है ॥ ८ ॥

कृष्ण उवाच—

एवमुक्त्वा तु सा राजंस्तत्रैवान्तरधीयत ।
स संगृह्य कुमारं तं प्रविवेशगृहं नृपः ॥ ९ ॥

कृष्ण बोले—हे राजन् ! यह राक्षसी इतना कह कर अलक्षित हो गई और यह राजा, कुमार को लेकर घर में घुस गया ॥ ९ ॥

तस्य बालस्य यत्कृत्यं तच्चकार नृपस्तदा ।
आज्ञापयच्च राक्षस्या मगधेषु महोत्सवम् ॥ १० ॥

उस बालक के जो संस्कार आदि कृत्य कराते थे, वे सब राजा ने कराये और राक्षसी के निमित्त मगध में महोत्सव करने की घोषणा करदी ॥ १० ॥

तस्य नामाऽकरोच्चैव पितामहसमः पिता ।
जरया संधितो यस्माज्जरासन्धो भवत्वयम् ॥ ११ ॥

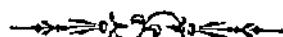
ब्रह्माजी के समान पिता ने उसका नाम जरासन्ध रक्खा, क्योंकि इसको जरा नाम राक्षसी ने जोड़ा था ॥ ११ ॥

सोऽवर्धत महातेजा मगधाधिपतेः सुतः ।
प्रमाणबलसंपन्नो हुताहुतिरिवाऽनलः ।
मातापित्रोर्नन्दिकरः शुक्लपक्षे यथा शशी ॥१२॥ [७६२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां राजसूयारम्भ-पर्वणि जरासन्धोत्पत्तौ अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

उत्तम आकार और बल से युक्त, आहुति से प्रज्वलित अग्नि के समान प्रदीप्त, माता पिता के आनन्द का बढ़ाने वाला, यह महातेजस्वी मगध राज का पुत्र जरासन्ध, शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा ॥ १२ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत राजसूयारम्भ पर्व में जरासन्ध की उत्पत्ति का अट्ठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ।



उन्नीसवां अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच—

कस्यचित्त्वथ कालस्य पुनरेव महातपाः ।
मागधेषुपचक्राम भगवांश्चण्डकौशिकः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णजी कहने लगे—हे राजन्! कुछ समय के चले जाने पर फिर महातपस्वी भगवान् चण्डकौशिक मगध देश में आये ॥ १ ॥

तस्याऽऽगमनसंहृष्टः सामात्यः सपुरःसरः ।
सभार्यः सह पुत्रेण निर्जगाम बृहद्रथः ॥ २ ॥

उसके आगमन से प्रसन्न हुआ, राजा बृहद्रथ अपने मन्त्री भार्या और पुत्र के साथ, नगर के बाहर उन्हें मिलने आया ॥२॥

पाद्यार्घ्याचमनीयैस्तमर्चयामास भारत ।
स नृपो राज्यसहितं पुत्रं तस्मै न्यवेदयत् ॥ ३ ॥

हे भारत! पाद्य, अर्घ्य और आचमन से राजा ने उस मुनि की पूजा की और राज्य सहित पुत्र, मुनि के चरणों में समर्पण कर दिया ॥ ३ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजां पार्थिवाद्भगवानृषिः ।
उवाच मागधं राजन्प्रहृष्टेनाऽन्तरात्मना ॥ ४ ॥

हे राजन्! महर्षि भगवान् चण्डकौशिक राजा की पूजा को ग्रहण करके प्रसन्न अन्तरात्मा के साथ मगध राज बृहद्रथ से बोले ॥ ४ ॥

सर्वमेतन्मया ज्ञातं राजन्दिव्येन चक्षुषा ।
पुत्रस्तु शृणु राजेन्द्र यादृशोऽयं भविष्यति ॥ ५ ॥

हे राजन्, मैंने यह सब कुछ दिव्य चक्षु से जान लिया था, हे राजेन्द्र ! अब यह तेरा पुत्र जैसा होगा, वह सुन ॥ ५ ॥

अस्य रूपं च सत्त्वं च बलमूर्जितमेव च ।
एष श्रिया समुदितः पुत्रस्तव न संशय ॥ ६ ॥

इस पुत्र का रूप, तेज, बल, और ओज बहुत अधिक होगा, यह तेरा पुत्र ऐश्वर्य से युक्त होगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

प्रापयिष्यति तत्सर्वं विक्रमेण समन्वितः ।
अस्य वीर्यवतो वीर्यं नाऽनुयास्यन्ति पार्थिवाः ॥ ७ ॥

यह सब कुछ अपने ही बल से प्राप्त करेगा, इस बलवान् के बल को कोई भी राजा प्राप्त नहीं कर सकेगा ॥ ७ ॥

पततो वैनतेयस्त गतिमन्ये यथा खगाः ।
विनाशमुपयास्यन्ति ये चाऽस्य परिपन्थिनः ॥ ८ ॥

उड़ते हुये गरुड़ की गति को जैसे अन्य पक्षी नहीं प्राप्त कर सकते हैं, वैसे इसके वैभव को कोई नहीं पा सकेगा, जो इसके विरोधी होंगे वे स्वयं नष्ट हो जावेंगे ॥ ८ ॥

देवैरपि विसृष्टानि शस्त्राण्यस्य महीपते ।
न रुजं जनयिष्यन्ति गिरेरिव नदीरयाः ॥ ९ ॥

हे महीपते ! पर्वत में जैसे नदी वेग नहीं चलता है, उसी तरह देवों के छोड़े हुए बाण भी इसकी देह में पीड़ा नहीं पहुंचा सकेंगे ॥ ९ ॥

सर्वमूर्धाभिषिक्तानामेष मूर्ध्नि ज्वलिष्यति ।
प्रभाहरोऽयं सर्वेषां ज्योतिषामिव भास्करः ॥ १० ॥

यह सारे राजाओं के मस्तक पर प्रकाश पावेगा। अन्य ज्योतियों के प्रकाश को जीतने वाले सूर्य के सदृश यह भी सब के तेज को जीत लेगा॥ १० ॥

एनमासाद्य राजानः समृद्धबलवाहनाः ।
विनाशमुपयास्यन्ति शलभा इव पावकम् ॥ ११ ॥

जिस प्रकार पतङ्ग अग्नि मे जल जाते हैं; उसी तरह बल और वाहन वाले समृद्धशाली राजा भी इसके सामने नष्ट हो जायेंगे ॥ ११ ॥

एष श्रियः समुदिताः सर्वराज्ञां ग्रहीष्यति ।
वर्षास्विवोदीर्णजला नदीर्नदनदीपतिः ॥ १२ ॥

वर्षा में जल से भरी हुई नदियों को जैसे समुद्र अपने में लीन कर लेता है, वैसे ही यह भी सारे राजाओं की लक्ष्मी को अपने अन्तर्भूत करेगा ॥ १२ ॥

एष धारयिता सम्यक्चातुर्वर्ण्यं महाबलः ।
शुभाशुभमिव स्फीता सर्वसस्यधरा धरा ॥ १३ ॥

सब प्रकार के अनाज और घास को धारण करने वाली पृथिवी जैसे शुभ और अशुभ सब कुछ धारण करती है; उसी तरह यह महाबली चारों वर्णों का भली भांति पालन करेगा ।१३

अस्याऽऽज्ञावशगाः सर्वे भविष्यन्ति नराधिपाः ।
सर्वभूतात्मभूतस्य वायोरिव शरीरिणः ॥ १४॥

समस्त प्राणियों के भीतर निवास करने वाले वायु के वश में जैसे प्राणी रहते हैं, उसी तरह सारे राजा इसकी आज्ञा के वश में रहेंगे ॥ १४ ॥

एष रुद्रं महादेवं त्रिपुरान्तकरं हरम् ।
सर्वलोकेष्वतिबलः साक्षाद् द्रक्ष्यति मागधः ॥ १५ ॥

यह अत्यन्त बली मगधराज, जरासन्ध त्रिपुर का नाश करने वाले, संसार के संहारक, देवों के देव, महादेव के प्रत्यक्ष दर्शन करेगा ॥ १५ ॥

एवं ब्रुवन्नेव मुनिः स्वकार्यमिव चिन्तयन् ।
विसर्जयामास नृपं बृहद्रथमथाऽरिहन् ॥ १६॥

हे शत्रु मर्दन ! इस प्रकार कहते हुए मुनि ने अपने कार्य का विचार कर राजा बृहद्रथ को जाने की आज्ञा दी ॥ १६ ॥

प्रविश्य नगरीं चापि ज्ञातिसंबन्धिभिर्वृतः
अभिषिच्य जरासन्धं मगधाधिपतिस्तदा ॥ १७ ॥
[illegible]थो नरपतिः परां निर्वृतिमाययौ ।

राजा मगधपति बृहद्रथ जाति और सम्बन्धियों के सहित, नगरी में आकर और जरासन्ध को राजसिंहासन पर बैठा कर बड़ा सन्तुष्ट हुआ ॥ १७ ॥

अभिषिक्ते जरासन्धे तदा राजा बृहद्रथः ॥ १८ ॥
पत्नीद्वयेनाऽनुगतस्तपोवनचरोऽभवत् ॥ १६ ॥

हे राजन्! राजा जरासन्ध के राजसिंहासन पर बैठ जाने पर राजा बृहद्रथ दोनों पत्नियों के साथ तपोवन मे चला गया ।१८-१६

ततो वनस्थे पितरि मात्रोश्चैव विशाम्पते ।
जरासन्धः स्ववीर्येण पार्थिवानकरोद्वशे ॥ २० ॥

हे महीपते ! दोनों माताओं के साथ पिता के वन चले जाने पर जरासन्ध ने अपने बल से सारे राजाओं को अपने वश में कर लिया ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच—

अथ दीर्घस्य कालस्य तपोवनचरो नृपः ।
सभार्यः स्वर्गमगमत्तपस्तप्त्वा बृहद्रथः ॥ २१ ॥

वैशम्पायन बोले—कुछ काल के अनन्तर तपोवन में रहने वाले राजा बृहद्रथ ने तप करके अपनी भार्या के साथ स्वर्ग को गमन किया ॥ २१ ॥

जरासंधोऽपि नृपतिर्यथोक्तं कौशिकेन तत् ।
वरप्रदानमखिलं प्राप्य राज्यमपालयत् ॥ २२ ॥

राजा जरासन्ध भी चण्डकौशिक मुनि के कहे हुए वरदान को पाकर, राज्य की पालना करने लगे ॥ २२ ॥

निहते वासुदेवेन तदा कंसे महीपतौ ।
जातो वै वैरनिर्बन्धः कृष्णेन सह तस्य वै ॥ २३ ॥

जब श्रीकृष्ण द्वारा राजा कंस मारा गया, तब से ही जरासन्ध का वैर श्रीकृष्ण के साथ बढ़ गया है ॥ २३ ॥

भ्रामयित्वा शतगुणमेकोनं येन भारत ।
गदा क्षिप्ता बलवता मागधेन गिरिव्रजात् ॥ २४ ॥

हे भारत ! जरासन्ध ने निन्यानवें बार गदा घुमाकर गिरिव्रज से श्रीकृष्ण पर फेंकी ॥ २४ ॥

तिष्ठतो मथुरायां वै कृष्णस्याद्भुतकर्मणः ।
एकोनयोजनशते सा पपात गदा शुभा ॥ २५ ॥

अद्भुत कर्म करने वाले श्रीकृष्णजी मथुरा में रह रहे थे, वह सुन्दर गदा निन्यानवें योजन पर जाकर गिर गई ॥ २५ ॥

दृष्ट्वा पौरैस्तदा सम्यग्गदा चैव निवेदिता ।
गदावसानं तत्ख्यातं मथुरायाः समीपतः ॥ २६ ॥

जब पुरवासियों ने उस गदा को देखा तो श्रीकृष्ण को जाकर सूचना दी। मथुरा के पास वह स्थान आजकल भी गदावसान के नाम से विख्यात है ॥ २६ ॥

तस्याऽऽस्तां हंसडिम्भकावशस्त्रनिधनावुभौ ।
मन्त्रे मतिमतां श्रेष्ठौ नीतिशास्त्रविशारदौ ॥ २७॥

इस राजा जरासन्ध के पास हंस और डिम्भक दो योद्धा थ, जो शस्त्र से नहीं मारे जा सकते थे, ये मन्त्रणा देने में बड़े बुद्धिमान् और नीति शास्त्र मे बड़े निपुण थे ॥ २७ ॥

यौ तौ मया ते कथितौ पूर्वमेव महाबलौ ।
त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ॥ २८ ॥

इन दोनों महाबली योद्धाओं का वर्णन मैं पहिले ही कर चुका हूं, ये तीनों, तीनों लोकों के लिए पर्याप्त थे, ये मेरी भावना है ॥ २८ ॥

एवमेष तदा वीर बलिभिः कुकुरान्धकैः ।
वृष्णिभिश्च महाराज नीतिहेतोरुपेक्षितः ॥२६॥ [७६१]

इतिश्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासन्धप्रशंसायामेकोनविंशतितमोऽध्यायः ।१६।
समाप्तं च राजसूयारम्भपर्व ॥

हे महाराज! इस प्रकार इस जरासन्ध की उपेक्षा बलवान् कुकुर, अन्धक और वृष्णिवंशियों ने नीति का अवलम्ब करके कर रखी है ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारत सभापर्वान्तर्गत राजसूयारम्भपर्व में जरासन्ध प्रशंसा का उन्नीसवां अध्याय समाप्त हुआ और यहीं पर राजसूयारम्भ पर्व भी समाप्त हुआ ।



जरासन्धवधपर्व

वासुदेवउवाच

पतितौ हंसडिम्भकौ कंसश्च सगणो हतः ।
जरासन्धस्य निधने कालोऽयं समुपागतः ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण बोले—हे राजन्! हंस और डिम्भक तो मारे गये और साथियों सहित कंस भी मारा गया। अब जरासन्ध के मारने का समय आगया है ॥ १ ॥

न शक्योऽसौ रणे जेतुं सर्वैरपि सुरासुरैः।
प्राणयुद्धेन जेतव्यः स इत्युपलभामहे ॥ २ ॥

यह रण में सुर या असुर किसी से भी जीता नहीं जा सकता है यह तो मल्ल युद्ध द्वारा ही जीता जा सकेगा। यही निश्चय किया है ॥ २ ॥

मयि नीतिर्बलं भीमे रक्षिता चाऽऽवयोर्जयः।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाऽग्नयः ॥ ३ ॥

तीनों अग्नियों से यज्ञ सम्पादन की भांति यह जरासन्ध हम तीनों से ही मारा जा सकेगा, क्योंकि मुझमें नीति, भीम में बल, और हम दोनों का रक्षक अर्जुन हैं ॥ ३ ॥

त्रिभिरासादितोऽस्माभिर्विजने स नराधिपः।
न संदेहो यथा युद्धमेकेनाऽप्युपयास्यति ॥ ४ ॥

एकान्त में हम तीनों से प्राप्त किया हुआ, राजा जरासन्ध, किसी एक से अवश्य युद्ध करेगा, इसमे सन्देह नहीं है ॥ ४ ॥

अवमानाच्च लोभाच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः।
भीमसेनेन युद्धाय ध्रुवमप्युपयास्यति ॥ ५ ॥

अपमान का भय, बड़े योद्धा भीम से लड़ने का लोभ, तथा अपनी भुजाओं के बल के घमण्ड से जरासन्ध, निश्चय भीमसेन से ही युद्ध करेगा ॥ ५ ॥

अलं तस्य महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः।
लोकस्य समुदीर्णस्य निधनायाऽन्तको यथा ॥ ६ ॥

महाबाहु और महाबली भीमसेन विस्तीर्ण लोक के प्रलय के लिए अन्तक के सदृश इसके मारने के लिए पर्याप्त हैं ॥ ६ ॥

यदि मे हृदयं वेत्सि यदि ते प्रत्ययो मयि ।
भीमसेनार्जुनौ शीघ्रं न्यासभूतौ प्रयच्छ मे ॥ ७ ॥

हे राजन् ! जो तुम मेरे हृदय को जानते हो और मुझ पर विश्वास करते हो तो शीघ्र ही भीम और अर्जुन को धरोहर के तुल्य मुझे अर्पण करदो ॥ ७ ॥

वैशम्पायनउवाच—

एवमुक्तो भगवता प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ।
भीमार्जुनौ समालोक्य संप्रहृष्टमुखौ स्थितौ

वैशम्पायन बोले—भगवान् श्रीकृष्ण के इतना कहने पर प्रसन्न मुख बैठे हुए भीम और अर्जुन की ओर देख कर युधिष्ठिर कहने लगे ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अच्युताऽच्युत मा मैवं व्याहराऽमित्र कर्षण ।
पाण्डवाना भवान्नाथो भवन्तं चाऽऽश्रिता वयम् ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे शत्रुकर्षण ! कृष्ण आप यह न कहें, आप पाण्डवों के स्वामी हैं, हमने आपका आश्रय ले रक्खा है ॥ ६ ॥

यथा वदसि गोविन्द सर्वं तदुपपद्यते ।
न हि त्वमग्रतस्तेषा येषा लक्ष्मीः पराङ्मुखी ॥ १० ॥

हे गोविन्द ! आप जो कह रहे हैं यह सब कुछ ठीक है। जिनसे लक्ष्मी विरुद्ध हो गई, उनके अनुकूल तुम कभी नहीं होते हो ॥ १० ॥

निहतश्च जरासन्धो मोचिताश्च महीक्षितः।
राजसूयश्च मे लब्धो निदेशे तव तिष्ठतः ॥ ११ ॥

आपकी आज्ञा के अनुसार चलते ही जरासन्ध मारा हुआ, राजा बन्धन से छुड़ाये हुए और राजसूय यज्ञ की प्राप्ति हुई ही समझनी चाहिए ॥ ११ ॥

क्षिप्रमेव यथा त्वेतत्कार्यं समुपपद्यते ।
अप्रमत्तो जगन्नाथ तथा कुरु नरोत्तम ॥ १२ ॥

हे नरोत्तम ! जगन्नाथ, जिस प्रकार यह कार्य शीघ्र सिद्ध हो जावे, वैसा सावधान होकर आप करें ॥ १२॥

त्रिभिर्भवद्भिर्हि विना नाऽहं जीवितुमुत्सहे ।
धर्मार्थकामरहितो रोगार्त इव दुःखितः ॥ १३ ॥

धर्म अर्थ और काम से रहित दुःखी रोगी के तुल्य मैं तुम तीनों के विना जीवित नहीं रह सकता हूं ॥ १३ ॥

न शौरिणा विना पार्थो न शौरिः पाण्डवं विना ।
नाऽजेयोऽस्त्यनयोर्लोके कृष्णयोरिति मे मतिः ॥१४॥

श्रीकृष्ण के विना अर्जुन और अर्जुन के विना श्रीकृष्ण नहीं रह सकते हैं। इन दोनों कृष्ण और अर्जुन को लोक में कुछ भी अजेय नहीं ॥ १४ ॥

अयं च बलिनां श्रेष्ठः श्रीमानपि वृकोदरः ।
युवाभ्यां सहितो वीरः किं न कुर्यान्महायशाः ॥ १५ ॥

यह शक्तिशाली, बलवान्, महायशस्वी, वीर भीमसेन, तुम दोनों के साथ क्या नहीं कर सकता है ॥ १५ ॥

सुप्रणीतो बलौघो हि कुरुते कार्यमुत्तमम् ।
अन्धं बलं जडं प्राहुः प्रणेतव्यं विचक्षणैः ॥ १६ ॥

अच्छी तरह सिखाई हुई सेना उत्तम कार्य कर सकती है। इसलिए बुद्धिमानों को सेना शिक्षित बना लेनी चाहिए। शिक्षा के बिना सेना अन्धी और जड़ मानी गई है ॥ १६ ॥

यतो हि निम्नं भवति नयन्ति हि ततो जलम् ।
यतश्छिद्रं ततश्चाऽपि नयन्ते धीवरा जलम् ॥ १७ ॥

जहां नीचा होता है, वहीं जल ले जाया जाता है। जहां गड्ढा होता है, वहीं धीवर भी जल इकट्ठा करते हैं ॥ १७ ॥

तस्मान्नयविधानज्ञं पुरुषं लोकविश्रुतम् ।
वयमाश्रित्य गोविन्दं यतामः कार्यसिद्धये ॥ १८ ॥

इसलिए हम भी नीति विधान के जानने वाले, लोक प्रसिद्ध पुरुष आप गोविन्द का अपने कार्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न करते हैं ॥ १८ ॥

एवं प्रज्ञानयबलं क्रियोपायसमन्वितम् ।
पुरस्कुर्वीत कार्येषु कृष्णं कार्यार्थसिद्धये ॥ १९ ॥

इस प्रकार बुद्धि और नीति के बल से समन्वित क्रिया और उपाय से युक्त, श्रीकृष्ण को कार्य सिद्धि के लिए सम्पूर्ण कार्यों में आगे करना उचित है ॥ १६ ॥

एवमेव यदुश्रेष्ठ यावत्कार्यार्थसिद्धये ।
अर्जुनः कृष्णमन्वेतु भीमोऽन्वेतु धनंजयम् ।
नयो जयो बलं चैव विक्रमे सिद्धिमेष्यति ॥२०॥

हे यदुश्रेष्ठ ! अर्जुन आपके पीछे चले और अर्जुन के पीछे भीम चले। इस प्रकार नीति, विजय और बल, पराक्रम करने से ही सिद्धि को प्राप्त करते हैं ॥ २० ॥

वैशम्पायनउवाच—

एवमुक्तास्ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः ।
वार्ष्णेयः पाण्डवेयौ च प्रतस्थुर्मागधं प्रति ॥ २१ ॥

वैशम्पायन बोले—राजा युधिष्ठिर के तेजस्वी सब भाइयों के इस प्रकार कहने के अनन्तर श्रीकृष्ण भीम और अर्जुन मगध देश की ओर चल दिये ॥ २१ ॥

वर्चस्विनां ब्राह्मणानां स्नातकानां परिच्छदम् ।
आच्छाद्य सुहृदां वाक्यैर्मनोज्ञैरभिनन्दिताः ॥ २२ ॥

इन्होंने वर्चस्वी, स्नातक ब्राह्मणों के भेष धारण किये। मित्रों ने मनोहर वाक्यों से इनके उत्साह को बढ़ाया ॥ २२ ॥

अमर्षादभितप्तानां ज्ञात्यर्थं मुख्यतेजसाम् ।
रविसोमाग्निवपुसां दीप्तमासीत्तदा वपुः ॥ २३ ॥

क्रोध से ज्वलयमान, जाति उद्धार के लिए अत्यन्त तेज के धारण करने वाले कृष्ण, भीम और अर्जुन के शरीर रवि, सोम और अग्नि के समान दीप्तिमान् और प्रदीप्त हो उठे ॥ २३ ॥

हतं मेने जरासन्धं दृष्ट्वा भीमपुरोगमौ ।
एककार्यसमुद्यन्तौ कृष्णौ युद्धेऽपराजितौ ॥ २४ ॥

भीम के साथ युद्ध में पराजित नहीं होने वाले, कृष्ण और अर्जुन के एक कार्य के लिए तय्यार हो जाने पर राजा युधिष्ठिर ने जरासन्ध को मरा हुआ ही जान लिया ॥ २४ ॥

ईशौ हि तौ महात्मानौ सर्वकार्यप्रवर्तिनौ ।
धर्मकामार्थकार्याणां लोकानां च प्रवर्तकौ ॥ २५ ॥

ये दोनों अर्जुन और कृष्ण सब कार्य के पूरा करने में समर्थ हैं। ये महात्मा धर्म, काम और अर्थ के सिद्ध करने वाले और लोक व्यवहार के प्रवर्तक हैं ॥ २५ ॥

कुरुभ्यः प्रस्थितास्ते तु मध्येन कुरुजाङ्गलम् ।
रम्यं पद्मसरो गत्वा कालकूटमतीत्य च ॥ २६ ॥
गण्डकीं च महाशोणं सदानीरां तथैव च ।
एकपर्वतके नद्यः क्रमेणैत्याऽव्रजन्त ते ॥ २७ ॥

ये तीनों कुरुदेश से निकल कर कुरु जाङ्गल के बीच में हो कर सुन्दर पद्मसर पर पहुंचे। वहां से कालकूट पर्वत का उल्लंघन करके गण्डकी, महाशोण, सदानीरा आदि पहाड़ी नदियों को पार करके चले ॥ २६-२७ ॥

उत्तीर्य सरयूं रम्यां दृष्ट्वा पूर्वांश्च कोसलान् ।
अतीत्य जग्मुर्मिथिलां मालां चर्मण्वतीं नदीम् ॥२८॥

ये सुन्दर सरयू नदी को उतर कर और पूर्व कोसल देश को देख कर एवं मिथिला नगरी और माला तथा चर्मण्वती नदी को पार करके चल दिये ॥ २८ ॥

अतीत्य गङ्गां शोणं च त्रयस्ते प्राङ्मुखास्तदा ।
कुशचीरच्छदा जग्मुर्मागधं क्षेत्रमच्युताः ॥ २९ ॥

पूर्व की ओर गङ्गा तथा सोन नदी को पार करके विना विश्राम किये हुएही ये तीनोंकुश और स्नातकों के वस्त्र धारण करके मगध देश में पहुंचे ॥ २९ ॥

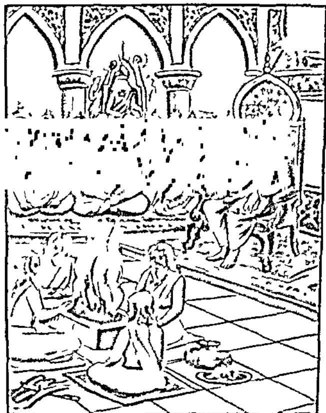
ते शश्वद्गोधनाकीर्णमम्बुमन्तं शुभद्रुमम् ।
गोरथं गिरिमासाद्य ददृशुर्मागधं पुरम् ॥ ३० ॥ [८२१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि कृष्णपाण्डवमागधयात्रायां विंशोऽध्याय ॥२०॥

इन्होंने गौओं से भरे हुये जल से सरस, सुन्दर वृक्षों से हरे भरे, गोरथ पर्वत को पार करके मगध देश को देखा ॥३०॥

इति श्रीमहाभारत सभापर्वान्तर्गत जरासन्धवधपर्व में कृष्ण, भीम और अर्जुन की मगध यात्रा का वीसवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ।





राजसूय यज्ञ

इक्कीसवाँ अध्याय

वासुदेव उवाच—

एष पार्थ महान्भाति पशुमान्नित्यमम्बुमान् ।
निरामयः सुवेश्माढ्यो निवेशो मागधः शुभः ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण बोले—हे अर्जुन ! यह 'मगध' देश की भूमि पशु और जल से भरी हुई, यह रोग रहित और सुन्दर २ मन्दिरों से सुशोभित है ॥ १ ॥

वैहारो विपुलः शैलो वराहो वृषभस्तथा ।
तथा ऋषिगिरिस्तात शुभाश्चैत्यकपञ्चमाः ॥ २ ॥
एते पञ्च महाशृङ्गाः पर्वताः शीतलद्रुमाः ।
रक्षन्तीवाऽभिसंहत्य संहताङ्गा गिरिव्रजम् ॥ ३ ॥

हे तात ! वैहार, वराह, वृषभ, ऋषिगिरि, चैत्यक ये पांच बडी २ चोटी वाले और शीतल वृक्षों से युक्त, पाचों पर्वत इकट्ठे होकर गिरिव्रज नगरी की रक्षा कर रहे हैं ॥ २-३ ॥

पुष्पवेष्टितशाखाग्रैर्गन्धवद्भिर्मनोरमैः ।
निगूढा इव लोध्राणां वनैः कामिजनप्रियैः ॥ ४ ॥

नये पर्वत, पुष्पों से भरी हुई शाखा वाले, सुन्दर और सुगन्ध युक्त, कामी जनों को प्रिय, लोंध के वनों से ढके हुये से दिखाई दे रहे हैं ॥ ४ ॥

शूद्रायां गौतमो यत्र महात्मा संशितव्रतः ।
औशीनर्यामजनयत्काक्षीवाद्यान्सुतान्मुनि ॥ ५ ॥

यहां पर व्रतशील गौतम मुनि ने औशीनरी शूद्रा में काक्षीवान् आदि पुत्र उत्पन्न किये हैं ॥ ५ ॥

गौतमस्य क्षयात्तस्मादथाऽसौ तत्र सद्मनि ।
भजते मानवं वंशं स नृपाणामनुग्रहः ॥ ६ ॥

यह वंश भी उस स्थान पर गौतम के वैभव के कारण मनु-वंश कहलाया, यह राजाओं पर गौतम की कृपाका ही फल है ॥६॥

अङ्गवङ्गादयश्चैव राजानः सुमहाबलाः ।
गौतमक्षयमभ्येत्य रमन्ते स्म पुराऽर्जुन ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! अङ्ग और वङ्ग आदि के महाबली राजा भी गौतम के स्थान मे जाकर आनन्द से निवास करते थे ॥ ६ ॥

वनराजीस्तु पश्येमाः पिप्पलानां मनोरमाः ।
लोध्राणां च शुभाः पार्थ गौतमौकः समीपजाः ॥ ८ ॥

हे कौन्तेय ! गौतम के स्थान के समीप मे उत्पन्न हुई पीपल और लोध की वन पंक्ति, कितनी सुन्दर हैं ॥ ७ ॥

अर्बुदः शक्रवापी च पन्नगौ शत्रुतापनौ ।
स्वस्तिकस्याऽऽलयश्चाऽत्र मणिनागस्यचोत्तमः ॥६ ॥

यहां अर्बुद और शक्रवापी नामक शत्रु-विजयी दो सर्प (नागवंशी राजा) है, यहीं पर स्वस्तिक और मणिनाग का उत्तम भवन है ॥ ६ ॥

अपरिहार्या मेघानां मागधा मनुना कृताः ।
कौशिको मणिमांश्चैव चक्राते चाऽप्यनुग्रहम् ॥ १० ॥

मनु ने नित्य मेघों से हरे भरे रहने वाला मगध देश बनाया है। कौशिक और मणिमान् ने भी इस देश पर बड़ी दया दिखाई है ॥ १० ॥

एवं प्राप्य पुरं रम्यं दुराधर्षं समन्ततः ।
अर्थसिद्धिं त्वनुपमां जरासन्धोऽभिमन्यते ॥ ११ ॥
वयमासादने तस्य दर्पमद्य हरेम हि ।

इस प्रकार सब ओर आक्रमण के अयोग्य सुन्दर पुर को पाकर जरासन्ध, अपनी अद्भुत अर्थसिद्धि समझ रहा है, आज हम उसको पाकर उसके घमण्ड को चूर्ण २ कर देंगे ॥ ११ ॥

वैशम्पायनउवाच—

एवमुक्त्वा ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः ॥ १२ ॥
वार्ष्णेयः पाण्डवौ चैव प्रतस्थुर्मागधं पुरम् ।
हृष्टपुष्टजनोपेतं चातुर्वर्ण्यसमाकुलम् ॥ १३ ॥
स्फीतोत्सवमनाधृष्यमासेदुश्च गिरिव्रजम् ।

वैशम्पायन कहने लगे—यह कह कर अत्यन्त ओजस्वी तीनों भाई श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन, हृष्ट पुष्ट जनों से युक्त, चारों वर्णों से समन्वित, मगध देश को चले और उत्सवों से सुशोभित आक्रमण के अयोग्य, गिरिव्रज नामक राजधानी में पहुंचे ॥१२-१३

ततो द्वारं समासाद्य पुरस्य गिरिमुच्छ्रितम् ॥ १४ ॥
बार्हद्रथैः पूज्यमानं तथा नगरवासिभिः ।
मागधानां तु रुचिरं चैत्यकान्तरमाद्रवन् ॥ १५ ॥

इन तीनों ने अत्यन्त ऊंचे नगरवाली तथा बृहद्रथ की सन्तान से पूजित, पुर के द्वारभूत पर्वत पर पहुंच कर, मगध के जनों की प्रिय, बुर्ज को नष्ट भ्रष्ट कर दिया॥ १४-१५॥

यत्र मांसादमृषभमाससाद बृहद्रथः ।
तं हत्वा मासतालाभिस्तिस्रो भेरीरकारयत् ॥ १६ ॥

इस स्थान पर राजा बृहद्रथ ने ऋषभ नामक राक्षस से युद्ध किया और उसको मारकर महीने तक शब्द करने वाली तीन भेरी बनाई थी॥ १६॥

स्वपुरे स्थापयामास तेन चाऽऽनह्य चर्मणा ।
यत्र ताः प्राणदन्भेर्यो दिव्यपुष्पावचूर्णिताः ॥ १७ ॥
भङ्क्त्वा भेरीत्रयं तेऽपि चैत्यप्राकारमाद्रवन् ।

राजा ने उसके चर्म से उन भेरियों को मढ़ कर अपने पुर मे रख दिया। इस स्थान पर उत्तम २ पुष्पों से सजायी वे भेरी बजायी भी जाती थी। ये तीनों, उन तीनों भेरियों को तोड़ कर चैत्यक (बुर्ज) की ओर दौड़े॥ १७॥

द्वारतोऽभिमुखाः सर्वे ययुर्नानायुधास्तथा ॥ १८ ॥
मागधानां सुरुचिरं चैत्यक तं समाद्रवन् ।
शिरसीव समाघ्नन्तो जरासन्धं जिघांसवः ॥ १९ ॥

अनेक शस्त्रधारी, वीर, द्वार की ओर चले। जरासन्ध के मारने की इच्छा वाले, जरासन्ध के शिर पर पैर रखते हुए इन तीनों ने वहां मागधों के सुन्दर चैत्यक की चोटी को तोड़ डाला॥ १८-१९॥

स्थिरं सुविपुलं शृङ्गं सुमहत्तत्पुरातनम् ।
अर्चितं गन्धमाल्यैश्च सततं सुप्रतिष्ठितम् ॥ २० ॥

यह चोटी बड़ी दृढ़, विशाल, विस्तृत और प्राचीन थी। यह गन्ध और मालाओं से पूजी जाती हुई बड़ी प्रसिद्ध थी ॥ २० ॥

विपुलैर्बाहुभिर्वीरास्तेऽभिहत्याऽभ्यपातयन् ।
ततस्ते मागधं हृष्टाः पुरं प्रविविशुस्तदा ॥ २१ ॥

इन वीरों ने अपनी बड़ी २ भुजाओं से हला कर उसको गिरा दिया और प्रसन्न हो कर मगध की राजधानी में प्रवेश किया ॥ २१ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
दृष्ट्वा तु दुर्निमित्तानि जरासंधमदर्शयन् ॥२२॥

इस समय वेदपाठी ब्राह्मणों ने बुरे शकुन देख कर जरासंध को सूचित किया ॥ २२ ॥

पर्यग्न्यकुर्वंश्च नृपं द्विरदस्थं पुरोहिताः ।
ततस्तच्छान्तये राजा जरासन्धः प्रतापवान् ॥ २३ ॥
दीक्षितो नियमस्थोऽसावुपवासपरोऽभवत् ।

पुरोहितों ने राजा जरासन्ध को हाथी पर बैठा कर उसकी आरती की। इन दुर्निमित्तों की शान्ति के लिए प्रतापी राजा जरासन्ध, जितेन्द्रिय हो कर यज्ञ तथा उपवास करने लगा ॥२३॥

स्नातकव्रतिनस्ते तु बाहुशस्त्रा निरायुधाः ॥ २४ ॥
युयुत्सवः प्रविशुर्जरासन्धेन भारत ।

हे भारत ! स्नातक-भेष-धारी, शस्त्ररहित, बाहुमात्रशस्त्रवाले, श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन, जरासन्ध से युद्ध करने की इच्छा से नगर में प्रविष्ट हुए ॥ २४ ॥

भक्ष्यमाल्यापणानां च ददृशुः श्रियमुत्तमाम् ॥ २५ ॥
स्फीतां सर्वगुणोपेतां सर्वकामसमृद्धिनीम् ।

इन्होंने मिठाई और मालाओं से बाजारों की सब कामनाओं के पूर्ण करने वाली, सब गुणों से युक्त, उज्ज्वल और उत्तम शोभा को देखा ॥ २५ ॥

तां तु दृष्ट्वा समृद्धिं ते वीथ्यां तस्यां नरोत्तमाः॥२६॥
राजमार्गेण गच्छन्तः कृष्णभीमधनंजयाः ।
बलाद्गृहीत्वा माल्यानि मालाकारान्महाबलाः ॥२७॥

उन बाजारों में उस समृद्धि को देख कर सड़क पर जाते हुए महाबली कृष्ण, भीम और अर्जुन ने मालियों से बलपूर्वक मालायें छीन ली ॥ २६-२७ ॥

विरागवसनाः सर्वे स्रग्विणो मृष्टकुण्डलाः ।
निवेशनमथाऽऽजग्मुर्जरासन्धस्य धीमतः ॥ २८ ॥
गोवासमिव वीक्षन्तः सिंहा हैमवतो यथा ॥ २९ ॥

इन तीनों ने विचित्र वस्त्र, माला और कुण्डल धारण कर लिये । हिमालय में गौओं के वास स्थान को देखते हुए सिंह के सदृश ये तीनों बुद्धिमान् जरासन्ध के निवास स्थान पर पहुंचे ॥

शालस्तम्भनिभास्तेषां चन्दनागुरुरूषिताः ।
अशोभन्त महाराज बाहवो युद्धशालिनाम् ॥ ३० ॥

हे महाराज ! शाल वृक्ष के तुल्य, चन्दन, अगर से लिप्त, इन युद्धवीरों की भुजाएं अत्यन्त सुशोभित हो रही थीं ॥ ३० ॥

तान्दृष्ट्वा द्विरदप्रख्याञ्छालस्कन्धानिवोद्गतान् ।
व्यूढोरस्कान्मागधानां विस्मयः समपद्यत ॥ ३१ ॥

हाथी के सदृश, शाल वृक्ष के स्कन्ध के समान उन्मत्त, दृढ़ छाती वाले इन वीरों को देख कर मगध की प्रजा को अत्यन्त विस्मय हुआ ॥ ३१ ॥

ते त्वतीत्य जनाकीर्णाः कक्षास्तिस्रो नरर्षभाः ।
अहंकारेण राजानमुपतस्थुर्गतव्यथाः ॥ ३२ ॥

ये नर श्रेष्ठ, मनुष्यों से भरी हुई तीन द्वार प्रदेशों का उल्लंघन करके निर्भयता से अहंकार के साथ राजा जरासन्ध के पास पहुंच गये ॥ ३२ ॥

तान्पाद्यमधुपर्कादीन्गवार्हान्सत्कृतिं गतान् ।
प्रत्युत्थाय जरासंध उपतस्थे यथाविधि ॥ ३३ ॥

राजा जरासन्ध ने उनका पाद्य मधुपर्क तथा गोदान आदि से सत्कार किया और शास्त्र विधि के अनुसार उठ कर खड़ा हो गया ॥ ३३ ॥

उवाच चैतान्राजाऽसौ स्वागतं वोऽस्त्विति प्रभुः ।
मौनमासीत्तदा पार्थभीमयोर्जनमेजय ॥ ३४ ॥
तेषां मध्ये महाबुद्धिः कृष्णो वचनमब्रवीत् ।

हे जनमेजय ! यह शक्तिशाली राजा जरासन्ध उनसे बोला—तुम्हारा स्वागत हो । उस समय भीम और अर्जुन चुप खड़े रहे, उनमें से महा बुद्धिमान् श्रीकृष्ण बोले—॥ ३४ ॥

वक्तुं नाऽऽयाति राजेन्द्र एतयोर्नियमस्थयोः ॥३५॥
अर्वाङ्निशीथात्परतस्त्वया सार्धं वदिष्यतः ।

हे राजेन्द्र ! ये दोनों नियम में रहते हैं, आधी रात से पूर्व बोलते नहीं है । उसके अनन्तर तेरे साथ वार्तालाप करेंगे ।३५।

यज्ञागारे स्थापयित्वा राजा राजगृहं गतः ॥ ३६ ॥
ततोऽर्धरात्रे संप्राप्ते यातो यत्र स्थिता द्विजाः ।

राजा उनको यज्ञशाला में ठहरा कर रनवास में चला गया । जब आधी रात हो गई, तो राजा उन ब्राह्मणों के निवासस्थल यज्ञशाला में पहुंचा ॥ ३६ ॥

तस्य ह्येतद्व्रतं राजन्बभूव भुवि विश्रुतम् ॥ ३७ ॥
स्नातकान्ब्राह्मणान्प्राप्ताञ्श्रुत्वा स समितिंजयः ।
अप्यर्धरात्रे नृपतिःप्रत्युद्गच्छति भारत ॥ ३८ ॥

हे राजन् ! इस वीर राजा का जगत् प्रसिद्ध यह नियम था कि जो स्नातक ब्राह्मण आता, उसके पास यह आधी रात पर भी पहुंच जाता था ॥ ३७-३८ ॥

तांस्त्वपूर्वेण वेषेण दृष्ट्वा स नृपसत्तमः ।
उपतस्थे जरासन्धो विस्मितश्चाऽभवत्तदा ॥ ३९ ॥

नृप श्रेष्ठ राजा जरासन्ध, उनको अद्भुत भेष में देख कर उनके समीप पहुंचा और बड़ा अचम्भित हुआ ॥ ३९ ॥

ते तु दृष्ट्वैव राजानं जरासन्धं नरर्षभाः ।
इदमूचुरमित्रघ्नाः सर्वे भरतसत्तम ॥ ४० ॥

हे भरतसत्तम ! इन शत्रुविजयी कृष्ण, भीम और अर्जुन ने राजा जरासन्ध को देख कर यह कहा—॥ ४० ॥

स्वस्त्यस्तु कुशलं राजन्निति तत्र व्यवस्थिताः ।
तं नृपं नृपशार्दूल प्रेक्षमाणाः परस्परम् ॥ ४१ ॥

हे नृपशार्दूल ! आपका कल्याण हो; यह कह कर उन तीनों ने राजा जरासन्ध को देख कर, परस्पर देखा ॥ ४१ ॥

तानब्रवीज्जरासन्धस्तथा पाण्डवयादवान् ।
आस्यतामिति राजेन्द्र ब्राह्मणच्छद्मसंवृतान् ॥ ४२ ॥

हे राजेन्द्र ! राजा जरासन्ध, बनावटी ब्राह्मण भेषधारी, पाण्डव और श्रीकृष्ण से बोला, कि आप बैठ जाइये ॥ ४२ ॥

अथोपविविशुः सर्वे त्रयस्ते पुरुषर्षभाः ।
संप्रदीप्तास्त्रयो लक्ष्म्या महाध्वर इवाऽग्नयः ॥ ४३ ॥

इसके अनन्तर यज्ञ में प्रदीप्त अग्नि के समान, चमकते हुए ये तीनों महापुरुष बैठ गये ॥ ४३ ॥

तानुवाच जरासन्धः सत्यसन्धो नराधिपः ।
विगर्हमाणः कौरव्य वेषग्रहणवैकृतान् ॥ ४४ ॥

हे कौरव्य ! सत्य प्रतिज्ञा वाला, राजा जरासन्ध, ब्राह्मण वेष के प्रतिकूल आचरण करने वाले उनकी निन्दा करता हुआ बोला ।

न स्नातकव्रता विप्रा बहिर्माल्यानुलेपनाः ।
भवन्तीति नृलोकेऽस्मिन्विदितं मम सर्वशः ॥ ४५ ॥

हे ब्राह्मणों ! स्नातक व्रत के ग्रहण करने वाले ब्राह्मण, माला नहीं पहना करते हैं, मुझे जहां तक पता है, इस समय तो संसार की यही रीति है ॥ ४५ ॥

के यूयं पुष्पवन्तश्च भुजैर्ज्याकृतलक्षणैः ।
बिभ्रतः क्षात्रमोजश्च ब्राह्मण्यं प्रतिजानथ ॥ ४६ ॥

भुजाओं पर धनुष के चिन्ह धारण करने वाले और फूल माला पहने हुये आप कौन हैं, तुमने क्षात्र, तेज और ओज धारण कर रखा है और ब्राह्मण होने की प्रतिज्ञा कर रहे हो ॥४६

एवं विरागवसना बहिर्माल्यानुलेपनाः ।
सत्यं वदत के यूयं सत्यं राजसु शोभते ॥ ४७ ॥

तुमने इस प्रकार के उत्तम वस्त्र धारण कर रखे हैं और शरीर पर माला पहिनी हुई है, सत्य कहो तुम कौन हो, क्योंकि राजाओं को तो सत्य व्यवहार ही शोभा देता है ॥ ४७ ॥

चैत्यकस्य गिरेः शृङ्गं भित्त्वा किमिह च्छद्मना ।
अद्वारेण प्रविष्टाः स्थ निर्भया राजकिल्बिषात् ॥४८॥

इस चैत्यक गिरि की चोटी तोड़ कर और राजदण्ड से निर्भय होकर तथा द्वार छोड़ कर छल के साथ नगर में क्यों प्रविष्ट ए हो ॥ ४८ ॥

वदर्णं चापि वीर्यञ्च ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
कर्म चैतद्विलिङ्गस्थं किं नोऽद्य प्रसमीक्षितम् ॥ ४६ ॥

तुम अपना पराक्रम बताओ और विप्र करके ब्राह्मण वेष के प्रतिकूल कर्म क्यों करते हो ? तुमने आज क्या सोच रखा है ॥ ४६ ॥

एवं च मामुपास्थाय कस्माच्च विधिनार्हणाम् ।
प्रणीतां नानुगृह्णीत कार्यं किं वाऽस्मदागमे ॥५०॥

इस प्रकार मेरे पास आकर, विधि पूर्वक की हुई पूजा को भी क्यों नहीं ग्रहण करते हो, फिर मेरे पास आने का तुम्हारा प्रयोजन ही क्या है ॥ ५० ॥

एवमुक्ते ततः कृष्णः प्रत्युवाच महामनाः ।
स्निग्धगम्भीरया वाचा वाक्यं वाक्यविशारदः ॥५१॥

राजा जरासन्ध के इतना कहने पर वाक्य बोलने में कुशल मनस्वी, श्रीकृष्ण, सुन्दर और गम्भीर वाणी से कहने लगे ॥ ५१ ॥

कृष्ण उवाच—

स्नातकान्ब्राह्मणान्राजन्विद्ध्यस्मांस्त्वं नराधिप ।
स्नातकव्रतिनो राजन्ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ॥ ५२ ॥

श्रीकृष्ण बोले—हे राजन् ! हम स्नातक ब्राह्मण हैं, यह तुम समझ लो। हे नराधिप ! स्नातक व्रत के धारण करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये सब होते हैं ॥ ५२ ॥

विशेषनियमाश्चै पामंविशेषाश्च सन्त्युत ।
विशेषवांश्च सततं क्षत्रियः श्रियमृच्छति ।
पुष्पवत्सु ध्रुवा श्रीश्च पुष्पवन्तस्ततो वयम् ॥ ५३ ॥

इन स्नातकों के साधारण और असाधारण ये दोनों नियम होते हैं, जो विशेष नियम के धारी क्षत्रिय हैं, वे इस प्रकार की माला आदि शोभा को भी धारण करते हैं, पुष्पधारियों में लक्ष्मी दिखाई पड़ती है, जिससे हम पुष्प धारण किये हुए हैं ॥५३॥

क्षत्रियो बाहुवीर्यस्तु न तथा वाक्यवीर्यवान् ।
अप्रगल्भं वचस्तस्य तस्माद्बार्हद्रथेरितम् ॥ ५४ ॥

क्षत्रिय, भुजाओं में शक्ति रखते हैं, बोलने में नहीं। हे जरासन्ध ! इससे उनके कहे हुए वचनों के जोरदार होने की आवश्यकता नहीं है ॥ ५४ ॥

स्ववीर्यं क्षत्रियाणां तु बाह्वोर्धाता न्यवेशयत् ।
तद्द्रक्षसि चेद्राजन्द्रष्टाऽस्यद्य न संशयः ॥ ५५ ॥

हे राजन् ! क्षत्रियों का भुजाओं में विधाता ने बल रखा है। यदि तू उसे देखना चाहता है, तो आज देख सकेगा ॥ ५५ ॥

अद्वारेण रिपोर्गेहं द्वारेण सुहृदो गृहान् ।
प्रविशन्ति नरा धीरा द्वाराण्येतानि धर्मतः ॥ ५६ ॥

शत्रु के घर में द्वार तोड़ कर और मित्रों के घर में द्वार से, वीर मनुष्य प्रवेश करते हैं। यही शास्त्र विधि है ॥ ५६ ॥

कार्यवन्तो गृहानेत्य शत्रुतो नार्हणां वयम् ।
प्रतिगृह्णीम तद्विद्धि एतन्नः शाश्वतं व्रतम् ॥५७॥ [८७८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि कृष्णजरासन्धसंवादे एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

अपने कार्य की इच्छा से शत्रु के घर आये हुए हम, शत्रु की पूजा को ग्रहण भी नहीं करते हैं। हे राजन्! यह तू समझ ले, हमारा यही व्रत है ॥ ५७ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत जरासन्धवध पर्व में कृष्ण-जरासन्ध-सम्वाद का इक्कीसवां अध्याय पूरा हुआ।



बाईसवां अध्याय

जरासन्ध उवाच—

न स्मरामि कदा वैरं कृतं युष्माभिरित्युत ।
चिन्तयंश्च न पश्यामि भवतां प्रति वैकृतम् ॥ १ ॥

जरासन्ध कहने लगा—हे ब्राह्मणों! मैंने तुम्हारे साथ कब वैर किया है, यह मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है। मैं बहुत कुछ स्मरण करता हूँ, परन्तु तुम्हारे साथ की हुई बुराई याद नहीं आती है ॥ १ ॥

वैकृते वाऽसति कथं मन्यध्वं मामनागसम् ।
अरिं वै ब्रूत हे विप्राः सतां समय एष हि ॥ २ ॥

हे विप्रों ! जब मैंने तुम्हारे साथ कोई बुराई ही नहीं की, तो मुझ निरपराधी को कैसे वैरी मान रहे हो । क्या यही सज्जनों का धर्म है ॥ २ ॥

अर्थधर्मोपघाताद्धि मनः समुपतप्यते ।
योऽनागसि प्रसजति क्षत्रियो हि न संशयः ॥ ३ ॥

अतोऽन्यथा चरँल्लोके धर्मज्ञः सन्महारथः ।
वृजिना गतिमाप्नोति श्रेयसोऽप्युपहन्ति च ॥ ४ ॥

अर्थ और धर्म के विनाश से मन मे दुःख उत्पन्न होता है जो महारथी क्षत्रिय धर्मज्ञ होकर भी लोक मे विरुद्ध आचरण करता है और निरपराधी को अपराध लगता है, वह पापियों की गति को पाता है और अपने कल्याण का नाश कर लेता है ॥ ३-४ ॥

त्रैलोक्ये क्षत्रधर्मो हि श्रेयान्वै साधुचारिणाम् ।
नाऽन्यं धर्मं प्रशसन्ति ये च धर्मविदो जनाः ॥ ५ ॥

उत्तम आचरण से चलने वाले क्षत्रियों को क्षात्रधर्म ही कल्याणकारी है । जो धर्म के जानने वाले मनुष्य हैं, वे अन्य-धर्म की प्रशंसा नहीं करते है ॥ ५ ॥

तस्य मेऽद्य स्थितस्येह स्वधर्मे नियतात्मनः ।
अनागसः प्रजाना च प्रमादादिव जल्पथ ॥ ६ ॥

मैं जितेन्द्रिय हो कर अपने धर्म मे स्थित हूं और सम्पूर्ण मनुष्यों के सम्मुख अपराध रहित हूं, तुम अपनी भूल से वृथा ऐसा कह रहे हो ॥ ६ ॥

कृष्ण उवाच—

कुलकार्यं महाबाहो कश्चिदेकः कुलोद्वहः ।
वहते यस्तन्नियोगाद्वयमभ्युद्यतास्त्वयि ॥ ७ ॥

श्रीकृष्ण बोले—हे महाबाहो ! कोई एक ही कुल की धुर का धारण करने वाला पुरुष कुल के कार्यों को धारण करता है। उसीकी आज्ञा से हम तुम पर चढ़ कर आये हैं ॥ ७ ॥

त्वया चोपहृता राजन्क्षत्रिया लोकवासिनः ।
तदागः क्रूरमुत्पाद्य मन्यसे किमनागसम् ॥ ८ ॥

हे राजन् ! तुमने भिन्न २ देशों में रहने वाले क्षत्रियों को बन्धन में डाल दिया है। इस भयानक अपराध को करके भी अपने को निरपराधी ही मान रहे हो ॥ ॥ ८ ॥

राजा राज्ञः कथं साधून्हिंस्यान्नृपतिसत्तम ।
तद्राज्ञः संनिगृह्य त्वं रुद्रायोपजिहीर्षसि ॥ ९ ॥

हे नृपसत्तम ! कौन ऐसा राजा होगा, जो साधु राजाओं की व्यर्थ हिंसा करे। तू राजाओं को पकड़ कर रुद्र देवता के लिए बलि चढ़ाना चाहता है ॥ ९ ॥

अस्मांस्तदेनोपगच्छेत्कृतं बार्हद्रथ त्वया ।
वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणे धर्मचारिणः ॥ १० ॥

हे जरासन्ध ! यह जो तूने पाप किया है, इसका दोष हमारे ही सिर पर है, क्योंकि हम धर्माचारी कहाते हैं और धर्म की रक्षा करने में समर्थ हैं ॥ १० ॥

मनुष्याणां समालम्भो न च दृष्टः कदाचन ।
स कथं मानुषैर्देवं यष्टुमिच्छसि शंकरम् ॥ ११ ॥

मनुष्यों का बलिदान कभी भी नहीं देखा गया है, फिर तुम मनुष्यों की बलि देकर भगवान् शङ्कर को तृप्त करना चाहते हो ॥११॥

सवर्णो हि सवर्णानां पशुसंज्ञां करिष्यसि ।
कोऽन्य एवं यथा हि त्वं जरासन्ध वृथामतिः ॥१२॥

हे जरासन्ध ? कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो अपने सवर्ण मनुष्य को ही पशु बना कर बलि देना चाहता है, ऐसा तो केवल तू ही मूर्ख है, जो अपने समान राजा और क्षत्रिय वर्ण मनुष्यों को बलि देता है ॥ १२ ॥

यस्यां यस्यामवस्थायां यद्यत्कर्म करोति यः ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फल समवाप्नुयात् ॥१३॥

जो २ मनुष्य जिस २ अवस्था में जो २ कार्य करता है, उसी २ अवस्था में वह उसके फल को प्राप्त करता है ॥ १३ ॥

ते त्वां ज्ञातिक्षयकरं वयमार्तानुसारिणः ।
ज्ञातिवृद्धिनिमित्तार्थं विनिहन्तुमिहाऽऽगताः ॥ १४ ॥

दुखियों की रक्षा में तत्पर रहने वाले हम लोग जाति की वृद्धि के ध्यान से जातिनाशक तुम्हारे वध के लिए यहां आये हैं ॥ १४ ॥

नास्ति लोके पुमानन्यः क्षत्रियेष्विति चैव यत् ।
मन्यसे स च ते राजन्सुमहान्बुद्धिविप्लवः ॥ १५ ॥

हे राजन्! तुम जो यह माने बैठे हो कि क्षत्रियों में मेरे समान कोई बलवान नहीं है, यही तुम्हारा महान् बुद्धि भ्रम है॥ १५॥

को हि जानन्नभिजनमात्मवान्क्षत्रियो नृप ।
नाऽऽविशेत्स्वर्गमतुलं रणानन्तरमव्ययम् ॥ १६ ॥

हे नृप! कौन ऐसा मनस्वी क्षत्रिय है, जो अपने कुल के अनुसार कर्त्तव्य को समझता हुआ रण में प्राण छोड़ कर अविनाशी स्वर्ग को प्राप्त नहीं करना चाहता है॥ १६॥

स्वर्गं ह्येव समास्थाय रणयज्ञेषु दीक्षिताः ।
जयन्ति क्षत्रिया लोकांस्तद्विद्धि मनुजर्षभ ॥ १७ ॥

हे मनुज श्रेष्ठ! स्वर्ग का उद्देश्य करके रण यज्ञ में दीक्षित हुए क्षत्रिय लोकों के विजय में प्रयत्न करते हैं, यह तुम सच जानते हो॥ १७॥

स्वर्गयोनिर्महद्ब्रह्म स्वर्गयोनिर्महद्यशः ।
स्वर्गयोनिस्तपो युद्धे मृत्युः सोऽव्यभिचारवान् ॥१८॥

वेद का अध्ययन, परोपकार आदि द्वारा उत्पन्न हुआ यश; स्वर्ग का कारण है, एवं तप भी स्वर्ग देने वाला है, परन्तु निश्चय रूप से स्वर्ग देने वाली तो युद्ध की मृत्यु ही है॥ १८॥

एष ह्यैन्द्रो वैजयन्तो गुणैर्नित्यं समाहितः ।
येनाऽसुरान्पराजित्य जगत्पाति शतक्रतुः ॥ १९ ॥

यह मृत्यु, इन्द्र की कृपा और सब गुणों से परिपूर्ण है, इस युद्ध का आश्रय करके ही इन्द्र असुरों को मारता है, और जगत् की रक्षा करता है ॥ १६ ॥

स्वर्गमार्गाय कस्य स्याद्विग्रहो वै यथा तव ।
मागधैर्विपुलैः सैन्यैर्बाहुल्यबलदर्पितः ॥ २० ॥

मगध के क्षत्रियों की विपुल सेना के कारण अत्यन्त बल से भरे हुए, तुम्हारे इस युद्ध के तुल्य अन्य किसका युद्ध, स्वर्ग का मार्ग होगा ॥ २० ॥

माऽवमंस्थाः परान्राजन्नाऽस्ति वीर्यं नरे नरे ।
समं तेजस्त्वया चैव विशिष्टं वा नरेश्वर ॥ २१ ॥

हे राजन्! तू अन्यों का अपमान न कर, यद्यपि मनुष्य २ मे बल नहीं है, तो भी कोई न कोई वीर तुम्हारे समान या तुम से अधिक बलवान् हो सकता है ॥ २१ ॥

यावदेतदसंबुद्धं तावदेव भवेत्तव ।
विषह्यमेतदस्माकमतो राजन्ब्रवीमि ते ॥ २२ ॥

हे राजन्! जब तक तुम्हें मालूम नहीं था, तब तक तुम्हारा ऐसा मानना ठीक था; परन्तु हमको यह असह्य है, इससे ऐसा कहा है २२ ॥

जहि त्वं सदृशेष्वेव मानं दर्पं च मागध ।
मागमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥ २३ ॥

हे मगधराज ! तुम अपने समान वीरों के साथ अभिमान और घमण्ड करना छोड़ दो। इस विचार से पुत्र, मन्त्री और सेना के साथ यमराज के स्थान को क्यों जाना चाहते हो ॥२३॥

दम्भोद्भवः कार्तवीर्य उत्तरश्च बृहद्रथः ।
श्रेयसो ह्यवमन्येह विनेशुः सबला नृपाः ॥ २४ ॥

अहंकार से भरे हुए कार्तवीर्य, उत्तर और बृहद्रथ, ये तीनों बली राजा अपने से अधिक वीरों का अपमान करके नष्ट हो चुके हैं ॥ २४ ॥

युयुत्समाणास्त्वत्तो हि न वयं ब्राह्मणा ध्रुवम् ॥२५॥
शौरिरस्मि हृषीकेशो नृवीरौ पाण्डवाविमौ ।
अनयोर्मातुलेयं च कृष्णं मां विद्धि ते रिपुम् ॥ २६ ॥

तुम से युद्ध की इच्छा वाले, हम ब्राह्मण नहीं हैं। मैं तो यदुवंशी कृष्ण हूं और ये दोनों भीम और अर्जुन हैं। इन दोनों के मातुल का पुत्र और तुम्हारा पुराना शत्रु, मैं वही कृष्ण हूं। तुम्हें यह समझ लेना चाहिए ॥ २५-२६ ॥

त्वामाह्वयामहे राजन्स्थिरो युध्यस्व मागध ।
मुञ्च वा नृपतीन्सर्वान्गच्छ वा त्वं यमक्षयम् ॥ २७ ॥

हे मगधराज ! हम तेरा युद्ध के लिए आह्वान करते हैं, स्थिर होकर युद्ध करो ? अब या तो तुम सारे क्षत्रियों को छोड़ो या यमराज के घर जाने का सामान करो ॥ २७ ॥

जरासन्ध उवाच—

नाऽजितान्वै नरपतीनहमादद्मि कांश्चन ।
अजितः पर्यवस्थाता कोऽत्र यो न मया जितः ॥२८॥

जरासन्ध बोला—हे कृष्ण ! मैं ने किसी नहीं जीते हुए राजाओं को नहीं पकड़ा है। यहां ऐसा कौन सा शत्रु राजा बंधा है, जिसे मैं ने युद्ध में जीत न लिया हो ॥ २८ ॥

क्षत्रियस्यैतदेवाहुर्धर्म्यं कृष्णोपजीवनम् ।
विक्रम्य वशमानीय कामतो यत्समाचरेत् ॥ २९ ॥

हे कृष्ण ! क्षत्रिय की तो धर्मानुकूल यह वृत्ति है, कि राजाओं को अपने पराक्रम से वश में करे और फिर अपनी इच्छा के अनुसार उनसे व्यवहार करे ॥ २९ ॥

देवतार्थमुपाहृत्य राज्ञः कृष्ण कथं भयात् ।
अहमद्य विमुच्येयं क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ॥ ३० ॥

हे कृष्ण ! देवता की बलि के लिये राजाओं को लाकर फिर आज भय से इन्हें कैसे छोड़ सकता हूँ, क्योंकि मैं भी क्षत्रिय हूं और क्षात्र धर्म का ध्यान रखता हूं ॥ ३० ॥

सैन्यं सैन्येन व्यूढेन एक एकेन वा पुनः ।
द्वाभ्यां त्रिभिर्वा योत्स्येयं युगपत्पृथगेव वा ॥ ३१ ॥

यदि तुम युद्ध करना चाहते हो तो मैं सेना का दल, सेना से, अकेला किसी अकेले से, अथवा अकेला ही दो तीनों से एक वार या अलग २ लड़ सकता हूं ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा जरासन्धः सहदेवाभिषेचनम् ।
आज्ञापयत्तदा राजा युयुत्सुर्भीमकर्मभिः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन बोले—राजा जरासन्ध ने इतना कह कर अपने पुत्र सहदेव को राजसिंहासन पर बैठाने की आज्ञा दी और आप भी कर्म करने वाले, इन तीनों भीम आदि से लड़ने को तय्यार हुआ ॥ ३२ ॥

स तु सेनापतिं राजा सस्मार भरतर्षभ ।
कौशिकं चित्रसेनं च तस्मिन्युद्ध उपस्थिते ॥ ३३ ॥

हे भरतर्षभ ! इस युद्ध के समय राजा जरासन्ध ने कौशिक और चित्रसेन नामक सेनापतियों को याद किया ॥ ३३ ॥

ययोस्ते नामनी राजन्हंसेति डिम्भकेति च ।
पूर्वसंकथिते पुम्भिर्नृलोके लोकसत्कृते ॥ ३४ ॥

इन्हीं सेनापतियों को इस संसार में हंस और डिम्भक कहा करते थे, जिनका वर्णन पूर्व में हो चुका है ॥ ३३ ॥

तं तु राजन्विभुः शौरी राजानं बलिनां वरम् ।
स्मृत्वा पुरुषशार्दूलः शार्दूलसमविक्रमम् ॥ ३५ ॥
सत्यसन्धो जरासन्धं भुवि भीमपराक्रमम् ।
भागमन्यस्य निर्दिष्टमवध्यं मधुभिर्मृधे ॥ ३६ ॥
नाऽऽत्मनाऽऽत्मवतां मुख्य इयेष मधुसूदनः ।
ब्राह्मीमाज्ञां पुरस्कृत्य हन्तुं हलधरानुजः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि जरासंधयुद्धोद्योगे द्वाविंशोऽध्यायः॥२२॥

हे राजन् ! शक्तिशाली, सत्यप्रतिज्ञ, पुरुषों में श्रेष्ठ, बलराम के छोटे भाई, श्रीकृष्ण ने सिंह के तुल्य पराक्रमी, पृथिवी पर

भयानक पराक्रमधारी, बलवानों में श्रेष्ठ, राजा जरासन्ध को युद्ध में यादवों से अवध्य और भीम से वध्य समझ लिया था। आत्मज्ञों मे मुख्य मधुसूदन ने ब्रह्मा की इच्छा पूर्ण करने के लिये स्वयं उसे नहीं मारना चाहा ॥ ॥ ३५-३७ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत जरासन्ध वध पर्व में जरासन्ध के उद्योग का बाईसवां अध्याय समाप्त हुआ।



तेईसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततस्तं निश्चितात्मानं युद्धाय यदुनन्दनः ।
उवाच वाग्मी राजानं जरासन्धमधोक्षजः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! जब यदुनन्दन श्रीकृष्ण ने जरासन्ध को युद्ध के लिये तय्यार देखा, तो बोलने वालों में श्रेष्ठ श्रीकृष्ण, राजा जरासन्ध से यह वचन कहने लगे ॥ १ ॥

कृष्ण उवाच—

त्रयाणां केन ते राजन्योद्धुमुत्सहते मनः ।
अस्मदन्यतमेनेह सज्जीभवतु को युधि ॥ २ ॥

कृष्ण बोले—हे राजन्! हम तीनों में से तुम्हारा मन किससे लड़ने के लिए उत्सुक है। हममे से तुम से लड़ने के लिये कौन तय्यार हो जावे ॥ २ ॥

एवमुक्तः स नृपतिर्युद्धं वव्रे महाद्युतिः ।
जरासंधस्ततो राजा भीमसेनेन मागधः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण के कहने पर महातेजस्वी,राजा जरासन्ध ने भीम के साथ ही युद्ध करना चाहा ॥ ३ ॥

आदाय रोचनां माल्यं मङ्गल्यान्यपराणि च ।
धारयन्नगदान्मुख्यान्निर्वृतीर्वेदनानि च ॥
उपतस्थे जरासन्धं युयुत्सुं वै पुरोहितः ॥ ४ ॥

इस समय गोरोचन, माला अन्य माङ्गलिक सामग्री तथा वेदना को निवृत्त करने वाली औपधियों को धारण करके पुरोहित युद्ध के अभिलाषी राजा जरासन्ध के पास पहुंचा ॥ ४ ॥

कृतस्वस्त्ययनो राजा ब्राह्मणेन यशस्विना ।
समनह्यज्जरासन्धः क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ५ ॥

यशस्वी ब्राह्मण द्वारा राजा का स्वस्ति वाचन किया गया। इसके अनन्तर राजा जरासन्ध क्षात्र धर्म के अनुसार युद्ध के लिए तय्यार हो गया ॥ ५ ॥

अवमुच्य किरीटं स केशान्समनुगृह्य च ।
उदतिष्ठज्जरासन्धो वेलातिग इवार्णवः ॥ ६ ॥

इसने मुकुट उतार दिया और बाल बाध लिए। अब यह राजा जरासन्ध सीमा का अतिक्रमण करने वाले, समुद्र की भांति उछलने लगा ॥ ६ ॥

उवाच मतिमान्राजा भीमं भीमपराक्रमः ।
भीम योत्स्ये त्वया सार्धं श्रेयसा निर्जितं वरम् ॥ ७ ॥

भयानक पराक्रम करने वाला, बुद्धिमान् राजा जरासन्ध, भीम से कहने लगा—हे भीम ! मैं, तुमसे युद्ध करूंगा, क्योंकि उत्तम से हारना भी अच्छा है ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा जरासन्धो भीमसेनमरिन्दमः ।
प्रत्युद्ययौ महातेजाः शक्रं बल इवाऽसुरः ॥ ८ ॥

अरिमर्दन, महातेजस्वी, जरासन्ध, भीम से इतना कह कर इन्द्र पर बल असुर के समान उस पर झपटा ॥ ८ ॥

ततः संमन्त्र्य कृष्णेन कृतस्वस्त्ययनो बली ।
भीमसेनो जरासन्धमाससाद युयुत्सया ॥ ९ ॥

अब कृष्ण की आज्ञा लेकर और कृष्ण द्वारा स्वस्तिवाचन करा के बली भीमसेन भी युद्ध की इच्छा से जरासन्ध पर झपटा ॥ ९ ॥

ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुशस्त्रौ समीयतुः ।
वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ ॥ १० ॥

इसके अनन्तर नरों में सिंह, एक दूसरे पर विजय के अभिलाषी, अत्यन्त प्रसन्न हुए, वे दोनों वीर आपस में भुजाओं को शस्त्र बना कर लड़ने लगे ॥ १० ॥

करग्रहणपूर्वं तु कृत्वा पादाभिवन्दनम् ।
कक्षैः कक्षां विधुन्वानावास्फोटं तत्र चक्रतुः ॥ ११ ॥

हाथ मिलाने से पूर्व एक ने दूसरे को पादाभिवन्दन किया और अपनी २ कुक्षियों से दूसरे की अङ्गद आभूषण की डोरी को रगड़ते हुए टक्कर मारने लगे ॥ ११ ॥

स्कन्धे दोर्भ्यां समाहत्य निहत्य च मुहुर्मुहुः ।
अङ्गमङ्गैः समाश्लिष्य पुनरास्फालनं विभो ॥ १२ ॥
चित्रहस्तादिकं कृत्वा कक्षाबन्धं च चक्रतुः ।
गलगण्डाभिघातेन सस्फुलिङ्गेन चाऽशनिम् ॥ १३ ॥

हे राजन्! प्रथम इन्होंने कन्धों पर भुजा डाल कर बार २ मारना और अङ्गों से अङ्गों का आलिङ्गन करके रगड़ना आरम्भ किया। इसके अनन्तर चित्रहस्त आदिक दाव करके कक्षा बन्धन किया। मस्तक की टक्कर से चिनगारी सहित बिजली चमकने लगी॥ १२-१३ ॥

बाहुपाशादिकं कृत्वा पादाहतशिरावुभौ ।
उरोहस्तं ततश्चक्रे पूर्णकुम्भौ प्रयुज्य तौ ॥ १४ ॥

बाहु और चरणों की पाशसी बना कर दाव करने लगे और पाद के आघात से नसों को वेदना पहुचाने लगे। उन दोनों ने पूर्णकुम्भ (शिर पर हाथ से आघात) करके हृदय मे चपेट मारी॥ १४ ॥

करसंपीडनं कृत्वा गर्जन्तौ वारणाविव ।
नर्दन्तौ मेघसंकाशौ बाहुप्रहरणावुभौ ॥ १५ ॥

इसके अनन्तर ये करपीडन करके हाथी के तुल्य गर्जते हुए और मेघ के समान शब्द करते हुए भुजाओं के शस्त्रों से लड़ने लगे॥ १५ ॥

तलेनाऽऽहन्यमानौ तु अन्योन्यं कृतवीक्षणौ ।
सिंहाविव सुसंक्रुद्धावाकृष्याकृष्य युध्यताम् ॥ १६ ॥

ये दोनों एक दूसरे के चपेट मार रहे थे । ये एक दूसरे को क्रुध होकर सिंह के समान देखने तथा परस्पर खैंच २ कर युद्ध करने लगे ॥ १६ ॥

अङ्गेनाऽङ्गं समापीड्य बाहुभ्यामुभयोरपि ।
आवृत्य बाहुभिश्चापि उदरं च प्रचक्रतुः ॥ १७ ॥

ये दोनों वीर, अपने अङ्ग से दूसरे अङ्ग को पीड़ित करके तथा भुजाओं से दोनों के परस्पर अंगों को लपेट कर अपनी २ भुजाओं से एक दूसरे के पेट को पकड़ कर फैंकने लगे ॥ १७ ॥

उभौ कक्ष्यां सुपार्श्वं तु तक्षवन्तौ च शिक्षितौ ।
अधोहस्तं स्वकण्ठे तूदरस्योरसि चाऽऽक्षिपत् ॥ १८ ॥

शिक्षित दोनों वीरों ने कमर में पार्श्व प्रविष्ट तथा गात्र का संकोच किया । उदर के नीचे हाथ लेजा कर अपने कण्ठ और छाती के समीप करके टक्कर लगाई ॥ १८ ॥

सर्वातिक्रान्तमर्यादं पृष्ठभङ्गं च चक्रतुः ।
सम्पूर्णमूर्छां बाहुभ्यां पूर्णकुम्भं प्रचक्रतुः ॥ १९ ॥

उन्होंने सब मर्यादा के अतिक्रमण करने वाला पृष्ठभङ्ग और भुजाओं से सम्पूर्ण मूर्छा करके पूर्णकुम्भ (हाथ से शिर पर आघात) किया ॥ १९ ॥

तृणपीडं यथाकामं पूर्णयोगं समुष्टिकम् ।
एवमादीनि युद्धानि प्रकुर्वन्तौ परस्परम् ॥ २० ॥

अपनी २ इच्छा के अनुसार तृणपीड, मुष्टि आघात के साथ पूर्णयोग (निःशङ्क आघात) कर रहे थे । वे दोनों इस प्रकार आपस में लड़ रहे थे ॥ २० ॥

तयोर्युद्धं ततो द्रष्टुं समेताः पुरवासिनः ।
ब्राह्मणा वणिजश्चैव क्षत्रियाश्च सहस्रशः ॥ २१ ॥
शूद्राश्च नरशार्दूल स्त्रियो वृद्धाश्च सर्वशः ।
निरन्तरमभूत्तत्र जनौघैरभिसंवृतम् ॥ २२ ॥

इनके युद्ध देखने के लिए सहस्रों पुरवासी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री और वृद्ध इकट्ठे होकर आगये । जन समूह से घिरा हुआ वह स्थान बिल्कुल भर गया ॥ २१-२२ ॥

तयोरथ भुजाघातान्निग्रहप्रग्रहात्तथा ।
आसीत्सुभीमसंपातो वज्रपर्वतयोरिव ॥ २३ ॥

उनके भुजाओं के आघात और छीना झपटी से वज्र और पर्वत की सी चोटें होने लगी ॥ २३ ॥

उभौ परमसंहृष्टौ बलेन बलिनां वरौ ।
अन्योन्यस्यान्तरं प्रेप्सू परस्परजयैषिणौ ॥ २४ ॥

वे दोनों वीर बड़े प्रसन्न हो रहे थे । बल में दोनों बड़े बली थे । एक दूसरे को जीतने की इच्छा से एक दूसरे की कमी को देख रहा था ॥ २४ ॥

तद्भीममुत्सार्यजनं युद्धमासीदुपह्वरे ।
वलिनोः संयुगे राजन्वृत्रवासवयोरिव ॥ २५ ॥

हे राजन् ! लोगों को युद्ध भूमि (अखाड़े) से हटाकर उन दोनों बलवानों का इन्द्र और वृत्र के तुल्य, युद्ध होने लगा ॥२५॥

प्रकर्षणाकर्षणाभ्यामनुकर्षविकर्षणैः ।
आचकर्षतुरन्योन्यं जानुभिश्चाऽवजघ्नतुः ॥ २६ ॥

प्रकर्षण, आकर्षण, अनुकर्षण और विकर्षण अर्थात् अनेक प्रकार से खैंचातान करके एक दूसरे को धकेल रहे थे और जानु (गोडों)ओं से चोट चला रहे थे ॥ २६ ॥

ततः शब्देन महता भर्त्सयन्तौ परस्परम् ।
पाषाणसंघातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ॥ २७ ॥

महान् शब्द से परस्पर एक दूसरे को फटकारते हुए दोनों वीर, पत्थर की चोट के तुल्य चोटों से मारने लगे ॥ २७ ॥

व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ ।
बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव ॥ २८ ॥

इन दोनों की छाती बड़ी दृढ़ और दीर्घ भुजाएँ हैं । दोनों लड़ने मे कुशल हैं । लोहे के मुद्गरों के तुल्य भुजाओं से एक दूसरे को जकड़ रहे हैं ॥ २८ ॥

कार्तिकस्य तु मासस्य प्रवृत्तं प्रथमेऽहनि ।
अनाहारं दिवारात्रमविश्रान्तमवर्तत ॥ २९ ॥

तद्वृत्तं तु त्रयोदश्यां समवेतं महात्मनोः ।
चतुर्दश्यां निशायां तु निवृत्तो मागधः क्लमात् ॥३०॥

यह युद्ध, कार्तिक की प्रथम तिथि को प्रारम्भ हुआ और बिना भोजन किये लगातार दिनरात चलता रहा। यह युद्ध, इस प्रकार त्रयोदशी तक चला। चौदहवीं रात को थक कर जरासन्ध हट गया ॥ २९-३० ॥

तं राजानं तथा क्लान्तं दृष्ट्वा राजञ्जनार्दनः ।
उवाच भीमकर्माणं भीमं संबोधयन्निव ॥ ३१ ॥

हे राजन्! इस प्रकार थके हुए राजा जरासन्ध को देख कर श्रीकृष्ण, भीमकर्म करने वाले भीम को जताते हुए बोले ॥३१॥

क्लान्तः शत्रुर्न कौन्तेय लभ्यः पीडयितुं रणे ।
पीड्यमानो हि कार्त्स्न्येन जह्याज्जीवितमात्मनः ॥३२॥

हे कौन्तेय, क्लान्त हुए शत्रु को आ युद्ध मे पीडा नहीं पहुंचानी चाहिए। यदि अधिक पीड़ा पहुंचाया जायेगा तो वह अपने प्राणों को छोड़ देगा ॥ ३२ ॥

तस्मात्ते नैव कौन्तेय पीडनीयो जनाधिपः ।
सममेतेन युद्धयस्व बाहुभ्यां भरतर्षभ ॥ ३३ ॥

हे भरतर्षभ! भीम! इस लिए तुम्हें राजा को अधिक पीड़ा नहीं पहुचानी चाहिए, इससे अपनी भुजाओं द्वारा समभाव से ही युद्ध करो ॥ ३३ ॥

एवमुक्तः स कृष्णेन पाण्डवः परवीरहा ।
जरासन्धस्य तद्रूपं ज्ञात्वा चक्रे मतिं वधे ॥ ३४ ॥

कृष्ण के इतना कहने पर शत्रुहन्ता भीम ने जरासन्ध की यह दशा देखकर उसके मारने का विचार किया ॥ २४ ॥

ततस्तमजितं जेतुं जरासंधं वृकोदरः ।
संरम्भं बलिनां श्रेष्ठो जग्राह कुरुनन्दन ॥ २५ ॥ [९५०]

इति श्रीमहाभारते ० वैयासिक्यां सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि जरासन्धक्लान्तौ त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इसके अनन्तर जीतने में नहीं आने वाले राजा जरासन्ध को जीतने के लिए बलवानों में श्रेष्ठ, कुरुनन्दन, भीमसेन ने बड़ा कोप किया ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारत सभापर्वान्तर्गत जरासन्धवध पर्व में जरासन्ध के क्लान्त होने का तेईसवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥



चौबीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

भीमसेनस्ततः कृष्णमुवाच यदुनन्दनम् ।
बुद्धिमास्थाय विपुलां जरासन्धवधेप्सया ॥ १ ॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे राजन् ! इसके अनन्तर जरासन्ध के वध की इच्छा से अपनी विपुल बुद्धि को स्थिर करके भीमसेन यदुनन्दन श्रीकृष्ण से बोले ॥ १ ॥

नायं पापो मया कृष्ण युक्तः स्यादनुरोधितुम् ।
प्राणेन यदुशार्दूल बद्धकक्षेण वाससा ॥ २ ॥

हे यदुवंश श्रेष्ठ ! कृष्ण यह पापी जरासन्ध कमर में कसे हुए वस्त्र (जाँघिया) और बल से मेरे वश में आने वाला नहीं है ॥ २ ॥

एवमुक्तस्ततः कृष्णः प्रत्युवाच वृकोदरम् ।
त्वरयन्पुरुषव्याघ्रो जरासन्धवधेप्सया ॥ ३ ॥

कृष्ण से इतना कहने पर जरासन्ध के वध की इच्छा से शीघ्रता करते हुए, पुरुषों में श्रेष्ठ, श्रीकृष्ण, भीम से बोले ॥३॥

यत्ते दैवं परं सत्वं यच्च ते मातरिश्वनः ।
बलं भीम जरासन्धे दर्शयाऽऽशु तदद्य वै ॥ ४ ॥

हे भीम ! जो तेरा दैवी बल है तथा जो बल वायु से प्राप्त किया है, उसको आज जरासन्ध पर प्रदर्शित कर ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तदा भीमो जरासन्धमरिन्दमः ।
उत्क्षिप्य भ्रामयामास बलवन्तं महाबलः ॥ ५ ॥

श्रीकृष्ण के इतना कहने पर शत्रुविजयी, महाबली भीम ने बलवान् जरासन्ध को उठा कर घुमाया ॥ ५ ॥

भ्रामयित्वा शतगुणं जानुभ्यां भरतर्षभ ।
बभञ्ज पृष्ठं संक्षिप्य निष्पिष्य विननाद च ॥ ६ ॥
करे गृहीत्वा चरणं द्वेधा चक्रे महाबलः ॥ ७ ॥

हे भरतर्षभ ! भीमसेन ने जरासन्ध को सौ बार घुमा कर और उसकी कमर को झुकाकर अपने जानुओं से तोड़ डाली

वह इस प्रकार उसका चूर्ण करके गर्जने लगा और उसके चरणों को हाथों में पकड़ कर उसको चीर डाला ॥ ६-७ ॥

तस्य निष्पिष्यमाणस्य पाण्डवस्य च गर्जतः ।
अभवत्तुमुलो नादः सर्वप्राणिभयंकरः ॥ ८ ॥

जरासन्ध के वध और भीम की गर्जना से बड़ा भारी शब्द हुआ, जो सारे प्राणियों को भयङ्कर प्रतीत होने लगा ॥ ८ ॥

वित्रेसुर्मागधाः सर्वे स्त्रीणां गर्भाश्च सुस्रुवुः ।
भीमसेनस्य नादेन जरासन्धस्य चैव ह ॥ ९ ॥

इस समय भीमसेन की गर्जना और जरासन्ध के चीत्कार से सारे मागध क्षत्रिय, डर गये और स्त्रियों के गर्भ गिर पड़े ॥९

किं नु स्याद्धिमवान्भिन्नः किं नु स्विद्दीर्यते मही ।
इति वै मागधा जज्ञुर्भीमसेनस्य निःस्वनात् ॥१०॥

भीमसेन के शब्द को सुन कर मागधों ने समझा, कि क्या कहीं हिमालय पर्वत फट गया है या पृथिवी फट गई है ॥ १० ॥

ततो राज कुलद्वारे प्रसुप्तमिव तं नृपम् ।
रात्रौ गतासुमुत्सृज्य निश्चक्रमुररिंदमाः ॥ ११ ॥

इसके बाद राजकुल के द्वार में मरे हुए राजा जरासन्ध को सोते हुए के तुल्य छोड़ कर शत्रु विजयी ये तीनों, चल दिये ॥११

जरासंधरथं कृष्णो योजयित्वा पताकिनम् ।
आरोप्य भ्रातरौ चैव मोचयामास बान्धवान् ॥१२॥

अब श्रीकृष्ण ने ध्वजा वाले जरासन्ध के रथ मे घोड़ों को जोड़ा और उसमें दोनों भाइयों को बैठाया, फिर इन्होंने अपने बान्धव भूत क्षत्रिय राजाओं को छुड़ाया ॥ १२॥

ते वै रत्नभुजं कृष्णं रत्नार्हाः पृथिवीश्वराः ।
राजानश्चक्रुरासाद्य मोचिता महतो भयात् ॥ १३ ॥

रत्नों के धारण करने वाले राजाओं ने श्रीकृष्ण को रत्नों से युक्त कर दिया, क्योंकि इन्होंने उनको बड़े भय से छुड़ाया ॥ १३॥

अक्षतः शस्त्रसंपन्नो जितारिः सह राजभिः ।
रथमास्थाय तं दिव्यं निर्जगाम गिरिव्रजात् ॥ १४ ॥

शास्त्र से सम्पन्न, शत्रुविजेता, चोटों से रहित, अर्जुन, उस दिव्य रथ मे बैठ कर गिरिव्रज नामक नगर से चल दिये ॥१४॥

यः स सोदर्यवान्नाम द्वियोधी कृष्णसारथिः ।
अभ्यासघाती संदृश्यो दुर्जयः सर्वराजभिः ॥ १५ ॥

अपने भाई के साथ, दोनों हाथों से लड़ने वाला बार २ शत्रु को मारने वाला कृष्ण जिसका सारथी, ऐसा अर्जुन, सारे राजाओं को दुर्जय दिखाई पड़ा ॥ १५ ॥

भीमार्जुनाभ्यां योधाभ्यामास्थितः कृष्णसारथिः ।
शुशुभे रथवर्योऽसौ दुर्जयः सर्वधन्विभिः ॥ १६ ॥

भीम और अर्जुन इन दोनों योद्धाओं से सुशोभित, श्रीकृष्ण जिसके सारथी ऐसा वह रथ, सारे धनुषधारियों को दुर्जय प्रतीत हुआ ॥ १६ ॥

शक्रविष्णू हि संग्रामे चेरतुस्तारकामये ।
रथेन तेन वै कृष्ण उपारुह्य ययौ तदा ॥ १७ ॥

तारकासुर के विनाश करने वाले अथवा तारका जिसमें विनाश हेतु है, उस युद्ध में, इन्द्र और विष्णु जिस रथ में बैठे थे, उस रथ में बैठ कर श्रीकृष्ण चल दिए ॥ १७ ॥

तप्तचामीकराभेण किङ्किणीजालमालिना ।
मेघनिर्घोषनादेन जैत्रेणाऽमित्रघातिना ॥ १८ ॥
येन शक्रो दानवानां जघान नवतिर्नव ।
तं प्राप्य समहृष्यन्त रथं ते पुरुषर्षभाः ॥ १९ ॥

इन्द्र ने तपे हुए सुवर्ण के समान कान्ति वाले, किङ्किणी जाल से सुशोभित, मेघ के समान शब्द वाले, जयशील, शत्रु विजयी इस रथ से निन्यानवें बार दानवों का नाश किया था। इस रथ को पाकर वे तीनों वीर बड़े प्रसन्न हुए ॥ १८-१९ ॥

ततः कृष्णं महाबाहुं भ्रातृभ्यां सहितं तदा ।
रथस्थं मागधा दृष्ट्वा समपद्यन्त विस्मिताः ॥ २० ॥

इसके अनन्तर भाइयों के सहित रथ में बैठे हुए महाबाहु श्रीकृष्ण को देख कर मगध के लोग बड़े अचम्भित हुए ॥ २० ॥

हयैर्दिव्यैः समायुक्तो रथो वायुसमो जवे ।
अधिष्ठितः स शुशुभे कृष्णेनाऽतीव भारत ॥ २१ ॥

हे भारत ! दिव्य घोड़ों से युक्त, वायु के तुल्य वेग वाला रथ, कृष्ण के आरूढ़ होने पर अत्यन्त सुशोभित दिखाई देने लगा॥२१

असङ्गो देवविहितस्तस्मिन्रथवरे ध्वजः ।
योजनाद्दहशे श्रीमानिन्द्रायुधसमप्रभः ॥ २२ ॥

उस रथ में देवों से लगाई हुई, रथ से नहीं छुयी जाने वाली इन्द्र धनुष के तुल्य रंग बिरंगी, शोभा युक्त ध्वजा, योजन से ही दिखाई दे जाती थी ॥ २२ ॥

चिन्तयामास कृष्णोऽथ गरुत्मन्तं स चाभ्यगात् ।
क्षणे तस्मिन्स तेनाऽऽसीच्चैत्यवृक्ष इवोत्थितः ॥ २३ ॥

श्रीकृष्ण ने इस समय गरुड़ का स्मरण किया, क्षणभर में ही यह ध्वजा, उस गरुड़ से ग्राम के चिन्हभूत वृक्ष के तुल्य प्रतीत होने लगी ॥ २३ ॥

व्यादितास्यैर्महानादैः सह भूतैर्ध्वजालयैः ।
तस्मिन्रथवरे तस्थौ गरुत्मान्पन्नगाशनः ॥ २४ ॥

इस रथ में मुंह खोले हुए, महाशब्द करने वाले, ध्वजा के निवासी भूतों के साथ वह सर्प-भोजी गरुड़ स्थित हो गया ॥२४

दुर्निरीक्ष्यो हि भूतानां तेजसाऽभ्यधिकं बभौ ।
आदित्य इव मध्याह्ने सहस्रकिरणावृतः ॥ २५ ॥

सहस्रों किरणों से व्याप्त, मध्याह्न काल के सूर्य के तुल्य यह रथ, देखने में चकाचौंध उत्पन्न करता था और तेज से अधिक चमक रहा था ॥ २५ ॥

न स सज्जति वृक्षेषु शस्त्रैश्चापि न रिष्यते ।
दिव्यो ध्वजवरो राजन्दृश्यते चेह मानुषैः ॥ २६ ॥

हे राजन्! यह ध्वजा न तो वृक्षों में अटकती थी और न शस्त्रों से कटती थी, इस ध्वजा को मनुष्यों ने दिव्य ध्वजा समझा ॥ २६ ॥

तमास्थाय रथं दिव्यं पर्जन्यसमनिःस्वनम् ।
निर्ययौ पुरुषव्याघ्रः पाण्डवाभ्यां सहाऽच्युतः ॥ २७ ॥

मेघ के समान शब्द करने वाले इस दिव्य रथ में बैठ कर पाण्डवों के साथ श्रीकृष्ण चल दिए ॥ २७ ॥

यं लेभे वासवाद्राजा वसुस्तस्माद् बृहद्रथः ।
बृहद्रथात्क्रमेणैव प्राप्तो बार्हद्रथं नृपम् ॥ २८ ॥

इस रथ को इन्द्र से वसु राजा ने, इससे बृहद्रथ ने और बृहद्रथ से जरासन्ध ने प्राप्त किया था ॥ २८ ॥

स निर्याय महाबाहुः पुण्डरीकेक्षणस्ततः ।
गिरिव्रजाद्बहिस्तस्थौ समे देशे महायशाः ॥ २९ ॥

यह महाबाहु कमल के समान नेत्र वाला, महायशस्वी श्रीकृष्ण, गिरिव्रज नगरी से बाहर निकल कर समप्रदेश में स्थित हुआ ॥ २९ ॥

तत्रैनं नागराः सर्वे सत्कारेणाऽभ्ययुस्तदा ।
ब्राह्मणप्रमुखा राजन्विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ३० ॥

हे राजन्! वहां पर श्रीकृष्ण का शास्त्रानुसार सत्कार करने के लिए ब्राह्मणों को आगे करके सारे नगर निवासी मनुष्य आये ॥ ३० ॥

बन्धनाद्विप्रमुक्ताश्च राजानो मधुसूदनम् ।
पूजयामासुरूचुश्च स्तुतिपूर्वमिदं वचः ॥ ३१ ॥

बन्धन से मुक्त हुए राजाओं ने श्रीकृष्ण की पूजा की और स्तुति पूर्वक ये वचन कहे ॥ ३१ ॥

नैतच्चित्रं महाबाहो त्वयि देवकिनन्दने ।
भीमार्जुनबलोपते धर्मस्य प्रतिपालनम् ॥ ३२ ॥

हे महाबाहो ! आप देवकीनन्दन के लिए यह अद्भुत बात नहीं है। जो भीम और अर्जुन के बल से युक्त अपने धर्म की रक्षा करते हैं ॥ ३२ ॥

जरासन्धह्रदे घोरे दुःखपङ्के निमज्जताम् ।
राज्ञां समभ्युद्धरणं यदिदं कृतमद्य वै ॥ ३३ ॥

दुःख रूपी कीचड़ वाले, जरासन्ध रूपी घोर तालाब में डूबते हुए राजाओं का उद्धार करके आपने बड़ाभारी धर्म कार्य किया है ॥ ३३ ॥

विष्णो समवसन्नानां गिरिदुर्गे सुदारुणे ।
दिष्ट्या मोचाद्यशो दीप्तमाप्तं ते यदुनन्दन ॥ ३४ ॥

हे यदुनन्दन ! कृष्ण ! दारुण गिरि दुर्ग में दुःखी हुए हम राजाओं का उद्धार करके आपने बड़ा भारी यश प्राप्त किया है ३४

किं कुर्मः पुरुषव्याघ्र शाधि नः प्रणतिस्थितान् ।
कृतमित्येव तद्विद्धि नृपैर्यद्यपि दुष्करम् ॥ ३५ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! अब हम आपकी क्या सेवा करें। हम मस्तक झुका कर आपके आगे स्थित हैं, आप आज्ञा करो। यद्यपि आपका कार्य दुष्कर भी होगा, तोभी हम उसको करेंगे ॥ ३५ ॥

तानुवाच हृषीकेशः समाश्वास्य महामनाः ।
युधिष्ठिरो राजसूयं क्रतुमाहर्तुमिच्छति ॥ ३६ ॥

मनस्वी श्रीकृष्ण ने उनको आश्वासन देकर कहा, कि युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहता है ॥ ३६ ॥

तस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः ।
सर्वैर्भवद्भिर्विज्ञाय साहाय्यं क्रियतामिति ॥ ३७ ॥

सम्राट् पद को चाहने वाले धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर की तुम सब लोग सहायता करो ॥ ३७ ॥

ततः सुप्रीतमनसस्ते नृपा नृपसत्तम ।
तथेत्येवाऽब्रुवन्सर्वे प्रतिगृह्याऽस्य तां गिरम् ॥ ३८ ॥

हे नृपसत्तम ! प्रसन्न मन हुए राजाओं ने श्रीकृष्ण की वाणी को ग्रहण करके सब कुछ स्वीकार कर लिया ॥ ३८ ॥

रत्नभाजं च दाशार्हं चक्रुस्ते पृथिवीश्वराः ।
कृच्छ्राज्जग्राह गोविन्दस्तेषां तदनुकम्पया ॥ ३९ ॥

उन राजाओं ने श्रीकृष्ण को अनेक रत्न भेंट किए। श्रीकृष्ण ने उनपर कृपा करके वह भेंट बड़ी कठिनाई से स्वीकार की ॥३९॥

जरासन्धात्मजश्चैव सहदेवो महामनाः ।
निर्ययौ सजनामात्यः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ॥ ४० ॥

जरासन्ध का पुत्र, महामनस्वी सहदेव, पुरोहित को आगे करके मन्त्रियों के सहित वहां आया ॥ ४० ॥

स नीचैः प्रणतो भूत्वा बहुरत्नपुरोगमः ।
सहदेवो नृणां देवं वासुदेवमुपस्थितः ॥ ४१ ॥

सहदेव अत्यन्त नम्र होकर बहुत रत्न भेंट में लाया और मनुष्यों में श्रेष्ठ, श्रीकृष्ण के सामने उपस्थित हुआ ॥ ४१ ॥

भयार्ताय ततस्तस्मै कृष्णो दत्त्वाऽभयं तदा ।
आददेऽस्य महार्हाणि रत्नानि पुरुषोत्तमः ॥ ४२ ॥

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने भयभीत सहदेव को अभय दान दिया और इसके अमूल्य रत्नों का उपहार स्वीकार कर लिया ॥ ४२ ॥

अभ्यषिञ्चत तत्रैव जरासन्धात्मजं मुदा ।
गत्वैकत्वं च कृष्णेन पार्थाभ्यां चैव सत्कृतः ॥ ४३ ॥

वहीं पर श्रीकृष्ण ने प्रसन्नता के साथ उसको राजतिलक दे दिया। यह कृष्ण के साथ एकता को प्राप्त हुआ और भीम तथा अर्जुन ने भी इसका सत्कार किया ॥ ४३ ॥

विवेश राजा द्युतिमान्बार्हद्रथपुरं नृप ।
अभिषिक्तो महाबाहुर्जारासंधिर्महात्मभिः ॥ ४४ ॥

हे राजन् ! बड़े २ मनुष्यों से राजसिंहासन पर बैठाया हुआ महाबली और महातेजस्वी, जरासन्ध का पुत्र सहदेव, राजधानी में प्रविष्ट हुआ ॥ ४४ ॥

कृष्णस्तु सह पार्थाभ्यां श्रिया परमया युतः ।
रत्नान्यादाय भूरीणि प्रययौ पुरुषर्षभः ॥ ४५ ॥

इसके अनन्तर पुरुषरत्न भगवान् श्रीकृष्ण, अत्यन्त शोभा से युक्त होकर, बहुत से रत्नों को लेकर भीम और अर्जुन के साथ इन्द्रप्रस्थ को चल दिये ॥ ४५ ॥

इन्द्रप्रस्थमुपागम्य पाण्डवाभ्यां सहाऽच्युतः ।
समेत्य धर्मराजानं प्रीयमाणोऽभ्यभाषत ॥ ४६ ॥

भीम और अर्जुन के साथ २ इन्द्रप्रस्थ में पहुंच कर और धर्मराज युधिष्ठिर से मिल कर प्रसन्नता के साथ इस प्रकार कहने लगे ॥ ४६ ॥

दिष्ट्या भीमेन बलवाञ्जरासन्धो निपातितः ।
राजानो मोक्षिताश्चैव बन्धनान्नृपसत्तम ॥ ४७ ॥

हे नृप सत्तम ! बड़े हर्ष की बात है कि भीम ने बलवान् जरासन्ध को मार लिया और सारे राजाओं को बन्धन से छुड़ा दिया ॥ ॥ ४७ ॥

दिष्ट्या कुशलिनौ चेमौ भीमसेनधनंजयौ ।
पुनः स्वनगरं प्राप्तावक्षताविति भारत ॥ ४८ ॥

हे भारत ! यह भी बड़े आनन्द का समय है कि बिना आघात के ही ये दोनों भाई भीम और अर्जुन कुशलता के साथ फिर अपने नगर में आ पहुंचे ॥ ४८ ॥

ततो युधिष्ठिरः कृष्णं पूजयित्वा यथार्हतः ।
भीमसेनार्जुनौ चैव प्रहृष्टः परिषस्वजे ॥ ४९ ॥

इसके अनन्तर युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण का यथा योग्य सत्कार करके और प्रसन्न होकर भीम तथा अर्जुन का आलिङ्गन किया ॥४६।

ततः क्षीणे जरासन्धे भ्रातृभ्यां विहितं जयम् ।
अजातशत्रुरासाद्य मुमुदे भ्रातृभिः सह ॥ ५० ॥

जरासन्ध के मारे जाने और भाइयों द्वारा सम्पादित की हुई विजय पाने से युधिष्ठिर, भाइयों के साथ बड़ा आनन्दित हुआ ।५०

यथावयः समागम्य भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
सत्कृत्य पूजयित्वा च विससर्ज नराधिपान् ॥ ५१ ॥

अपनी आयु के अनुसार भाइयों के साथ युधिष्ठिर ने राजाओं का सत्कार और पूजा करके उनको विदा किया ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिराभ्यनुज्ञातास्ते नृपा हृष्टमानसाः ।
जग्मुः स्वदेशांस्त्वरिता यानैरुच्चावचैस्ततः ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर प्रसन्न हुए राजा, उत्तम २ सवारियों से शीघ्र अपने देशों को चल दिये ॥ ५२॥

एवं पुरुषशार्दूलो महाबुद्धिर्जनार्दनः ।
पाण्डवैर्घातयामास जरासन्धमरिं तदा ॥ ५३ ॥

इस प्रकार पुरुष, सिंह, महाबुद्धि श्रीकृष्ण ने वैरी जरासन्ध को पाण्डवों से मरवा दिया ॥ ५३ ॥

घातयित्वा जरासन्धं बुद्धिपूर्वमरिन्दमः ।
धर्मराजमनुज्ञाप्य पृथां कृष्णां च भारत ॥ ५४ ॥

सुभद्रां भीमसेनं फाल्गुनं यमजौ तथा ।
धौम्यमामन्त्रयित्वा च प्रययौ स्वां पुरीं प्रति ॥ ५५ ॥

हे भारत! शत्रुओं का नाश करने वाले, श्रीकृष्ण बुद्धि वैभव द्वारा जरासन्ध का वध करवा कर धर्मराज, कुन्ती, द्रौपदी सुभद्रा, भीमसेन, अर्जुन; नकुल, सहदेव और धौम्य पुरोहित से आज्ञा लेकर और उनसे सलाह करके अपने नगर को चल दिए ॥ ५९-५५ ॥

तेनैव रथमुख्येन मनसस्तुल्यगामिना ।
धर्मराजविसृष्टेन दिव्येनाऽनादयन्दिशः ॥ ५६ ॥

श्रीकृष्ण ने, मन के तुल्य वेग वाले धर्मराज के भेजे हुए उस दिव्य रथ से दिशाओं को शब्दायमान कर दिया ॥ ५६ ॥

ततो युधिष्ठिरमुखाः पाण्डवा भरतर्षभ ।
प्रदक्षिणमकुर्वन्त कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ॥ ५७ ॥

हे भरतर्षभ! युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने उत्तम २ कर्म करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण की प्रदक्षिणा की ॥ ५७ ॥

ततो गते भगवति कृष्णे देवकिनन्दने ।
जयं लब्ध्वा सुविपुलं राज्ञां दत्त्वाऽभयं तदा ॥ ५८ ॥
संवर्धितं यशो भूयः कर्मणा तेन भारत ।
द्रौपद्याः पाण्डवा राजन्परां प्रीतिमवर्धयन ॥ ५९ ॥

हे राजन्! जब देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण के चले जाने पर विपुल विजय को पाकर राजाओं को अभयदान दिया; इस कर्म से फिर पाण्डवों का यश बढ़ गया। उस समय द्रौपदी के साथ पाण्डव बड़े आनन्दित हुए॥ ५८-५९॥

तस्मिन्काले तु यद्युक्तं धर्मकामार्थसंहितम्।
तद्राजा धर्मतश्चक्रे प्रजापालनकीर्तनम्॥६०॥ [१०१०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि जरासंधवधे चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

समाप्तं चेदं जरासंधवधपर्व॥

उस समय धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि करने वाले, जो२ उचित कर्म थे, राजा ने प्रजा पालन के ध्यान से वे सब कर्म धर्म पूर्वक किए॥ ६०॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत जरासन्ध वधपर्व में जरासन्ध के वध का चौबीसवां अध्याय पूरा हुआ और यहीं पर जरासन्ध वधपर्व भी पूरा हो गया।



अथ दिग्विजयपर्व

पचीसवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

पार्थः प्राप्य धनुःश्रेष्ठमक्षय्यौ च महेषुधी ।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! अर्जुन, श्रेष्ठ धनुष, क्षय नहीं होने वाले तरकस, रथ, ध्वजा और सभा-भवन को पाकर युधिष्ठिर से बोले ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच—

धनुरस्त्रं महावीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम् ।
प्राप्तमेतन्मया राजन्दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ॥ २ ॥

अर्जुन कहने लगे—हे राजन् ! धनुष, अस्त्र, महाबल, सहायक भूमि, यश, सेना, जो सब चाहते हैं, ये दुर्लभ वस्तुएँ मैंने प्राप्त करली हैं ॥ २ ॥

तत्र कृत्यमहं मन्ये कोशस्य परिवर्धनम् ।
करमाहारयिष्यामि राज्ञः सर्वान्नृपोत्तम ॥ ३ ॥

हे नृपोत्तम ! मैं अपना कोश बढ़ाना चाहता हूं । अब सारे राजाओं से कर ग्रहण करूंगा ॥ ३ ॥

विजयाय प्रयास्यामि दिशं धनदपालिताम् ।
तिथावथ मुहूर्ते च नक्षत्रे चाऽभिपूजिते ॥ ४ ॥

प्रथम विजय के लिए कुबेर से रक्षित उत्तर दिशा को शुभ-तिथि, शुभनक्षत्र और शुभमुहूर्त मे चढ़ाई करूंगा॥ ४॥

वैशम्पायन उवाच—

धनंजयवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
स्निग्धगम्भीरनादिन्या तं गिरा प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥

वैशम्पायन बोले—अर्जुन के वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर कोमल और गम्भीर वाणी से अर्जुन से कहने लगे ॥ ५॥

स्वस्ति वाच्याऽर्हतो विप्रान्प्रयाहि भरतर्षभ ।
दुर्हृदामप्रहर्षाय सुहृदां नन्दनाय च ॥ ६ ॥

हे भरतर्षभ! शत्रुओं के दुःख और मित्रों के आनन्द के लिए, पूज्य ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तियाचन करा के चढ़ाई कर॥६

विजयस्ते ध्रुवं पार्थ प्रियं काममवाप्स्यसि ।
इत्युक्तः प्रययौ पार्थः सैन्येन महता वृतः ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! तेरी अवश्य विजय होगी और तू अपनी प्रिय कामना को प्राप्त करेगा; ब्राह्मणों द्वारा इस प्रकार उत्साहित किया हुआ अर्जुन, बड़ी भारी सेना लेकर चल दिया॥७॥

अग्निदत्तेन दिव्येन रथेनाऽद्भुतकर्मणा ।
तथैव भीमसेनोऽपि यमौ च पुरुषर्षभौ ॥ ८ ॥

अद्‌भुत कार्य सम्पादन कर देने वाले, अग्नि के दिए हुए दिव्य रथ से भीमसेन और दोनों पुरुष रत्न नकुल और सहदेव चल दिये ॥ ८ ॥

ससैन्याः प्रययुः सर्वे धर्मराजेन पूजिताः ।
दिशं धनपतेरिष्टामजयत्पाकशासनिः ॥ ६ ॥

वे सब धर्मराज युधिष्ठिर से सत्कार पाकर सेना के साथ चल पड़े । इन्द्र के पुत्र अर्जुन ने धनपति कुबेर से सुरक्षित उत्तर दिशा का सबसे प्रथम विजय किया ॥ ६ ॥

भीमसेनस्तथा प्राचीं सहदेवस्तु दक्षिणाम् ।
प्रतीचीं नकुलो राजन्दिशं व्यजयताऽस्त्रवित् ॥ १० ॥

अस्त्र विद्या के जानने वाले भीमसेन ने पूर्व, सहदेव ने दक्षिण, नकुल ने पश्चिम दिशा को जीत लिया ॥ १० ॥

खाण्डवप्रस्थमध्यस्थो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
आसीत्परमया लक्ष्म्या सुहृद्गणवृतः प्रभुः ॥११॥ [१०२१

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि दिग्विजयसंक्षेपकथने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

खाण्डव प्रस्थ के मध्य में ही स्थित हुए शक्ति-शाली धर्मराज युधिष्ठिर, परमशोभा से सम्पन्न और मित्रगण से युक्त हो गए ॥ ११ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्व के दिग्विजयपर्व में दिग्विजय के संक्षेप कथन का पचीसवां अध्याय समाप्त हुआ ।

छब्बीसवाँ अध्याय

जनमेजय उवाच—

दिशामभिजयं ब्रह्मन्विस्तरेणाऽनुकीर्तय ।
न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—हे ब्रह्मन्! दिशाओं का विजय विस्तार से कहिये क्योंकि मैं पूर्वजों के उत्तम चरित सुनता हुआ तृप्त नहीं होता हूं ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—

धनंजयस्य वक्ष्यामि विजयं पूर्वमेव ते ।
यौगपद्येन पार्थैर्हि निर्जितेयं वसुन्धरा ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! मैं प्रथम अर्जुन की विजय के समाचार तुमसे कहता हूं । यह पृथिवी सारे कुन्ती पुत्रों ने एक बार ही जीती है ॥ २ ॥

पूर्वं कुलिन्दविषये वशे चक्रे महीपतीन् ।
धनंजयो महाबाहुर्नातितीव्रेण कर्मणा ॥ ३ ॥

महाबाहु अर्जुन ने साधारण पराक्रम से ही कुलिन्द देश में राजाओं को अपने वश में कर लिया ॥ ३ ॥

आनर्तान्कालकूटांश्च कुलिन्दांश्च विजित्य सः ।
सुमण्डलं चाऽविजितं कृतवान्सहसैनिकम् ॥ ४ ॥

अर्जुन ने आनर्त, कालकूट, कुलिन्द आदि देशों को जीत कर सेना सहित, राजा सुमण्डल को पराजित किया ॥ ४ ॥

स तेन सहितो राजन्सव्यसाची परंतपः ।
विजिग्ये शाकलं द्वीपं प्रतिविन्ध्यं च पार्थिवम् ॥ ५ ॥

हे राजन् ! सुमण्डल को साथ लेकर परन्तप, अर्जुन ने शाकलद्वीप और प्रतिविन्ध्य राजा को जीत लिया ॥ ५ ॥

शाकलद्वीपवासाश्च सप्तद्वीपेषु ये नृपाः ।
अर्जुनस्य च सैन्यैस्तैर्विग्रहस्तुमुलोऽभवत् ॥ ६ ॥

सात द्वीपों में शाकलद्वीप के रहने वाले जो राजा थे, उनका अर्जुन की सेना के साथ घमसान युद्ध हुआ ॥ ६ ॥

स तानपि महेष्वासान्विजिग्ये भरतर्षभ ।
तैरेव सहितः सर्वैः प्राग्ज्योतिषमुपाद्रवत् ॥ ७ ॥

हे भरतर्षभ ! अर्जुन ने उन धनुषधारी राजाओं को भी जीत लिया; अब उन राजाओं के साथ उसने प्राग ज्योतिषपुर पर चढ़ाई की ॥ ७ ॥

तत्र राजा महानासीद्भगदत्तो विशांपते ।
तेनाऽऽसीत्सुमहद्युद्धं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ८ ॥

हे प्रजापते ! वहां पर बड़ा शक्तिशाली राजा भगदत्त था। उसके साथ महात्मा अर्जुन का महा युद्ध हुआ ॥ ८ ॥

स किरातैश्च चीनैश्च वृतः प्राग्ज्योतिषोऽभवत् ।
अन्यैश्च बहुभिर्योधैः सागरानूपवासिभिः ॥ ९ ॥

वह प्राग्ज्योतिषपुर का अधिपति भगदत्त, किरात और चीनों की सेनाओं से तथा समुद्र प्रदेश के अन्य बहुत से योद्धाओं से युक्त था ॥ ९ ॥

ततः स दिवसानष्टौ योधयित्वा धनंजयम् ।
प्रहसन्नब्रवीद्राजा संग्रामे विगतक्लमम् ॥ १० ॥

यह राजा आठ दिन तक लड़ कर नहीं थके हुए अर्जुन से हंसता हुआ युद्ध में कहने लगा ॥ १० ॥

उपपन्नं महाबाहो त्वयि कौरवनन्दन ।
पाकशासनदायादे वीर्यमाहवशोभिनि ॥ ११ ॥

हे कौरवनन्दन अर्जुन ! तुम इन्द्र के पुत्र और युद्ध के अलङ्कार हो, तुममे ऐसा ही पराक्रम शोभा देता है ॥ ११ ॥

अहं सखा महेन्द्रस्य शक्रादनवरो रणे ।
न शक्ष्यामि च ते तात स्थातुं प्रमुखतो युधि ॥१२॥

हे वीर ! मैं इन्द्र का मित्र हूं और युद्ध मे भी इन्द्र से कम नहीं हूं । तो भी आज मैं युद्ध मे तुम्हारे सम्मुख नहीं ठहर सका हूं ॥ १२ ॥

त्वमीप्सितं पाण्डवेय ब्रूहि किं करवाणि ते ।
यद्वक्ष्यसि महाबाहो तत्करिष्यामि पुत्रक ॥ १३ ॥

हे पाण्डु पुत्र ! महाबाहो अर्जुन ! तुम अपना मनोरथ कहो और मेरे योग्य सेवा बताओ ? हे बेटे ! जो तुम कहोगे मैं वही करूंगा ॥ १३ ॥

अर्जुन उवाच—

कुरूणामृषभो राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च यज्वा विपुलदक्षिणः ॥
तस्य पार्थिवतामीप्से करस्तस्मै प्रदीयताम् ॥१४॥

अर्जुन बोले—कुरुवंशियों में श्रेष्ठ, धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर, बड़ा धर्मात्मा, सत्यप्रतिज्ञावाला और विपुल दक्षिणा से यज्ञ करने वाला है। मैं उसको सम्राट् बनाना चाहता हूं। तुम भी उनको कर प्रदान करो ॥ १४ ॥

भवान्पितृसखा चैव प्रीयमाणो मयापि च ।
ततो नाऽऽज्ञापयामि त्वां प्रीतिपूर्वं प्रदीयताम् ॥ १५ ॥

आप मेरे पिता के मित्र और मुझ पर प्रसन्न हैं, इससे मैं आपको आज्ञा नहीं कर सकता हूं। आप प्रेम के रूप में कर दीजिये ॥ १५ ॥

भगदत्त उवाच—

कुन्तीमातर्यथा मे त्वं तथा राजा युधिष्ठिरः ।
सर्वमेतत्करिष्यामि किं चाऽन्यत्करवाणि ते ॥१६॥[१०३७

इतिश्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि दिग्विजयपर्वण्यर्जुनदिग्विजये भगदत्तजये षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥

भगदत्त बोला—हे अर्जुन ! मेरे लिए जैसे तुम मान्य हो, वैसे ही राजा युधिष्ठिर मान्य हैं। जो तुमने कहा, वह सब कुछ करूंगा। अब और बताओ क्या सेवा करूं ॥ १६ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत दिग्विजयपर्व में अर्जुन द्वारा भगदत्त के विजय का छब्बीसवां अध्याय पूरा हुआ।

सत्ताइसवाँ अध्याय

वैशम्पायनउवाच—

एवमुक्तः प्रत्युवाच भगदत्तं धनंजयः ।
अनेनैव कृतं सर्वं भविष्यत्यनुजानता ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—भगदत्त के इतना कहने पर भगदत्त से अर्जुन कहने लगे—आपके इतना मान लेने पर सब कुछ सिद्ध हुआ समझना चाहिये ॥ १ ॥

तं विजित्य महाबाहुः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
प्रययावुत्तरां तस्माद्दिशं धनदपालिताम् ॥ २ ॥

महाबाहु, कुन्ती पुत्र अर्जुन, भगदत्त को जीत कर कुबेर से रक्षित, उत्तर दिशा को चल दिया ॥ २ ॥

अन्तर्गिरिं च कौन्तेयस्तथैव च बहिर्गिरिम् ।
तथैवोपगिरिं चैव विजिग्ये पुरुषर्षभः ॥ ३ ॥

आगे बढ़ कर पुरुष रत्न अर्जुन ने अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि और उपगिरि को जीत लिया ॥ ३ ॥

विजित्य पर्वतान्सर्वान्ये च तत्र नराधिपाः ।
तान्वशे स्थापयित्वा स धनान्यादाय सर्वशः ॥ ४ ॥
तैरेव सहितः सर्वैरनुरज्य च तान्नृपान् ।
उलूकवासिनं राजन्बृहन्तमुपजग्मिवान् ॥ ५ ॥

हे राजन् ! अर्जुन ने सारे पर्वतों और पर्वतों पर रहने वाले राजाओं को वश में कर लिया, इसने इन राजाओं से कर के

रूप में धन ग्रहण किया और इन सारे राजाओं को प्रसन्न करके एवं उनको साथ लेकर उलूकवासी बृहन्त पर चढ़ाई की ॥४-५॥

मृदङ्गवरनादेन रथनेमिस्वनेन च ।
हस्तिनां च निनादेन कम्पयन्वसुधामिमाम् ॥६॥

मृदङ्ग के उत्तम शब्द, रथ की नेमि की ध्वनि और हाथियों की गर्जना से अर्जुन ने पृथिवी को कम्पायमान कर दिया ॥ ६ ॥

ततो बृहन्तस्त्वरितो बलेन चतुरङ्गिणा ।
निष्क्रम्य नगरात्तस्माद्योधयामास फाल्गुनम् ॥ ॥ ७ ॥

बृहन्त भी अपने नगर से शीघ्रता के साथ चतुरंगिणी सेना लेकर निकला और अर्जुन से युद्ध करने लगा ॥ ७ ॥

सुमहान्सन्निपातोऽभूद्धनंजयबृहन्तयोः ।
न शशाक बृहन्तस्तु सोढ़ुं पाण्डवविक्रमम् ॥ ८ ॥

अर्जुन और बृहन्त का बड़ा भारी युद्ध हुआ, परन्तु बृहन्त अर्जुन के पराक्रम को सह नहीं सका ॥ ८ ॥

सोऽविषह्यतमं मत्वा कौन्तेयं पर्वतेश्वरः ।
उपावर्तत दुर्धर्षो रत्नान्यादाय सर्वशः ॥ ९ ॥

महातेजस्वी पर्वतेश्वर बृहन्त ने अर्जुन को असह्य माना और रत्नों की भेंट लेकर उसके सम्मुख उपस्थित हुआ ॥ ९ ॥

स तद्राज्यमवस्थाप्य उलूकसहितो ययौ ।
सेनाबिन्दुमथो राजन्राज्यादाशु समाक्षिपत् ॥१०॥

हे राजन्! अर्जुन, वृहन्त को फिर राज्य पर बैठा कर और उसको साथ लेकर आगे चल दिया। इसने सेनाविन्दु राजा को अपने राज्य से पृथक् कर दिया ॥ १० ॥

मोदापुरं वामदेवं सुदामानं सुसंकुलम् ।
उलूकानुत्तरांश्चैव तांश्च राज्ञः समानयत् ॥ ११ ॥

मोदापुर, वामदेव, सुदामान सुसंकुल उत्तर उलूक देश और उनके राजाओं को अर्जुन ने जीत लिया ॥ ११ ॥

तत्रस्थः पुरुषैरेव धर्मराजस्य शासनात् ।
किरीटी जितवान्राजन्देशान्पञ्चगणास्ततः ॥ १२ ॥

हे राजन्! धर्मराज युधिष्ठिर के शासन के अनुसार चलने वाले अर्जुन ने उत्तर उलूक मे ही स्थित होकर अपनी सेना द्वारा पञ्चगण देशों को जीत लिया ॥ १२ ॥

स देवप्रस्थमासाद्य सेनाबिन्दोः पुरं प्रति ।
बलेन चतुरङ्गेण निवेशमकरोत्प्रभुः ॥ १३ ॥

शक्तिशाली अर्जुन ने सेनाविन्दु राजा की राजधानी देवप्रस्थ मे पहुच कर अपनी चतुरङ्गिणी सेना के सहित वहा डेरा डाल दिया ॥ १३ ॥

स तैः परिवृतः सर्वैर्विष्वगश्वं नराधिपम् ।
अभ्यगच्छन्महातेजाः पौरवं पुरुषर्षभम् ॥ १४ ॥

इन सब जीते हुए राजाओं को साथ लेकर महातेजस्वी अर्जुन ने पुरुष रत्न, पुरुवशी विश्वगश्व राजा पर चढाई की ॥ १४ ॥

विजित्य चाऽऽहवे शूरान्पार्वतीयान्महारथान् ।
जिगाय सेनया राजन्पुरं पौरवरक्षितम् ॥ १५ ॥

हे राजन् ! पर्वत देश के महारथी वीरों को युद्ध में जीत कर पौरव से सुरक्षित पुर को अर्जुन ने अपनी सेना से जीत लिया ॥ १५ ॥

पौरवं युधि निर्जित्य दस्यून्पर्वतवासिनः ।
गणानुत्सवसङ्केतानजयत्सप्त पाण्डवः ॥ १६ ॥

अर्जुन ने पुरुवंशी विश्वगश्व राजा को युद्ध में जीत कर, उत्सव पर मस्त हुए लुटेरों के सात गणों को जीत लिया ॥ १६ ॥

ततः काश्मीरकान्वीरान्क्षत्रियर्षभः ।
व्यजयल्लोहितं चैव मण्डलैर्दशभिः सह ॥ १७ ॥

इसके अनन्तर क्षत्रिय श्रेष्ठ, अर्जुन ने कश्मीर के क्षत्रिय वीरों तथा दश छोटे २ राजाओं के साथ लोहित राजा को जीत लिया ॥ १७ ॥

ततस्त्रिगर्ताः कौन्तेयं दार्वाः कोकनदास्तथा ।
क्षत्रिया बहवो राजन्नुपावर्तन्त सर्वशः ॥ १८ ॥

हे राजन् ! त्रिगर्त, दार्व, कोकनद आदि अनेक क्षत्रिय वीर अर्जुन के वश में होगए ॥ १८ ॥

अभिसारीं ततो रम्यां विजिग्ये कुरुनन्दन :
उरगावासिनं चैव रोचमानं रणेऽजयत् ॥ १९ ॥

कुरुनन्दन अर्जुन ने अभिसारी नाम की सुन्दर नगरी को जीत लिया और उरगा नगरी मे रहने वाले रोचमान राजा को भी रण में जीता ॥ १९ ॥

ततः सिंहपुरं रम्यं चित्रायुधसुरक्षितम् ।
प्राधमद्बलमास्थाय पाकशासनिराहवे ॥ २० ॥

इन्द्र के पुत्र अर्जुन ने राजा चित्रयुध द्वारा सुरक्षित, सुन्दर, सिंहपुर को अपनी सेना द्वारा युद्ध मे मथ डाला ॥ २० ॥

ततः सुह्मांश्च चोलांश्च किरीटी पाण्डवर्षभः
सहितः सर्वसैन्येन प्रामथत्कुरुनन्दनः ॥ २१ ॥

इसके बाद कुरुनन्दन पाण्डव श्रेष्ठ अर्जुन ने सुह्म चोल आदि देशों को अपनी सेना से जीत लिया ॥ २१ ॥

ततः परमविक्रान्तो बाह्लीकान्पाकशासनिः ।
महता परिमर्देन वशे चक्रे दुरासदान् ॥ २२ ॥

अत्यन्त पराक्रमी अर्जुन ने घमसान लडाई के अनन्तर कुटिल बाह्लीकों को वश मे किया ॥ २२ ॥

गृहीत्वा तु बलं सारं फाल्गुनः पाण्डुनन्दनः ।
दरदान्सह काम्बोजैरजयत्पाकशासनिः ॥ २३ ॥

पाण्डु पुत्र अर्जुन ने वीर सेना को लेकर काम्बोजों के साथ दरदों को भी जीत लिया ॥ २३ ॥

प्रागुत्तरा दिशं ये च वसन्त्याश्रित्य दस्यवः ।
निवसन्ति वने ये च तान्सर्वानजयत्प्रभुः ॥ २४ ॥

जो दस्यु, ईशान दिशा का आश्रय लेकर रह रहे थे और जो वन में रह रहे थे, उन सबको शक्तिशाली अर्जुन ने वश में कर लिया ॥ २४ ॥

लोहान्परमकाम्भोजानृपिकानुत्तरानपि ।
सहितांस्तान्महाराज व्यजयत्पाकशासनिः ॥ २५ ॥

हे महाराज! इन्द्रपुत्र अर्जुन ने लोह, परम काम्बोज, उत्तर ऋपिक देशों को एक वार में ही जीत लिया ॥ २५ ॥

ऋपिकेष्वपि संग्रामो बभूवाऽतिभयंकरः ।
तारकामयसंकाशः परस्त्वृपिकपार्थयोः ॥ २६ ॥

ऋपिकों के साथ भी अर्जुन की गहरी लड़ाई हुई, ऋपिक और अर्जुन में तारकामय संग्राम के समान घमसान युद्ध हुआ ॥ २६ ॥

स विजित्य ततो राजन्नृपिकान्रणमूर्धनि ।
शुकोदरसमांस्तत्र हयानष्टौ समानयत् ॥ २७ ॥

हे राजन्! रण में ऋपिकों को जीत कर अर्जुन ने शुकोदर के तुल्य आठ घोड़े भेंट में लिए ॥ २७ ॥

मयूरसदृशानन्यानुत्तरानपरानपि ।
जवनानाशुगांश्चैव करार्थं समुपानयत् ॥ २८ ॥

मयूर के सदृश रंग वाले, उत्तर तथा पश्चिम के वेग शील एवं शीघ्रगामी घोड़े, पाण्डु पुत्र अर्जुन ने भेंट में लिए ॥ २८ ॥

स निनिर्जित्य सङ्ग्रामे हिमवन्तं सनिष्कुटम् ।
श्वेतपर्वतमासाद्य न्यविशत्पुरुषर्षभः ॥ २६ ॥ [१०६६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि फाल्गुनदिग्विजये नानादेशजये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

यह पुरुष श्रेष्ठ अर्जुन ने निष्कुट और हिमालय पर्वत को युद्ध में जीत कर श्वेत पर्वत पर डेरा डाला ॥ २६ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत दिग्विजय पर्व में अर्जुन के नाना देशों के विजय का सत्ताइसवा अध्याय समाप्त हुआ ।



अट्ठाईसवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

स श्वेतपर्वतं वीरः समतिक्रम्य वीर्यवान् ।
देशं किंपुरुषावासं द्रुमपुत्रेण रक्षितम् ॥ १ ॥
महता संनिपातेन क्षत्रियान्तकरेण ह ।
अजयत्पाण्डवश्रेष्ठः करे चैनं न्यवेशयत् ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! वीर्यवान् वीर अर्जुन ने श्वेत पर्वत का अतिक्रमण करके क्षत्रियों के विनाशकारी घोर युद्ध से द्रुम पुत्र द्वारा सुरक्षित किंपुरुषावास देश को जीत लिया और उसको कर देने वाला बनाया ॥ १-२ ॥

तं जित्वा हाटकं नाम देशं गुह्यकरक्षितम् ।
पाकशासनिरव्यग्रः सहसैन्यः समासदत् ॥ ३ ॥

इन्द्र के पुत्र, किसी प्रकार की भी व्याकुलता से रहित, अर्जुन, इस देश को जीत कर गुह्यकों से सुरक्षित, हाटक नामक देश में पहुंच गया ॥ ३ ॥

तांस्तु सन्त्वेन निर्जित्य मानसं सर उत्तमम् ।
ऋषिकुल्यास्तथा सर्वा ददर्श कुरुनन्दनः ॥ ४ ॥

कुरुनन्दन अर्जुन ने सन्धि करके हाटक देश के राजाओं को जीत लिया, इसके आगे चल कर इसने उत्तम मानसरोवर, तथा अनेक ऋषियों की बनायी हुई छोटी २ नदियों को देखा ॥ ४ ॥

सरोमानसमासाद्य हाटकानभितः प्रभुः ।
गन्धर्वरक्षितं देशमजयत्पाण्डवस्ततः ॥ ५ ॥

शक्तिशाली अर्जुन ने मानसरोवर पर पहुंच कर हाटक देश के समीप गन्धर्वों से रक्षित, देश को जीत लिया ॥ ५ ॥

तत्र तित्तिरिकुल्मापान्मण्डूकाख्यान्हयोत्तमान् ।
लेभे स करमत्यन्तं गन्धर्वनगरात्तदा ॥ ६ ॥

इस गन्धर्व नगर से अर्जुन ने तित्तिरि, कुल्माप और मण्डूक जाति के अश्वों को भेंट मे प्राप्त किया ॥ ६ ॥

उत्तरं हरिवर्षं तु स समासाद्य पाण्डवः ।
इयेष जेतुं तं देशं पाकशासननन्दनः ॥ ७ ॥

पाकशासन (इन्द्र) के पुत्र, अर्जुन ने उत्तर हरिवर्ष देश के पास पहुंच कर उसको जीतना चाहा ॥ ७ ॥

तत एनं महावीर्या महाकाया महाबलाः ।
द्वारपालाः समासाद्य हृष्टा वचनमब्रुवन् ॥ ८ ॥

अब इसके पास महापराक्रमी, विशालकाय, अत्यन्त बलवान् द्वारपालों ने आकर प्रसन्नता से कहा ॥ ८ ॥

पार्थ नेदं त्वया शक्यं पुरं जेतुं कथंचन ।
उपावर्तस्व कल्याण पर्याप्तमिदमच्युत ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! तुम इस पुर को जीत नहीं सकोगे । हे दृढ़ प्रतिज्ञ तुम लौट जाओ, बस इसमें ही अच्छा है ॥ ९ ॥

इदं पुरं यः प्रविशेद् ध्रुवं न स भवेन्नरः ।
प्रीयामहे त्वया वीर पर्याप्तो विजयस्तव ॥ १० ॥

इस पुर में जो मनुष्य प्रवेश करता है, वह अवश्य ही मारा जाता है । हे वीर ! हम तुम पर प्रसन्न हैं. इतना करना ही तुम्हारी पर्याप्त विजय है ॥ १० ॥

न चात्र किंचिज्जेतव्यमर्जुनाऽत्र प्रदृश्यते ।
उत्तराः कुरवो ह्येते नाऽत्र युद्धं प्रवर्तते ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! यहां जीतने को कुछ नहीं रखा है, यह तो उत्तर कुरुदेश है, यहां कोई तुम से नहीं लड़ेगा ॥ ११ ॥

प्रविष्टोऽपि हि कौन्तेय नेह द्रक्ष्यसि किंचन ।
न हि मानुषदेहेन शक्यमत्राऽभिवीक्षितुम् ॥ १२ ॥

हे कौन्तेय ! यहां घुस जाने पर भी तुमको कुछ दिखाई नहीं देगा । यहां मनुष्य देहधारी को कुछ भी नहीं दिखाई देता है ॥१२

अथेह पुरुषव्याघ्र किंचिदन्यचिकीर्षसि ।
तत्प्रब्रूहि करिष्यामो वचनात्तव भारत ॥ १३ ॥

हे पुरुष व्याघ्र ! जो कुछ तुम यहां चाहते हो वह कहो, मैं तेरे वचनों से उसे पूरा करूंगा ॥ १३ ॥

ततस्तानब्रवीद्राजन्नर्जुनः प्रहसन्निव ।
पार्थिवत्वं चिकीर्षामि धर्मराजस्य धीमतः ॥ १४ ॥

हे राजन् ! अर्जुन हंस कर उनसे बोला—कि मैं बुद्धिमान् धर्मराज के लिए सम्राट् पद चाहता हूं ॥ १४ ॥

न प्रवेक्ष्यामि वो देशं विरुद्धं यदि मानुषैः ।
युधिष्ठिराय यत्किंचित्करपण्यं प्रदीयताम् ॥ १५ ॥

यदि आपका देश मनुष्यों के प्रतिकूल है, तो मैं उसमें प्रवेश नहीं करूंगा, परन्तु तुम राजा युधिष्ठिर के लिए कुछ कर प्रदान करो ॥ १५ ॥

ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च ।
क्षौमाजिनानि दिव्यानि तस्य ते प्रददुः करम् ॥१६ ॥

इसके बाद उन्होंने उत्तम २ सूती और रेशमी वस्त्र तथा उत्तम २ आभूषण कर के रूप में प्रदान किए ॥ १६ ॥

एवं स पुरुषव्याघ्रो विजित्य दिशमुत्तराम् ।
संग्रामान्सुबहून्कृत्वा क्षत्रियैर्दस्युभिस्तथा ॥ १७ ॥
स विनिर्जित्य राज्ञस्तान्करे च विनिवेश्य तु ।
धनान्यादाय सर्वेभ्यो रत्नानि विविधानि च ॥ १८ ॥

हयांस्तित्तिरिकुल्माषाञ्शुकपत्रनिभानपि ।
मयूरसदृशानन्यान्सर्वाननिलरंहस ॥ १९ ॥
वृतः सुमहता राजन्बलेन चतुरङ्गिणा ।
आजगाम पुनर्वीरः शक्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ॥ २० ॥

इस प्रकार इस पुरुष रत्न अर्जुन ने उत्तर दिशा को जीत कर तथा चोर और क्षत्रियों से युद्ध करके एवं वहां के राजाओं को जीत कर कर-दायी वनाया । इन जीते हुए राजाओं से वहुत प्रकार का धन तथा रत्नों की भेंट लेकर वायु के तुल्य वेग वाले तित्तिरि, कुल्माष, शुक के पङ्ख के तुल्य हरित, तथा मयूर के सदृश नीले वर्ण के घोड़ों को साथ लिए हुए और चतुरङ्गिणी सेना के सहित महावीर अर्जुन, फिर इन्द्रप्रस्थ नगरी मे वापिस आए ॥ १७-२० ॥

धर्मराजाय तत्पार्थो धनं सर्वं सवाहनम् ।
न्यवेदयदनुज्ञातस्तेन राज्ञा गृहान्ययौ ॥ २१ ॥[१०८७]

इति श्रीमहाभरते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि दिग्विजयपर्वण्यर्जुनोत्तरदिग्विजयेऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

अर्जुन ने यह धन और वाहन राजा युधिष्ठिर के सामने रख दिये, फिर वह युधिष्ठिर की आज्ञा से अपने अन्तःपुर में गया ॥ २१ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गतदिग्विजय पर्व मे अर्जुन के दिग्विजय का अट्ठाईसवा अध्याय सम्पूर्ण हुआ ।



उन्नीसवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

एतस्मिन्नेवकाले तु भीमसेनोऽपि वीर्यवान् ।
धर्मराजमनुज्ञाप्य ययौ प्राचीं दिशं प्रति ॥ १ ॥
महता बलचक्रेण परराष्ट्रावमर्दिना ।
हस्त्यश्वरथपूर्णेन दंशितेन प्रतापवान् ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! इसी समय महाबली भीमसेन ने भी युधिष्ठिर की आज्ञा लेकर शत्रु के राष्ट्र के मर्दन करने वाली हाथी घोड़े और रथों से भरी हुई, सुसज्जित सेना के साथ पूर्व दिशा पर चढ़ाई की ॥ १–२ ॥

ततो भरतशार्दूलो द्विषच्छोकविवर्धनः ।
स गत्वा नरशार्दूलः पञ्चालानां पुरं महत् ॥३ ॥

यह नर श्रेष्ठ, शत्रु के शोक का बढ़ाने वाला, भरतवंशी भीमसेन, पञ्चालों के विशाल पुर में पहुंचा ॥ ३ ॥

पञ्चालान्विविधोपायैः सान्त्वयामास पाण्डवः ।
ततः स गण्डकाञ्शूरो विदेहान्भरतर्षभ ॥ ४ ॥
विजित्वाऽल्पेन कालेन दाशार्णानजयत्प्रभुः॥ ५ ॥

हे भरतर्षभ ! वहां पाण्डुपुत्र भीमसेन ने अनेक उपायों से पञ्चालों को समझाया, फिर इस शूर वीर ने गण्डक देश को जीत कर थोड़े ही काल में दाशार्ण देश को जीत लिया ॥४–५॥

तत्र दाशार्णको राजा सुधर्मा लोमहर्षणम् ।
कृतवान्भीमसेनेन महद्युद्धं निरायुधम् ॥ ६ ॥

यहां दाशार्ण देश के राजा सुधर्मा ने भीमसेन के साथ बड़ा भारी लोम-हर्षण मल्ल युद्ध किया ॥ ६ ॥

भीमसेनस्तु तद् दृष्ट्वा तस्य कर्म महात्मनः ।
अधिसेनापतिं चक्रे सुधर्माणं महाबलम् ॥ ७ ॥

भीमसेन ने सुधर्मा का ऐसा पराक्रम देख कर उस महाबली को प्रधान सेनापति बनाया ॥ ७ ॥

ततः प्राचीं दिशं भीमो ययौ भीमपराक्रमः ।
सैन्येन महता राजन्कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ ८ ॥

इसके बाद भीम पराक्रम करने वाला, भीमसेन, अपनी बड़ी भारी सेना से भूमि को कम्पायमान करता हुआ, पूर्व दिशा में पहुंचा ॥ ८ ॥

सोऽश्वमेधेश्वरं राजन्रोचमानं सहानुगम् ।
जिगाय समरे वीरो बलेन बलिनां वरः ॥ ९ ॥

हे राजन् ! वीरों में श्रेष्ठ, महाबली भीमसेन ने अश्वमेधेश्वर, रोचमान को युद्ध में उसकी सेना के साथ अपनी सेना से जीत लिया ॥ ९ ॥

स तं निर्जित्य कौन्तेयो नातितीव्रेण कर्मणा ।
पूर्वदेशं महावीर्यो विजिग्ये कुरुनन्दनः ॥ १० ॥

कुन्ती-पुत्र, कुरुनन्दन महाशक्तिशाली भीमसेन ने साधारण कर्म से ही इसको जीत कर पूर्व देश को जीत लिया॥ १०॥

ततो दक्षिणमागम्य पुलिन्दनगरं महत्।
सुकुमारं वशं चक्रे सुमित्रं च नराधिपम् ॥ ११॥

फिर दक्षिण में आकर और पुलिन्द नगर में पहुंच कर इसने सुकुमार और सुमित्र राजा को वश में किया॥ ११॥

ततस्तु धर्मराजस्य शासनाद्भरतर्षभः।
शिशुपालं महावीर्यमभ्यगाज्जनमेजय ॥ १२ ॥

हे जनमेजय! भरतवंश में प्रतापी भीमसेन ने धर्मराज की आज्ञा से महाबली शिशुपाल पर चढ़ाई की॥ १२॥

चेदिराजोऽपि तच्छ्रुत्वा पाण्डवस्य चिकीर्षितम्।
उपनिष्क्रम्य नगरात्प्रत्यगृह्णात्परंतपः ॥ १३ ॥

शत्रु विजयी चेदिदेश पति, शिशुपाल ने, भीमसेन की चढ़ाई का वृत्तान्त सुन कर नगर से बाहर आकर भीमसेन का स्वागत किया॥ १३॥

तौ समेत्य महाराज कुरुचेदिवृषौ तदा।
उभयोरात्मकुलयोः कौशल्यं पर्यपृच्छताम् ॥ १४ ॥

हे महाराज! कुरु और चेदिदेश के रक्षक शिशुपाल और भीमसेन ने मिल कर परस्पर एक दूसरे के कुल की कुशल पूछी॥ १४॥

ततो निवेद्य तद्राष्ट्रं चेदिराजो विशांपते ।
उवाच भीमं प्रहसन्किमिदं कुरुषेऽनघ ॥ १५ ॥

हे विशां पते ! चेदिराज ने अपने राष्ट्र को भीम के समर्पण करके हंसते हुए भीमसेन से कहा कि यह तुम क्या कर रहे हो ॥ १५ ॥

तस्य भीमस्तदाचख्यौ धर्मराजचिकीर्षितम् ।
स च तं प्रतिगृह्यैव तथा चक्रे नराधिपः ॥ १६ ॥

भीमसेन ने धर्मराज की इच्छा प्रकट की । राजा शिशुपाल ने यह सुन कर भीम की इच्छा पूरी की ॥ १६ ॥

ततो भीमस्तत्र राजन्नुषित्वा त्रिदश क्षपाः ।
सत्कृतः शिशुपालेन ययौ सबलवाहनः ॥ १७॥[११०४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भीमदिग्विजये ऊनत्रिंशोऽध्यायः ॥२६ ॥

हे राजन् ! भीमसेन वहां तेरह रात तक निवास करके और शिशुपाल से सत्कार पाकर सेना सहित आगे चल दिया ॥१७॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत दिग्विजयपर्व में भीम दिग्विजय का उनतीसवां अध्याय पूरा हुआ ।



तीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततः कुमारविषये श्रेणिमन्तमथाऽजयत् ।
कोसलाधिपतिं चैव बृहद्बलमरिन्दमः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन्! इसके अनन्तर शत्रुविजयी भीमसेन ने कुमार देश में श्रेणिमान् नामक राजा और कोशल देश के स्वामी बृहद्बल राजा को जीता ॥ १ ॥

अयोध्यायां तु धर्मज्ञं दीर्घयज्ञं महाबलम् ।
अजयत्पाण्डवश्रेष्ठो नाऽतितीव्रेण कर्मणा ॥ २ ॥

पाण्डव श्रेष्ठ भीम ने अयोध्या में महाबली दीर्घयज्ञ राजा को थोड़े से युद्ध में ही जीत लिया ॥ २ ॥

ततो गोपालकच्छं च सोत्तरानपि कोसलान् ।
मल्लानामधिपं चैव पार्थिवं चाऽजयत्प्रभुः ॥ ३ ॥

फिर शक्ति-शाली भीम ने गोपालकच्छ, उत्तर कोसलदेश तथा मल्लों के अधिपति पार्थिव को जीत लिया ॥ ३ ॥

ततो हिमवतः पार्श्वं समभ्येत्य जलोद्भवम् ।
सर्वमल्पेन कालेन देशं चक्रे वशं बली ॥ ४ ॥

इसके बाद महाबली भीम ने हिमालय के पास जलोद्भव देश में पहुंच कर थोड़े ही काल में सारे देश को वश में कर लिया ।

एवं बहुविधान्देशान्विजिग्ये भरतर्षभः ।
भल्लाटमभितो जिग्ये शुक्तिमन्तं च पर्वतम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार भरतवंश में श्रेष्ठ भीम ने अनेक देशों को जीता। सब प्रकार से मल्लारदेश तथा शुक्तिमान् पर्वत का विजय किया ५

पाण्डवः सुमहावीर्यो बलेन बलिनां वरः ।
स काशिराजं समरे सुबाहुमनिवर्तिनम् ॥ ६ ॥
वशे चक्रे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ।

बलवानों में महाबली, महापराक्रमी भीम ने युद्ध में पराङ्मुख नहीं होने वाले, काशिराज सुबाहु को वश में किया ॥ ६ ॥

युध्यमानं बलात्संख्ये विजिग्ये पाण्डवर्षभः ।
ततः सुपार्श्वमभितस्तथा राजपतिं क्रथम् ॥ ७ ॥

इसके अनन्तर सुपार्श्व के पास राजपति क्रथ को पाण्डव श्रेष्ठ भीम ने जीत लिया। इस राजा क्रथ ने युद्ध में बड़ा पराक्रम दिखाया ॥ ७ ॥

ततो मत्स्यान्महातेजा मलदांश्च महाबलान् ॥ ८ ॥
अनघानभयांश्चैव पशुभूमिं च सर्वशः ।
निवृत्य च महाबाहुर्मदधारं महीधरम् ॥ ६ ॥
सोमधेयांश्च निर्जित्य प्रययावुत्तरामुखः ।
वत्सभूमिं च कौन्तेयो विजिग्ये बलवान्बलात् ॥१०॥

महातेजस्वी, महाबाहु भीम ने मत्स्य, महाबली मलद, अनघ और अभयों को जीत कर पशुभूमि को जीत लिया। इसके अनन्तर लौट कर महाबली भीम ने मदधार और सोमधेय पर्वतों को जीत कर उत्तर की ओर गमन किया और वहां इस ने बलपूर्वक वत्सभूमि को जीत लिया ॥ ८-१० ॥

भर्गाणामधिपं चैव निषादाधिपतिं तथा ।
विजिग्ये भूमिपालांश्च मणिमत्प्रमुखान्बहून् ॥ ११ ॥

फिर भीम ने भर्गों के स्वामी तथा निषादों के पति एवं मणिमान् आदि राजाओं को जीता ॥ ११ ॥

ततो दक्षिणमल्लांश्च भोगवन्तं च पर्वतम् ।
तरसैवाऽजयद्भीमो नाऽतितीव्रेण कर्मणा ॥ १२ ॥

इसके अनन्तर दक्षिण के मल्लों और भोगवान् पर्वत को साधारण पराक्रम से ही भीम ने वेग के साथ जीत लिया ॥ १२॥

शर्मकान्वर्मकांश्चैव व्यजयत्सान्त्वपूर्वकम् ।
वैदेहकं च राजानं जनकं जगतीपतिम् ॥ १३ ॥
विजिग्ये पुरुषव्याघ्रो नाऽतितीव्रेण कर्मणा ।
शकांश्च बर्बरांश्चैव अजयच्छद्मपूर्वकम् ॥ १४ ॥

शर्मक, वर्मकों को समझा बुझाकर ही भीम ने वश में किया इस पुरुषरत्न भीम ने विदेह देश के स्वामी, पृथिवी के पति राजा जनक को भी साधारण सी लड़ाई से पराजित किया और शक तथा बर्बरों को छल से जीत लिया ॥ १३-१४ ॥

वैदेहस्थस्तु कौन्तेय इन्द्रपर्वतमन्तिकात् ।
किरातानामधिपतीनजयत्सप्त पाण्डवः ॥ १५ ॥

विदेह देश में पड़ाव डाले हुए भीम ने इन्द्र पर्वत के पास के सात किरात राजों को जीत लिया ॥ १५ ॥

ततः सुह्मान्प्रसुह्मांश्च स्वपक्षानपि वीर्यवान् ।
विजित्य युधि कौन्तेयो मागधानभ्यधाद्बली ॥१६॥

इसके अनन्तर सुह्म, प्रसुह्म और अपने पक्ष के प्रतिकूल हुए राजाओं को भी युद्ध में जीत कर कुन्ती पुत्र महाबली भीम, मगध देश को चल दिया ॥ १६ ॥

दण्डं च दण्डधारं च विजित्य पृथिवीपतीन् ।
तैरेव सहितः सर्वैर्गिरिव्रजमुपाद्रवत् ॥ १७ ॥

दण्ड, दण्डधार तथा अन्य पृथिवी-पतियों को जीत कर और उन्हीं राजाओं को साथ लेकर भीम गिरिव्रज नगरी में पहुंचे ॥ १७ ॥

जरासन्धिं सान्त्वयित्वा करे च विनिवेश्य ह ।
तैरेव सहितैः सर्वैः कर्णमभ्यद्रवद्बली ॥ १८ ॥

वहां जरासन्ध के पुत्र सहदेव से सन्धि करके और कर ले कर महाबली भीम ने इन सब राजाओं के साथ कर्ण पर चढ़ाई की ॥ १८ ॥

स कम्पयन्निव महीं बलेन चतुरङ्गिणा ।
युयुधे पाण्डवश्रेष्ठः कर्णेनाऽमित्रघातिना ॥ १९ ॥

वह भीम अपनी चतुरङ्गिणी सेना से पृथिवी को कम्पायमान करता हुआ शत्रुघाती कर्ण से भिड़ गया ॥ १९ ॥

स कर्णं युधि निर्जित्य वशे कृत्वा च भारत ।
ततो विजिग्ये बलवान्राज्ञः पर्वतवासिनः ॥ २० ॥

हे भारत ! इस वलवान् वृकोदर ने कर्ण को जीत और वश मे करके पर्वतवासी राजाओं को पराजित किया ॥ २० ॥

अथ मोदागिरौ चैव राजानं बलवत्तरम् ।
पाण्डवो बाहुवीर्येण निजघान महामृधे ॥ २१ ॥

पाण्डु पुत्र भीम ने मोदागिरि मे महाबली राजा को अपनी भुजा के बल से युद्ध मे मार गिराया ॥ २१ ॥

ततः पुण्ड्राधिपं वीरं वासुदेवं महाबलम् ।
कौशिकीकच्छनिलयं राजानं च महौजसम् ॥२२॥
उभौ बलभृतौ वीरावुभौ तीव्रपराक्रमौ ।
निर्जित्याऽऽजौ महाराज वङ्गराजमुपाद्रवत् ॥२३॥

हे महाराज ! महाबली भीम ने पुण्ड्र देश के स्वामी, महाबली, वीर वासु देव को और महाओजस्वी, कौशिकी कच्छ केवासी राजा को युद्ध मे जीता। ये दोनों राजा बडे बलवान् और अत्यन्त पराक्रमी थे। फिर भीम ने बङ्गदेश के राजा पर चढाई की ॥ २२-२३ ॥

समुद्रसेनं निर्जित्य चन्द्रसेनं च पार्थिवम् ।
ताम्रलिप्तं च राजानं कर्वटाधिपतिं तथा ॥ २४ ॥
सुह्मानामधिपं चैव ये च सागरवासिनः ।
सर्वान्म्लेच्छगणांश्चैव विजिग्ये भरतर्षभ ॥ २५ ॥

हे भरतर्षभ ! समुद्रसेन, चन्द्रसेन, ताम्रलिप्त, कर्वटाधिपति सुह्म के पति, सागर वासी राजा तथा सारे म्लेच्छगणों को भीम ने जीत लिया ॥ २४-२५ ॥

एवं बहुविधान्देशान्विजित्य पवनात्मजः ।
वसु तेभ्य उपादाय लौहित्यमगमद्बली ॥ २६ ॥

इस प्रकार अनेक देशों को जीत कर पवन का पुत्र, महाबली भीम, उन राजाओं से भेंट में बहुत सा धन लेकर लौहित्य देश को चल दिया ॥ २६ ॥

स सर्वान्म्लेच्छनृपतीन्सागरानूपवासिनः ।
करमाहारयामास रत्नानि विविधानि च ॥ २७ ॥

यहां इसने समुद्र के तट पर रहने वाले म्लेच्छ राजाओं को जीत कर उनसे कर रूप अनेक प्रकार के रत्न लिए ॥ २७ ॥

चन्दनागुरुवस्त्राणि मणिमौक्तिककम्बलम् ।
काञ्चनं रजतं चैव विद्रुमं च महाधनम् ॥ २८ ॥
ते कोटिशतसंख्येन कौन्तेयं महता तदा ।
अभ्यवर्षन्महात्मानं धनवर्षेण पाण्डवम् ॥ २९ ॥

इन राजाओं ने चन्दन, अगर, वस्त्र, मणि, मोती, कम्बल, सोना, चांदी, मूंगे और करोड़ों की संख्या में बहुत सा द्रव्य प्रदान किया । इन राजाओं ने पाण्डु पुत्र महात्मा भीम पर धन की वर्षा कर दी ॥ २८-२९ ॥

इन्द्रप्रस्थमुपागम्य भीमो भीमपराक्रमः ।
निवेदयामास तदा धर्मराजाय तद्धनम् ॥३०॥[११३४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्रया संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भीमदिग्विजये त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

भयानक पराक्रम वाले, भीम ने इन्द्रप्रस्थ में जाकर धर्मराज के लिए वह धन अर्पण कर दिया ॥ ३० ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत दिग्विजयपर्व में भीम के दिग्विजय का तीसरा अध्याय पूरा हुआ।



इकतीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

तथैव सहदेवोऽपि धर्मराजेन पूजितः ।
महत्या सेनया राजन्प्रययौ दक्षिणां दिशम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे राजन्, धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा से बड़ी भारी सेना लेकर सहदेव भी दक्षिण दिशा को चल दिया ॥ १ ॥

स शूरसेनान्कार्त्स्न्येन पूर्वमेवाऽजयत्प्रभुः ।
मत्स्यराजं च कौरव्यो वशे चक्रे बलाद्बली ॥ २ ॥

इस शक्तिशाली कुरुवंशी महाबली सहदेव ने प्रथम सारे शूरसेनों तथा मत्स्यों को जीता ॥ २ ॥

अधिराजाधिपं चैव दन्तवक्त्रं महाबलम् ।
जिगाय करदं चैव कृत्वा राज्ये न्यवेशयत् ॥ ३ ॥

अधिराजाधिप पदवी धारी, महाबली, दन्तवक्र को सहदेव ने जीत लिया और कर देने वाला बनाकर फिर उसके राज्य पर उसको बैठा दिया ॥ ३ ॥

सुकुमारं वशे चक्रे सुमित्रं च नराधिपम् ।
तथैवाऽपरमत्स्यांश्च व्यजयत्स पटच्चरान् ॥ ४ ॥

इसने भी सुकुमार और राजा सुमित्र को जीता और अपर मत्स्यों तथा लुटेरों को मार भगाया ॥ ४ ॥

निषादभूमिं गोशृङ्गं पर्वतप्रवरं तथा ।
तरसैवाऽजयद्धीमाञ्छ्रेणिमन्तं च पार्थिवम् ॥ ५ ॥

निषादों की भूमि और गोशृङ्ग पर्वत तथा श्रेणिमान् राजा को सहदेव ने वेग के साथ जीतलिया ॥ ५ ॥

नरराष्ट्रं च निर्जित्य कुन्तीभोजमुपाद्रवत् ।
प्रीतिपूर्वं च तस्याऽसौ प्रतिजग्राह शासनम् ॥ ६ ॥

फिर यह नरराष्ट्र को जीतकर कुन्तीभोज पर चढ़ गया। इसने प्रसन्न होकर प्रीति के साथ उसका शासन स्वीकार कर लिया ॥६

ततश्चर्मण्वतीकूले जम्भकस्याऽऽत्मजं नृपम् ।
ददर्श वासुदेवेन शेषितं पूर्ववैरिणा ॥ ७ ॥

अब इसकी मुठभेड़ चर्मण्वती के किनारे पर जम्भक के पुत्र से हुई। पूर्वकाल के वैरी वासुदेव से अभी यह बचा हुआ था ॥७

चक्रे तेन स संग्रामं सहदेवेन भारत ।
स तमाजौ विनिर्जित्य दक्षिणाभिमुखो ययौ ॥ ८ ॥

हे भारत! इसने सहदेव के साथ युद्ध किया। सहदेव ने युद्ध में इसको जीतकर दक्षिण की ओर गमन किया॥ ८॥

सेकानपरसेकांश्च व्यजयत्सुमहाबलः।
करं तेभ्य उपादाय रत्नानि विविधानि च॥
ततस्तेनैव सहितो नर्मदामभितो ययौ॥ ९॥

वहां सेक अपर सेक देशों को परास्त करके महाबली सहदेव ने उनसे अनेक रत्नों की भेंट स्वीकार की। इसके अनन्तर यह उनको साथ लेकर नर्मदा की ओर चलदिया॥ ९॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्येन महता वृतौ।
जिगाय समरे वीरावाश्विनेयः प्रतापवान्॥ १०॥

तापी अश्विनी कुमार के पुत्र सहदेव ने बड़ी भारी सेना के अधिपति विन्द और अनुविन्द वीरों को अवन्ति नगरी में पराजित किया॥१०॥

ततो रत्नान्युपादय पुरं भोजकटं ययौ।
तत्र युद्धमभूद्रा जन्दिवसद्वयमच्युतम्॥ ११॥

हे राजन्! यहां से भेंट मे रत्न लेकर सहदेव भोजकट पुरको गये। यहां पर लगातार दो दिन तक घमसान युद्ध होता रहा॥११॥

स विजित्य दुराधर्षं भीष्मकं माद्रिनन्दनः।
कोसलाधिपतिं चैव तथा वेणातटाधिपम्॥ १२॥
कान्तारकांश्च समरे तथा प्राक्कोशल्लान्नृपान्॥
नाटकेयांश्च समरे तथा हेरम्बकान्युधि॥ १३॥

मारुधं च विनिर्जित्य रम्यग्राममथो बलात् ।
नाचीनानर्बुकांश्च व राज्ञश्च व महाबलः ॥ १४ ॥
तांस्तानाटविकान्सर्वानजयत्पाण्डुनन्दनः ।
वाताधिपं च नृपतिं वशे चक्रे महाबलः ॥ १५ ॥

माद्रीनन्दन महाबली सहदेव ने दुराधर्ष भीष्मक को जीतकर कोसल देश के अधिपति वेणा नदी के तट के स्वामी कान्तारक तथा प्राक्कोशल के राजा नाटकेय हेरम्बक मारुध, रम्यग्राम नाचीन अनर्बुकों को तथा अन्य २ वनवासियों को युद्ध में जीतकर वाताधिप राजा को वश में किया ॥ १२-१५ ॥

पुलिन्दांश्च रणे जित्वा ययौ दक्षिणतः पुनः ।
युयुधे पाण्ड्यराजेन दिवसं नकुलानुजः ॥ १६ ॥

नकुल के लघु सहोदर, सहदेव ने पुलिन्दों को रण में जीतकर पाण्ड्य राज के साथ एक दिन युद्ध किया ॥ १६ ॥

तं जित्वा स महाबाहुः प्रययौ दक्षिणापथम् ।
गुहामासादयामास किष्किन्धा लोकविश्रुताम् ॥ १७ ॥

उसको जीतकर महाबाहु सहदेव ने दक्षिण दिशा की यात्रा की और वह लोक प्रसिद्ध किष्किंधा नाम की गुफा पर पहुंचा १७

तत्र वानरराजाभ्यां मैन्देन द्विविदेन च ।
युयुधे दिवसान्सप्त न च तौ विकृतिं गतौ ॥ १८ ॥

वहां वानरराज मैन्द और द्विविद के साथ सात दिन तक युद्ध हुआ, परन्तु उनकी कुछ भी पराजय नहीं हुई ॥ १८ ॥

ततस्तुष्टौ महात्मानौ सहदेवाय वानरौ ।
ऊचतुश्चैव संहृष्टौ प्रीतिपूर्वमिदं वचः ॥ १६ ॥

सहदेव की वीरता से वे दोनों वानरराज प्रसन्न होगये और प्रसन्न होकर उन महात्माओं ने प्रीति के साथ उससे कहा ॥ १६ ॥

गच्छ पाण्डवशार्दूल रत्नान्यादाय सर्वशः ।
अविघ्नमस्तु कार्याय धर्मराजाय धीमते ॥ २० ॥

हे पाण्डुवंश के सिंह ! तुम अनेक प्रकार के रत्नों की भेंट लेकर जाओ इस प्रकार बुद्धिमान् धर्मराज के काय में विघ्नों का विनाश होवे ॥ २० ॥

ततो रत्नान्युपादाय पुरीं माहिष्मतीं ययौ ।
तत्र नीलेन राज्ञा स चक्रे युद्धं नरर्षभः ॥ २१ ॥

यहां से रत्नों की भेंट लेकर सहदेव माहिष्मती पुरी को चल दिया। वहां पर नील नामक राजा से इसने युद्ध किया ॥२१॥

पाण्डवः परवीरघ्नः सहदेवः प्रतापवान् ।
ततोऽस्य सुमहद्युद्धमासीद्भीरुभयंकरम् ॥ २२ ॥

ग्ह पाण्डुपुत्र, प्रतापी सहदेव, शत्रुओं का नाश करने वाला है इसका भयानक युद्ध कायरों को भय उत्पन्न करने वाला है ॥२३॥

सैन्यक्षयकरं चैव प्राणानां संशयावहम् ।
चक्रे तस्य हि साहाय्यं भगवान्हव्यवाहनः ॥२३॥

इस युद्ध में सेना का क्षय होगया और सहदेव के प्राण संशय में पड़गए। भगवान् हव्यवाहन अग्निने इस समय राजा नील की सहायता की ॥ २३ ॥

ततो रथा हया नागाः पुरुषाः कवचानि च ।
प्रदीप्तानि व्यदृश्यन्त सहदेवबले तदा ॥ २४ ॥

इस समय सहदेव की सेना के रथ हाथी, घोड़े, पुरुष और कवच सारे अग्नि के तुल्य जलते दिखाई पड़े ॥ २४ ॥

ततः सुसंभ्रान्तमना बभूव कुरुनन्दनः ।
नोत्तरं प्रतिवक्तुं च शक्तोऽभूज्जनमेजय ॥ २५ ॥

हे जनमेजय ! इससे कुरुनन्दन सहदेव घबड़ा गया और इस का कुछ भी उत्तर नहीं दे सका ॥ २५ ॥

जनमेजय उवाच—

किमर्थं भगवानग्निः प्रत्यमित्रोऽभवद्युधि ।
सहदेवस्य यज्ञार्थं घटमानस्य वै द्विज ॥ २६ ॥

जनमेजय पूछने लगे - हे ब्रह्मन् ! यज्ञ करने के लिये प्रयत्न करने वाले सहदेव के शत्रु, भगवान् अग्नि क्यों होगये ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तत्र माहिष्मतीवासी भगवान्हव्यवाहनः ।
श्रूयते हि गृहीतो वै पुरस्तात्पारदारिकः ॥ २७ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! माहिष्मती नगरी का निवासी भगवान् अग्नि, पूर्व काल में परस्त्री के चक्कर में पड़गया, ऐसा सुना जाता है ॥२७॥

नीलस्य राज्ञो दुहिता बभूवाऽतीवशोभना ।
सार्ऽग्निहोत्रमुपातिष्ठद्बोधनाय पितुः सदा ॥२८॥

राजा नील की पुत्री बड़ी सुन्दर थी, वह अपने पिता को सामग्री आदि की याद दिलाने के लिए अग्नि-होत्र के समय समीप में बैठ जाती थी ॥ २८ ॥

व्यजनैर्धूयमानोऽपि तावत्प्रज्वलते न सः ।
यावच्चारुपुटोष्ठेन वायुना न विधूयते ॥ २९ ॥

पंखों से जलाने पर भी यह अग्नि उस समय तक प्रज्वलित नहीं होता था, जब तक इसके सुन्दर ओंठों के वायु से न जलाया जाता था ॥ २९ ॥

ततः स भगवानग्निश्चकमे तां सुदर्शनाम् ।
नीलस्य राज्ञः सर्वेषामुपनीतश्च सोऽभवत् ॥३०॥

भगवान् अग्नि, उस सुन्दरी कन्या को चाहने लगे। राजा नील और समस्त लोगों को इस बात का ज्ञान हो गया ॥ ३० ॥

ततो ब्राह्मणरूपेण रममाणो यदृच्छया ।
चकमे तां वरारोहां कन्यामुत्पललोचनाम् ॥ ३१ ॥

अपनी इच्छा के अनुसार रमण करने की आकांक्षा से अग्नि ने ब्राह्मण का रूप धारण करके कमल के तुल्य नेत्रों वाली उस सुन्दरी कन्या के ग्रहण करने की अभिलाषा प्रकट की ॥ ३१ ॥

तं तु राजा यथाशास्त्रमशासद्धार्मिकस्तदा ।
प्रजज्वाल ततः कोपाद्भगवान्हव्यवाहनः ॥ ३२ ॥
तं दृष्ट्वा विस्मितो राजा जगाम शिरसाऽवनिम् ॥३३॥

धार्मिक राजा ने शास्त्रानुसार इस ब्राह्मण का शासन किया, तब कुपित होकर भगवान् अग्नि जल उठा, इसको देख कर राजा अचम्भित हुआ और भूमि में शिर लगा कर प्रणाम करने लगा ॥ ३२-३३ ॥

ततः कालेन तां कन्यां तथैव हि तदा नृपः ।
प्रददौ विप्ररूपाय वह्नये शिरसा नतः ॥ ३४ ॥

अब उस राजानील ने शिर झुका कर उस कन्या को ब्राह्मण रूप अग्नि के लिए प्रदान कर दिया ॥ ३४ ॥

प्रतिगृह्य च तां सुभ्रूं नीलराज्ञः सुतां तदा ।
चक्रे प्रसादं भगवांस्तस्य राज्ञो विभावसुः ॥३५॥

उस राजा नील की सुन्दरी कन्या को ग्रहण करके भगवान् अग्नि ने राजा पर कृपा प्रकट की ॥ ३५ ॥

वरेणच्छन्दयामास तं नृपं स्विष्टकृत्तमः।
अभयं च स जग्राह स्वसैन्ये वै महीपतिः ॥३६॥

अग्नि ने राजा से कहा, कि वर मांगो, इस राजा ने अपनी सेना का अभय रहना मांगा ॥ ३६ ॥

ततः प्रभृति ये केचिदज्ञानात्तां पुरीं नृपाः ।
जिगीषन्ति बलाद्राजंस्ते दह्यन्ते स्म वह्निना ॥ ३७ ॥

हे राजन् ! तब से ही जो कोई भूल से बलपूर्वक इस पुरी को जीतना चाहता है, वह अग्नि से जल जाता है ॥ ३७ ॥

तस्यां पुर्यां तदा चैव माहिष्मत्यां कुरूद्वह ।
बभूवुरनतिग्राह्या योषितश्छन्दतः किल ॥ ३८ ॥

हे कुरुवंश श्रेष्ठ ! तब से ही इस माहिष्मती नगरी में स्त्रियां वे रोक टोक अपनी २ इच्छा के अनुसार स्वच्छन्द घूमती हैं ॥३८

एवमग्निर्वरं प्रादात्स्त्रीणामप्रतिवारणे ।
स्वैरिण्यस्तत्र नार्यो हि यथेष्टं विचरन्त्युत ॥ ३९ ॥

इस प्रकार स्त्रियों के लिए पूर्वकाल में अग्नि ने वरदान दे रखा है, इसीलिये स्वतन्त्रता से स्त्रियां वहां अपनी इच्छा के अनुसार घूमती हैं ॥ ३९ ॥

वर्जयन्ति च राजानस्तत्पुरं भरतर्षभ ।
भयादग्नेर्महाराज तदा प्रभृति सर्वदा ॥ ४० ॥

हे भरतर्षभ ! महाराज ! तभी से सदा अग्नि से भयभीत होकर राजा लोग उस पुर पर चढ़ाइ नहीं करते हैं ॥ ४० ॥

सहदेवस्तु धर्मात्मा सैन्यं दृष्ट्वा भयार्दितम् ।
परीतमग्निना राजन्नाऽकम्पत यथाऽचलः ।
उपस्पृश्य शुचिर्भूत्वा सोऽब्रवीत्पावकं ततः ॥ ४१ ॥

हे राजन् ! धर्मात्मा सहदेव भय से व्याकुल और आग से घिरी हुई सेना को देख कर भी नहीं घबराया और पर्वत के तुल्य अचल ही बना रहा ॥ ४१ ॥

सहदेव उवाच—

त्वदर्थोऽयं समारम्भः कृष्णवर्त्मन्नमोऽस्तुते ।
मुखं त्वमसि देवानां यज्ञस्त्वमसि पावक ॥ ४२

सहदेव बोले—हे अग्ने ! यह सारा उद्योग तो तेरे ही लिए है, तुम्हारे लिए नमस्कार है, हे अग्ने ! तुम ही देवों के मुख हो और तुमही यज्ञ हो ॥ ४२ ॥

पावनात्पावकश्चाऽसि वहनाद्धव्यवाहनः ।
वेदास्त्वदर्थं जाता वै जातवेदास्ततो ह्यसि ॥ ४३ ॥

सबको पवित्र करने से पावक, हव्य के ले जाने से हव्यवाहन हो । तुम्हारे लिए ही सारे वेदों की रचना हुई है, इसी से तुम्हें जातवेद कहते हैं ॥ ४३ ॥

चित्रभानुः सुरेशश्च अनलस्त्वं विभावसो ।
स्वर्गद्वारस्पृशश्चाऽसि हुताशो ज्वलनः शिखी ॥ ४४ ॥
वैश्वानरस्त्वं पिङ्गेशः सवङ्गो भूरितेजसः ।
कुमारसूस्त्वं भगवान्रुद्रगर्भो हिरण्यकृत् ॥ ४५ ॥

हे अग्ने ! तुम ही चित्रभानु, सुरेश, अनल, विभावसु, स्वर्ग द्वार के छूने वाले, हुताशन, ज्वलन, शिखी, वैश्वानर, पिंगेश, सवङ्ग, भूरि तेजस, कुमारसू, भगवान्, रुद्रगर्भ, हिरण्यकृत् हो ।

अग्निर्ददातु मे तेजो वायुः प्राणं ददातु मे ।
पृथिवी बलमादध्याच्छिवं चाऽऽपो दिशन्तु मे ॥४६॥

अग्नि मेरे लिए तेज, वायु प्राण, देवे । पृथिवी बल और जल प्रदान करें ॥ ४६ ॥

अपांगर्भ महासत्त्व जातवेदः सुरेश्वर ।
देवानां मुखमग्ने त्वं सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४७ ॥

हे अग्ने ! तुमही अपांगर्भ महासत्त्व जातवेद और सुरेश्वर और देवों के मुख हो, मुझे सत्य से पवित्र करो ॥ ४७ ॥

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव दैवतैरसुरैरपि ।
नित्यं सुहुतयज्ञेषु सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४८ ॥

हे अग्ने! ऋषि देवता, ब्राह्मण और असुरों द्वारा यज्ञ में नित्य तृप्त किए जाते हो, तुम मुझे सत्य से पवित्र करो ॥ ४८ ॥

धूमकेतुः शिखी च त्वं पापहाऽनिलसम्भवः ।
सर्वप्राणिषु नित्यस्थः सत्येन विपुनीहि माम् ॥४६॥

तुम ही धूमकेतु, पाप-नाशक, वायु से उत्पन्न होने वाले हो, एवं सब प्राणियों में नित्य स्थित रहते हो, मुझे सत्य से पवित्र करो ॥ ४६ ॥

एवं स्तुतोऽसि भगवन्प्रीतेन शुचिना मया ।
तुष्टिं पुष्टिं श्रुतं चैव प्रीतिं चाऽग्ने प्रयच्छ मे ॥५०॥

हे भगवन्! अग्ने! मैंने पवित्र मन से आपकी स्तुति की है, अब आप तुष्टि, पुष्टि, श्रुत और प्रीति प्रदान करो ॥ ४६॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्येवं मन्त्रमाग्नेयं पठन्यो जुहुयाद्विभुम् ।
ऋद्धिमान्सततं दान्तः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५१ ॥

वैशम्पायन बोले—इन मन्त्रों को बोल कर जो अग्नि में हवन करता है, वह सदा ऐश्वर्यशाली, जितेन्द्रिय हो जाता है और सब पापों से छुटकारा पा जाता है ॥ ५१ ॥

सहदेव उवाच—

यज्ञविघ्नमिमं कर्तुं नाऽर्हस्त्वं हव्यवाहन ॥ ५२ ॥
एवमुक्त्वा तु माद्रेयः कुशैरास्तीर्य मेदिनीम् ।
विधिवत्पुरुषव्याघ्रः पावकं प्रत्युपाविशत् ॥ ५३ ॥

सहदेव बोले—हे हव्यवाहन! अग्ने! तुमको इस यज्ञ में विघ्न नहीं करना चाहिए। हे राजन्! इस प्रकार स्तुति करके माद्री-पुत्र नर रत्न सहदेव, पृथिवी पर कुशा बिछा कर विधि-पूर्वक अग्नि की ओर मुख करके बैठ गया॥ ५२-५३॥

प्रमुखे तस्य सैन्यस्य भीतोद्विग्नस्य भारत।
न चैनमत्यगाद्वह्निर्वेलामिव महोदधिः॥ ५४॥

हे भारत! डरी और व्याकुल हुई सेना की मर्यादा को समुद्र के समान अग्नि ने उल्लंघन नहीं किया॥५४॥

तमुपेत्य शनैर्वह्निरुवाच कुरुनन्दनम्।
सहदेवं नृणां देवं सान्त्वपूर्वमिदं वचः॥ ५५॥

कुरु नन्दन सहदेव के समीप आकर अग्नि ने मनुष्यों में पूज्य सहदेव से शान्ति के साथ धीरज से यह वचन कहा॥५५॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ कौरव्य जिज्ञासेयं कृता मया।
वेद्मि सर्वमभिप्रायं तव धर्मसुतस्य च॥ ५६॥

हे कुरुवंश श्रेष्ठ! खड़ा हो, मैं ने तो यह तेरी परीक्षा ली है, मैं तेरा और धर्मराज युधिष्ठिर का सब अभिप्राय समझता हूं॥ ५६॥

मया तु रक्षितव्येयं पुरी भरतसत्तम।
यावद्राज्ञो हि नीलस्य कुले वंशधरा इति॥ ५७॥
ईप्सितं तु करिष्यामि मनसस्तव पाण्डव।

हे भरत सत्तम ! मुझे तो इस पुरी की रक्षा तब तक करनी है, जब तक राजा नील की वंश परम्परा इस पर शासन करती रहेगी। परन्तु हे पाण्डव ! मैं तेरे मन की अभिलाषा को भी पूर्ण करूंगा ॥ ४७ ॥

तत उत्थाय हृष्टात्मा प्राञ्जलिः शिरसा नतः ॥ ५८ ॥
पूजयामास माद्रेयः पावकं भरतर्षभ ।

हे भरतर्षभ ! इस के अनन्तर माद्री पुत्र सहदेव ने प्रसन्न होकर और हाथ जोड़ कर शिर झुका लिया और अग्नि की पूजा करने लगा ॥ ५८ ॥

पावके विनिवृत्ते तु नीलो राजाऽभ्यगात्तदा ॥ ५९ ॥
पावकस्याऽऽज्ञया चैनमर्चयामास पार्थिवः ।
सत्कारेण नरव्याघ्रं सहदेवं युधां पतिम् ॥ ६० ॥

जब अग्नि शान्त हो गया, तब राजा नील आया। इस राजा ने अग्नि की आज्ञा से सत्कार के साथ, योद्धाओं में श्रेष्ठ नरव्याघ्र सहदेव की पूजा की ॥ ५९-६० ॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां करे च विनिवेश्य च ।
माद्रीसुतस्ततः प्रायाद्विजयी दक्षिणां दिशम् ॥ ६१ ॥

इसकी पूजा स्वीकार करके और उसको भी इस प्रकार कर-दायी बना कर विजयी सहदेव, दक्षिण दिशा को चल दिया ॥ ६१ ॥

त्रैपुरं स्ववशे कृत्वा राजानममितौजसम् ।
निजग्राह महाबाहुस्तरसा पौरवेश्वरम् ॥ ६२ ॥

अमित-ओजस्वी त्रैपुर राजा को वश में करके महाबाहु सहदेव ने वेग से पौरवेश्वर को भी पकड़ लिया ॥ ६२॥

आकृतिं कौशिकाचार्यं यत्नेन महता ततः ।
वशे चक्रे महाबाहुः सुराष्ट्राधिपतिं तदा ॥ ६३ ॥

कौशिकों के आचार्य, सुराष्ट्र के अधिपति, आकृति को बड़े प्रयत्न से महाबाहु सहदेव ने वश में कर लिया ॥ ६३॥

सुराष्ट्रविषयस्थश्च प्रेषयामास रुक्मिणे ।
राज्ञे भोजकटस्थाय महामात्राय धीमते ॥ ६४ ॥
भीष्मकाय स धर्मात्मा साक्षादिन्द्रसखाय वै ।
स चाऽस्य प्रतिजग्राह ससुतः शासनं तदा ॥ ६५ ॥
प्रीतिपूर्वं महाराज वासुदेवमवेक्ष्य च ।
ततः स रत्नान्यादाय पुनः प्रायाद्युधांपतिः ॥ ६६ ॥

सुराष्ट्र में ही स्थित हुए सहदेव ने रुक्मणी, महाबली बुद्धिमान् भोजकट में रहने वाले इन्द्र के सखा, राजा भीष्मक के पास में दूत भेजा। हे महाराज! इन पिता और पुत्रों ने श्रीकृष्ण का विचार करके इनके शासन को प्रेम से स्वीकार किया। फिर यह योद्धाओं में श्रेष्ठ सहदेव, रत्नों की भेंट लेकर आगे बढ़ा ॥ ६४-६६ ॥

ततः शूर्पारकं चैव तालाकटमथापि च ।
वशे चक्रे महातेजा दण्डकांश्च महाबलः ॥ ६७ ॥

इसके अनन्तर इस महातेजस्वी और महाबली सहदेव ने शूर्पारक, तालाकट और दण्डकों को वश में किया ॥ ६७ ॥

सागरद्वीपवासांश्च नृपतीन्म्लेच्छयोनिजान्।
निषादान्पुरुषादांश्च कर्णप्रावरणानपि ॥ ६८ ॥
ये च कालमुखा नाम नरराक्षसयोनयः।
कृत्स्नं कोल्लगिरिं चैव सुरभीपट्टनं तथा ॥ ६९ ॥
द्वीपं ताम्राह्वयं चैव पर्वतं रामकं तथा।
तिमिङ्गिलं च स नृपं वशे कृत्वा महामतिः ॥ ७० ॥

समुद्र के द्वीपों के निवासी म्लेच्छ योनि में उत्पन्न राजा निषाद, पुरुषाद, कर्णप्रावरण, नर और राक्षस योनि के कालमुख, सारा कोल्लगिरि, सुरभीपट्टन, ताम्रद्वीप, रामक पर्वत, तिमिङ्गिल राजा को, महाबुद्धिमान सहदेव ने वश में कर लिया ॥ ६८-७० ॥

एकपादांश्च पुरुषान्केरलान्वनवासिनः।
नगरीं संजयन्तीं च पाषण्डं करहाटकम् ॥ ७१ ॥
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत्।

एक पाद के पुरुष, केरल वनवासी, संजयन्ती नगरी, पाषण्ड, करहाटक आदि देशों को दूतों के द्वारा ही वश मे कर लिया और कर दाता बना लिया। ॥ ७१ ॥

पाण्ड्यांश्च द्रविडांश्चैव सहितांश्चोड्रकेरलैः ॥ ७२ ॥
अन्ध्रांस्तालवनांश्चैव कलिङ्गानुष्ट्रकर्णिकान्।

आटवीं च पुरीं रम्यां यवनानां पुरं तथा ॥ ७३ ॥
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ।

पुण्ड्र और केरल के साथ पाण्ड्य और द्रविड़, अन्ध्र तालवन, कालिङ्ग, उष्ट्र कर्णिक, सुन्दर आटवी पुरी और यवनों के पुर को सहदेव ने दूतों से ही वश में करलिया और करदेने वाला बना लिया ॥७२-७३ ॥

ततः कच्छगतो धीमान्दूतान्माद्रवतीसुतः ॥ ७४ ॥
प्रेपयामास राजेन्द्र पौलस्त्याय महात्मने ।
विभीषणाय धर्मात्मा प्रीतिपूर्वमरिन्दमः ॥ ७५ ॥
स चास्य प्रतिजग्राह शासनं प्रीतिपूर्वकम् ।
तच्च कालकृतं धीमानभ्यमन्यत स प्रभुः ॥ ७६ ॥

हे राजेन्द्र ! अब माद्री-सुत, शत्रुविजयी, धर्मात्मा सहदेवने कच्छ में रहते हुए ही पुलस्त्य वंशी महात्मा विभीषण के पास दूत भेजे । इसने भी प्रीति पूर्वक इनके शासन को स्वीकार कर लिया । श्रीमान् शक्तिशाली विभीषण ने इसको काल के अनुसार उचित ही समझा ॥ ७४-७६ ॥

ततः संप्रेपयामास रत्नानि विविधानि च ।
चन्दनागुरुकाष्ठानि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ७७ ॥
वासांसि च महार्हाणि मणींश्चैव महाधनान् ।
न्यवर्तत ततो धीमान्सहदेवः प्रतापवान् ॥ ७८ ॥

इसके अनन्तर इसने नाना प्रकार के रत्न, चन्दन, अगर, दिव्य आभूषण, मूल्य वस्त्र, अत्यन्त मूल्य के मणि भेजे । फिर बुद्धिमान् प्रतापी सहदेव वहां से लौट पड़ा ॥ ७७-७८ ॥

एवं निर्जित्य तरसा सान्त्वेन विजयेन च ।
करदान्पार्थिवान्कृत्वा प्रत्यागच्छदरिंदमः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार वेग के साथ शान्ति और युद्ध के द्वारा सब को जीतकर और राजाओं को कर दायी बनाकर विजयी सहदेव लौट आया ॥ ७६ ॥

धर्मराजाय तत्सर्वं निवेद्य भरतर्षभः ।
कृतकर्मा सुखं राजन्नुवास जनमेजय ॥ ८० ॥ [१२१४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि सहदेवदक्षिणदिग्विजय एकत्रिंशोऽध्याय ॥ ३१ ॥

हे जनमेजय ! यह सब धन धर्मराज के लिए भेंट कर दिया । यह अब कृतकृत्य होकर अपने महल में सुख से निवास करने लगा ॥ ८० ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत दिग्विजय पर्व में सहदेव के दक्षिण विजय का इकतीसवां अध्याय पूरा हुआ ॥



बत्तीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

नकुलस्य तु वक्ष्यामि कर्माणि विजयं तथा ।
वासुदेवजितामाशां यथाऽसावजयत्प्रभुः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! अब नकुल के काम और विजयों को सुनाता हूं, जिस प्रकार इस बलीने श्रीकृष्ण से जीती हुई पश्चिम दिशा को जीता ॥ १ ॥

निर्याय खाण्डवप्रस्थात्प्रतीचीमभितो दिशम् ।
उद्दिश्य मतिमान्प्रायान्महत्या सेनया सह ॥ २ ॥

यह बुद्धिमान् नकुल बड़ी भारी सेना के साथ, इन्द्रप्रस्थ से निकलकर पश्चिम दिशा को लक्ष्य करके चल दिया ॥ २ ॥

सिंहनादेन महता योधानां गर्जितेन च ।
रथनेमिनिनादैश्च कम्पयन्वसुधामिमाम् ॥ ३ ॥

बड़ेभारी सिंहनाद और योद्धाओं की गर्जना तथा रथ की नेमि के शब्द से इसने भूमि को कम्पायमान कर दिया ॥ ३ ॥

ततो बहुधनं रम्यं गवाढ्यं धनधान्यवत् ।
कार्तिकेयस्य दयितं रोहीतकमुपाद्रवत् ॥ ४ ॥
तत्र युद्धं महच्चासीच्छूरैर्मत्तमयूरकैः ।

इसके अनन्तर कार्तिकेय के प्रिय, धन धान्य से परिपूर्ण, गौओं से भरे हुए, बहुत ऐश्वर्य से युक्त, सुन्दर रोहीतक पर नकुल ने चढ़ाई। की वहां उसका मदोन्मत्त मयूर जाति के योद्धाओं के साथ महा युद्ध हुआ ॥ ४ ॥

मरुभूमिं च कार्त्स्न्येन तथैव बहुधान्यकम् ॥ ५ ॥
शैरीषकं महेत्थं च वशे चक्रे महाद्युतिः ।
आक्रोशं चैव राजर्षिं तेन युद्धमभून्महत् ॥ ६ ॥

इस महा कान्तिधारी नकुल ने सारी मरु भूमि और धन धान्य से भरे हुए, शैरीषक तथा महेत्थ प्रदेश तथा आक्रोश नामक राजर्षिंश विजय किया। इस राजा के साथ, नकुल का महा संग्राम हुआ ॥ ५-६ ॥

तान्दशार्णान्स जित्वा च प्रतस्थे पाण्डुनन्दनः ।
शिबींस्त्रिगर्तानम्बष्ठान्मालवान्पञ्च कर्पटान् ॥ ७ ॥
तथा मध्यमकेयांश्च वाटधानान्द्विजानथ ।

वह पाण्डु-नन्दन नकुल, दशार्ण, शिबी; त्रिगर्त अम्बष्ठ मालव और पाञ्च कर्पट क्षत्रियों को जीतकर तथा मध्यमकेय, और वाटधान द्विजों को पराजित करके आगे चल दिया। ॥ ७ ॥

पुनश्च परिवृत्याऽथ पुष्करारण्यवासिनः ॥ ८ ॥
गणानुत्सवसङ्केतान्व्यजयत्पुरुषर्षभः ।

इस नर रत्न ने फिर लौटकर पुष्करारण्य के रहने वाले, तथा उत्सव पर आनन्द मनाने वाले क्षत्रियों के गणों को जीता ॥८॥

सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबलाः ॥६॥
शूद्राभीरगणाश्चैव ये चाऽऽश्रित्य सरस्वतीम् ।
वर्तयन्ति च ये मत्स्यैर्ये च पर्वतवासिनः ॥ १० ॥
कृत्स्नं पञ्चनदं चैव तथैवाऽमरपर्वतम् ।

जो समुद्र के किनारे रहने वाले तथा महाबली ग्रामणीय क्षत्रिय हैं एवं शूद्र और आभीरों के समूह, जो सरस्वती के तट पर मछलियों से वृत्ति करने वाले मछुऐं हैं। जो पर्वत वासी हैं इन सबको इस महावीर नकुल ने जीत लिया ॥ ६-१० ॥

उत्तरज्योतिषं चैव तथा दिव्यकटं पुरम् ॥ ११ ॥
द्वारपालं च तरसा वशे चक्रे महाद्युतिः ।

सारे पञ्चनद, अमर पर्वत उत्तर ज्योतिष, दिव्यकट पुर और द्वारपाल नगर को इस महा-शक्ति-शाली नकुल ने वश में कर लिया ॥ ११ ॥

रामठान्हारहूणांश्च प्रतीच्याश्चैव ये नृपाः ॥ १२ ॥
तान्सर्वान्स वशे चक्रे शासनादेव पाण्डवः ।

इस पाण्डुपुत्र नकुल ने रामठ, हारहूण तथा अन्य पश्चिम दिशा के राजाओं को धर्मराज की आज्ञा के अनुसार अपने वश में कर लिया ॥ १२ ॥

तत्रस्थः प्रेषयामास वासुदेवाय भारत ॥ १३ ॥
स चाऽस्य यादवैः सार्धं प्रतिजग्राह शासनम् ।

हे भारत ! यहीं पर पड़ाव डाले हुए नकुल ने श्रीकृष्ण के पास दूत भेजा। इन्होंने सारे यादवों के साथ इनकी आज्ञा का पालन किया ॥ १३ ॥

ततः शाकलमभ्येत्य मद्राणां पुटभेदनम् ॥ १४ ॥
मातुलं प्रीतिपूर्वेण शल्यं चक्रे वशे बली ।

इसके अनन्तर मद्र क्षत्रियों के नगर शाकल में पहुंच कर इस महाबली नकुल ने प्रेमपूर्वक अपने मामा शल्य को भी अपने वश में कर लिया ॥ १४ ॥

स तेन सत्कृतो राज्ञा सत्कारार्हो विशांपते ॥ १५ ॥
रत्नानि भूरीण्यादाय संप्रतस्थे युधां पतिः ।

हे विशांपते ! मद्रराज शल्य ने सत्कार के योग्य नकुल का बड़ा सत्कार किया, यह वीर यहां से भी अनेक रत्नों की भेंट लेकर आगे चल दिया ॥ १५ ॥

ततः सागरकुक्षिस्थान्म्लेच्छान्परमदारुणान् ॥ १६ ॥
पह्लवान्बर्बरांश्चैव किरातान्यवनाञ्छकान् ।
ततो रत्नान्युपादाय वशे कृत्वा च पार्थिवान्
न्यवर्तत कुरुश्रेष्ठो नकुलश्चित्रमार्गवित् ॥ १७ ॥

समुद्र के समीप रहने वाले अत्यन्त कठोर म्लेच्छों, पह्लव, बर्बर, किरात, यवन, शक तथा अन्य राजाओं को जीत कर और उनसे भेंट में बहुत से रत्न लेकर, अद्भुत उपायों का जानने वाला कुरुवंश श्रेष्ठ नकुल, वापिस लौट आया ॥ १६-॥१७

करभाणां सहस्राणि कोशं तस्य महात्मनः ।
ऊहुर्दश महाराज कृच्छ्रादिव महाधनम् ॥ १८ ॥

हे महाराज ! इस महात्मा नकुल के इकट्ठे किए हुए खजाने को दश हजार ऊंट लद कर कठिनता से ला सके ॥ १८ ॥

इन्द्रप्रस्थगतं वीरमभ्येत्य स युधिष्ठिरम् ।
ततो माद्रीसुतः श्रीमान्धनं तस्मै न्यवेदयत् ॥ १९ ॥

श्रीमान् माद्रीसुत नकुल ने इन्द्रप्रस्थ में विराजते हुए, वीर श्रेष्ठ, राजा युधिष्ठिर से मिल कर सारा धन उनके समर्पण कर दिया ॥ १९ ॥

एवं विजित्य नकुलो दिशं वरुणपालिताम् ।
प्रतीचीं वासुदेवेन निर्जिता भरतर्षभः ॥ २० ॥ [१२३४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि नकुलप्रतीचीजये द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥ समाप्तं च दिग्विजय पर्व ।

हे राजन् ! इस प्रकार वरुणदेव से सुरक्षित श्रीकृष्ण द्वारा जीती हुई पश्चिम दिशा को इस महाबाहु नकुल ने इस प्रकार जीत लिया ॥ २० ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत दिग्विजय पर्व में नकुल के पश्चिम दिशा के विजय का बत्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ और यहीं पर दिग्विजय पर्व भी पूरा हुआ ।



अथ राजसूयपर्व

तेतीसवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच —

रक्षणाद्धर्मराजस्य सत्यस्य परिपालनात् ।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव स्वकर्मनिरता प्रजाः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! धर्मराज के रक्षा करने, सत्य के परिपालन तथा दस्युओं के नाश हो जाने के कारण से प्रजा अपने २ काम में संलग्न रहती थी ॥ १ ॥

बलीनां सम्यगादानाद्धर्मतश्चाऽनुशासनात् ।
निकामवर्षी पर्जन्यः स्फीतो जनपदोऽभवत् ॥२॥

धर्मानुसार कर ग्रहण तथा प्रजापालन करके से मेघ, समय २ पर बरसता था, जिससे राष्ट्र बड़ा सुखी था ॥ २ ॥

सर्वारम्भाः सुप्रवृत्ता गोरक्षा कर्षणं वणिक् ।
विशेषात्सर्वमेवैतत्संजज्ञे राजकर्मणः ॥ ३ ॥

राजा के उत्तम २ कर्मों के प्रभाव से सारे उद्योग सफल होते थे और विशेष कर गोरक्षा, कृषि और व्यापार की बड़ी उन्नति थी ॥ ३ ॥

दस्युभ्यो वञ्चकेभ्यो वा राजन्प्रति परस्परम् ।
राजवल्लभतश्चैव नाऽश्रूयन्त मृषा गिरः ॥ ४ ॥

हे राजन् ! चोर और ठग भी आपस में मिथ्या व्यवहार नहीं करते थे और न राज्य के कर्मचारियों का प्रजा के साथ झूंठा व्यवहार था॥ ४ ॥

अवर्षं चाऽतिवर्षं च व्याधिपावकमूर्च्छनम् ।
सर्वमेतत्तदा नासीद्धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ॥ ५ ॥

धर्मात्मा युधिष्ठिर के शासन काल में वर्षा का अभाव या अति वर्षा, रोग, अग्नि का भय आदि कुछ भी नहीं थे॥ ५ ॥

प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वभावजम् ।
अभिहर्तुं नृपा जग्मुर्नाऽन्यैः कार्यैः कथंचन ॥ ६ ॥

राजा युधिष्ठिर के हित साधन तथा नियत किये हुए कर प्रदान करने के लिए राजा लोग आते थे, अन्य किसी सन्धि विग्रह आदि कार्य के ध्यान से कोई राजा नहीं आता था॥ ६॥

धर्म्यैर्धनागमैस्तस्यत्र वृधे निचयो महान् ।
कर्तुं यस्य न शक्येत क्षयो वर्षशतैरपि ॥ ७ ॥

धर्मानुसार धन की वृद्धि से राजा के कोष की इतनी वृद्धि हुई, कि जिसका व्यय सैकड़ों वर्षों में भी नहीं हो सकता था।७।

स्वकोष्ठस्य परीमाणं कोशस्य च महीपतिः ।
विज्ञाय राजा कौन्तेयो यज्ञायैव मनो दधे ॥ ८ ॥

राजा युधिष्ठिर अपने धन-धान्य के भण्डार और कोष का परिमाण जान कर अब राजसूय यज्ञ की तय्यारी करने लगा॥८॥

सुहृदश्चैव ये सर्वे पृथक्च सह चाब्रुवन् ।
यज्ञकालस्तव विभो क्रियतामत्र सांप्रतम् ॥ ६ ॥

मारे मित्र एक साथ और पृथक् २ भी कहने लगे, कि हे प्रभो ! अब यज्ञ का समय आ गया है, आप यज्ञ करो ॥ ६ ॥

अथैवं ब्रुवतामेवं तेषामभ्याययौ हरिः ।
ऋषिः पुराणो वेदात्माऽदृश्यश्चैव विजानताम् ॥ १० ॥

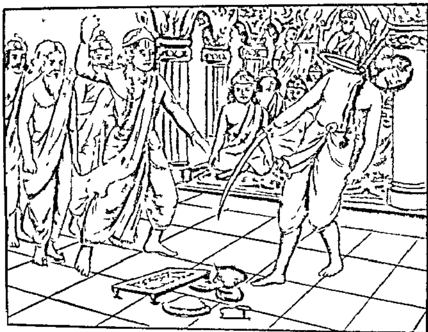
जब ये लोग इस प्रकार कहरहे थे, उसी समय पुरातन, ऋषि वेद के प्राण, ज्ञानियों को भी अदृश्य, भगवान् श्रीकृष्ण आ पहुंचे ॥ १० ॥

जगतस्तस्थुषां श्रेष्ठः प्रभवश्चाऽप्ययश्च ह ।
भूतभव्यभवन्नाथः केशवः केशिसूदनः ॥ ११ ॥
प्राकारः सर्ववृष्णीनामापत्स्वभयदोऽरिहा

ये भगवान् श्री कृष्ण ! जड़ और चेतन प्राणि समूह मे श्रेष्ठ और जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय के कारण है। भूत, भविष्य, और वर्तमान के स्वामी केशी के नाशक और सुन्दर केशों वाले हैं। ये सारे वृष्णियों के प्राकार (दीवार) के तुल्य रक्षक और आपत्तियों में अभय देने वाले तथा शत्रुके नाशक है ॥ ११ ॥

बलाधिकारे निक्षिप्य सम्यगानकदुन्दुभिम् ॥ १२ ॥
उच्चावचमुपादाय धर्मराजाय माधवः ।
धनौघं पुरुषव्याघ्रो बलेन महता वृतः ॥ १३ ॥

पुरुष व्याघ्र श्रीकृष्ण, सेनापति पद पर वसुदेव को बैठा क धर्मराज के लिए बड़े भारी धन की भेंट लेकर और बहुत सं सेना से युक्त होकर इन्द्रप्रस्थ मे आये ॥ १२-१३ ॥



शिशुपाल वध

पुरुष श्रेष्ठ, युधिष्ठिर, धौम्य और व्यासजी तथा भीम, अर्जुन और नकुल, सहदेव के सहित श्रीकृष्ण से कहने लगे ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

त्वत्कृते पृथिवी सर्वा मद्वशे कृष्ण वर्तते ।
धनं च बहु वार्ष्णेय त्वत्प्रसादादुपार्जितम् ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे कृष्ण ! यह जो सारी पृथिवी मेरे वश में है यह आप के ही लिये है और यह सारा धन भी आपके ही अनुग्रह से प्राप्त हुआ है ।१९

सोऽहमिच्छामि तत्सर्वं विधिवद्देवकीसुत ।
उपयोक्तुं द्विजाग्रेभ्यो हव्यवाहे च माधव ॥ २० ॥

हे माधव ! इस द्रव्य को मैं विधि पूर्वक ब्राह्मणों को दान और अग्नि में हवन करके सफल बनाना चाहता हूं ॥२० ॥

तदहं यष्टुमिच्छामि दाशार्ह सहितस्त्वया ।
अनुजैश्च महाबाहो तन्माऽऽज्ञातुमिहार्हसि ॥ २१ ॥

हे महाबाहो ! श्रीकृष्ण, मैं तुम्हारे और अपने भाइयों के साथ यज्ञ करना चाहता हूं । आप आज्ञा करें ॥ २१ ॥

तद्दीक्षापय गोविंद त्वमात्मानं महाभुज ।
त्वयीष्टवति दाशार्ह विपाप्मा भविता ह्यहम् ॥ २२ ॥

हे महाभुजाओं के धारी, गोविन्द ! अब आप अपने को यज्ञ दीक्षा से युक्त करो । आपके यज्ञकर्ता बनने पर भी मैं पाप रहित हो जाउंगा ॥ २२ ॥

मां वाऽप्यभ्यनुजानीहि सहैभिरनुजैर्विभो ।
अनुज्ञातस्त्वया कृष्ण प्राप्नुयां क्रतुमुत्तमम् ॥ २३ ॥

अथवा इन भाइयों के साथ यज्ञ करने की मुझे ही आज्ञा दो। हे कृष्ण ! यदि आपने आज्ञा दे दी, तो मैं इस उत्तम यज्ञ को पूरा कर लूंगा ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तं कृष्णः प्रत्युवाचेदं बहूक्त्वा गुणविस्तरम् ।
त्वमेव राजशार्दूल सम्राडर्हो महाक्रतुम् ॥
संप्राप्नुहि त्वया प्राप्ते कृतकृत्यस्ततो वयम् ॥ २४ ॥

वैशम्पायन बोले—अब श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर के गुणों का वर्णन करके कहा, हे राजशार्दूल ! तुम्हीं सम्राट् और राजसूय यज्ञ करने के योग्य हो, तुमही यज्ञ करो, हम तो इससे कृत्य-कृत्य हो जावेंगे ॥ २४ ॥

यजस्वाऽभीप्सितं यज्ञं मयिश्रेयस्यवस्थिते ।
नियुंक्ष्व त्वं च मां कृत्ये सर्वं कर्ताऽस्मि ते वचः २५॥

मैं आपके मङ्गल साधन के लिए तय्यार हूं, तू अपने अभिलषित यज्ञ का अनुष्ठान कर। मुझको आप किसी भी सेवा में लगा दीजिए, मैं आपकी सारी आज्ञाओं को पूरा करूंगा ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

सफलः कृष्ण संकल्पः सिद्धिश्च नियता मम ।
यस्य मे त्वं हृषीकेश यथेप्सितमुपस्थितः ॥ २६ ॥

त घनौघमपर्यन्तं रत्नसागरमक्षयम् ।
नादयन्रथघोषेण प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ १४ ॥
पूर्णमापूरयस्तेषां द्विषच्छोकावहोऽभवत् ॥ १५ ॥

बहुत अधिक रत्नों के समुद्र, क्षय नहीं होने वाले, पर्याप्त धन की राशि को लेकर भगवान् श्रीकृष्ण, रथ की ध्वनि से शब्दायमान करते हुए नगर में प्रविष्ट हुए । युधिष्ठिर के भरे हुए खजाने को अधिक भरने से जलने वालों के शोक के बढ़ाने वाले हुए ॥ १४-१५ ॥

असूर्यमिव सूर्येण निवातमिव वायुना ।
कृष्णेन समुपेतेन जहृषे भारतं पुरम् ॥ १६ ॥

सूर्य रहित स्थान के सूर्य से युक्त हो जाने पर और वायुरहित स्थानके वायुसहित हो जाने पर जैसे उस स्थान के मनुष्य प्रसन्न होते हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण के आने पर इन्द्र-प्रस्थ पुरी प्रसन्न हुई ॥ १६ ॥

तं मुदाऽभिसमागम्य सत्कृत्य च यथाविधि ।
स पृष्ट्वा कुशलं चैव सुखासीनं युधिष्ठिरः ॥ १७ ॥

श्रीकृष्ण के साथ बड़े आनन्द से मिल कर और विधिपूर्वक सत्कार करके राजा युधिष्ठिर ने सुख से बैठे हुए श्रीकृष्ण से कुशल पूछी ॥ १७ ॥

धौम्यद्वैपायनमुखैर्ऋत्विग्भिः पुरुषर्षभः ।
भीमार्जुनयमैश्चैव सहितः कृष्णमब्रवीत् ॥ १८ ॥

हे श्रीकृष्ण ! अब मेरा संकल्प सिद्ध हो जावेगा; मेरी सिद्धि अवश्य होगी। जो आप हृषीकेश मेरे यज्ञ के मनोरथ करते ही उपस्थित हो गये ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

अनुज्ञातस्तु कृष्णेन पाण्डवो भ्रातृभिः सह ।
ईजितुं राजसूयेन साधनान्युपचक्रमे ॥ २७ ॥

वैशम्पायन बोले—श्रीकृष्ण के आज्ञा दे देने पर अपने भाइयों के साथ राजसूय यज्ञ करने के लिए राजा युधिष्ठिर साधन इकट्ठे करने लगे ॥ २७ ॥

ततस्त्वाज्ञापयामास पाण्डवोऽरिनिवर्हणः ।
सहदेवं युधां श्रेष्ठं मन्त्रिणश्चैव सर्वशः ॥ २८ ॥

शत्रु विजयी युधिष्ठिर ने योद्धाओं में श्रेष्ठ, सहदेव तथा मन्त्रियों को आज्ञा दी ॥ २८ ॥

अस्मिन्क्रतौ यथोक्तानि यज्ञाङ्गानि द्विजातिभिः ।
तथोपकरणं सर्वं मङ्गलानि च सर्वशः ॥ २९ ॥
अधियज्ञांश्च सम्भारान्धौम्योक्तान्क्षिप्रमेव हि ।
समानयन्तु पुरुषा यथायोगं यथाक्रमम् ॥ ३० ॥

इस यज्ञ मे ऋषियों के कथनानुसार यज्ञों के अङ्ग तथा अन्य साधन सारी माङ्गलिक वस्तुऐं, धौम्य पुरोहित की बतायी हुई यज्ञ की सामग्री, सेवकगण, यथा क्रम से जितनी चाहिए, ले आवें ॥ २९-३० ॥

इन्द्रसेनो विशोकश्च पूरुश्चार्जुनसारथिः ।
अन्नाद्याहरणे युक्ताः सन्तु मत्प्रियकाम्यया ॥ ३१ ॥

इन्द्रसेन, विशोक और अर्जुन का सारथि पुरु, मेरे मनोरथ की सिद्धि करने के लिए, अन्न आदि भोजन की सामग्री इकट्ठी करें ॥ ३१ ॥

सर्वकामाश्च कार्यन्तां रसगन्धसमन्विताः ।
मनोरथप्रीतिकरा द्विजानां कुरुसत्तम ॥ ३२ ॥

हे कुरुसत्तम ! रस और गन्ध से समन्वित, ब्राह्मणों के मनोरथ और प्रीति के करने वाली तथा सारी कामनाओं की पूरक, भोजन सामग्री बनाओ ॥ ३२ ॥

तद्वाक्यसमकालं च कृतं सर्वं न्यवेदयत् ।
सहदेवो युधां श्रेष्ठो धर्मराजे युधिष्ठिरे ॥ ३३ ॥

वीरों में श्रेष्ठ, सहदेव ने आज्ञा के साथ ही सारी सामग्री इकट्ठी करके राजा युधिष्ठिर के समर्पण की ॥ ३३ ॥

ततो द्वैपायनो राजन्नृत्विजः समुपानयत् ।
वेदानिव महाभागान्साक्षान्मूर्तिमतो द्विजान् ॥ ३४ ॥

हे राजन् ! अब वेदव्यास ने ऋत्विजों को इकट्ठा किया, जो ब्राह्मण, महाप्रभावशाली वेदों की साक्षात् मूर्ति थे ॥ ३४ ॥

स्वयं ब्रह्मत्वमकरोत्तस्य सत्यवतीसुतः ।
धनञ्जयानामृषभः सुसामा सामगोऽभवत् ॥ ३५ ॥

याज्ञवल्क्यो बभूवाऽथ ब्रह्मिष्ठोऽध्वर्यु सत्तमः ।
पैलो होता वसोः पुत्रो धौम्येन सहितोऽभवत् ॥ ३६ ॥

राजा युधिष्ठिर के यज्ञ में वेदव्यास ब्रह्मा, धनञ्जय गोत्र के प्रधान आचार्य, साम के गाने वाले उद्गाता, ब्रह्मनिष्ठ, याज्ञवल्क्य, वसुपुत्र पैल अध्वर्यु और धौम्य होता बने ॥३५-३६॥

एतेषां शिष्यवर्गाश्च पुत्राश्च भरतर्षभ ।
बभूवुर्होत्रगाः सर्वे वेदवेदाङ्गपारगाः ॥ ३७ ॥

हे भरतर्षभ! वेदवेदान्त के जानने वाले, इनके शिष्य और पुत्र; इस यज्ञ में सप्त संख्याधारी होत्रा बने ॥ ३७ ॥

ते वाचयित्वा पुण्याहमूहयित्वा च तं विधिम् ।
शास्त्रोक्तं पूजयामासुस्तद्देवयजनं महत् ॥ ३८ ॥

इन्होंने प्रथम पुण्याहवाचन पढ़कर और यज्ञविधि का विचार करके उस यज्ञ स्थान को शास्त्रानुसार बनाया ॥ ३८ ॥

तत्र चक्रुरनुज्ञाताः शरणान्युत शिल्पिनः ।
गन्धवन्ति विशालानि वेश्मानीव दिवौकसाम् ॥ ३९ ॥

आज्ञा पाकर शिल्पियों ने देवों के भवनों के समान, सुगन्धित और विशाल यज्ञशालाएँ बनवाईं ॥ ३९ ॥

तत आज्ञापयामास स राजा राजसत्तमः ।
सहदेवं तदा सद्यो मन्त्रिणं पुरुषर्षभः ॥ ४० ॥

राजाओं में श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर ने तब सहदेव मन्त्री को यह आज्ञा प्रदान की ॥ ४० ॥

आमन्त्रणार्थं दूतांस्त्वं प्रेषयस्वाऽऽशुगान्द्रुतम् ।
उपश्रुत्य वचो राज्ञः स दूतान्प्राहिणोत्तदा ॥ ४१ ॥

हे सहदेव ! तुम आमन्त्रण देने के लिए शीघ्रगामी दूतों को शीघ्र भेजो। उसने इस आज्ञा को सुन कर उसी क्षण दूत भेजे ॥ ४१ ॥

आमन्त्रयध्वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान्भूमिपानथ ।
विशश्च मान्याञ्शूद्रांश्च सर्वानानयतेति च ॥ ४२ ॥

तुम सारे राष्ट्र में जाओ और यज्ञ के लिए उत्तम २ ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को ले आओ ॥ ४२ ॥

वैशम्पायन उवाच—

समाज्ञप्तास्ततो दूताः पाण्डवेयस्य शासनात् ।
आमन्त्रयाम्बभूवुश्च आनयंश्चाऽपरान्द्रुतम् ॥ ४३ ॥
तथा परानपि नरानात्मनः शीघ्रगामिनः ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! युधिष्ठिर की आज्ञा से सहदेव ने दूतों को आज्ञा दी। उन दूतों ने सबको निमन्त्रण दिया और सारे अपने पराये शीघ्रगामी उत्तम २ जनों को लेकर लौट आये ॥ ४३-४४ ॥

ततस्ते तु यथाकालं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
दीक्षयाञ्चक्रिरे विप्रा राजसूयाय भारत ॥ ४५ ॥

हे भारत ! तब उन ब्राह्मणों ने समय पर कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने की दीक्षा में नियुक्त किया ॥ ४५ ॥

दीक्षितः स तु धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
जगाम यज्ञायतनं वृतो विप्रैः सहस्रशः ॥ ४६ ॥
भ्रातृभिर्ज्ञातिभिश्चैव सुहृद्भिः सचिवैः सह ।
क्षत्रियैश्च मनुष्येन्द्रैर्नानादेशसमागतैः ॥ ४७ ॥
अमात्यैश्च नरश्रेष्ठो धर्मो विग्रहवानिव ।

यह धर्मात्मा, धर्मराज युधिष्ठिर यज्ञ मे दीक्षित हुआ, हज़ारों ब्राह्मण, भाई, जाति, बान्धव, सुहृद्, सचिव, क्षत्रिय, नाना देशों से आये हुए राजा, अमात्यों के सहित, शरीरधारी धर्म के तुल्य यज्ञ-मण्डप मे पहुंचे ॥ ४६-४७ ॥

आजग्मुर्ब्राह्मणास्तत्र विषयेभ्यस्ततस्ततः ॥ ४८ ॥
सर्वविद्यासु निष्णाता वेदवेदाङ्गपारगाः ।

वेद-वेदाङ्ग के पारगामी विद्वान्, सब विद्याओं मे कुशल, ब्राह्मण, भिन्न २ देशों से इस राजसूय यज्ञ मे पधारे ॥ ४८ ॥

तेषामावसथाश्चक्रुर्धर्मराजस्य शासनात् ॥ ४६ ॥
बह्वन्नाच्छादनैर्युक्तान्सगणानां पृथक्पृथक् ।
सर्वर्तुगुणसम्पन्नाञ्छिल्पिनोऽथ सहस्रशः ॥ ५० ॥

अपने २ सेवकों के साथ आये हुए, इन ब्राह्मणों को बहुत से अन्न और वस्त्रों से युक्त, सारे ऋतुओं मे सुखदायी, निवास स्थान, पूर्व से ही धर्मराज की आज्ञा से हज़ारों शिल्पियों ने बना रखे थे ॥ ४६-५० ॥

तेषु ते न्यवसन्राजन्ब्राह्मणा नृपसत्कृताः ।
कथयन्तः कथा बह्वीः पश्यन्तो नटनर्तकान् ॥ ५१ ॥

हे राजन्! राजा से सत्कार पाये हुए, अनेक प्रकार की कथा कहते हुए और बहुत से नट और नर्तकों को देखते हुए ब्राह्मण, उन स्थानों मे रहने लगे ॥ ५१ ॥

भुञ्जतां चैव विप्राणां वदतां च महास्वनः ।
अनिशं श्रूयते तत्र मुदितानां महात्मनाम् ॥५२॥

उस यज्ञ स्थान मे भोजन और सम्भाषण करते हुए, प्रसन्न, महात्मा ब्राह्मणों का बड़ा भारी कोलाहल वहां सुनाई देता रहता था ॥ ५२ ॥

दीयतां दीयतामेषां भुज्यतां भुज्यतामिति ।
एवं प्रकाराः संजल्पाः श्रूयन्ते स्माऽत्र नित्यशः ॥५३॥

दो, दो और खाओ खाओ, इस प्रकार का कोलाहल उस यज्ञ मण्डप मे सदा सुनाई देता रहता था । ॥ ५३ ॥

गवां शतसहस्राणि शयनानां च भारत ।
रुक्मस्य योषितां चैव धर्मराजः पृथग्ददौ ॥ ५४ ॥

हे भारत! हजारों लाखों गाये, सोने की शय्याऐं और सुन्दर कन्याओं के दान, धर्मराज युधिष्ठिर ने प्रदान किये । ॥ ५४ ॥

प्रावर्ततैवं यज्ञः स पाण्डवस्य महात्मनः ।
पृथिव्यामेकवीरस्य शक्रस्येव त्रिविष्टपे ॥५५॥

स्वर्ग में इन्द्र के तुल्य, पृथिवी पर महाबली महात्मा युधिष्ठिर का यह यज्ञ आरम्भ हुआ ॥ ५५ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा प्रेषयामास पाण्डवम् ।
नकुलं हास्तिनपुरं भीष्माय पुरुषर्षभः ॥ ५६ ॥
द्रोणाय धृतराष्ट्राय विदुराय कृपाय च ।
भ्रातृणां चैव सर्वेषां येऽनुरक्ता युधिष्ठिरे ॥५७॥ [१२६१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि राजसूयपर्वणि राजनिमन्त्रणं त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इसके अनन्तर पुरुष श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर ने हस्तिनापुर में भीष्म द्रोण, धृतराष्ट्र, विदुर, कृप और सारे भाइयों तथा प्रेमियों के लाने लिए नकुल को भेजा ॥ ५६-५७ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तिर्गत राजसूयपर्व में राजाओं के निमन्त्रण का तेतीसवां अध्याय पूरा हुआ ।



चौतीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

स गत्वा हास्तिनपुरं नकुलः समितिंजयः ।
भीष्ममामन्त्रयाञ्चक्रे धृतराष्ट्रं च पाण्डवः ॥ १ ॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे राजन्! पाण्डव पुत्र युद्ध के विजयी, नकुल ने हस्तिनापुर में पहुंचकर भीष्म, धृतराष्ट्र आदि को निमन्त्रण दिया ॥ १ ॥

सत्कृत्याऽऽमन्त्रितास्तेन आचार्यप्रमुखास्ततः ।
प्रययुः प्रीतमनसो यज्ञं ब्रह्मपुरःसराः ॥ २ ॥

नकुल से सत्कार के साथ आमन्त्रित हुए आचार्य आदि महा, नुभाव, प्रसन्नता के साथ ब्राह्मणों को साथ लेकर यज्ञ देखने के लिए चल दिए ॥ २ ॥

संश्रुत्य धर्मराजस्य यज्ञं यज्ञविदस्तदा ।
अन्ये च शतशस्तुष्टैर्मनोभिर्भरतर्षभ ॥ ३ ॥
द्रष्टुकामाः सभां चैव धर्मराजं च पाण्डवम् ।
दिग्भ्यः सर्वे समापेतुः क्षत्रियास्तत्र भारत ।
समुपादाय रत्नानि विविधानि महान्ति च ॥४॥

हे भरतवंशश्रेष्ठ! यज्ञ के गौरव को जानने वाले, अनेक क्षत्रिय भी, धर्मराज के यज्ञ को सुनकर प्रसन्न मनसे पाण्डु, पुत्र धर्मराज और उसकी सभा के देखने के लिए बड़े २ अनेक प्रकार के रत्नों की भेंट लेकर अनेक दिशाओं से चल दिए ॥३-४

धृतराष्ट्रश्च भीष्मश्च विदुरश्च महामतिः ।
दुर्योधनपुरोगाश्च भ्रातरः सर्व एव ते ॥ ५ ॥
गान्धारराजः सुबलः शकुनिश्च महाबलः ।
अचलो वृषकश्चैव कर्णश्च रथिनां वरः ॥६॥
तथा शल्यश्च बलवान्बाह्लिकश्च महाबलः ।
सोमदत्तोऽथ कौरव्यो भूरिभूरिश्रवाः शलः ॥७॥

अश्वत्थामा कृपो द्रोणः सैन्धवश्च जयद्रथः ।
यज्ञसेनः सपुत्रश्च शाल्वश्च वसुधाधिपः ॥ ८ ॥
प्राग्ज्योतिषश्च नृपतिर्भगदत्तो महारथः ।
स तु सर्वैः सह म्लेच्छैः सागरानूपवासिभिः ॥९॥
पार्वतीयाश्च राजानो राजा चैव बृहद्बलः ।
पौण्ड्रको वासुदेवश्च वङ्गः कालिङ्गकस्तथा ॥ १० ॥
आकर्षः कुन्तलश्चैव मालवाश्चाऽऽन्ध्रकास्तथा ।
द्राविडाः सिंहलाश्चैव राजा काश्मीरकस्तथा ॥ ११ ॥
कुन्तिभोजो महातेजाः पार्थिवो गौरवाहनः ।
बाह्लिकाश्चापरे शूरा राजानः सर्व एव ते ॥ १२ ॥
विराटः सह पुत्राभ्यां मावेल्लश्च महाबलः ।
राजानो राजपुत्राश्च नानाजनपदेश्वराः ॥ १३ ॥
शिशुपालो महावीर्यः सह पुत्रेण भारत ।
आगच्छत्पाण्डवेयस्य यज्ञं समरदुर्मदः ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र, भीष्म, महामति विदुर, दुर्योधन आदि सारे भाई, गान्धार सुबल, महाबली शकुनि, अचल, वृषक महारथी कर्ण बलवान् शल्य, महाबली बाह्लिक सोमदत्त, कुरुवंशी भूरिश्व भूरिश्रवा, शल, अश्वत्थामा कृप, द्रोण, सिंधुराज जयद्रथ, पुत्र सहित यज्ञसेन, राजा शाल्व, प्राग्ज्योतिषपुरका राजा, समुद्र के

समीप रहने वाले सारे म्लेच्छों के सहित महारथी भगदत्त पर्वत के राजा, राजा बृहद्बल पौण्डक वासुदेव, वङ्ग, कालिङ्गक, आकर्ष कुन्तल, मालव, अन्ध्रक, द्राविड सिंहलराज, काश्मीरक, कुन्ति भोज महातेजस्वी राजा गौर, वाहन, अन्य वाह्लिक अन्य शूरवीर राजा, पुत्रों के साथ विराट, महाबली मावेल्ल, नानादेशों के राजा और राजकुमार, पुत्रके साथ महा शक्ति शाली युद्ध में मदोन्मत्त, शिशुपाल भी पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर के यज्ञ में आए ॥ ६-१४ ॥

रामश्चैवानिरुद्धश्च कङ्कश्च सहमारणः ।
गदप्रद्युम्नसाम्बश्च चारुदेष्णश्च वीर्यवान् ॥ १५ ॥
उल्मुको निशठश्चैव वीरश्चाऽङ्गावहस्तथा ।
वृष्णयो निखिलाश्चाऽन्ये समाजग्मुर्महारथाः ॥ १६ ॥

बलराम, अनिरुद्ध, कङ्क, सहसारण, गद, प्रद्युम्न, साम्ब, वीर्यवान् चारुदेष्ण, उल्मुक, निशठ, वीर अङ्गावह और सारे वृष्णिवंशी महारथी, धर्मराज के इस यज्ञ में पधारे ॥ १५-१६ ॥

एते चाऽन्ये च बहवो राजानो मध्यदेशजाः ।
आजग्मुः पाण्डुपुत्रस्य राजसूयं महाक्रतुम् ॥ १७ ॥

उपर्युक्त राजा तथा अन्य अनेक मध्यदेश के राजा, धर्मराज के इस महायज्ञ राजसूय में पधारे ॥ १७ ॥

ददुस्तेषामावसथान्धर्मराजस्य शासनात् ।
बहुभक्ष्यान्वितान्राजन्दीर्घिकावृक्षशोभितान् ॥ १८ ॥

हे राजन्! धर्मराज की आज्ञा से, उनके लिए बहुत सी भक्ष्य सामग्री से परिपूर्ण, बावड़ी और वृक्षों से सुशोभित, निवास स्थान ठहरने के लिये दिये गए॥ १८॥

तथा धर्मात्मजः पूजां चक्रे तेषां महात्मनाम्।
सत्कृताश्च यथोद्दिष्टाजग्मुरावसथा न्नृपाः॥ १९॥

प्रथम धर्मराज युधिष्ठिर ने इन महात्माओं की पूजा की। ये सब सत्कार पाकर अपने २ निवास स्थानों को चल दिए॥ १९॥

कैलासशिखरप्रख्यान्मनोज्ञान्द्रव्यभूषितान्।
सर्वतः संवृतानुच्चैः प्राकारैः सुकृतैः सितैः॥२०॥
सुवर्णजालसंवीतान्मणिकुट्टमभूषितान्।
सुखारोहणसोपानान्महासनपरिच्छदान् २१॥
स्रग्दामसमवच्छन्नानुत्तमागुरुगन्धिनः।
हंसेन्दुवर्णसदृशानायोजनसुदर्शनान्॥२२॥
असंबाधान्समद्वारान्युतानुच्चावचैर्गुणैः।
बहुधातुनिबद्धाङ्गान्हिमवच्छिखरानिव॥ २३॥

ये निवास स्थान, कैलाश की चोटी के तुल्य ऊंचे, बड़े मनोहर, द्रव्य से भूषित, सब ओर से श्वेत कली द्वारा स्वच्छ प्राकारों (दीवारों) से घिरे हुए। सोने के गुच्छों से संयुक्त, मणियों से जड़े हुए कुट्टिम (फर्श) से भूषित, सुख से आरोहण करने योग्य सीढ़ियों से

सम्पन्न, बड़े गलीचे आदि बिछाने के वस्त्रों से समन्वित, मालाओं से सुसज्जित, उत्तम अगर से सुगन्धित, हंस और चन्द्र के तुल्य उज्ज्वल, योजन से ही दिखाई देने वाले, लम्बे-चौड़े तथा समद्वारों से युक्त अनेक गुण वाले, अनेक धातुओं से सम्पन्न, हिमालय की चोटी के तुल्य सुशोभित थे ॥ २०-२३ ॥

विश्रान्तास्ते ततोऽपश्यन्भूमिपा भूरिदक्षिणम् ।
वृतं सदस्यैर्बहुभिर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ २४ ॥

यहां विश्राम करने के अनन्तर राजाओं ने बहुत दक्षिणा देने वाले और सदस्यों से घिरे हुए राजा युधिष्ठिर के दर्शन किये ॥ २४ ॥

तत्सदः पार्थिवैः कीर्णं ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
भ्राजतेस्म तदाराजन्नाकपृष्ठं यथामरैः ॥ २५ ॥ [१३१६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि राजसूयपर्वणि निमन्त्रितराजागमने चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

हे राजन् ! वह राजसभा ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अनेक ऋषि, मुनियों से भरी हुई देवों से स्वर्ग की सभा के समान सुशोभित हो रही थी ॥ २५ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत राजसूयपर्व में निमन्त्रित राजाओं के आने का चौतीसवां अध्याय पूरा हुआ ।



पैंतीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

पितामहं गुरुं चैव प्रत्युद्गम्य युधिष्ठिरः ।
अभिवाद्य ततो राजन्निदं वचनमब्रवीत् १ ।
भीष्मं द्रोणं कृपं द्रौणिं दुर्योधनविविंशती ।
अस्मिन्यज्ञे भवन्तो मामनुगृह्णन्तु सर्वशः ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! राजा युधिष्ठिर भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य से आगे आकर मिले और इनको प्रणाम करके भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, दुर्योधन, विविंशति से यह वचन बोले—हे महानुभाव ! आप सब इस यज्ञ मे मेरे ऊपर कृपा करो ॥ १-२ ॥

इदं वः सुमहच्चैव यदिहाऽस्ति धनं मम ।
प्रणयन्तु भवन्तो मां यथेष्टमभिमन्त्रिताः ॥ ३ ॥

यह जो मेरा विशाल धन कोप है, यह आपका ही है। आदर के साथ पधारे हुए आप मुझे कार्य सम्पादन करने के लिये प्रेरित करते रहें ॥ ३ ॥

एवमुक्त्वा स तान्सर्वान्दीक्षितः पाण्डवाग्रजः ।
युयोज स यथायोगमधिकारेष्वनन्तरम् ॥ ४ ॥

यज्ञ दीक्षा में बैठे हुए युधिष्ठिर ने फिर सब महानुभावों को यथा योग्य अधिकारों पर लगा दिया ॥ ४ ॥

भक्ष्यभोज्याधिकारेषु दुःशासनमयोजयत् ।
परिग्रहे ब्राह्मणानामश्वत्थामानमुक्तवान् ॥ ५ ॥

राजा ने भक्ष्य और भोजन के कार्य पर दुःशासन को और ब्राह्मणों के स्वागत में अश्वत्थामा को नियुक्त किया ॥ ५ ॥

राज्ञां तु प्रतिपूजार्थं संजयं संन्ययोजयत् ।
कृताकृतपरिज्ञाने भीष्मद्रोणौ महामती ॥ ६ ॥

राजाओं के स्वागत के लिये सञ्जय को लगाया । महाबुद्धिमान् भीष्म और द्रोण को इन सबकी देख भाल में प्रयुक्त किया ॥ ६ ॥

हिरण्यस्य सुवर्णस्य रत्नानां चाऽन्ववेक्षणे ।
दक्षिणानां च वै दाने कृपं राजा न्ययोजयत् ॥ ७ ॥
तथाऽन्यान्पुरुषव्याघ्रांस्तस्मिंस्तस्मिन्न्ययोजयत् ॥ ८ ॥

राजा युधिष्ठिर ने शोभनवर्ण वाले, काञ्चन और रत्नों की देख भाल के लिये तथा दक्षिणाओं के दान के लिये कृपाचार्य को नियुक्त किया, उसी प्रकार अन्य राजाओं को भी भिन्न २ कामों में लगाया ॥ ७-८॥

बाह्लिको धृतराष्ट्रश्च सोमदत्तो जयद्रथः ।
नकुलेन समानीताः स्वामिवत्तत्र रेमिरे ॥ ९ ॥

नकुल से लाये हुए बाह्लिक, धृतराष्ट्र, सोमदत्त और जयद्रथ स्वामी के तुल्य वहां रहने लगे ॥ ९ ॥

क्षत्ता व्ययकरस्त्वासीद्विदुरः सर्वधर्मवित् ।
दुर्योधनस्त्वर्हणानि प्रतिजग्राह सर्वशः ॥ १० ॥

सब धर्मों के जानने वाले विदुर, व्यय करने वाले थे और राजा दुर्योधन सब प्रकार की भेंट लेने पर लगाये गए ॥ १० ॥

चरणक्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत् ।
सर्वलोकसमावृत्तः पिप्रीपुः फलमुत्तमम् ॥ ११ ॥

सारे उपहार समर्पण करने वाले राजाओं से घिरे हुए, श्रीकृष्ण ने उत्तम फल प्राप्ति की इच्छा से ब्राह्मणों के चरण धोने का कार्य स्वयं स्वीकार किया ॥ ११ ॥

द्रष्टुकामः सभां चैव धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
न कश्चिदाहरत्तत्र सहस्रावरमर्हणम् ।
रत्नैश्च बहुभिस्तत्र धर्मराजमवर्धयत् ॥ १२ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर और उनकी सभा के देखने को आये हुए राजा, एक सहस्र से न्यून भेंट कोई भी नहीं लाये तथा अनेक प्रकार के रत्नों से धर्मराज के सम्मान को बढ़ाया ॥ १२ ॥

कथं तु मम कौरव्यो रत्नदानैः समाप्नुयात् ।
यज्ञमित्येव राजानः स्पर्धमाना ददुर्धनम् ॥ १३ ॥

किसी प्रकार यह कुरुवंशी राजा युधिष्ठिर, मेरे धन से ही सारे यज्ञ को पूरा करले, इस स्पर्धा में फंसे हुए राजा होड़ के साथ धन देने लगे ॥ १३ ॥

भवनैः सविमानाग्रैः सोदर्कैर्बलसंवृतैः ।
लोकराजविमानैश्च ब्राह्मणावसथैः सह ॥ १४ ॥
कृतैरावसथैर्दिव्यैर्विमानप्रतिमैस्तथा ।
विचित्रै रत्नवद्भिश्च ऋद्ध्या परमया युतैः ॥ १५ ॥

हे राजन्! देवों के विमानों से टकराने वाले, जल से परिपूर्ण, सेना के सिपाहियों से युक्त तथा लोकपालों के महलों के तुल्य ब्राह्मणों के निवास स्थानों के उत्तम २ महलों के समान बने हुए दिव्य स्थानों से एवं अनेक रत्नों के धारण करने वाले, अत्यन्त ऐश्वर्य से युक्त, उत्तम २ श्री और शोभा से सम्पन्न, आये हुए राजाओं से महात्मा युधिष्ठिर की यह सभा सुशोभित हो रही थी ॥ १४-१५ ॥

राजभिश्च समावृत्तैरतीव श्रीसमृद्धिभिः ।
अशोभत सदो राजन्कौन्तेयस्य महात्मनः ॥ १६ ॥
ऋद्ध्या च वरुणं देवं स्पर्धमानो युधिष्ठिरः ।
षडग्निनाऽथ यज्ञेन सोऽयजद्दक्षिणावता ॥ १७ ॥
सर्वाञ्जनान्सर्वकामैः समृद्धैः समतर्पयत् ॥ १८ ॥

अपने ऐश्वर्य से वरुण के साथ बराबरी करने की इच्छा वाले, युधिष्ठिर ने दक्षिणा से युक्त, छः अग्नि वाले यज्ञ से यजन किया और सारी कामनाओं को पूर्ण करके सारे मनुष्यों को सन्तुष्ट किया ॥ १७-१८ ॥

अन्नवान्बहुभक्ष्यश्च भुक्तवज्जनसंवृतः ।
रत्नोपहारसम्पन्नो बभूव स समागमः ॥ १६ ॥

यह यज्ञ बहुत अन्न खाद्य सामग्रियों और भोजनों से तृप्त हुए मनुष्यों से भरा हुआ था। इसमें बहुत प्रकार से रत्नों की भेंट आई थी ॥ १६ ॥

इडाज्यसोमाहुतिभिर्मन्त्रशिक्षाविशारदैः ।
तस्मिन्हि ततृपुर्देवास्तते यज्ञे महर्षिभिः ॥ २० ॥

महर्षियों से विस्तृत किये हुए इस यज्ञ में इडा, आज्य और सोम की आहुतियों से मन्त्रों की शिक्षा में विशारद ऋत्विकों ने देवों को तृप्त किया ॥ २० ॥

यथा देवास्तथा विप्रा दक्षिणान्नमहाधनैः ।
ततृपुः सर्ववर्णाश्च तस्मिन्यज्ञे मुदान्विताः ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि राजसूयपर्वणि यज्ञकरणे पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

समाप्तं च राजसूयपर्व ॥

दक्षिणा अन्नादि महाधनों से देवों के तुल्य ही ब्राह्मण सन्तुष्ट किये गए। इस यज्ञ में सारे वर्ण आनन्द के साथ तृप्त हुए ॥२१

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत राजसूयपर्व में यज्ञ करने का पैंतीसवां अध्याय पूरा हुआ और राजसूयपर्व भी समाप्त हुआ।

अथार्घाभिहरणपर्व

छत्तीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततोऽभिषेचनीयेऽह्नि ब्राह्मणा राजभिः सह ।
अन्तर्वेदीं प्रविविशुः सत्कारार्हा महर्षयः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! यज्ञ के अन्त में, अभिषेक के दिन मे राजाओं के साथ सत्कार के योग्य महर्षि और ब्राह्मण अन्तर्वेदी के समीप पहुंचे ॥ १ ॥

नारदप्रमुखास्तस्यामन्तर्वेद्यां महात्मनः ।
समासीनाः शुशुभिरे सह राजर्षिभिस्तदा ॥ २ ॥

इस अन्तर्वेदी पर राजर्षियों के साथ बैठे हुए महात्मा नारद आदि ऋषि, बड़े सुशोभित हो रहे थे ॥ ३ ॥

समेता ब्रह्मभवने देवा देवर्षयस्तथा ।
कर्मान्तरमुपासन्तो जजल्पुरमितौजसः ॥ ३ ॥

इस यज्ञ भवन में इकट्ठे ही बैठे हुए अमित ओजस्वी, देव और देवर्षि भिन्न २ कर्मों का पक्ष ले रहे थे ॥ ३ ॥

इदमेवं न चाऽप्येवमेवमेवं न चाऽन्यथा ।
इत्यूचुर्बहवस्तत्र वितण्डावादिनो द्विजाः ॥ ४ ॥

यहां पर बहुत से वितण्डावादी ब्राह्मण कह रहे थे, कि यह कर्म ऐसे होगा, और दूसरे कह रहे थे, कि नहीं इस प्रकार होगा, अन्यरीति से हो ही नहीं सकता है ॥ ४ ॥

कृशानर्थास्ततः केचिदकृशांस्तत्र कुर्वते ।
अकृशांश्च कृशांश्चक्रु हेतुभिः शास्त्रनिश्चयैः ॥ ५ ॥

कोई विद्वान् तो स्वल्प विधि का विस्तार बता रहे थे और कोई विस्तृत को संक्षिप्त रूप में करने को शास्त्र द्वारा हेतुवाद से निश्चित कर रहे थे ॥ ५ ॥

अर्थं मेधाविनः केचिदनुमानैः प्रपूरितम् ।
विचिक्षिपुर्यथा श्येना नभोगतमिवाऽऽमिषम् ॥ ६ ॥

किसी २ अर्थ को बुद्धिमानों ने अनुमानों से आकाश में मांस को बाज पक्षी की भांति कुचल डाला ॥ ६ ॥

केचिद्धर्मार्थकुशलाः केचित्तत्र महाव्रताः ।
रेमिरे कथयन्तश्च सर्वभाष्यविदां वराः ॥ ७ ॥

कोई २ धर्म और अर्थ की व्याख्या में कुशल, महाव्रती;, सारे भाष्यों के जानने वाले, विद्वान् कथा से मनुष्यों के मनों को प्रसन्न कर रहे थे ॥ ७ ॥

सा वेदिर्वेदसंपन्नैर्देवद्विजमहर्षिभिः ।
आबभासे समाकीर्णा नक्षत्रैर्द्यौरिवाऽऽयता ॥ ८ ॥

वह वेदी, वेदपाठी, देव और महर्षियों से भरी हुई, नक्षत्रों से व्याप्त आकाश के तुल्य सुशोभित होने लगी ॥ ८ ॥

न तस्यां सन्निधौ शूद्रः कश्चिदासीन्न चाऽव्रती ।
अन्तर्वेद्यां तदा राजन्युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ९ ॥

। हे राजन्! उस युधिष्ठिर के यज्ञ मे अन्तर्वेदी के समीप मे न तो कोई शूद्र था और न कोई व्रतभङ्ग करने वाला, द्विजाति ही था ॥ ६ ॥

तां तु लक्ष्मीमतो लक्ष्मीं तदा यज्ञविधानताम् ।
तुतोष नारदः पश्यन्धर्मराजस्य धीमतः ॥ १० ॥

उस समय धर्मात्मा, बुद्धिमान्, ऐश्वर्यशाली, राजा युधिष्ठिर की लक्ष्मी और यज्ञ-विधि को देखकर, नारदजी बड़े प्रसन्न हुए ॥

अथ चिन्तां समापेदे स मुनिर्मनुजाधिप ।
नारदस्तु तदा पश्यन्सर्वक्षत्रसमागमम् ॥ ११ ॥

हे मनुजेश्वर! उस सारे क्षत्रियों के समूह को देखकर नारद जी विचारने लगे ॥ ११ ॥

सस्मार च पुरावृत्तां कथां तां पुरुषर्षभ ।
अंशावतरणे याऽसौ ब्रह्मणो भवनेऽभवत् ॥ १२ ॥

हे पुरुषर्षभ! उस समय उनको पूर्वकाल की कथा याद आ गई। जो ब्रह्मा के भवन में अंशावतार के विषय में हुई थी ।१२

देवानां संगमं तं तु विज्ञाय कुरुनन्दन ।
नारदः पुण्डरीकाक्षं सस्मार मनसा हरिम् ॥ १३ ॥

हे कुरुनन्दन! देवों के उस संगम को जान कर नारदजी ने मन से कमल के समान नेत्र वाले, हरि का स्मरण किया ॥१३॥

साक्षात्स विबुधारिघ्नः क्षत्रे नारायणो विभुः ।
प्रतिज्ञां पालयंश्चेमां जातः परपुरंजयः ॥ १४ ॥

वह देवों के शत्रुओं का मारने वाला, सर्व शक्तिमान, शत्रुओं के समूह का विजेता, नारायण, इस प्रतिज्ञा को पालता हुआ स्वयं क्षत्रियों मे उत्पन्न हुआ है ॥ १४ ॥

संदिदेश पुरा योऽसौ विबुधान्भूतकृत्स्नयम् ।
अन्योन्यमभिनिघ्नन्तः पुनर्लोकानवाप्स्यथ ॥१५॥

प्राणियों के हृदय मे निवास करने वाले, भगवान् हरि ने प्रथम देवों को यह संदेशा दिया था कि तुम आपस मे एक दूसरे को मार कर अपने अपने लोकों को प्राप्त करोगे ॥ १५ ॥

इति नारायणः शम्भुर्भगवाञ्जगतः प्रभुः ।
आदिश्य विबुधान्सर्वानजायत यदुक्षये ॥ १६ ॥

इस प्रकार कल्याणकारी जगत् के स्वामी, भगवान् नारायण ने सारे देवों को आदेश देकर स्वयं भी यदुवंश मे अवतार लिया ॥ १६ ॥

क्षितावन्धकवृष्णीनां वंशे वंशभृतां वरः ।
परया शुशुभे लक्ष्म्या नक्षत्राणामिवोडुराट् ॥१७॥

अपने वंश मे श्रेष्ठ श्री कृष्ण, अन्धक और वृष्णिवंश में अत्यन्त शोभा से नक्षत्रों मे चन्द्रमा के तुल्य पृथिवी पर सुशोभित हुए ॥ १७ ॥

यस्य बाहुबलं सेन्द्राः सुराः सर्व उपासते ।
सोऽयं मानुषवन्नाम हरिरास्तेऽरिमर्दनः ॥१८॥

इन्द्रादि सारे देवता जिसके बाहु बल का आश्रय करके उपासना करते हैं, वह शत्रुओं के मर्दन करने वाला हरि, मनुष्य के तुल्य होकर पृथिवी पर उत्पन्न हुआ ॥ १८ ॥

अहो बत महद्भूतं स्वयंभूर्यदिदं स्वयम् ।
आदास्यति पुनः क्षत्रमेवं बलसमन्वितम् ॥ १९ ॥

यह महाविष्णु, स्वयम्भू भगवान् हरि, फिर इस विशाल क्षत्रिय वंश का सेना के साथ संहार करेंगे ॥ १६ ॥

इत्येतां नारदश्चिन्तां चिन्तयामास धर्मवित् ।
हरिं नारायणं ज्ञात्वा यज्ञैरिज्यं तमीश्वरम् ॥ २० ॥

धर्म के जानने वाले नारद, श्री कृष्ण को यज्ञों से यजन के योग्य, हरि, नारायण और ईश्वर जान के इस प्रकार विचार करने लगे ॥ २० ॥

तस्मिन्धर्मविदां श्रेष्ठो धर्मराजस्य धीमतः ।
महाध्वरे महाबुद्धिस्तस्थौ स बहुमानतः ॥ २१ ॥

धर्मज्ञों में श्रेष्ठ, महाबुद्धि नारद, बुद्धिमान् युधिष्ठिर के यज्ञ में बहुत मान के साथ विराजने लगे ॥ २१ ॥

ततो भीष्मोऽब्रवीद्राजन्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
क्रियतामर्हणं राज्ञां यथार्हमिति भारत ॥ २२ ॥

हे राजन् ! इसके अनन्तर भीष्म ने राजा युधिष्ठिर से कहा कि हे 'भारत' अब आप यथा योग्य राजाओं का सत्कार करो ॥ २२ ॥

आचार्यमृत्विजं चैव संयुजं च युधिष्ठिर ।
स्नातकं च प्रियं प्राहुः षडर्घ्यार्हान्नृपं तथा ॥ २३ ॥

हे युधिष्ठिर! आचार्य, ऋत्विक्, सम्बन्धी, स्नातक, मित्र और नृप, ये छः अर्घ देने के योग्य माने गये हैं ॥ २३ ॥

एतानर्घ्यानभिगतानाहुः संवत्सरोषितान् ।
त इमे कालपूगस्य महतोऽस्मानुपागताः ॥ २४ ॥

ये वर्ष भर भी अपने घर ठहरें, तो भी अर्घ के योग्य हैं। ये इस महान्, उत्तम काल समूह में हमारे यहां उपस्थित हुए हैं ॥ २४ ॥

एषामेकैकशो राजन्नर्घ आनीयतामिति ।
अथ चैषां वरिष्ठाय समर्थायोपनीयताम् ॥ २५ ॥

हे राजन्! अब इन में से प्रत्येक के लिए आप अर्घ तय्यार करो और प्रथम अर्घ इन में जो श्रेष्ठ हो, उसको प्रदान करो ।२५

युधिष्ठिर उवाच—

कस्मै भवान्मन्यतेऽर्घमेकस्मै कुरुनन्दन ।
उपनीयमानं युक्तं च तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे कुरुवंश के आनन्द के बढ़ाने वाले, पितामह! आप किसको सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, जिस के लिए प्रथम अर्घ प्रदान किया जावे, यह आप हमें बताइये ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततो भीष्मः शान्तनवो बुद्ध्या निश्चित्य वीर्यवान् ।
वार्ष्णेयं मन्यते कृष्णं पूजनीयतमं भुवि ॥ २७ ॥

वैशम्पायन बोले—अब वीर्यवान् शान्तनु पुत्र भीष्म ने अपनी बुद्धि से निश्चय किया और वृष्णिवंश में उत्पन्न श्रीकृष्ण को ही सब से अधिक पूज्य माना ॥ २७ ॥

एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः ।
मध्ये तपन्निवाऽऽभाति ज्योतिषामिव भास्करः ॥ २८॥

यह कृष्ण सारे राजाओं में तेज बल और पराक्रम से ज्योतियों में सूर्य के तुल्य, देदीप्यमान हो रहा है ॥ २८ ॥

असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना ।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः ॥ २९ ॥

सूर्य रहित स्थान को सूर्य की भांति और वायु रहित स्थान को वायु की भांति इन श्रीकृष्ण ने हमारी सभा को आल्हादित और प्रकाशित कर रखा है ॥ २९ ॥

तस्मै भीष्माभ्यनुज्ञातः सहदेवः प्रतापवान् ।
उदजह्रेऽथ विधिवद्वार्ष्णेयायार्घ्यमुत्तमम् ॥ ३० ॥

भीष्म की आज्ञानुसार, प्रतापी सहदेव ने विधि-पूर्वक श्रीकृष्ण के लिए उत्तम अर्घ समर्पण किया ॥ ३० ॥

प्रतिजग्राह तत्कृष्णः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
शिशुपालस्तु तां पूजां वासुदेवे न चक्षमे ॥ ३१ ॥

शास्त्र-विधि के अनुसार श्रीकृष्ण ने इस अर्घ को ग्रहण किया; परन्तु शिशुपाल ने श्रीकृष्ण की इस पूजा का अनुमोदन नहीं किया ॥ ३१ ॥

हे पाण्डव ! युधिष्ठिर ! आत्माभिमानी पाण्डवों के योग्य यह आचार नहीं है, जो उच्छृङ्खलता से तुमने इस कृष्ण की पूजा की है ॥ २ ॥

बाला यूयंऽन जानीध्वं धर्मः सूक्ष्मो हि पाण्डवाः ।
अयं च स्मृत्यतिक्रान्तो ह्यापगेयोऽल्पदर्शनः ॥ ३ ॥

हे पाण्डवों ! तुम अभी बालक हो और धर्म को नहीं जानते हो। क्योंकि धर्म बड़ा ही सूक्ष्म है और यह गंगा पुत्र भी दूर दृष्टि नहीं है, वृद्ध होने से इसकी भी स्मृति मारी गई है ॥३॥

त्वादृशो धर्मयुक्तो हि कुर्वाणः प्रियकाम्यया ।
भवत्यभ्यधिकं भीष्मो लोकेष्ववमतः सताम् ॥ ४ ॥

हे भीष्म ! तेरे समान धर्मात्मा भी अपने मन के अनुसार कार्य करने से संसार में सज्जनों के मध्य में बहुत अधिक निन्द-नीय हो जाता है ॥ ४ ॥

कथं ह्यराजा दाशार्हो मध्ये सर्वमहीक्षिताम् ।
अर्हणामर्हति तथा यथा युष्माभिरर्चितः ॥ ५ ॥

यह कृष्ण, राजा नहीं है, फिर सारे राजाओं के मध्य में ऐसी पूजा कैसे प्राप्त कर सकता है, जैसी तुमने इसकी करदी है ॥ ५ ॥

अथवा मन्यसे कृष्णं स्थविरं कुरुपुङ्गव ।
वसुदेवे स्थिते वृद्धे कथमर्हति तत्सुतः ॥ ६ ॥

हे कुरुपुङ्गव ! कृष्ण को यदि तुम आयु में वृद्ध मानते हो, तो इसके पिता वसुदेव के रहते इसको पूजा कैसे की जा सकती है

अथवा वासुदेवोऽपि प्रियकामोऽनुवृत्तवान् ।
द्रुपदे तिष्ठति कथं माधवोऽर्हति पूजनम् ॥ ७ ॥

यह वसुदेव पुत्र कृष्ण, पाण्डवों का हितकारी और अनुकूल आचरण करने वाला है, तो द्रुपद के रहते कृष्ण की पूजा कैसे की जा सकती है; क्योंकि द्रुपद ही पाण्डवों का हितकारी है ॥७॥

आचार्यं मन्यसे कृष्णमथ वा कुरुनन्दन ।
द्रोणे तिष्ठति वार्ष्णेयं कस्मादर्चितवानसि ॥ ८ ॥

हे कुरुनन्दन ! यदि कृष्ण को तुम आचार्य मान कर पूजते हो, तो द्रोणाचार्य के उपस्थित रहते हुए यह कैसे पूजा जा सकता है ॥ ८ ॥

ऋत्विजं मन्यसे कृष्णमथ वा कुरुनन्दन ।
द्वैपायने स्थिते वृद्धे कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया ॥ ९ ॥

हे कुरुवंशोद्भव ! यदि तुम कृष्ण को ऋत्विक् मानते हो, तो वह वृद्ध कृष्णद्वैपायन के उपस्थित रहने पर भी इसकी पूजा कैसे की गई ॥ ९ ॥

भीष्मे शान्तनवे राजन्स्थिते पुरुषसत्तमे ।
स्वच्छन्दमृत्युके राजन्कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया ॥ १० ॥

हे राजन् ! शान्तनु पुत्र, सारे पुरुषों में श्रेष्ठ, अधीन मृत्यु भीष्म के सभा में उपस्थित रहने पर भी तू ने कृष्ण की पूजा क्यों की ॥ १० ॥

अश्वत्थाम्नि स्थिते वीरे सर्वशास्त्रविशारदे।
कथं कृष्णस्त्वया राजन्नर्चितः कुरुनन्दन ॥ ११ ॥

हे कुरुनन्दन! सारे शास्त्रों के विशारद वीर अश्वत्थामा के विद्यमान रहने पर भी तू ने कृष्ण की पूजा कैसे की ॥ ११ ॥

दुर्योधने च राजेन्द्रे स्थिते पुरुषसत्तमे।
कृपे च भारताचार्ये कथं कृष्णस्त्वयाऽर्चितः ॥ १२ ॥

राजाओं में श्रेष्ठ दुर्योधन और भरतवंश के आचार्य कृप के इस सभा में उपस्थित रहने पर भी कृष्ण को तू ने क्यों कर पूजा ॥ १२ ॥

द्रुमं किंपुरुषाचार्यमतिक्रम्य त्वयाऽर्चितः।
भीष्मके चैव दुर्धर्षे पाण्डुवत्कृतलक्षणे ॥१३॥

नृपे च रुक्मिणि श्रेष्ठे एकलव्ये तथैव च।
शल्ये मद्राधिपे चैव कथं कृष्णस्त्वयाऽर्चितः ॥१४॥

किंनरों के आचार्य द्रुम, महाबली पाण्डु के समान लक्षणों वाले भीष्मक, नृपश्रेष्ठ रुक्मी, एकलव्य, मद्रदेश के स्वामी शल्य का अतिक्रमण करके भी तू ने क्या समझ कर कृष्ण की पूजा की है ॥ १३-१४ ॥

अयं च सर्वराज्ञां वै बलश्लाघी महाबलः।
जामदग्न्यस्य दयितः शिष्यो विप्रस्य भारत ॥ १५ ॥
येनाऽऽत्मबलमाश्रित्य राजानो युधि निर्जिताः।
तं च कर्णमतिक्रम्य कथं कृष्णस्त्वयाऽर्चितः ॥१६॥

हे भारत! जो सारे राजाओं में बल से प्रशंसित, महाबली और ब्राह्मण श्रेष्ठ परशुराम का प्रिय शिष्य है। जिसने अपने बल का आश्रय लेकर युद्ध में अनेक राजा जीते हैं, उस कर्ण को छोड़ कर तू ने कृष्ण की पूजा किस ध्यान से की ॥ १५-१६॥

नैवर्त्विङ्नैव चाऽऽचार्यो न राजा मधुसूदनः ।
अर्चितश्च कुरुश्रेष्ठ किमन्यत्प्रियकाम्यया ॥ १७॥

यह मधुसूदन न तो ऋत्विक् है, न आचार्य है, न यह राजा ही है। हे कुरुश्रेष्ठ! फिर किस हित की कामना से तुम ने कृष्ण को पूजा॥ १७ ॥

अथ वाऽभ्यर्चनीयोऽयं युष्माकं मधुसूदनः ।
किं राजभिरिहाऽऽनीतैरवमानाय भारत ॥ १८ ॥

हे भारत! यदि तुम्हें कृष्ण की पूजा ही करनी थी, तो कर लेते, यहां बुला कर अन्य राजाओं का तो अपमान नहीं करना चाहिए था॥ १८ ॥

वयं तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः ।
प्रयच्छाम करान्सर्वे न लोभान्न च सान्त्वनैः ॥१९॥
अस्य धर्मे प्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः ।
करानस्मै प्रयच्छामः सोऽयमस्मान्न मन्यते ॥२०॥

इस महात्मा कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर के भय या लोभ या समझाने से हम सारे राजा लोग इस को कर नहीं दे रहे हैं। यह राजा बड़ा धार्मिक है और सम्राट् पदवी चाहता है। इसी कारण से

हम राजा लोग इसको कर देते हैं; परन्तु यह तो हमारा अपमान करता है ॥ १६-०२॥

किमन्यदवमानाद्धि येनेदं राजसंसदि ।
अप्राप्तलक्षणं कृष्णमर्घेणार्चितवानसि ॥ २१ ॥

इस अपमान से अधिक अन्य अपमान क्या होगा, जो राज सभा में राजा के लक्षणों से रहित इस कृष्ण को अर्घ से पूजित किया है ॥ २१ ॥

अकस्माद्धर्मपुत्रस्य धर्मात्मेति यशोगतम् ।
को हि धर्मच्युते पूजामेवं युक्तां नियोजयेत् ॥ २२ ॥

इस धर्मपुत्र युधिष्ठिर का आज अचानक ही धर्मात्मा होने का यश उड़ गया है । क्योंकि ऐसा कौन सा धर्मात्मा होगा, जो ऐसे धर्महीन कृष्ण की ऐसी पूजा करेगा ॥ २२ ॥

योऽयं वृष्णिकुले जातो राजानं हतवान्पुरा ।
जरासन्धं महात्मानमन्यायेन दुरात्मवान् ॥ २३ ॥

इस वृष्णिवंश में उत्पन्न होने वाले दुरात्मा कृष्ण ने अन्याय से महात्मा जरासन्ध को प्रथम ही मरवा डाला ॥ २३ ॥

अद्य धर्मात्मता चैव व्यपकृष्टा युधिष्ठिरात् ।
दर्शितं कृपणत्वं च कृष्णेऽर्घस्य निवेदनात् ॥ २४ ॥

आज युधिष्ठिर की भी धार्मिकता बिल्कुल नष्ट हो गई है, कृष्ण को अर्घ अर्पण करके तो इसने अपनी बुद्धि का दिवाला ही निकाल दिया ॥ २४ ॥

यदि भीताश्च कौन्तेयाः कृपणाश्च तपस्विनः ।
ननु त्वयाऽपि बोद्धव्यं यां पूजां माधवाऽर्हसि ॥ २५ ॥

हे कृष्ण ! ये बेचारे दीन पाण्डव यदि डर रहे थे तो भी तुमको स्वयं जता देना चाहिये था, कि तुम किस पूजा के अधिकारी हो । ॥ २५ ॥

अथ वा कृपणैरेतामुपनीतां जनार्दन ।
पूजामनर्हः कस्मात्त्वमभ्यनुज्ञातवानसि ॥ २६ ॥

हे जनार्दन ! इन दीन पाण्डवों से प्राप्त की हुई पूजा के अयोग्य होकर भी तुमने अपनी पूजा करने की इनको क्यों इजाजत दी ॥ २६ ॥

अयुक्तामात्मनः पूजां त्वं पुनर्बहु मन्यसे ।
हविषः प्राप्य निःस्यन्दं प्राशिता श्वेव निर्जने ॥२७॥

हे कृष्ण ! इस अनुचित पूजा को प्राप्त करके एकान्त में हवि (घृत) की धारा को पीते हुए कुत्ते के तुल्य तुम अपने को बहुत बड़ा मान रहे हो ॥ २७ ॥

न त्वयं पार्थिवेन्द्राणामपमानः प्रयुज्यते ।
त्वामेव कुरवो व्यक्तं प्रलम्भन्ते जनार्दन ॥ २८ ॥

हे जनार्दन ! इससे तो राजाओं का कोई अपमान भी नहीं है, किन्तु ये कुरुवंशी युधिष्ठिरादि प्रत्यक्ष में तेरा ही अपमान कर रहे हैं, क्योंकि अयोग्य की पूजा से उसका ही अपमान माना गया है ॥ २८ ॥

क्लीबे दारक्रिया यादृगन्धे वा रूपदर्शनम् ।
अराज्ञो राजवत्पूजा तथा ते मधुसूदन ॥ २६ ॥

हे मधुसूदन ! नपुंसक को स्त्री, और अन्ध के लिये जैसे दर्पण निरर्थक है, ऐसे ही तुम अराजा की राजा के तुल्य पूजा निरर्थक ही है ॥ २६ ॥

दृष्टो युधिष्ठिरो राजा दृष्टो भीष्मश्च यादृशः ।
वासुदेवोऽप्ययं दृष्टः सर्वमेतद्यथातथम् ॥ ३० ॥

आज युधिष्ठिर भी देख लिया और जैसा बुद्धिमान् भीष्म है वह भी देख लिया। इसके अतिरिक्त आज वसुदेवपुत्र कृष्ण को भी अच्छी तरह जान लिया है ॥ ३० ॥

इत्युक्त्वा शिशुपालस्तानुत्थाय परमासनात् ।
निर्ययौ सदसस्तस्मात्सहितो राजभिस्तदा ॥३१॥[१४००]

शिशुपाल, उन भीष्मादि से इस प्रकार कह कर और अपने ऊंचे आसन से उठकर अन्य राजाओं के साथ उस सभा से बाहर निकल गया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारत सभापर्वान्तर्गत अर्घाहरण पर्व के शिशुपाल क्रोध का सैंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वण्यर्घाहरणपर्वणि शिशुपालक्रोधो नाम सप्तत्रिंशोऽध्याय ।३७।



अड़तीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततो युधिष्ठिरो राजा शिशुपालमुपाद्रवत् ।
उवाच चैनं मधुरं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इसके अनन्तर राजा युधिष्ठिर शीघ्रता से शिशुपाल के पास पहुंचे और शान्ति के साथ मधुर बचन कहने लगे ॥ १ ॥

नेदं युक्तं महीपाल यादृशं वै त्वमुक्तवान् ।
अधर्मश्च परो राजन्पारुष्यं च निरर्थकम् ॥ २ ॥

हे महीपाल ! यह उचित नहीं है, जो तुमने कहा है। निरर्थक कठोरता करना बड़ा पाप है ॥ २ ॥

न हि धर्मं परं जातु नाऽवबुध्येत पार्थिवः ।
भीष्मः शान्तनवस्त्वेनं मावमंस्थास्त्वमन्यथा ॥ ३ ॥

यह शान्तनु पुत्र राजाओं का पितामह भीष्म, धर्म के रहस्य को नहीं जानता हो, ऐसा नहीं है। तुमको इन वृद्ध भीष्म का अपमान नहीं करना चाहिये ॥ ३ ॥

पश्य चैतान्महीपालांस्त्वत्तो वृद्धतरान्बहून् ।
मृष्यन्ते चाऽर्हणं कृष्णे तद्वत्त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

हे शिशुपाल ! तुम अपने से भी अनेक वृद्ध राजाओं को देख रहे हो, जो कृष्ण की पूजा को चुपचाप देख रहे हैं, तुमको भी इसी तरह चुप रहना चाहिए ॥ ४ ॥

वेद तत्त्वेन कृष्णं हि भीष्मश्चेदिपते भृशम् ।
नवैनं त्वं तथा वेत्थ यथैनं वेद कौरवः ॥ ५ ॥

हे चेदिनाथ ! ये भीष्म कृष्ण के गुणों को अच्छी तरह जानते हैं, जिस तरह ये कुरुवंश श्रेष्ठ, भीष्म, श्रीकृष्ण को जानते हैं, उतना तुम नहीं जानते हो ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच—

नाऽस्मै देयो ह्यनुनयो नाऽयमर्हति सान्त्वनम् ।
लोकवृद्धतमे कृष्णे योऽर्हणं नाऽभिमन्यते ॥ ६ ॥

भीष्म ने कहा—इस शिशुपाल की न तो कुछ प्रार्थना करो और न इसको कुछ समझाओ, जो यह सारे जगत् में पूज्य कृष्ण की पूजा या अनुमोदन नहीं करता है ॥ ६ ॥

क्षत्रियः क्षत्रियं जित्वा रणे रणकृतां वर ।
यो मुञ्चति वशे कृत्वा गुरुर्भवति तस्य सः ॥ ७ ॥

रण में लड़ने वाला जो क्षत्रिय, अन्य क्षत्रियों को रण में जीत कर छोड़ देता है, वह उसका पूज्य हो जाता है ॥ ७ ॥

यस्यां हि समितौ राज्ञामेकमप्यजितं युधि ।
न पश्यामि महीपालं सात्वतीपुत्रतेजसा ॥ ८ ॥

इस सभा में मुझे तो कोई ऐसा राजा दिखाई नहीं पड़ता है, जो श्रीकृष्ण के तेज से कभी जीता न गया हो ॥ ८ ॥

न हि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः ।
त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो महाभुजः ॥ ९ ॥

यह महाबली कृष्ण, केवल हमारा ही पूजनीय नहीं है, यह तो इस त्रिलोकी मे सबका पूज्य है ॥ ६ ॥

कृष्णेन हि जिता युद्धे बहवः क्षत्रियर्षभाः ।
जगत्सर्वं च वार्ष्णेये निखिलेन प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥

इन श्रीकृष्ण ने बड़े २ क्षत्रियों को युद्ध मे जीता है, यह सारा जगत् कृष्ण के अन्तर्भूत है ॥ १० ॥

तस्मात्सत्स्वपि वृद्धेषु कृष्णमर्चामि नेतरान् ।
एवं वक्तुं न चाऽर्हस्त्वं मा ते भूद् बुद्धिरीदृशी ॥११ ॥

इस लिये अन्य वृद्धों के रहने पर भी हम श्रीकृष्ण की ही पूजा करेंगे, अन्यों की नहीं । तुझे यह कहने का कुछ भी अधिकार नहीं है और न तुझे ऐसा ख़याल ही करना चाहिये ॥११॥

ज्ञानवृद्धा मया राजन्बहवः पर्युपासिताः ।
तेषां कथयतां शौरेरहं गुणवतो गुणान् ॥ १२ ॥
समागतानामश्रौषं बहून्बहुमतान्सताम् ।

हे राजन् ! मैंने अनेक ज्ञान वृद्धों की उपासना की है उनको भी गुणवान श्रीकृष्ण के गुणगान् करते देखा है और आये हुए बहुत से सज्जनों के इस विषय में मत भी सुने हैं ॥ १२ ॥

कर्माण्यपि च यान्यस्य जन्मप्रभृति धीमतः ॥१३॥
बहुशः कथ्यमानानि नरैर्भूयः श्रुतानि मे ।

इस बुद्धिमान् महात्मा श्रीकृष्ण के जन्म से किये हुए कर्मों को मैंने अनेक मनुष्यों को कहते हुए सुना है ॥ १३ ॥

न केवलं वयं कामाच्चेदिराज जनार्दनम् ॥ १४ ॥
न संबन्धं पुरस्कृत्य कृतार्थं वा कथंचन ।
अर्चामहेऽर्चितं सद्भिर्भुवि भूतसुखावहम् ॥ १५ ॥

हे चेदिराज! हम किसी स्वार्थ सम्बन्ध या उपकारक होने से पृथिवी पर प्राणि मात्र को सुख देने वाले, सज्जनों से पूजित श्रीकृष्ण की पूजा नहीं कर रहे हैं ॥ १४-१५ ॥

यशः शौर्यं जयं चास्य विज्ञायार्चां प्रयुज्महे ।
न च कश्चिदिहास्माभिः सुबालोऽप्यपरीक्षितः ॥१६॥
गुणैर्वृद्धानतिक्रम्य हरिरर्च्यतमो मतः ।

इस महानुभाव के यश, शूरता विजय को जानकर ही हम पूजा कर रहे हैं, इस सभा में कोई बालक भी ऐसा नहीं है, जिसकी हमने परीक्षा न ले रखी हो, यह श्रीकृष्ण तो अपने गुणों से ही अन्य वृद्धों का अतिक्रमण करके पूज्य हुआ है ॥ १६ ॥

ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ॥ १७ ॥
वैश्यानां धान्यधनवाञ्शूद्राणामेव जन्मतः ।

ब्राह्मणों मे विद्वान्, क्षत्रियों मे बलवान्, वैश्यों में धनवान् और शूद्रों में जन्म से ही पूज्य होता है ॥ १७ ॥

पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ ॥ १८ ॥
वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा ।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते॥१९॥

श्रीकृष्ण की पूजा में तो दो हेतु बड़े प्रबल हैं, एक तो वेद वेदाङ्ग का विद्वान् और दूसरा बल की अधिकता है। श्री कृष्ण के सिवा, इस संसार में अन्य कौन श्रेष्ठ हो सकता है।

दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा।
संनतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताऽच्युते ॥२०॥

दान, चतुराई, शास्त्र ज्ञान, शूरता, संकोच, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनय, श्री, धैर्य तुष्टि, पुष्टि, ये सब श्री कृष्ण में निश्चय विद्यमान हैं ॥ २० ॥

तमिमं लोकसंपन्नमाचार्यं पितरं गुरुम् ।
अर्घ्यमर्चितमर्चार्हं सर्वे संक्षन्तुमर्हथ ॥ २१ ॥

इस लिए इस ज्ञान सम्पन्न, आचार्य, पालक, पूज्य, अर्घ देने के योग्य पूजा के योग्य, पूजे हुए श्रीकृष्ण की पूजा तुम सबको सह लेनी चाहिए ॥ २१ ॥

ऋत्विग्गुरुर्विवाह्यश्च स्नातको नृपतिः प्रियः।
सर्वमेतद्धृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः ॥ २२ ॥

यह हृषीकेश ऋत्विक्, गुरु, विवाह के योग्य, स्नातक, राजा, मित्र, सब कुछ हैं, इसी लिए श्रीकृष्ण पूजा गया है ॥२२

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाऽव्ययः।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम् ॥ २३ ॥

यह कृष्ण ही लोकों की उत्पत्ति और प्रलय का कारण है और कृष्ण के लिए ही यह सारा चराचर जगत् है ॥ २३ ॥

एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः ।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात्पूज्यतमोऽच्युतः ॥ २४ ॥

यही श्रीकृष्ण अव्यक्त प्रकृति और सनातन कर्ता है। यह श्रीकृष्ण सब प्राणियों से उत्तम है, इसी से पूज्य माना गया है ॥ २४ ॥

बुद्धिर्मनो महाद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या ।
चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ २५ ॥

बुद्धि, मन, वायु, तेज, जल, आकाश, पृथिवी, जरायुज आदि चार प्रकार के प्राणी, ये सब कृष्ण में ही प्रतिष्ठित हैं।

आदित्यश्चन्द्रमाश्चैव नक्षत्राणि ग्रहाश्च ये ।
दिशश्च विदिशश्चैव सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ २६ ॥

आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, गृह, दिशा और विदिशाएँ ये सब श्रीकृष्ण में ही स्थित हैं ॥ २६ ॥

अग्निहोत्रमुखा वेदा गायत्री छन्दसां मुखम् ।
राजा मुखं मनुष्याणां नदीनां सागरो मुखम् ॥ २७ ॥
नक्षत्राणां मुखं चन्द्र आदित्यस्तेजसां मुखम् ।
पर्वतानां मुखं मेरुर्गरुडः पततां मुखम् ॥२८॥
ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव यावती जगतो गतिः ।
सदेवकेषु लोकेषु भगवान्केशवो मुखम् ॥ २९ ॥

वेदों का अग्निहोत्र, छन्दों का गायत्री, मनुष्यों का राजा, नदियों का समुद्र, नक्षत्रों का चन्द्र, तेजों का सूर्य, पर्वतों का

मेरु, पक्षियों का गरुड़, मुख है, इसी तरह ऊपर, नीचे, बायें, दायें जितनी जगत् की गति हैं, देवों के सहित इस मनुष्यलोक में उन सबका भगवान् श्रीकृष्ण ही मुख है अर्थात् उनमें श्रेष्ठ हैं ॥ २७-२६ ॥

अयं तु पुरुषो बालः शिशुपालो न बुध्यते ।
सर्वत्र सर्वदा कृष्णं तस्मादेवं प्रभाषते ॥३०॥

यह शिशुपाल तो मूर्ख है श्रीकृष्ण को पहचानता ही नहीं है, इसी लिए सब जगह सदा श्रीकृष्ण की इसी तरह निन्दा करता रहता है ॥ ३० ॥

यो हि धर्मं विचिनुयादुत्कृष्टं मतिमान्नरः ।
स वै पश्येद्यथा धर्मं न तथा चेदिराडयम् ॥ ३१ ॥

जो बुद्धिमान् मनुष्य; उत्कृष्ट धर्म मार्ग का पता लगाना चाहता है, वही धर्म के रहस्य को जान सकता है, यह चेदिराज शिशुपाल धर्म के तत्त्व को कैसे जान सकता है ॥ ३१ ॥

सवृद्धबालेष्वथवा पार्थिवेषु महात्मसु ।
को नाऽर्हं मन्यते कृष्णं को वाऽप्येनं न पूजयेत् ॥३२॥

इन छोटे बड़े पूज्य राजाओं में कौन है, जो श्रीकृष्ण को पूज्य नहीं मानता है और कौन ऐसा है, जो इसकी पूजा न करे ॥ ३२ ॥

अथैनां दुष्कृतां पूजां शिशुपालो व्यवस्यति ।
दुष्कृतायां यथान्यायं तथाऽयं कर्तुमर्हति ॥३३॥[१४३३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वण्यर्घाहरणपर्वणि भीष्मवाक्यं नाम अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

यदि शिशुपाल इस पूजा को अनुचित समझता है, तो अनुचित करने वाले को जो दण्ड देना चाहिये, वह दण्ड दे लेवे, हम भी यही देखना चाहते हैं ॥ ३३ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत अर्घाहरणपर्व में भीष्मवाक्य का अड़तीसवां अध्याय पूरा हुआ।



उनतालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा ततो भीष्मो विरराम महाबलः ।
व्याजहारोत्तरं तत्र सहदेवोऽर्थवद्वचः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! इतना कह कर महाबली भीष्म चुप हो गये, तब सहदेव ने सार्थक वचन से उत्तर देना आरम्भ किया ॥ १ ॥

केशवं केशिहन्तारमप्रमेयपराक्रमम् ।
पूज्यमानं मया यो वः कृष्णं न सहते नृपः ॥ २ ॥
सर्वेषां बलिनां मूर्ध्नि मयेदं निहितं पदम् ।

केशी के मारने वाले, अत्यन्त पराक्रमी, मुझ से पूजे हुए केशव श्रीकृष्ण की पूजा को जो राजा नहीं सहता है, उन बलवान् राजाओं के सिर पर मैं यह चरण प्रहार करता हूँ ॥ २ ॥

एवमुक्ते मया सम्यगुत्तरं प्रब्रवीतु सः ॥ ३ ॥
स एव हि मया वध्यो भविष्यति न संशयः ।

मेरे इतना कहने पर जो विरोधी राजा हो, वह उत्तर देवे। आज मैं उस राजा को मार कर ही छोड़ूंगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ३ ॥

मतिमन्तश्च ये केचिदाचार्यं पितरं गुरुम् ॥ ४ ॥
अर्च्यमर्चितमर्घ्यार्हमनुजानन्तु ते नृपाः ।

जो बुद्धिमान् राजा हैं, वे नृप, आचार्य, पालक, गुरु, पूज्य, पूजे हुए तथा पूजा के योग्य श्रीकृष्ण का अनुमोदन करें ॥ ४ ॥

ततो न व्याजहारैषां कश्चिद् बुद्धिमतां सताम् ॥ ५ ॥
मानिनां बलिनां राज्ञां मध्ये वै दर्शिते पदे ।

सहदेव के चरण के दिखाने पर मानी, बली, बुद्धिमान् और सज्जन राजाओं मे किसी ने भी कुछ उत्तर नहीं दिया ॥ ५ ॥

ततोऽपतत्पुष्पवृष्टिः सहदेवस्य मूर्धनि ॥ ६ ॥
अदृश्यरूपा वाचश्चाऽप्यब्रुवन्साधु साध्विति ।

इस समय सहदेव के मस्तक पर फूलों की वृष्टि और अदृश्य रूप में धन्य २ की ध्वनि होने लगी ॥ ६ ॥ ॥

आविध्यदजिनं कृष्णं भविष्यद् भूतजल्पकः ॥ ७ ॥
सर्वसंशयनिर्मोक्ता नारदः सर्वलोकवित् ।
उवाचाऽखिलभूतानां मध्ये स्पष्टतरं वचः ॥ ८ ॥

भविष्यत् और भूतकाल के ज्ञाता, सब संशयों के समाधान करने वाले, सब लोकों के ज्ञाता नारद जी श्रीकृष्ण को अजेय जानते थे। ये सारे प्राणियों के मध्य में स्पष्ट वचन बोले ॥७-८॥

कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्ऽचयिष्यन्ति ये नराः ।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न संभाष्याः कदाचन ॥ ६ ॥

जो मनुष्य कमल के तुल्य नेत्र वाले श्रीकृष्ण की पूजा नहीं करेंगे। वे जीते ही मरे समझने चाहिए और उनसे कभी बात भी नहीं करनी चाहिए ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच--

पूजयित्वा च पूजार्हान्ब्रह्मक्षत्रविशेषवित् ।
सहदेवो नृणां देवः समापयत कर्म तत् ॥ १० ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! ब्राह्मण और क्षत्रियों के पूजन की विधि के जानने वाले, नरश्रेष्ठ सहदेव ने पूजा के योग्य राजाओं की पूजा करके इस कृत्य को समाप्त किया ॥ १० ॥

तस्मिन्नभ्यर्चिते कृष्णे सुनीथः शत्रुकर्षणः ।
अतिताम्रेक्षणः कोपादुवाच मनुजाधिपान् ॥ ११ ॥

इस समय श्रीकृष्ण के पूजे जाने पर शत्रु विजयी शिशुपाल अत्यन्त लाल आंखें करके राजाओं से क्रोधपूर्वक बोला ॥ ११ ॥

स्थितः सेनापतिर्योऽहं मन्यध्वं किंतु सांप्रतम् ।
युधि तिष्ठाम संनह्य समेतान्वृष्णिपाण्डवान् ॥ १२ ॥

मैं सेनापति बनकर स्थित हूँ, अब तुम किस चिन्ता में पड़े हो, हम इकट्ठे ही वृष्णि और पाण्डवों को घेर करके युद्ध करेंगे ॥ १२ ॥

इतिसर्वान्समुत्साह्य राज्ञस्तांश्चेदिपुङ्गवः ।
यज्ञोपघाताय ततः सोऽमन्त्रयत राजभिः ॥ १३ ॥

चेदिराज शिशुपाल ने इस प्रकार सारे राजाओं को भड़का कर यज्ञ विध्वंस करने के लिये राजाओं से सलाह की ॥ १३ ॥

तत्राऽऽहूता गताः सर्वे सुनीथप्रमुखा गणाः ।
समदृश्यन्त संक्रुद्धा विवर्णवदनास्तथा ॥ १४ ॥

उस यज्ञ मे निमन्त्रित किये हुए शिशुपाल आदि राजाओं के गण, अत्यन्त क्रुद्ध हो गये और उनके मुखों का रंग बदल गया ॥ १४ ॥

युधिष्ठिराभिषेकं च वासुदेवस्य चाऽर्हणम् ।
न स्याद्यथा तथा कार्यमेवं सर्वे तदाऽब्रुवन् ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर का राजसूय का अभिषेक तथा श्रीकृष्ण की पूजा, जिस तरह न हो सके, वही कार्य करना चाहिए, इस प्रकार सारे राजा कहने लगे ॥ १५ ॥

निष्कर्षान्निश्चयात्सर्वे राजानः क्रोधमूर्च्छिताः ।
अब्रुवंस्तत्र राजानो निर्वेदादात्मनिश्चयात् ॥ १६ ॥

अपने मन की निश्चय पीड़ा, अपमान और बल के निश्चय से सारे राजा क्रुद्ध हो गये और परस्पर कहने लगे ॥ १६ ॥

सुहृद्भिर्वार्यमाणानां तेषां हि वपुराबभौ ।
आमिषादपकृष्टानां सिंहानामिव गर्जताम् ॥ १७ ॥

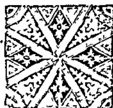
मित्रों ने उनको बहुत रोका, तोभी उनके शरीर मांस से पृथक् किये हुए और गर्जते हुए सिंहों के तुल्य क्रोध से जल उठे ॥१७

तं बलौघमपर्यन्तं राजसागरमक्षयम् ।
कुर्वाणं समयं कृष्णो युद्धाय बुबुधे तदा ॥१८॥[१४५१]

इति श्री महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वण्यर्घाहरणपर्वणि राजमन्त्रणे ऊनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥ समाप्तं चेदमर्घाहरणपर्व ।

राजाओं के समुद्र के तुल्य, क्षीण नहीं होने वाले, परस्पर समय (शर्त) करते हुए, पर्याप्त सेना के समूह को श्रीकृष्ण ने युद्ध के लिए तय्यार देखा ॥ १८ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत अर्घाहरण पर्व में राजाओं की मन्त्रणा का उनतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ और यहीं पर अर्घाहरणपर्व भी समाप्त हुआ ।



अथ शिशुपालवधपर्व

चालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततः सागरसंकाशं दृष्ट्वा नृपतिमण्डलम् ।
संवर्तवाताभिहतं भीमं क्षुब्धमिवार्णवम् ॥
रोषात्प्रचलितं सर्वमिदमाह युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
भीष्मं मतिमतां मुख्यं वृद्धं कुरुपितामहम् ।
बृहस्पतिं बृहत्तेजाः पुरुहूत इवाऽरिहा ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! प्रलय काल के वायु से हिलाये हुए, भयानक रूप से उछलते हुए समुद्र के तुल्य क्रोधसे भरे हुए राजमण्डलरूपी समुद्र को देखकर बुद्धिमानों में श्रेष्ठ, वृद्ध कुरुपितामह भीष्म से शत्रुविजयी, अत्यन्त तेजस्वी राजा युधिष्ठिर, बृहस्पति से इन्द्र के तुल्य वचन बोले॥ १-२ ॥

असौ रोषात्प्रचलितो महान्नृपतिसागरः ।
अत्र यत्प्रतिपत्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३ ॥

हे पितामह! यह महान् राजाओं का समुद्र क्रोध से उछल रहा है, इस समय जो मुझे करना चाहिये, वह सूचित कीजिये ॥ ३ ॥

यज्ञस्य च नविघ्नः स्यात्प्रजानां च हितं भवेत् ।
यथा सर्वत्र तत्सर्वं ब्रूहि मेऽद्य पितामह ॥ ४ ॥

यज्ञ में विघ्न न होवे और सब जगह प्रजा का हित हो। हे पितामह! मुझे वही इस समय बताइये ॥ ४ ॥

इत्युक्तवति धर्मज्ञे धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
उवाचेदं वचो भीष्मस्ततः कुरुपितामहः ॥ ५ ॥

धर्म के जानने वाले धर्मराज युधिष्ठिर के इतना कहने पर कुरुपितामह भीष्म ये वचन कहने लगे ॥ ५ ॥

मा भैस्त्वं कुरुशार्दूल श्वा सिंहं हन्तुमर्हति ।
शिवः पन्थाः सुनीतोऽत्र मया पूर्वतरं वृतः ॥ ६ ॥

हे कुरुशार्दूल! तू डर नहीं, क्या कुत्ता सिंह को मार सकता है। मैंने तो इस विषय में पूर्व से ही कल्याणकारी मार्ग निश्चित कर रक्खा है ॥ ६ ॥

प्रसुप्ते हि यथा सिंहे श्वानस्तस्मिन्समागताः ।
भषेयुः सहिताः सर्वे तथेमे वसुधाधिपाः ॥ ७ ॥

जब सिंह सो जाता है, तब उसके पास आकर कुत्ते भूंसने लगते हैं। इसी तरह ये राजा भी इकट्ठे हुए चिल्ला रहे हैं ॥७॥

वृष्णिसिंहस्य सुप्तस्य तथाऽमी प्रमुखे स्थिताः ।
भषन्ते तात संक्रुद्धाः श्वानः सिंहस्य सन्निधौ ॥ ८ ॥

हे तात! वृष्णि सिंह श्रीकृष्ण के चुप रहने से ये कुत्ते सामने आगये हैं और ये सिंह के पास क्रुद्ध होकर भूस रहे हैं ॥८

मा हि संबुध्यते यावत्सुप्तः सिंह इवाऽच्युतः ।
तेन सिंहीकरोत्येतान्नृसिंहश्चेदिपुङ्गवः ॥ ९ ॥

सोते हुए सिंह के सदृश श्रीकृष्ण, जब तक नहीं जागते हैं, तभी तक यह चेदिराज, नर-श्रेष्ठ शिशुपाल, इन राजाओं को सिंह बनाने की चेष्टा कर रहा है ॥ ९ ॥

पार्थिवान्पार्थिवश्रेष्ठः शिशुपालोऽप्यचेतनः ।
सर्वान्सर्वात्मना तात नेतुकामो यमक्षयम् ॥ १० ॥

हे तात ! यह चेदीश राजा शिशुपाल, इन राजाओं को भी सब तरह से यमराज के घर लेजाना चाहता है ॥ १० ॥

नूनमेतत्समादातुं पुनरिच्छत्यधोक्षजः ।
यदस्य शिशुपालस्य तेजस्तिष्ठति भारत ॥ ११ ॥

हे भारत ! श्रीकृष्ण अब शिशुपाल के उस तेज का भी अपहरण करना चाहते हैं, जो तेज इसके पास अभी बचा हुआ है ॥ ११ ॥

विप्लुता चास्य भद्रं ते बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ।
चेदिराजस्य कौन्तेय सर्वेषां च महीक्षिताम् ॥ १२ ॥

हे बुद्धिमानों मे श्रेष्ठ ! कुन्ती पुत्र, युधिष्ठिर ! इस शिशुपाल की तो बुद्धि भ्रष्ट सी होगई है और इसके साथ ही इन राजाओं की भी बुद्धि मारी गई ॥ १२ ॥

आदातुं च नरव्याघ्रो यं यमिच्छत्ययं तदा ।
तस्य विप्लवते बुद्धिरेवं चेदिपतेर्यथा ॥ १३ ॥

यह नर-श्रेष्ठ, श्रीकृष्ण, जिस राजा का संहार करना चाहता है, उसकी बुद्धि इसी तरह मारी जाती है, जैसे इस शिशुपाल की मारी गई है ॥ १३ ॥

चतुर्विधानां भूतानां त्रिषु लोकेषु माधवः ।
प्रभवश्चैव सर्वेषां निधनं च युधिष्ठिर ॥ १४ ॥

हे युधिष्ठिर ! त्रिलोकी में चारों प्रकार के प्राणियों की उत्पत्ति और संहार के कृष्ण ही कारण हैं ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इति तस्य वचः श्रुत्वा ततश्चेदिपतिर्नृपः ।
भीष्मं रूक्षाक्षरावाचः श्रावयामास भारत ॥१५॥[१४६६]

इति श्री महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि युधिष्ठिराश्वासने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

वैशम्पायन बोले—हे भारत ! इस प्रकार भीष्म के वचन सुनकर राजा शिशुपाल ने भीष्म को कठोर वाणी सुनाना आरम्भ किया ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारत सभापर्वान्तर्गत शिशुपाल वध पर्व में युधिष्ठिर के आश्वासन का चालीसवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ ।



इकतालीसवाँ अध्याय

शिशुपाल उवाचः—

विभीषिकाभिर्बह्वीभिर्भीषयन्सर्वपार्थिवान् ।
न व्यपत्रपसे कस्माद्वृद्धः सन्कुलपांसनः ॥ १ ॥

शिशुपाल कहने लगा—हे भीष्म ! अनेक विभीषिकाओं से सारे राजाओं को डराता हुआ तू कुल-कलङ्क क्यों नहीं लज्जित होता है ॥ १ ॥

युक्तमेतत्तृतीयायां प्रकृतौ वर्तता त्वया ।
वक्तुं धर्मादपेतार्थं त्वं हि सर्वकुरूत्तमः ॥ २ ॥

स्त्री और पुरुष के कर्मों के पृथक्, तीसरी ही प्रकृति (ब्रह्मचर्य या नपुंसकपन) का आचरण करते हुए तुम भीष्म को ऐसा ही धर्म से रहित वचन कहना ही चाहिये, क्यों कि तुम ही तो कौरवों में श्रेष्ठ हो ॥ २ ॥

नावि नौरिव संबद्धा यथाऽन्धो वाऽन्धमन्वियात् ।
तथाभूता हि कौरव्या येषां भीष्म त्वमग्रणीः ॥ ३ ॥

नौका से बंधी हुई नौका तथा अन्धे के पीछे जैसे अन्धा चलता है, वैसे ही ये सारे कुरुवंशी तेरे पीछे चल रहे हैं और तू इनका नेता बना है ॥ ३ ॥

पूतनाघातपूर्वाणि कर्माण्यस्य विशेषतः ।
त्वया कीर्तयताऽस्माकं भूयः प्रव्यथितं मनः ॥ ४ ॥

कृष्ण के पूतना स्त्री के मारने आदि कर्मों का वर्णन करके तो तुम ने हमारे मन को और भी व्यथित कर दिया है ॥ ४ ॥

अवलिप्तस्य मूर्खस्य केशवं स्तोतुमिच्छतः ।
कथं भीष्म न ते जिह्वा शतधेयं विदीर्यते ॥ ५ ॥

हे भीष्म ! घमण्डी और कृष्ण की प्रशंसा करते हुए तुम्ह मूर्ख की जिह्वा भी सौ टुकड़े होकर खण्ड २ में क्यों नहीं फटती है ॥ ५ ॥

यत्र कुत्सा प्रयोक्तव्या भीष्म बालतरैर्नरैः ।
तमिमं ज्ञानवृद्धः सन्गोपं संस्तोस्तुमिच्छसि ॥६॥

हे भीष्म ! मूर्ख से मूर्ख मनुष्य भी जिस कृष्ण की निन्दा करता है , उस गोपाल की तुम ज्ञानी हो कर भी प्रशंसा करते हो, यह बड़ी विचित्र बात है ॥ ६ ॥

यद्यनेन हता बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम् ।
तौ वाऽश्ववृषभौ भीष्म यौ न युद्धविशारदौ ॥ ७ ॥

हे भीष्म ! यदि कृष्ण ने बचपन में कुछ पक्षी या घोड़े, बैल मार लिए तो क्या है, क्योंकि वे युद्ध विद्या के खिलाड़ी नहीं थे ॥ ७ ॥

चेतनारहितं काष्ठं यद्यनेन निपातितम् ।
पादेन शकटं भीष्म तत्र किं कृतमद्भुतम् ॥ ८ ॥

हे भीष्म ! यदि चेतनता से रहित काष्ठ के शकट (गाड़े) को इसने अपने पैर से फेंक दिया, तो इसमें अद्भुत बात ही क्या की ।

वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः ।
तदा गोवर्द्धनो भीष्म न तच्चित्रं मतं मम ॥ ६ ॥

यदि इसने वल्मीक के बराबर गोवर्धन पर्वत सात दिन तक धारण कर लिया, तो इसमें क्या विचित्रता हुई ॥ ६ ॥

भुक्तमेतेन बह्वन्नं क्रीडता नगमूर्धनि ।
इति ते भीष्म शृण्वानाः परे विस्मयमागताः ॥ १० ॥

पर्वत की चोटी पर क्रीड़ा करते हुए इस पेटार्थी कृष्ण ने बहुत सा अन्न भक्षण कर लिया, यह सुन कर तो हमको अवश्य अचम्भा है ॥ १० ॥

यस्य चाऽनेन धर्मज्ञ भुक्तमन्नं बलीयसः ।
स चाऽनेन हतः कंस इत्येतन्न महाद्भुतम् ॥ ११ ॥

हे धर्मात्मन्! इसने जिस बलवान् राजा कंस का अन्न खाया, उसी विश्वासी को मार गिराया, इसमें भी अचम्भे की कोई बात नहीं है ॥ ११ ॥

न ते श्रुतमिदं भीष्म नूनं कथयतां सताम् ।
यद्वक्ष्ये त्वामधर्मज्ञं वाक्यं कुरुकुलाधम ॥ १२ ॥

हे कुरुकुलाधम ! भीष्म ! सज्जनों के धर्म की व्याख्या करने के समय, तू ने यह वाक्य सुने ही नहीं होंगे; जो तुम अधार्मिक से आज मैं कह रहा हूँ ॥ १२ ॥

स्त्रीषु गोषु न शस्त्राणि पातयेद् ब्राह्मणेषु च ।
यस्य चाऽन्नानि भुंजीत यत्र च स्यात्प्रतिश्रयः ॥१३॥

यह कृष्ण, बुद्धिमानों में श्रेष्ठ और जगत् में शक्तिशाली है; इस प्रकार की हुई प्रशंसा को यह भी अपने में संभव समझ रहा है, परन्तु यह सब कुछ मिथ्या है॥ १७-१८ ॥

न गाथा गाथिनं शास्ति बहु चेदपि गायति ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि भूलिंगशकुनिर्यथा ॥ १९ ॥

गाने वाले को उसका गीत कुछ सिखा नहीं सकता है, चाहे वह कितनी बार ही क्यों न गावे। भूलिङ्ग पक्षी कितना ही करे, परन्तु वह अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ सकता है॥ १९ ॥

नूनं प्रकृतिरेषा ते जघन्या नाऽत्र संशयः ।
अतः पापीयसीं चैषां पाण्डवानामपीष्यते ॥ २० ॥
येषामर्च्यतमः कृष्णस्त्वं च येषां प्रदर्शकः ।
धर्मवांस्त्वमधर्मज्ञः सतां मार्गादवप्लुतः ॥ २१ ॥

तेरी प्रकृति निश्चय ही बड़ी नीच है, जिससे इन पाण्डवों की प्रकृति भी [illegible] रही है, इसी से [illegible]
मार्ग दर्शक तू [illegible] के मार्ग से भ्र[illegible]

चेत्त्वं धर्मं विजानासि यदि प्राज्ञा मतिस्तव ।
अन्यकामा हि धर्मज्ञा कन्यका प्राज्ञमानिना ।
अम्बा नामेति भद्रं ते कथं साऽपहृता त्वया ॥ २३ ॥

यदि तू धर्म को जानता है और तेरी बुद्धि मे कुछ समझ है, तो तुझ बुद्धि के अभिमानी ने अन्य की कामना करने वाली, धर्मशील, अम्बा नाम की कन्या का क्यों अपहरण किया ॥२३॥

तां त्वयाऽपहृतां भीष्म कन्यां नैषितवान्यतः ।
भ्राता विचित्रवीर्यस्ते सतां मार्गमनुष्ठितः ॥ २४ ॥

हे भीष्म ! जिस अम्बा का तू ने अपहरण किया, उसको तेरे भाई विचित्रवीर्य ने स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वह सज्जनों के मार्ग का अनुयायी था ॥ २४ ॥

दारयोर्यस्य चाऽन्येन मिषतः प्राज्ञमानिनः ।
तव जातान्यपत्यानि सज्जनाचरिते पथि ॥ २५ ॥

अपने को ज्ञानी मानने वाले तुझ भीष्म के देखते हुए ही विचित्रवीर्य की भार्याओं मे अन्य ने आकर सन्तान उत्पन्न की जो सज्जनों के आचरण किये हुए मार्गानुसार बतायी जाती है।

को हि धर्मोस्ति ते भीष्म ब्रह्मचर्यमिदं वृथा ।
यद्धारयसि मोहाद्वा क्लीबत्वाद्वा न संशयः ॥ २६ ॥

हे भीष्म ! तेरा धर्म ही क्या है। यह तेरा ब्रह्मचर्य भी वृथा ही है, जिसको तू अज्ञान से या नपुंसक होने के कारण से धारण कर रहा है ॥ २६ ॥

यह कृष्ण, बुद्धिमानों में श्रेष्ठ और जगत् में शक्तिशाली है; इस प्रकार की हुई प्रशंसा को यह भी अपने में संभव समझ रहा है, परन्तु यह सब कुछ मिथ्या है॥ १७-१८॥

न गाथा गाथिनं शास्ति बहु चेदपि गायति।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि भूलिंगशकुनिर्यथा॥ १९॥

गाने वाले को उसका गीत कुछ सिखा नहीं सकता है, चाहे वह कितनी बार ही क्यों न गावे। भूलिङ्ग पक्षी कितना ही करे, परन्तु वह अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ सकता है॥ १९॥

नूनं प्रकृतिरेषा ते जघन्या नाऽत्र संशयः।
अतः पापीयसीं चैषां पाण्डवानामपीष्यते॥ २०॥
येषामर्च्यतमः कृष्णस्त्वं च येषां प्रदर्शकः।
धर्मवांस्त्वमधर्मज्ञः सतां मार्गादवप्लुतः॥ २१॥

तेरी प्रकृति निश्चय ही बड़ी नीच है, जिससे इन पाण्डवों की प्रकृति भी पापमयी हो रही है, इसी से इनका पूज्य कृष्ण और मार्ग दर्शक तू है, जो सज्जनों के मार्ग से भ्रष्ट है और अधार्मिक होकर भी धर्मोपदेशक बना है॥ २०-२१॥

को हि धर्मिणमात्मानं जानञ्ज्ञानविदां वरः।
कुर्याद्यथा त्वया भीष्म कृतं धर्ममवेक्षता॥ २२॥

हे भीष्म! ऐसा कौन ज्ञानियों में श्रेष्ठ है, जो अपने को धर्मात्मा जानता हुआ और धर्म की ओर देखता हुआ भी ऐसा अनुचित करे, जैसा तू ने किया है॥ २२॥

एवं हि कथयन्त्यन्ये नरा ज्ञानविदः पुरा ।
भीष्म यत्तदहं सम्यग्वक्ष्यामि तव शृण्वतः ॥ ३१ ॥

हे भीष्म ! पूर्व कालमें ज्ञानी लोग, जिस कथा को कहते रहे हैं, वह मैं तुमको सुनाता हूं ॥ ३१ ॥

वृद्धः किल समुद्रान्ते कश्चिद्धंसोऽभवत्पुरा ।
धर्मवागन्यथावृत्तः पक्षिणः सोऽनुशास्ति च ॥ ३२ ॥

प्राचीन काल में समुद्र के तीर पर एक वृद्ध हंस रहता था। यह वाणी से धर्म की व्याख्या करने वाला और आचरण से अधर्मी था। यह पक्षियों को धर्म का उपदेश देता रहता था ॥ ३२ ॥

धर्मं चरत माऽधर्ममिति तस्य वचः किल ।
पक्षिणः शुश्रुवुर्भीष्म सततं सत्यवादिनः ॥ ३३ ॥

हे भीष्म ! धर्म का आचरण करो, कोई भी अधर्म मत करो, उसकी इस वाणी को सत्यवादी पक्षी सदा सुनते रहते थे ॥ ३३ ॥

अथाऽस्य भक्ष्यमाजह्रुः समुद्रजलचारिणः ।
अण्डजा भीष्म तस्याऽन्ये धर्मार्थमिति शुश्रुम ॥ ३४ ॥

हे भीष्म ! इस के लिए समुद्र पर रहने वाले अन्य पक्षी धर्म समझ कर भोजन दे दिया करते थे, यह सुना जाता है ।

ते च तस्य समभ्याशे निक्षिप्याऽण्डानि सर्वशः ।
समुद्राम्भस्यमज्जन्त चरन्तो भीष्म पक्षिणः ॥ ३५ ॥

न त्वहं तव धर्मज्ञ पश्याम्युपचयं क्वचित् ।
न हि ते सेविता वृद्धा य एवं धर्ममब्रवीः ॥ २७ ॥

हे धर्मज्ञ ! मैं तो कुछ भी तेरे धर्म की वृद्धि नहीं देख रहा हूं । तूने ऐसे वृद्धों की सेवा ही नहीं की, जो तुझे कुछ धर्म सिखाते ॥ २७ ॥

इष्टं दत्तमधीतं च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।
सर्वमेतदपत्यस्य कलां नार्हति षोडशीम् ॥ २८ ॥

अपनी इच्छा के अनुसार दान, अध्ययन और बड़ी २ दक्षिणा वाले यज्ञ भी, सन्तानोत्पत्ति के पुण्य की सोलहवीं कला को भी नहीं पाते हैं ॥ २८ ॥

व्रतोपवासैर्बहुभिः कृतं भवति भीष्म यत् ।
सर्वं तदनपत्यस्य मोघं भवति निश्चयात् ॥ २९ ॥

हे भीष्म ! व्रत और बहुत से उपवासों से जो कुछ सुकृत होता है, वह सब कुछ पुत्रोत्पत्ति नहीं करने वाले मनुष्य के निःसन्देह वृथा ही है ॥ २९ ॥

सोऽनपत्यश्च वृद्धश्च मिथ्याधर्मानुसारकः ।
हंसवत्त्वमपीदानीं ज्ञातिभ्यः प्राप्नुया वधम् ॥ ३० ॥

हे भीष्म ! मिथ्या धर्म के अनुसार चलने वाले, वृद्ध और सन्तान रहित तुम हंस के समान अपने जाति के भाइयों से आज मृत्यु प्राप्त करोगे ॥ ३० ॥

हे भीष्म ! हंस के तुल्य आचरण करने वाले तुझे भी ये क्रुद्ध हुए राजा उसी तरह मारेंगे जैसे उन पक्षियों ने हंस को मार डाला ॥ ४० ॥

गाथामप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः ।
भीष्म यां तां च ते सम्यक्कथयिष्यामि भारत ॥ ४१ ॥

हे भारत ! इस विषय में जो पुराने लोग हैं, वे एक कहावत कहते हैं। मैं तुम को वह ठीक २ सुना देता हूं ॥ ४१ ॥

अन्तरात्मन्यभिहते रौषि पत्ररथाऽशुचि ।
अण्डभक्षणकर्मैतत्तव वाचमतीयते ॥ ४२ ॥ [१५०८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवाक्य एकचत्वरिंशोऽध्यायः ॥४१॥

हे हंस ! कामादि दोषों के कारण तेरी आत्मा तो दबी पड़ी है और तू धर्म का उपदेश करता है। तेरा यह अण्डे भक्षण करने का दुष्ट कर्म, तेरी वाणी के आगे निकल कर प्रकट होजाता है ॥ ४२ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत शिशुपाल-वध-पर्व में शिशुपाल वाक्य का इकतालीसवां अध्याय पूरा हुआ ।



हे भीष्म ! ये पक्षी, उसके पास अपने अण्डों को रखकर समुद्र पर स्नान के लिए चले जाते थे ॥ ३५ ॥

तेषामण्डानि सर्वेषां भक्षयामास पापकृत् ।
स हंसः संप्रमत्तानामप्रमत्तः स्वकर्मणि ॥ ३६ ॥

उन प्रमादी पक्षियों के अण्डों को, अपने कार्य में सावधान यह पापी हंस खा जाया करता था ॥ ३६ ॥

ततः प्रक्षीयमाणेषु तेषु तेष्वण्डजोऽपरः ।
अशङ्कत महाप्राज्ञः स कदाचिद्ददर्श ह ॥ ३७ ॥

जब अण्डे क्षीण होने लगे तो किसी बुद्धिमान् पक्षी ने यह ताड़ लिया और कभी उस हंस को अण्डे खाते भी देख लिया ॥ ३७ ॥

ततः स कथयामास दृष्ट्वा हंसस्य किल्बिषम् ।
तेषां परमदुःखार्तः स पक्षी सर्वपक्षिणाम् ॥ ३८ ॥

इस प्रकार उस हंस के पाप को देख कर, उस दुःखी पक्षी ने सारे पक्षियों से यह वृतान्त कह दिया ॥ ३८ ॥

ततः प्रत्यक्षतो दृष्ट्वा पक्षिणस्ते समीपगाः ।
निजघ्नुस्तं तदा हंसं मिथ्यावृत्तं कुरूत्तम ॥ ३९ ॥

हे कुरुनन्दन ! पास में जाकर उन पक्षियों ने उस दुराचारी हंस को पक्षियों के अण्डे खाते देखकर मार डाला ॥ ३९ ॥

ते त्वां हंससधर्माणमपीमे वसुधाधिपाः ।
निहन्युर्भीष्म संक्रुद्धाः पक्षिणस्तमिवाऽण्डजम् ॥४०॥

भुज्यतामिति तेनोक्ताः कृष्ण भीमधनंजयाः ।
जरासन्धेन कौरव्य कृष्णेन निकृतं कृतम् ॥ ५ ॥

हे कौरव्य ! जब जरासन्ध ने कृष्ण भीम और अर्जुन से भोजन करने को कहा, तो इसी कृष्ण ने वहां भोजन का निषेध किया था ॥ ५ ॥

यद्ययं जगतः कर्ता यथैनं मूर्ख मन्यसे ।
कस्मान्न ब्राह्मणं सम्यगात्मानमवगच्छति ॥ ६ ॥

हे मूर्ख ! भीष्म ! यदि यह कृष्ण जगत् का कर्ता है जैसा तू मानता है तो फिर यह अपने को ब्राह्मण (ब्रह्मभाव) भी अच्छी तरह क्यों नहीं समझता है ॥ ६ ॥

इदं त्वाश्चर्यभूतं मे यदीमे पाण्डवास्त्वया ।
अपकृष्टाः सतां मार्गान्मन्यन्ते तच्च साध्विति ॥ ७ ॥

मुझे तो आज यह आश्चर्य हो रहा है, कि ये पाण्डव भी तू ने सद्धर्म से दूर खैंच लिए और यह इसे ही मार्ग मान रहे हैं ॥ ७ ॥

अथ वा नैतदाश्चर्यं येषां त्वमसि भारत ।
स्त्रीसधर्मा च वृद्धश्च सर्वार्थानां प्रदर्शकः ॥ ८ ॥

हे भारत ! इसमें कुछ आश्चर्य भी नहीं है, जो सभी के समान बुद्धि रखने वाला तू वृद्ध उनका मार्ग प्रदर्शक बना है।

चवालीसवां अध्याय

शिशुपाल उवाच—

स मे बहुमतो राजा जरासन्धो महाबलः ।
योऽनेन युद्धं नेयेष दासोऽयमिति संयुगे ॥ १ ॥

शिशुपाल कहने लगा—हे भीष्म ! मैं तो महाबली राजा जरासन्ध को मान्य मानता हूं। जिसने इस कृष्ण को क्षुद्र दास समझ कर मुकाबिले में युद्ध नहीं किया ॥ १ ॥

केशवेन कृतं कर्म जरासन्धवधे तदा ।
भीमसेनार्जुनाभ्यां च कस्तत्साध्विति मन्यते ॥ २ ॥

जरासन्ध के मारने के लिए इस कृष्ण ने भीम और अर्जुन के साथ जो कर्म किया है, उसे कौन उचित मान सकता है ॥२॥

अद्वारेण प्रविष्टेन च्छद्मना ब्रह्मवादिना ।
दृष्टः प्रभावः कृष्णेन जरासन्धस्य भूपतेः ॥ ३ ॥

द्वार छोड़ कर नगर में घुसे हुए और छल से ब्राह्मण बने हुए, इस कृष्ण ने स्वयं जरासन्ध का प्रभाव देखा है ॥ ३ ॥

येन धर्मात्मनाऽऽत्मानं ब्रह्मण्यमविजानता ।
नेषितं पाद्यमस्मै तद्दातुमग्रे दुरात्मने ॥ ४ ॥

इस दुरात्मा कृष्ण के लिए जब जरासन्ध पाद्य देने लगा तो अपने को ब्राह्मण न जानते हुए इस-धर्म ध्वजी ने वह पाद्य ग्रहण नहीं किया ॥ ४ ॥

कार्तिकेय अपने पुत्र को शंकर के सदृश, वेग से झपटते हुए, मनस्वी भीम को महाबाहु भीष्म ने पकड़ लिया ॥ १३ ॥

तस्य भीष्मस्य भीष्मेण वार्यमाणस्य भारत ।
गुरुणा विविधैर्वाक्यैः क्रोधः प्रशममागतः ॥ १४ ॥

हे भारत ! पूज्य भीष्म द्वारा रोके हुए भीम का क्रोध भीष्म के अनेक शान्त वचनों से शान्त हो गया ॥ १४ ॥

नाऽतिचक्राम भीष्मस्य स हि वाक्यमरिंदमः ।
समुद्धृतो घनापाये वेलामिव महोदधिः ॥ १५ ॥

इस अरि-विजयी भीम ने वर्षा के अनन्तर मर्यादा को नहीं उल्लंघन करने वाले लहलहाते समुद्र की भांति भीष्म के वाक्यों का उल्लंघन नहीं किया ॥ १५ ॥

शिशुपालस्तु संक्रुद्धे भीमसेने जनाधिप ।
नाऽकम्पत तदा वीरः पौरुषे स्वे व्यवस्थितः ॥ १६॥

हे जनाधिप ! भीमसेन के कुपित होने पर वीर शिशुपाल कुछ भी विचलित नहीं हुआ, क्योंकि इसने अपने पुरुषार्थ का अवलम्बन कर रक्खा था ॥ १६ ॥

उत्पतन्तं तु वेगेन पुनः पुनररिन्दम ।
न स तं चिन्तयामास सिंहः क्रुद्धो मृगं यथा ॥१७ ॥

हे अरिमर्दन ! भीम के बार बार उछलने पर भी हिरन को क्रुद्ध सिंह के तुल्य शिशुपाल ने उसका कुछ भी ख़याल नहीं किया ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रूक्षं रूक्षाक्षरं बहु ।
चुकोप बलिनां श्रेष्ठो भीमसेनः प्रतापवान् ॥ ६ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! शिशुपाल के कठोर अक्षर वाले ये रूक्ष वचन सुनकर बलवानों में श्रेष्ठ प्रतापी भीम, कुपित हो उठा ॥ ६ ॥

तथा पद्मप्रतीकाशे स्वभावायतविस्तृते ।
भूयः क्रोधाभिताम्राक्षे रक्ते नेत्रे बभूवतुः ॥ १० ॥

इसके कमल के तुल्य, स्वभाव से ही लम्बे चौड़े नेत्र, क्रोध से ताम्र के समान लाल होगये ॥ १० ॥

त्रिशिखां भ्रु कुटीं चाऽस्य ददृशुः सर्वपार्थिवाः ।
ललाटस्थां त्रिकूटस्थां गङ्गां त्रिपथगामिव ॥ ११ ॥

त्रिकूट पर्वत पर बहती हुई गङ्गा के तुल्य इस भीमसेन के ललाट से सारे राजाओं ने तीन शिखावाली भ्रकुटी देखी ॥ ११ ॥

दन्तान्संदंशतस्तस्य कोपाद्ददृशुराननम् ।
युगान्ते सर्वभूतानि कालस्येव जिघत्सतः ॥ १२ ॥

युग के अन्त में सारे प्राणियों को भक्षण करते हुए काल के तुल्य, कोप से दांत पीसते हुए भीम के मुख को राजा लोग देखने लगे ॥ १२ ॥

उत्पतन्तं तु वेगेन जग्राहैनं मनस्विनम् ।
भीष्म एव महाबाहुर्महासेनमिवेश्वरः ॥ १३ ॥

तेतालीसवां अध्याय

भीष्म उवाच—

चेदिराजकुले जातस्त्र्यक्ष एष चतुर्भुजः ।
रासभारावसदृशं ररास च ननाद च ॥ १ ॥

भीष्म बोले—चेदिराज के कुल में यह शिशुपाल तीन आंख और चार भुजा वाला उत्पन्न हुआ था इसने उत्पन्न होते ही गधे की तरह रेंकना और गर्जना आरम्भ किया ॥ १ ॥

तेनाऽस्य मातापितरौ त्रेसतुस्तौ सबान्धवौ ।
वैकृतं तस्य तौ दृष्ट्वा त्यागाय कुरुतां मतिम् ॥ २ ॥

इससे इसके माता पिता अपने बान्धवों के साथ बहुत घबराए और इसके इस विकृत रूप को देखकर इसके परित्याग करने के लिये विचार करने लगे ॥२॥

ततः सभार्यं नृपतिं सामात्यं सपुरोहितम् ।
चिन्तासंमूढहृदयं वागुवाचाऽशरीरिणी ॥ ३ ॥

इसके अनन्तर अपनी भार्या, मन्त्री और पुरोहित के साथ चिन्ता में व्यग्र हुए राजा को आकाशवाणी सुनाई दी ॥ ३ ॥

एष ते नृपते पुत्रः श्रीमाञ्जातो बलाधिकः ।
तस्मादस्मान्न भेतव्यमव्यग्रः पाहि वै शिशुम् ॥ ४ ॥

हे नृपते ! यह तेरे घर में बड़ा ऐश्वर्यशाली, बलवान् पुत्र उत्पन्न हुआ है, इसलिए इस पुत्र से तू डर नहीं, निःशङ्क होकर इस पुत्र की रक्षा कर ॥ ४ ॥

प्रहसंश्चाऽब्रवीद्वाक्यं चेदिराजः प्रतापवान् ।
भीमसेनमतिक्रुद्धं दृष्ट्वा भीमपराक्रमम् ॥ १८ ॥

भयानक पराक्रम करने वाले भीम को अत्यन्त क्रुद्ध हुआ देखकर भी प्रतापी चेदिराज हंसता हुआ यह कहने लगा ॥१८॥

मुञ्चैनं भीष्म पश्यन्तु यावदेन नराधिपाः ।
मत्प्रभावविनिर्दग्धं पतङ्गमिव वह्निना ॥ १९ ॥

हे भीष्म ! तुम इस भीम को छोड़दो। अग्नि से पतङ्ग के तुल्य मेरे प्रभाव से जला हुआ इस भीम को इन सारे राजाओं को देखने दो ॥ १९ ॥

ततश्चेदिपतेर्वाक्यं श्रुत्वा तत्कुरुसत्तमः ।
भीमसेनमुवाचेदं भीष्मो मतिमतां वरः ॥ २०[१५२८]

इति श्री० म० संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि शिशुपाल, वधपर्वणि भीमक्रोधे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

चेदीश्वर शिशुपाल के ये वचन सुन कर कुरुवंश श्रेष्ठ, बुद्धिमान् भीष्म-भीमसेन से यह वचन कहने लगा ॥ २० ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत शिशुपालवधपर्व में भीम क्रोध का बयालीसवां अध्याय पूरा हुआ ।

तेतालीसवां अध्याय

भीष्म उवाच—

चेदिराजकुले जातस्त्र्यक्ष एष चतुर्भुजः ।
रासभारावसदृशं रुराव च ननाद च ॥ १ ॥

भीष्म बोले—चेदिराज के कुल में यह शिशुपाल तीन आंख और चार भुजा वाला उत्पन्न हुआ था इसने उत्पन्न होते ही गधे की तरह रैंकना और गर्जना आरम्भ किया ॥ १ ॥

तेनाऽस्य मातापितरौ त्रेसतुस्तौ सबान्धवौ ।
वैकृतं तस्य तौ दृष्ट्वा त्यागाय कुरुतां मतिम् ॥ २ ॥

इससे इसके माता पिता अपने बान्धवों के साथ बहुत घबराए और इसके इस विकृत रूप को देखकर इसके परित्याग करने के लिये विचार करने लगे ॥२॥

ततः सभार्यं नृपतिं सामात्यं सपुरोहितम् ।
चिन्तासंमूढहृदयं वागुवाचाऽशरीरिणी ॥ ३ ॥

इसके अनन्तर अपनी भार्या, मन्त्री और पुरोहित के साथ चिन्ता में व्यग्र हुए राजा को आकाशवाणी सुनाई दी ॥ ३ ॥

एष ते नृपते पुत्रः श्रीमाञ्जातो बलाधिकः ।
तस्मादस्मान्न भेतव्यमव्यग्रः पाहि वै शिशुम् ॥ ४ ॥

हे नृपते ! यह तेरे घर में बड़ा ऐश्वर्यशाली, बलवान् पुत्र उत्पन्न हुआ है, इसलिए इस पुत्र से तू डर नहीं, निःशङ्क होकर इस पुत्र की रक्षा कर ॥ ४ ॥

न चैव तस्य मृत्युर्वै न कालः प्रत्युपस्थितः ।
मृत्युर्हन्ताऽस्य शस्त्रेण स चोत्पन्नो नराधिप ॥ ५

हे नराधिप ! इसकी अभी मृत्यु नहीं होगी और न इसका अभी काल उपस्थित हुआ है । इसकी मृत्यु या शस्त्र से मारने वाला कहीं अन्यत्र उत्पन्न हो चुका है ॥ ५ ॥

संश्रुत्योदाहृतं वाक्यं भूतमन्तर्हितं ततः ।
पुत्रस्नेहाभिसंतप्ता जननी वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥

इस प्रकार कहे हुए वाक्य को सुन कर छुपे हुए भूत को पुत्र के स्नेह से कातर, जननी, यह वचन बोली ॥ ६ ॥

येनेदमीरितं वाक्यं ममैतं तनयं प्रति ।
प्राञ्जलिस्तं नमस्यामि ब्रवीतु स पुनर्वचः ॥ ७ ॥

जिसने मेरे पुत्र को लक्ष्य करके ये वाक्य कहे हैं, मैं उसको हाथ जोड़ कर नमस्कार करती हूं, कि वह फिर कुछ वचन बोले ॥ ७ ॥

यथातथ्येन भगवान्देवो वा यदि वेतरः ।
श्रोतुमिच्छामि पुत्रस्य कोऽस्य मृत्युर्भविष्यति ॥ ८ ॥

जो कोई देव या अन्य व्यक्ति, इस मेरे पुत्र की मृत्यु बनेगा, मैं उसका नाम ठीक २ सुनना चाहती हूं ॥ ८ ॥

अन्तर्भूतं ततो भूतमुवाचेदं पुनर्वचः ।
यस्योत्सङ्गे गृहीतस्य भुजावभ्यधिकावुभौ ॥ ९ ॥

पतिष्यतः क्षितितले पञ्चशीर्षाविवोरगौ ।
तृतीयमेतद्बालस्य ललाटस्थं तु लोचनम् ॥ १० ॥
निमज्जिष्यति यं दृष्ट्वा सोऽस्य मृत्युर्भविष्यति ।

अलक्षित हुए भूत ने फिर ये वचन कहे, कि जिसकी गोद में जाने से पांच शिर वाले सर्पों के तुल्य इसकी दो अधिक भुजायें भूमि पर गिर पड़े और इस बच्चे का तीसरा ललाट का नेत्र भी जिसको देखकर लुप्त हो जावे, वह इसकी मृत्यु होगा

त्र्यक्षं चतुर्भुजं श्रुत्वा तथा च समुदाहृतम् ॥ ११ ॥
पृथिव्यां पार्थिवाः सर्वे अभ्यगच्छन्दिदृक्षवः ।

तीन आंख वाला और चतुर्भुजधारी, लोगों के कहे हुए बालक को सुन कर पृथिवी के सारे राजा देखने की इच्छा से आने लगे

तान्पूजयित्वा संप्राप्तान्यथार्हं स महिपतिः ॥ १२ ॥
एकैकस्य नृपस्यांके पुत्रमारोपयत्तदा ।

राजा आये हुए राजाओं की यथायोग्य पूजा करके एक २ राजा की गोद मे इस बालक को बैठाने लगा ॥ १२ ॥

एवं राजसहस्राणां पृथक्त्वेन यथाक्रमम् ॥ १३ ॥
शिशुरङ्के समारूढो न तत्प्राप निदर्शनम् ।

इस प्रकार एक सहस्र राजाओं की गोदी मे पृथक् २ यह बालक रख दिया गया, परन्तु पूर्वोक्त दशा कहीं भी नहीं हुई ॥ १३ ॥

एतदेव तु संश्रुत्य द्वारवत्यां महाबलौ ॥ १४ ॥
ततश्चेदिपुरीं प्राप्तौ संकर्षणजनार्दनौ ।
यादवौ यादवीं द्रष्टुं स्वसारं तौ पितुस्तदा ॥ १५ ॥

हे राजन् ! इस प्रकार द्वारका मे ही यह सब सुनकर यदुवंशी महाबली बलराम और कृष्ण, यदुवंशोत्पन्न अपने पिता की बहन से मिलने को चेदिपुरी की ओर चल दिये ॥ १४, १५ ॥

अभिवाद्य यथान्यायं यथाश्रेष्ठं नृपं च ताम् ।
कुशलानामयं पृष्ट्वा निषण्णौ रामकेशवौ ॥ १६ ॥

न्याय के अनुसार सर्वश्रेष्ठ राजा को और अपनी भूवा को नमस्कार करके तथा कुशल पूछकर राम और कृष्ण बैठ गए ॥ १६ ॥

सोऽभ्यर्च्य तौ तदा वीरौ प्रीत्या चाऽभ्यधिकं ततः ।
पुत्रं दामोदरोत्सङ्गे देवी संन्यदधात्स्वयम् ॥ १७ ॥

इसके अनन्तर चेदिपति इन दोनों वीरों की पूजा करके बड़ा प्रसन्न हुआ और अपने पुत्र को देवी (भूवा) ने कृष्ण की गोद में अपने आप बैठाया ॥ १७ ॥

न्यस्तमात्रस्य तस्याङ्के भुजावभ्यधिकावुभौ ।
पेततुस्तच्च नयनं न्यमज्जत ललाटजम् ॥ १८ ॥

गोदी मे बैठते ही इसके दो अधिक हाथ गिर गये और ललाट का नेत्र लुप्त हो गया ॥ १८ ॥

तद् दृष्ट्वा व्यथिता त्रस्ता वरं कृष्णमयाचत ।
ददस्व मे वरं कृष्ण भयार्ताया महाभुज ॥ १९ ॥
त्वं ह्यार्तानां समाश्वासो भीतानामभयप्रदः ।

यह देख कर वह बड़ी घबराई और कृष्ण से वर मांगने लगी। महाभुज कृष्ण ! मुझ डरी हुई को तू वरदान दे। तू ही दुखियों को आश्वासन और डरे हुए मनुष्यों को अभय देने वाला है ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्ततः कृष्णः सोऽब्रवीद्यदुनन्दनः ॥ २० ॥
मा भैस्त्वं देवि धर्मज्ञे न मत्तोऽस्ति भयं तव ।

अपनी भुआ के इतना कहने पर यदुनन्दन कृष्ण कहने लगे—हे धर्म के जानने वाली ! तू डर नहीं। मुझसे तो तुझे कोई डर हो नहीं सकता है ॥ २० ॥

ददामि कं वरं किं च करवाणि पितृष्वसः ॥ २१ ॥
शक्यं वा यदि वाऽशक्यं करिष्यामि वचस्तव ।

भूवा जी, आपको क्या वरदान दूं और आपकी क्या सेवा करूं। तुम्हारा वचन शक्य हो या अशक्य, मैं उसको पूरा करूंगा ॥ २१ ॥

एवमुक्ता ततः कृष्णमब्रवीद्यदुनन्दनम् ॥ २२ ॥
शिशुपालस्याऽपराधान्क्षमेथास्त्वं महाबल ।
मत्कृते यदुशार्दूल विद्ध्येनं मे वरं प्रभो ॥ २३ ॥

कृष्ण के इतना कहने पर वह देवी श्रीकृष्ण से बोली;— हे महाबल ! तू शिशुपाल के अपराधों को मेरे कारण से क्षमा करते रहना। हे प्रभो ! यही मेरा वर है ॥ २२-२३ ॥

कृष्ण उवाचः—

अपराधशतं क्षाम्यं मया ह्यस्य पितृष्वसः ।
पुत्रस्य ते वधार्हस्य मा त्वं शोके मनः कृथाः ॥ २४ ॥

कृष्ण बोले—भूआ ! मैं इस तुम्हारे पुत्र के वध के योग्य सौ अपराधों को क्षमा करूंगा। तू अब अपने शोक को छोड़ दे ॥ २४ ॥

भीष्म उवाच—

एवमेष नृपः पापः शिशुपालः सुमन्दधीः ।
त्वां समाह्वयते वीर गोविन्दवरदर्पितः ॥२५॥ [१५५३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवृत्तान्तकथने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

भीष्म बोले—हे वीर भीम ! महा मूर्ख, पापी शिशुपाल श्रीकृष्ण के वर से अभिमानी हो कर ही लड़ने के लिए तेरा आह्वान कर रहा है ॥ २५ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत शिशुपालवधपर्व में शिशुपाल वृत्तान्त-कथन का तेतालीसवां अध्याय पूरा हुआ ।



चवालीसवाँ अध्याय

भीष्म उवाच—

नैषा चेदिपतेर्बुद्धिर्यया त्वाह्वयतेऽच्युतम् ।
नूनमेष जगद्भर्तुः कृष्णस्यैव विनिश्चयः ॥ १ ॥

भीष्म कहने लगे—हे भीम ! यह चेदिपति शिशुपाल की बुद्धि नहीं है, जो तुम महाबली को, यह युद्ध के लिए ललकार रहा है, किन्तु निःसंदेह जगत भर्ता श्रीकृष्ण की ही यह इच्छा है ॥ १ ॥

को हि मां भीमसेनाद्य क्षितावर्हति पार्थिवः ।
क्षेप्तुं कालपरीतात्मा यथैष कुलपांसनः ॥ २ ॥

हे भीमसेन ! मृत्यु के मुख में जाने वाला ,कौन राजा होगा; जो मुझ पर इस कुल-कलङ्क शिशुपाल की भांति आक्षेप कर सके ॥ २ ॥

एष ह्यस्य महाबाहुस्तेजोंशश्च हरेर्ध्रुवम् ।
तमेव पुनरादातुमिच्छत्युत तथा विभुः ॥ ३ ॥

यह महाबाहु शिशुपाल, निश्चय हरि के तेज का अंश है। भगवान् अब इस तेज का अपहरण करना चाहते हैं ॥ ३ ॥

येनैष कुरुशार्दूल शार्दूल इव चेदिराट् ।
गर्जत्यतीव दुर्बुद्धिः सर्वानस्मानचिन्तयन् ॥ ४ ॥

हे कुरु-शार्दूल ! इसी से यह दुर्बुद्धि चेदिराट् शिशुपाल, हम सबकी परवाह न करके सिंह के तुल्य गर्जना कर रहा है ॥४

वैशम्पायन उवाच—

ततो न ममृषे चैद्यस्तद्भीष्मवचनं तदा ।
उवाच चैनं संक्रुद्धः पुनर्भीष्ममथोत्तरम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायन बोले—अब भी शिशुपाल ने भीष्म के वचनों को सहन नहीं किया और क्रुद्ध हो कर भीष्म को फिर उत्तर देने लगा ॥ ५ ॥

शिशुपाल उवाच—

द्विषतां नोऽस्तु भीष्मैष प्रभावः केशवस्य यः ।
यस्य संस्तववक्ता त्वं बन्दिवत्सततोत्थितः ॥ ६ ॥

शिशुपाल ने कहा—हे भीष्म! जिस कृष्ण की प्रशंसा तुम भाट की तरह खड़े हो कर गा रहे हो, उस का जो प्रताप है, वह हमारे शत्रुओं का सदा होवे ॥ ६ ॥

संस्तवे च मनो भीष्म परेषां रमते यदि ।
तदा संस्तौपि राज्ञस्त्वमिमं हित्वा जनार्दनम् ॥ ७ ॥

हे भीष्म! जो तुम्हारा मन अन्यों की प्रशंसा गाने को ही चल रहा है, तो कृष्ण को छोड़ कर इन राजाओं की स्तुति क्यों नहीं करते हो ॥ ७ ॥

दरदं स्तुहि वाह्लीकमिमं पार्थिवसत्तमम् ।
जायमानेन येनेयमभवद्दारिता मही ॥ ८ ॥

राजाओं में श्रेष्ठ इस वाह्लीक दरद की स्तुति करो, जिसके उत्पन्न होते ही यह पृथिवी फट गई थी ॥ ८ ॥

वंगांगविषयाध्यक्षं सहस्राक्षसमं बले ।
स्तुहि कर्णमिमं भीष्म महाचापविकर्षणम् ॥ ६ ॥
यस्येमे कुण्डले दिव्ये सहजे देवनिर्मिते ।
कवचं च महाबाहो बालार्कसदृशप्रभम् ॥ १० ॥
वासवप्रतिमो येन जरासन्धोऽतिदुर्जयः ।
विजितो बाहु युद्धेन देहभेदं च लम्भितः ॥ ११ ॥

हे भीष्म ! वङ्ग और अङ्ग देश के स्वामी, बल में इन्द्र के तुल्य, बड़े भारी धनुष के चलाने वाले, देवों के बनाये हुए दिव्य कुण्डल और सूर्य के तुल्य जाज्वल्यमान कवच, जिसके साथ २ उत्पन्न हुए, जिसने मल्ल युद्ध में इन्द्र के सदृश अत्यन्त दुर्विजयी जरासन्ध को पछाड़ दिया और उसकी देह तोड़ डाली हे महाबाहो ! उस कर्ण की तुम स्तुति करो ॥ ६-११ ॥

द्रोणं द्रौणिं च साधु त्वं पिता पुत्रौ महारथौ ।
स्तुहि स्तुत्यावुभौ भीष्म सततं द्विजसत्तमौ ॥ १२ ॥

हे भीष्म ! द्रोण और द्रोण पुत्र अश्वत्थामा पिता-पुत्र ही महारथी हैं। स्तुति करने योग्य इन ब्राह्मण-श्रेष्ठों की स्तुति करो ॥ १२ ॥

ययोरन्यतरो भीष्म संक्रुद्धः सचराचराम् ।
इमां वसुमतीं कुर्यान्निशेषामिति मे मतिः ॥ १३ ॥

इन दोनों में एक भी कुपित हो जाय, तो इस चर-अचर से भरी हुई इस पृथिवी को वह अकेला ही खाली कर सकता है ।१३

द्रोणस्य हि समं युद्धे न पश्यामि नराधिपम् ।
नाऽश्वत्थाम्नः समं भीष्म न च तौ स्तोतुमिच्छसि १४॥

हे भीष्म ! मैं तो द्रोण के तुल्य युद्ध मे किसी राजा को नहीं देखता हूँ और न अश्वत्थामा के बराबर ही किसी को समझता हूँ। तू उन दोनों की भी स्तुति करना नहीं चाहता है ॥ १४ ॥

पृथिव्यां सागरान्तायां यो वै प्रतिमो भवेत् ।
दुर्योधनं तं राजेन्द्रमतिक्रम्य महाभुजम् ॥ १५ ॥
जयद्रथं च राजानं कृतास्त्रं दृढविक्रमम् ।
द्रुमं किंपूरुषाचार्यं लोके प्रथितविक्रमम् ॥ १६ ॥
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ।

समुद्र पर्यन्त पृथिवी पर जिसकी समानता का कोई नहीं है उस राजेन्द्र महाबाहु राजा दुर्योधन, अस्त्र विद्या मे कुशल, महा पराक्रमी राजा जयद्रथ, प्रसिद्ध पराक्रमी, किन्नरों के आचार्य, महाबली द्रुम को छोड़ कर क्यों वृथा कृष्ण की प्रशंसा कर रहे हो ॥ १५-१६ ॥

वृद्धं च भरताचार्यं तथा शारद्वतं कृपम् ॥ १७ ॥
धनुर्धराणां प्रवरं रुक्मिणां पुरुषोत्तमम् ।
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १८ ॥

हे भीष्म ! भरतवंशी राजाओं के आचार्य, शरद्वान् के पुत्र वृद्ध कृपाचार्य तथा धनुर्धारियों में श्रेष्ठ, पुरुषोत्तम रुक्मी का अतिक्रमण करके क्यों व्यर्थ कृष्ण के ही भाट बने हुए हो ॥ १७-१८ ॥

भीष्मकं च महावीर्यं दन्तवक्त्रं च भूमिपम् ।
भगदत्तं यूपकेतुं जयत्सेनं च मागधम् ॥ १९ ॥
विराटद्रुपदौ चोभौ शकुनिं च बृहद्बलम् ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पाण्ड्यं श्वेतमथोत्तमम् ॥ २० ॥
शंखं च सुमहाभागं वृषसेनं च मानिनम् ।
एकलव्यं च विक्रान्तं कालिंगं च महारथम् ॥
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ २१ ॥

महाबली भीष्मक, राजा दन्तवक्त्र, भगदत्त, यूपकेतु, जयत्सेन, मगधराज महदेव, विराट, द्रुपद, शकुनि, बृहद्बल, अवन्ती के राजा विन्दानुविन्द, पाण्ड्य, सर्वोत्तम श्वेत, महानुभाव शंख, मनस्वी वृषसेन, महापराक्रमी एकलव्य, महारथी कलिङ्गनाथ इन सब महाबलियों को छोड़कर क्यों इस कृष्ण की ही भाट के तुल्य प्रशंसा करते हो ॥ १८-२१ ॥

शल्यादीनपि कस्मात्त्वं न स्तौषि वसुधाधिपान् ।
स्तवाय यदि ते बुद्धिर्वर्तते भीष्म सर्वदा ॥ २२ ॥

हे भीष्म ! यदि तुमको प्रशंसा करने का अभ्यास (मर्ज) पड़ गया है, तो इन शल्य आदि राजाओं की स्तुति क्यों नहीं करते हो ॥ २२ ॥

किं हि शक्यं मया कर्तुं यद्वृद्धानां त्वया नृप ।
पुरा कथयतां नूनं न श्रुतं धर्मवादिनाम् ॥ २३ ॥

हे राजन ! अब तुमको मैं समझा ही कैसे सकता हूँ, जब कि तुमने धर्मात्मा वृद्धों के मुखसे कहे हुए उपाख्यानों पर ही ध्यान नहीं दिया ॥ २३ ॥

आत्मनिन्दाऽऽत्मपूजा च परनिन्दा परस्तवः ।
अनाचरितमार्याणामिति ते भीष्म न श्रुतम् ॥ २४ ॥

हे भीष्म ! अपनी निन्दा या स्तुति, अन्य की निन्दा या मिथ्या-स्तुति करना आर्यों का कार्य नहीं है। तुमने तो शायद यह सुना ही नहीं है ॥ २४ ॥

यदस्तव्यमिमं शश्वन्मोहात्संस्तौषि भक्तितः ।
केशवं तच्च ते भीष्म न कश्चिदनुमन्यते ॥ २५ ॥

हे भीष्म ! जिस स्तुति के अयोग्य कृष्ण की तू भक्ति से या अज्ञान से स्तुति करता है, उस कृष्ण का अनुमोदन यहां कोई भी नहीं कर सकता है ॥ २५ ॥

कथं भोजस्य पुरुषे वर्गपाले दुरात्मनि ।
समावेशयसे सर्वं जगत्केवलकाम्यया ॥ २६ ॥

हे भीष्म ! तुम अपनी ही कामना के वश में हो कर कंस के दास, पशुपालक, दुरात्मा कृष्ण में ही क्यों सारे जगत् को प्रविष्ट कर रहे हो ॥ २६ ॥

अथ चेषा न ते बुद्धिः प्रकृतिं याति भारत ।
मयैव कथितं पूर्वं भूलिंगशकुनिर्यथा ॥ २७ ॥

हे भारत ! यह तेरी बुद्धि कभी भी ठिकाने नहीं आवेगी, यह मैं ने भूलिंग पक्षी का उदाहरण देकर पहिले ही प्रकट कर दी है ॥ २७ ॥

भूलिंगशकुनिर्नाम पार्श्वे हिमवतः परे ।
भीष्म तस्याः सदा वाचः श्रूयन्तेऽर्थविगर्हिताः ॥ २८ ॥

हे भीष्म ! हिमालय के समीप एक भूलिंग नामक चिड़िया रहती थी। जो सदा प्रयोजन हीन वचन बोलती थी॥ २८॥

मा साहसमितीदं सा सततं वाशते किल ।
साहसं चाऽऽत्मनाऽतीव चरन्ती नाऽवबुध्यते ॥ २९ ॥

कभी कोई साहस मत करो, वह सदा यही कहती थी, परन्तु यह नही जानती थी कि वह स्वयं कितना साहस करती है॥२९

सा हि मांसार्गलं भीष्म मुखात्सिंहस्य खादतः ।
दन्तान्तरविलग्नं यत्तदादत्तेऽल्पचेतना ॥ ३० ॥

हे भीष्म ! वह मूर्ख चिड़िया मांस भक्षण करते हुए सिंह के मुख के दान्तों में लगे हुए मांस के अंशों (रेशों) को अपनी चोंच से ले लेती थी॥३०॥

इच्छतः सा हि सिंहस्य भीष्म जीवत्यसंशयम् ।
तद्वत्त्वमप्यधर्मिष्ठ सदा वाचः प्रभाषसे ॥ ३१ ॥

हे भीष्म ! वह चिड़िया केवल सिंह की दया पर ही जीती थी। हे अधार्मिक भीष्म ! इसी तरह तू भी सदा वैसी ही विरुद्ध वाणी बोलता है ॥ ३१॥

इच्छतां भूमिपालानां भीष्म जीवस्यसंशयम् ।
लोकविद्विष्टकर्मा हि नाऽन्योऽस्ति भवता समः ॥ ३२ ॥

हे भीष्म ! आज तू भी इन राजाओं की इच्छा पर ही जी रहा है। तेरे समान जगत् का द्वेष करने वाला अन्य कोई नहीं है ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततश्चेदिपतेः श्रुत्वा भीष्मः स कटुकं वचः ।
उवाचेदं वचो राजंश्चेदिराजस्य शृण्वतः ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इस प्रकार चेदिराज शिशुपाल के कटु वचन सुन कर उसको सुनाते हुए भीष्म, यह वचन बोले ॥ ३३ ॥

इच्छतां किल नामाऽहं जीवाम्येषां महीक्षिताम् ।
सोऽहं न गणयाम्येतांस्तृणेनापि नराधिपान् ॥ ३४ ॥

तुम जिन राजाओं की इच्छा पर मुझे जीवित बताते हो, मैं इन राजाओं को तिनके के बराबर भी नहीं गिनता हूँ ॥ ३४ ॥

एवमुक्ते तु भीष्मेण ततः चुक्रुशुर्नृपाः ।
केचिज्जहृषिरे तत्र केचिद्भीष्मं जगर्हिरे ॥ ३५ ॥

भीष्म के इतना कहने पर कुछ राजा बड़े कुपित हुए और कुछ प्रसन्न हुए एवं कुछ भीष्म की निन्दा करने लगे ॥ ३५ ॥

केचिदूचुर्महेष्वासाः श्रुत्वा भीष्मस्य तद्वचः ।
पापोऽवलिप्तो वृद्धश्च नाऽयं भीष्मोऽर्हति क्षमाम् ॥ ३६ ॥

कुछ धनुषधारी राजा भीष्म के ये वचन सुन कर बोले—यह भीष्म बड़ा पापी, घमण्डी बुड्ढा है; इसको क्षमा नहीं करनी चाहिये ॥ ३६ ॥

हन्यतां दुर्मतिर्भीष्मः पशुवत्साध्वयं नृपाः ।
सर्वैः समेत्य संरब्धो दह्यतां वा कटाग्निना ॥ ३७ ॥

हे राजाओं ! इस दुर्मति भीष्म को पशु की भांति मार डालो या इस क्रोधी को तिनकों की आग से जलाओ ॥ ३७ ॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा ततः कुरुपितामहः।
उवाच मतिमान्भीष्मस्तानेव वसुधाधिपान् ॥ ३८ ॥

इस प्रकार उन राजाओं के वचन सुन कर कुरु पितामह मतिमान् भीष्म, उन राजाओं से कहने लगा ॥ ३८ ॥

उक्तस्योक्तस्य नेहान्तमहं समुपलक्षये ।
यत्तु वक्ष्यामि तत्सर्वं शृणुध्वं वसुधाधिपाः ॥ ३९ ॥

हे राजाओं ! इन उक्ति-प्रत्युक्तियों का तो मैं अन्त नहीं देखता हूँ। अब जो मैं कहता हूँ वह सुनो ॥ ३९ ॥

पशुवद्घातनं वा मे दहनं वा कटाग्निना ।
क्रियतां मूर्ध्नि वो न्यस्तं मयेदं सकलं पदम् ॥ ४० ॥

पशु की भांति मारना या तिनकों की आग से जलाना, जो कुछ करना हो वह करो, मैं ने तो तुम्हारे शिर पर यह पैर रखा दिया है ॥ ४० ॥

एष तिष्ठति गोविन्दः पूजितोऽस्माभिरच्युतः ।
यस्य वा त्वरते बुद्धिर्मरणाय स माधवम् ॥ ४१ ॥
कृष्णमाह्वयतामद्य युद्धे चक्रगदाधरम् ।
यावदस्यैव देवस्य देहं विशतु पातितः ॥ ४२ ॥[१५९५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि भीष्मवाक्ये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः॥४४॥

यह श्रीकृष्ण विद्यमान् हैं, जिसको हमने पूजा की है। अब जिसकी बुद्धि शीघ्र मरण चाहती है, वही इन चक्र और गदाधारी श्रीकृष्ण का युद्ध के लिए आह्वान करे। वह मर कर इन्हीं देवों के देव श्रीकृष्ण के शरीर में लय होगा ॥४१-४२॥

इति श्रीमहाभारत सभापर्वान्तर्गत शिशुपाल-वध-पर्व में भीष्म के वाक्य का चवालीसवां अध्याय पूरा हुआ।



पैंतालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततः श्रुत्वैव भीष्मस्य चेदिराडुरुविक्रमः।
युयुत्सुर्वासुदेवेन वासुदेवमुवाच ह ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! महापराक्रमी चेदिराज शिशुपाल, भीष्म के वचन सुनकर कृष्ण से युद्ध करने की इच्छा से उन से कहने लगा ॥ १ ॥

आह्वये त्वां रणं गच्छ मया सार्धं जनार्दन।
यावदद्य निहन्मि त्वां सहितं सर्वपाण्डवैः ॥ २ ॥

हे जनार्दन! मैं तेरा आह्वान करता हूँ, तू मुझ से युद्ध कर। आज मैं तुम्हें सारे पाण्डवों के साथ मार देना चाहता हूँ॥२॥

सह त्वया हि मे वध्याः सर्वथा कृष्ण पाण्डवाः ।
नृपतीन्समतिक्रम्य यैरराजा त्वमर्चितः ॥ ३ ॥

हे कृष्ण ! आज तेरे साथ ही मैं इन पाण्डवों को समाप्त कर देना चाहता हूँ, जिन्होंने सारे राजाओं का अपमान करके तुझ अराजा की पूजा की है ॥ ३ ॥

ये त्वां दासमराजानं बाल्यादर्चन्ति दुर्मतिम् ।
अनर्हमर्हवत्कृष्ण वध्यास्त इति मे मतिः ॥ ४ ॥
इत्युक्त्वा राजशार्दूलस्तस्थौ गर्जन्नमर्षणः ॥ ५ ॥

हे कृष्ण ! जो तुझ मूर्ख, अयोग्य अराजा और दास की बचपन से पूज्य के तुल्य पूजा करते रहते हैं, इन पाण्डवों को मार ही देना चाहिये, मेरा यही मत है; यह कहकर राजाओं में श्रेष्ठ, शिशुपाल, क्रोध से गर्जने लगा ॥ ४-५ ॥

एवमुक्ते ततः कृष्णो मृदुपूर्वमिदं वचः ।
उवाच पार्थिवान्सर्वान्स समक्षं च वीर्यवान् ॥६॥

शिशुपाल के इतना कहने पर शक्ति-शाली श्रीकृष्ण, सब के सन्मुख सारे राजाओं से इस प्रकार मृदु-वचन कहने लगे ॥ ६ ॥

एष नः शत्रुरत्यन्तं पार्थिवाः सात्वतीसुतः ।
सात्वतानां नृशंसात्मा न हितोऽनपकारिणाम् ॥७॥

हे राजाओं ! यह सात्वती (यादवों की कन्या) का पुत्र शिशुपाल हम यादवों का सदा से अत्यन्त शत्रु है । यह नीच अपकार नहीं करने वाले हम लोगों का भी मित्र नहीं है ॥ ७ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरं यातानस्मान्ज्ञात्वा नृशंसकृत्।
अदहद् द्वारकामेष स्वस्रीयः सन्नराधिपाः ॥८॥

हे नराधिपों ! हम को प्राग्ज्योतिषपुर, गया हुआ जान के पिता की बहन से उत्पन्न हुआ भाई होकर भी इस नीच ने हमारी द्वारका को जला डाला ॥ ८ ॥

क्रीडतो भोजराजस्य एष रैवतके गिरौ ।
हत्वा बध्वा च तान्सर्वानुपायात्स्वपुरं पुरा ॥९॥

रैवतक पर्वत पर क्रीड़ा करते हुए भोजराज को मार-पीट कर उसको और उसके सारे साथियों को यह दुष्ट अपने पुर में पकड़ कर ले आया ॥ ९ ॥

अश्वमेधे हयं मेध्यमुत्सृष्टं रक्षिभिर्वृतम् ।
पितुर्मे यज्ञविघ्नार्थमहरत्पापनिश्चयः ॥ १० ॥

हमने रक्षकों से युक्त, पवित्र अश्व, अश्वमेध करने के लिए छोड़ा था, परन्तु इस पापी ने मेरे पिता के यज्ञ में विघ्न करने के लिए ही उसका अपहरण कर लिया ॥ १० ॥

सौवीरान्प्रतियातां च बभ्रोरेष तपस्विनः ।
भार्यामभ्यहरन्मोहादकामां तामितोगताम् ॥११॥

इस दुष्ट ने अज्ञान में फंसकर सौवीर देश को जाती हुई मार्ग में वर्तमान, दीन, बभ्रु यादव की भार्या का बल पूर्वक अपहरण कर लिया ॥ ११ ॥

एष मायाप्रतिच्छन्नः करूषार्थे तपस्विनीम् ।
जहार भद्रां वैशालीं मातुलस्य नृशंसकृत् ॥१२॥

मामा के साथ दुष्ट व्यवहार करने वाले इस शिशुपाल ने कपटरूप धारण करके विशाली नगरी के राजा की पुत्री विचारी भद्रा का छल से अपहरण किया। जो करूप देश के राजा के लिये प्रदान करनी थी॥ १२॥

पितृष्वसुः कृते दुःखं सुमहन्मर्षयाम्यहम् ।
दिष्ट्या हीदं सर्वराज्ञां संनिधावद्य वर्तते ॥१३॥

मैं इन सब दुःखों को अपने पिता की बहन (भूवा) के ध्यान (लिहाज) से ही सह रहा हूँ। यह बड़े हर्ष की बात है कि यह सब कुछ इसका दुष्टकर्म आज सारे राजाओं के सामने है॥१३

पश्यन्ति हि भवन्तोऽद्य मय्यतीव व्यतिक्रमम् ।
कृतानि तु परोक्षं मे यानि तानि निबोधत ॥ १४ ॥

इसने जो मेरे साथ बुराइयां की हैं, उनको तुम सब देखते ही रहे हो। परन्तु तुम्हारे अज्ञान में इसने जो दुष्टताएँ मेरे साथ की हैं, उनको सुनो ॥ १४ ॥

इमं त्वस्य न शक्ष्यामि क्षन्तुमद्य व्यतिक्रमम् ।
अवलेपाद्वधार्हस्य समग्रे राजमण्डले ॥ १५ ॥

अब मैं इस मरणोन्मुख दुष्ट की इस दुष्टता को क्षमा नहीं करूंगा। जो इसने आज सारे राजाओं के सन्मुख अभिमान से की है॥ १५॥

रुक्मिण्यामस्य मूढस्य प्रार्थनाऽऽसीन्मुमूर्षतः ।
न च तां प्राप्तवान्मूढः शूद्रो वेदश्रुतीमिव ॥ १६ ॥

इस मूर्ख मुर्दे ने रुक्मिणी को प्राप्त करने की इच्छा की थी, परन्तु यह अज्ञानी, श्रुति को शूद्र के तुल्य—रुक्मिणी को प्राप्त नहीं कर सका, तभी से यह मुझसे द्वेष करता है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमादि ततः सर्वे सहितास्ते नराधिपाः ।
वासुदेववचः श्रुत्वा चेदिराजं व्यगर्हयन् ॥ १७॥

वैशम्पायन बोले—इस प्रकार श्रीकृष्ण के वचन सुन कर इकट्ठे ही सारे राजा, चेदिराज शिशुपाल की निन्दा करने लगे १७॰

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शिशुपालः प्रतापवान् ।
जहास स्वनवद्धासं वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १८ ॥

प्रतापी शिशुपाल, श्रीकृष्ण के वचन सुनकर जोर से हंस दिया और यह वचन कहने लगा ॥ १८ ॥

मत्पूर्वां रुक्मिणीं कृष्ण संसत्सु परिकीर्तयन् ।
विशेषतः पार्थिवेषु व्रीडां न कुरुषे कथम् ॥ १६ ॥

हे कृष्ण ! मुझसे प्रथम वरी हुई रुक्मिणी की स्वयं ही सभा में सब राजाओं के सम्मुख चर्चा करता हुआ तू कुछ भी लज्जित नहीं होता है ॥ १६ ॥

मन्यमानो हि कः सत्सु पुरुषः परिकीर्तयेत् ।
अन्यपूर्वां स्त्रियं जातु त्वदन्यो मधुसूदन ॥ २० ॥

हे मधुसूदन ! तेरे सिवा, कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अन्य से वरी हुई अपनी भार्या को सभा में प्रस्तुत करे। यह तो तेरी ही शक्ति है ॥ २० ॥

क्षम वा यदि ते श्रद्धा मा वा कृष्ण मम क्षम ।
क्रुद्धाद्वापि प्रसन्नाद्वा किं मे त्वत्तो भविष्यति ॥२१॥

हे कृष्ण ! यदि तेरी श्रद्धा है, तो चुप रह या चुप मत रह। तेरे क्रोध और प्रसन्नता से मेरा क्या बिगाड़ या सुधार हो सकता है ॥ २१ ॥

तथा ब्रुवत एवाऽस्य भगवान्मधुसूदनः ।
मनसाऽचिन्तयच्चक्रं दैत्यगर्वनिषूदनम् ॥ २२ ॥

शिशुपाल ने यह कहा ही था, कि भगवान् कृष्ण ने दैत्यों के गर्व नष्ट करने वाले सुदर्शन चक्र का मन से स्मरण किया॥ २२॥

एतस्मिन्नेव काले तु चक्रे हस्तगते सति ।
उवाच भगवानुच्चैर्वाक्यं वाक्यविशारदः ॥२३॥

जब चक्र हाथ में आ गया, उस समय वाक्य बोलने में विशारद भगवान् कृष्ण ने जोर से यह वाक्य कहा ॥ २३ ॥

शृण्वन्तु मे महीपाला येनैतत्क्षमितं मया ।
अपराधशतं क्षाम्यं मातुरस्यैव याचने ॥ २४ ॥
दत्तं मया याचितं च तद्वै पूर्णं हि पार्थिवाः ।
अधुना वधयिष्यामि पश्यतां वो महीक्षिताम् ॥२५॥

हे महीपालों ! सुनो ! शिशुपाल की माता ने सौ अपराध क्षमा करने की याचना की थी, इससे मैंने इसको अब तक क्षमा की। अब यह वरदान पूरा हो चुका है, अब मैं तुम राजाओं के सामने ही इसको मारूंगा ॥ २४—२५ ॥

एवमुक्त्वा यदुश्रेष्ठश्चेदिराजस्य तत्क्षणात् ।
व्यपाहरच्छिरः क्रुद्धश्चक्रेणाऽमित्रकर्षणः ॥
स पपात महाबाहुर्वज्राहत इवाऽचलः ॥ २६ ॥

इतना कहकर शत्रु-नाशक श्रीकृष्ण ने उसी क्षण, शिशुपाल का शिर, चक्र से काट डाला। यह महाबली शिशुपाल वज्र से मारे पर्वत के सदृश गिर पड़ा ॥ २६ ॥

ततश्चेदिपतेर्देहात्तेजोऽग्र्यं ददृशुर्नृपाः ।
उत्पतन्तं महाराज गगनादिव भास्करम् ॥ २७ ॥

हे महाराज ! आकाश से सूर्य के समान—गिरते हुए, शिशुपाल की देह से निकले हुए महातेज को, राजाओं ने देखा ॥ २७ ॥

ततः कमलपत्राक्षं कृष्णं लोकनमस्कृतम् ।
ववन्दे तत्तदा तेजो विवेश च नराधिप ॥२८॥

हे नराधिप ! उस तेज ने कमल लोचन, जगत् के पूज्य कृष्ण की वन्दना करके उनकी देह मे प्रवेश किया ॥ २८ ॥

तदद्भुतममन्यन्त दृष्ट्वा सर्वे महीक्षितः ।
यद्विवेश महाबाहुं तत्तेजः पुरुषोत्तमम् ॥२९॥

इस तेज ने पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के शरीर में प्रवेश किया, इसको देखकर सारे राजाओं को बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ २९ ॥

अनभ्रे प्रववर्ष द्यौः पपात ज्वलिताऽशनिः ।
कृष्णेन निहिते चैद्ये चचाल च वसुन्धरा ॥३०॥

जब कृष्ण ने शिशुपाल को मारा, उस समय बिना बादल वर्षा और बिजली गिरने लगी ॥ ३० ॥

ततः केचिन्महीपाला नाऽब्रुवंस्तत्र किंचन ।
अतीतवाक्पथे काले प्रेक्षमाणा जनार्दनम् ॥३१॥

वाणी से वर्णन मे नहीं आने वाले, उस काल मे जनार्दन कृष्ण को देखते हुए राजाओं ने कुछ भी नहीं कहा ॥ ३१ ॥

हस्तैर्हस्ताग्रमपरे प्रत्यपिंषन्नमर्षिताः ।
अपरे दशनैरोष्ठानदशन्क्रोधमूर्च्छिताः ॥३२॥

इनके सिवा कुछ राजा क्रोध से हाथ मलने लगे और कुछ क्रोध से भरे हुए दांतों से ओठों को चाबने लगे ॥ ३२ ॥

रहश्च केचिद्वार्ष्णेयं प्रशशंसुर्नराधिपाः ।
केचिदेव सुसंरब्धा मध्यस्थास्त्वपरेऽभवन् ॥३३॥

कुछ राजाओं ने एकान्त मे कृष्ण की प्रशंसा की और कोई अत्यन्त क्रुद्ध हुए तथा कोई कोई उदासीन रहे ॥ ३३ ॥

प्रहृष्टाः केशवं जग्मुः संस्तुवन्तो महर्षयः ।
ब्राह्मणाश्च महात्मानः पार्थिवाश्च महाबलाः ॥३४॥
शशंसुर्निर्वृताः सर्वे दृष्ट्वा कृष्णस्य विक्रमम् ।

महर्षि प्रसन्न हो कर श्रीकृष्ण के पास पहुंचे और प्रशंसा करने लगे। महात्मा ब्राह्मण, महाबली राजा, श्रीकृष्ण के पराक्रम को देखकर सन्तुष्ट हुए और सारे प्रशंसा करने लगे ॥ ३४ ॥

पाण्डवस्त्वब्रवीद् भ्रातॄन्सत्कारेण महीपतिम् ॥३५॥
दमघोषात्मजं वीरं संस्कारयत मा चिरम् ।
तथा च कृतवन्तस्ते भ्रातुर्वै शासनं तदा ॥ ३६ ॥

राजा युधिष्ठिर ने अपने भाइयों को आज्ञा दी, कि दमघोष के पुत्र राजा शिशुपाल का सत्कार के साथ शीघ्र संस्कार करो, देर न लगाओ। उन्होंने भी अपने भाई की आज्ञा को ठीक २ पूरा किया ॥ ३५-३६ ॥

चेदीनामाधिपत्ये च पुत्रमस्य महीपतेः ।
अभ्यषिञ्चत्तदा पार्थः सह तैर्वसुधाधिपैः ॥ ३७ ॥

इस शिशुपाल के पुत्र को चेदी देश के सिंहासन पर, राजा युधिष्ठिर ने सब राजाओं को साथ लेकर बैठा दिया ॥ ३७ ॥

ततः स कुरुराजस्य क्रतुः सर्वसमृद्धिमान् ।
यूनां प्रीतिकरो राजन्स बभौ विपुलौजसः ॥३८ ॥

हे राजन्! इसके अनन्तर अत्यन्त ओजस्वी कुरुराज का ऐश्वर्यशाली यज्ञ, सब पुरुषों को आनन्ददायी होकर सुशोभित होने लगा ॥ ३८ ॥

शान्तविघ्नः सुखारम्भः प्रभूतधनधान्यवान् ।
अन्नवान्बहुभक्ष्यश्च केशवेन सुरक्षितः ॥ ३९ ॥
समापयामास च तं राजसूयं महाक्रतुम् ॥ ४० ॥

इसके सब विघ्न शान्त हो गये और सुख से इसका प्रारम्भ हुआ। इसमें बहुत धन धान्य भक्ष्य और अन्न का व्यय हुआ। भगवान् कृष्ण इसके रक्षक थे। युधिष्ठिर ने इसप्रकार महायज्ञ राजसूय को समाप्त किया ॥ ३९-४० ॥

तु यज्ञं महाबाहुरासमाप्तेर्जनार्दनः ।
ररक्ष भगवाञ्छौरिः शार्ङ्गचक्रगदाधरः ॥४१ ॥

महाबाहु, शार्ङ्ग धनुष, चक्र और गदाधारी जनार्दन, भगवान् श्रीकृष्ण, समाप्ति तक इस यज्ञ की रक्षा करते रहे ॥ ४१ ॥

ततस्त्ववभृथस्नातं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
समस्तं पार्थिवं क्षत्रमुपागम्येदमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

इसके बाद यज्ञ के स्नान कर लेने पर धर्मात्मा युधिष्ठिर के पास सारे राजा लोग आकर यह वचन बोले ॥ ४२ ॥

दिष्ट्या वर्धसि धर्मज्ञ साम्राज्यं प्राप्तवानसि ।
आजमीढाऽजमीढानां यशः संवर्धितं त्वया ॥ ४३ ॥

हे धर्मज्ञ ! आज आनन्द का समय है, जो आप सम्राट् पदवी को प्राप्त हुए हो। हे अजमीढ़ के वंशज ! आज तुमने अजमीढ के यश को बढ़ा दिया ॥ ४३ ॥

कर्मणैतेन राजेन्द्र धर्मश्च सुमहान्कृतः ।
आपृच्छामो नरव्याघ्र सर्वकामैः सुपूजिताः ॥ ४४ ॥
स्वराष्ट्राणि गमिष्यामस्तदनुज्ञातुमर्हसि ।

हे राजेन्द्र ! इस यज्ञ कर्म को करके तुमने महान् धर्म का उपार्जन किया। हम सब कामनाओं से तृप्त हुए, आप से विदा मांगते हैं। अब हम अपने राष्ट्रों को जाना चाहते हैं आप आज्ञा प्रदान करें ॥ ४४

श्रुत्वा तु वचनं राज्ञां धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥४५ ॥
यथार्हं पूज्य नृपतीन्भ्रातृन्सर्वानुवाच ह ।

धर्मराज युधिष्ठिर, राजाओं के वचन सुन कर और राजाओं की यथा योग्य पूजा करके अपने सारे भाइयों से बोले ॥ ४५ ॥

राजानः सर्व एवैते प्रीत्याऽस्मान्समुपागताः ॥ ४६ ॥
प्रस्थिताः स्वानि राष्ट्राणि मामापृच्छ्य परंतपाः ।
तेन व्रजत भद्रं वो विषयान्तं नृपोत्तमान् ॥ ४७ ॥

ये सारे राजा प्रीति से हमारे यज्ञ में आये थे। अब ये परन्तप महीपति अपने २ राष्ट्रों को मुझ से इजाजत ले कर जाना चाहते हैं। इससे तुम इनके देश की सीमा तक इनके साथ जाओ ॥ ४६-४७ ॥

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय पाण्डवा धर्मचारिणः ।
यथार्हं नृपतीन्सर्वानेकैकं समनुव्रजन् ॥ ४८ ॥

अपने भाई के वचन को सुन कर सारे धर्मात्मा पाण्डव यथा योग्य सारे राजाओं के साथ पृथक् जाने लगे ॥ ४८ ॥

विराटमन्वयात्तूर्णं धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ।
धनञ्जयो यज्ञसेनं महात्मानं महारथम् ॥ ४९ ॥

प्रतापी धृष्टधुम्न, विराट के साथ और अर्जुन, महात्मा और महारथी यज्ञसेन के साथ गये ॥ ४९ ॥

भीष्मं च धृतराष्ट्रं च भीमसेनो महाबलः ।
द्रोणं तु ससुतं वीरं सहदेवो युधां पतिः ॥ ५० ॥

भीष्म और धृतराष्ट्र के साथ महाबली भीमसेन और महावीर द्रोण तथा अश्वत्थामा के साथ योद्धाओं में श्रेष्ठ सहदेव गये ॥५०

नकुलः सुबलं राजन्सहपुत्रं समन्वयात् ।
द्रौपदेयाः ससौभद्राः पार्वतीयान्महारथान् ॥ ५१ ॥

हे राजन् ! सुबल तथा शकुनि के साथ नकुल तथा द्रौपदी और सुभद्रा के पुत्र अन्य पर्वत के महारथियों के साथ पहुंचाने के लिए चले ॥ ५१ ॥

अन्वगच्छंस्तथैवाऽन्यान्क्षत्रियान्क्षत्रियर्षभाः ।
एवं सुपूजिताः सर्वे जग्मुर्विप्राः सहस्रशः ॥ ५२ ॥

अन्य श्रेष्ठ क्षत्रियों के साथ इनके उत्तम २ क्षत्रिय योद्धा गये,- इसी प्रकार सुपूजित सहस्रों ब्राह्मण अपने २ स्थान को चल दिये

गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु सर्वेषु ब्राह्मणेषु च ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं वासुदेवः प्रतापवान् ॥ ५३ ॥

जब सारे राजा और ब्राह्मण चले गये, तब प्रतापी श्रीकृष्ण,, युधिष्ठिर से बोले ॥ ५३ ॥

आपृच्छे त्वां गमिष्यामि द्वारकां कुरुनन्दन ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं दिष्ट्या त्वं प्राप्तवानसि ॥ ५४ ॥

हे कुरुनन्दन ! अब मैं द्वारका जाना चाहता हूँ, इस से आप से आज्ञा मांगता हूँ । यह बड़े आनन्द की बात हुई कि तुम ने राजसूय यज्ञ को पूरा कर लिया ॥ ५४ ॥

तमुवाचैवमुक्तस्तु धर्मराजो जनार्दनम् ।
तव प्रसादाद्गोविन्द प्राप्तः क्रतुवरो मया ॥ ५५ ॥

क्षत्रं समग्रमपि च त्वत्प्रसादाद्वशे स्थितम् ।
उपादाय बलिं मुख्यं मामेव समुपस्थितम् ॥ ५६ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर श्रीकृष्ण से बोले—हे गोविन्द ! तुम्हारी कृपा से ही मैं ने यह राजसूय पूरा किया है और यह सारा राज-समूह भी तेरे अनुग्रह से ही मेरे वश में हुआ है, जो मुख्य २ बलि (भेंट) लेकर मेरे सामने उपस्थित हुआ ॥ ५५-५६ ॥

कथं त्वद्गमनार्थं मे वाणी वितरतेऽनघ ।
न ह्यहं त्वामृते वीर रतिं प्राप्नोमि कर्हिचित् ॥ ५७ ॥
अवश्यं चैव गन्तव्या भवता द्वारकापुरी ।

हे वीर ! तुम्हारे गमन के अनुमोदन करने को मेरी वाणी कैसे प्रवृत्त हो सकती है । क्योंकि तुम्हारे विना मुझे कहीं भी आनन्द नहीं मिलता है । परन्तु क्या करें आपको द्वारका अवश्य जाना है ॥ ५७ ॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा युधिष्ठिरसहायवान् ॥ ५८ ॥
अधिगम्याऽब्रवीत्प्रीतः पृथां पृथुयशा हरिः ।

राजा युधिष्ठिर के इतना कहने के अनन्तर, धर्मात्मा, महा-यशस्वी श्रीकृष्ण; कुन्ती के पास पहुंच कर प्रसन्नता से बोले ॥५८

साम्राज्यं समनुप्राप्ताः पुत्रास्तेऽद्य पितृष्वसः ॥ ५९ ॥
सिद्धार्था वसुमन्तश्च सा त्वं प्रीतिमवाप्नुहि ।
अनुज्ञातस्त्वया चाऽहं द्वारकां गन्तुमुत्सहे ॥ ६० ॥

भूवा! तेरे पुत्रों ने आज साम्राज्य प्राप्त कर लिया है। इनका मनोरथ सिद्ध हो गया और धन-धान्य से भर गये, अब तू प्रसन्न होजा। मैं तेरी आज्ञा हो तो द्वारका को जाना चाहता हूँ॥ ५६-६०॥

सुभद्रां द्रौपदीं चैव सभाजयत केशवः।
निष्क्रम्याऽन्तःपुरात्तस्माद्युधिष्ठिरसहायवान्॥ ६१॥
स्नातश्च कृतजप्यश्च ब्राह्मणान्स्वस्ति वाच्य च।

श्रीकृष्ण ने सुभद्रा और द्रौपदी दोनों को प्रसन्न किया और युधिष्ठिर के साथ अन्तःपुर से निकल कर स्नान जप किया और ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराया॥ ६१॥

ततोमेघवपुःप्रख्यं स्यन्दनं च सुकल्पितम्॥ ६२॥
योजयित्वा महाबाहुर्दारुकः समुपस्थितः।
उपस्थितं रथं दृष्ट्वा तार्क्ष्यप्रवरकेतनम्॥ ६३॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य समारुह्य महामनाः।
प्रययौ पुण्डरीकाक्षस्ततो द्वारवतीं पुरीम्॥ ६४॥

इसके अनन्तर मेघ के समान सुन्दर, सजे हुए रथ में घोड़े जोतकर महाबाहु दारुक उपस्थित हुआ। गरुड़ की ध्वजा से सुशोभित और सुसज्जित रथ को देख कर तथा परिक्रमा करके मनस्वी श्रीकृष्ण, उसमें चढ़ गए और द्वारकापुरी को चल दिये।

तं पद्भ्यामनुवव्राज धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान्वासुदेवं महाबलम्॥ ६५॥

महाबली श्रीकृष्ण के पीछे २ श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ पैदल ही चलने लगे ॥ ६५ ॥

ततो मुहूर्तं संगृह्य स्यन्दनप्रवरं हरिः ।
अब्रवीत्पुण्डरीकाक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ६६ ॥

कमल के समान नेत्र वाले श्रीकृष्ण ने थोड़ी देर को रथ ठहरा कर कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर से कहा ॥ ६६ ॥

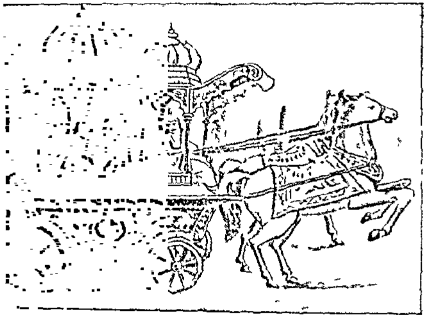
अप्रमत्तः स्थितो नित्यं प्रजाः पाहि विशांपते ।
पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव द्विजाः ॥ ६७ ॥
बान्धवास्त्वोपजीवन्तु सहस्राक्षमिवाऽमराः ।

हे प्रजानाथ ! प्राणियों को मेघ और पक्षियों को फलवाले विशाल वृक्ष की भाति, अप्रमादी रहकर नित्य प्रजा की रक्षा करो और इन्द्र को देवों की भाति सारे बान्धव तुम्हारी सेवा करते रहें ॥ ६७ ॥

कृत्वा परस्परेणैवं संविदं कृष्णपाण्डवौ ॥ ६८ ॥
अन्योन्यं समनुज्ञाप्य जग्मतुः स्वगृहान्प्रति ।

इस प्रकार आपस मे कृष्ण और युधिष्ठिर बात-चीत करके और एक दूसरे से आज्ञा लेकर अपने २ घर की ओर चल दिये ॥ ६८ ॥

गते द्वारवतीं कृष्णे सात्वतप्रवरे नृप ॥ ६९ ॥
एको दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः ।
तस्यां सभायां दिव्यायामूषतुस्तौ नरर्षभौ ॥७०॥ [१६३५



श्रीकृष्ण द्वारिका गमन

इति श्रीमहाभारते शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवधे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥ समाप्तंच शिशुपालवधपर्व ।

हे नृप ! यादवों में श्रेष्ठ, श्रीकृष्ण के चले जाने के अनन्तर भी एक तो राजा दुर्योधन और दूसरा सुबल पुत्र शकुनि ये दोनों नर-श्रेष्ठ, उस दिव्य सभा में अभी निवास कर रहे थे।

इति श्रीमहाभारत सभापर्वान्तर्गत शिशुपाल वध पर्व में शिशुपाल के वध का पैंतालीसवां अध्याय पूरा हुआ और यहीं पर शिशुपाल वध पर्व समाप्त हुआ ॥



अथ द्यूतपर्व

छियालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

समाप्ते राजसूये तु क्रतुश्रेष्ठे सुदुर्लभे ।
शिष्यैः परिवृतो व्यासः पुरस्तात्समपद्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! दुर्लभ, राजसूय यज्ञ के समाप्त होने पर शिष्यों के सहित व्यासमुनि राजा युधिष्ठिर के सम्मुख उपस्थित हुए ॥ १ ॥

सोऽभ्ययादासनात्तूर्णं भ्रातृभिः परिवारितः ।
पाद्येनाऽऽसनदानेन पितामहमपूजयत् ॥ २ ॥

राजा युधिष्ठिर भी अपने भाइयों के साथ बड़ी शीघ्रता से आसन से खड़ा होगया और पाद्य तथा आसन अर्पण करके अपने पितामह व्यासमुनि की पूजा की ॥ २ ॥

अथोपविश्य भगवान्काञ्चने परमासने ।
आस्यतामिति चोवाच धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ३ ॥

भगवान् वेदव्यास ने सुवर्ण के उच्च आसन पर बैठकर धर्मराज युधिष्ठिर को बैठने के लिए कहा ॥ ३ ॥

अथोपविष्टं राजानं भ्रातृभिः परिवारितम् ।
उवाच भगवान्व्यासस्तत्तद्वाक्यविशारदः ॥ ४ ॥

भाइयों के साथ बैठे हुए राजा युधिष्ठिर से अद्भुत बोलने वाले भगवान् व्यास ने कहा ॥ ४ ॥

दिष्ट्या वर्धसि कौन्तेय साम्राज्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
वर्धिताः कुरवः सर्वे त्वया कुरुकुलोद्वह ॥ ५ ॥

हे कौन्तेय ! दुर्लभ साम्राज्य पद पाकर तू समुन्नति को प्राप्त हुआ है, यह बड़ी ही उत्तम बात है । हे कुरुकुल श्रेष्ठ ! तूने आज सारे कौरवों को संसार मे ऊंचा कर दिया ॥ ५ ॥

आपृच्छे त्वां गमिष्यामि पूजितोऽस्मि विशांपते ।
एवमुक्तः स कृष्णेन धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥
अभिवाद्योपसंगृह्य पितामहमथाऽब्रवीत् ।

हे विशांपते ! तूने मेरा बड़ा सत्कार किया है, अब मैं तुम से पूछकर जाना चाहता हूँ । इस प्रकार कृष्णद्वैपायनव्यास

के कहने पर धर्मराज युधिष्ठिर, व्यासजी को प्रणाम करके और उनके चरण पकड़ कर उन से कहने लगा ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

संशयो द्विपदां श्रेष्ठ ममोत्पन्नः सुदुर्लभः ॥ ७ ॥
तस्य नाऽन्योऽस्ति वक्ता वै त्वामृते द्विजपुङ्गव ।

युधिष्ठिर ने कहा ! हे द्विज श्रेष्ठ मुझे एक दुर्लभ संशय उत्पन्न हो गया है, उसका समाधान आपके सिवा अन्य कोई नहीं कर सकता है, क्योंकि आप सब मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं ॥ ७॥

उत्पातांस्त्रिविधान्प्राह नारदो भगवानृषिः ॥ ८ ॥
दिव्यांश्चैवाऽऽन्तरिक्षांश्च पार्थिवांश्च पितामह ।
अपि चैद्यस्य पतनाच्छन्नमौत्पातिकं महत् ॥ ९ ॥

हे पितामह ! भगवान् नारद ऋषि ने बिजली, धूमकेतु, भूकम्प आदि आकाश, अन्तरिक्ष और पृथिवी के उत्पात बताये थे । क्या ! शिशुपाल के वध के अनन्तर ये महाउत्पात नष्ट हुए या नहीं ॥ ८-९ ॥

वैशम्पायन उवाच—

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा पराशरसुतः प्रभुः ।
कृष्णद्वैपायनो व्यास इदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

वैशम्पायन कहने लगे—राजा युधिष्ठिर के वचन सुन कर महा-शक्ति-शाली पराशर पुत्र, कृष्ण द्वैपायन व्यास यह वचन बोला ॥ १० ॥

त्रयोदश समा राजन्नुत्पातानां फलं महत् ।
सर्वक्षत्रविनाशाय भविष्यति विशांपते ॥ ११ ॥

हे राजन्! अभी तो उन उत्पातों का असर तेरहवर्ष तक रहेगा और इसका फल यह होगा, कि सारे क्षत्रियों का नाश हो जावेगा ॥ ११ ॥

त्वामेकं कारणं कृत्वा कालेन भरतर्षभ ।
समेतं पार्थिवं क्षत्रं क्षयं यास्यति भारत ॥
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥ १२ ॥

हे भरतर्षभ! काल गति से दुर्योधन के अपराध और भीम तथा अर्जुन के बल से तुम्हें ही कारण बना कर यह सारा क्षत्रियों का राजसमूह नष्ट होगा ॥ १२ ॥

स्वप्ने द्रक्ष्यसि राजेन्द्र क्षपान्ते त्वं वृषध्वजम् ।
नीलकण्ठं भवं स्थाणुं कपालिं त्रिपुरान्तकम् ॥ १३ ॥
उग्रं रुद्रं पशुपतिं महादेवमुमापतिम् ।
हरं शर्वं वृषं शूलं पिनाकिं कृत्तिवाससम् ॥ १४ ॥
कैलासकूटप्रतिमं वृषभेऽवस्थितं शिवम् ।
निरीक्षमाणं सततं पितृराजाश्रितां दिशम् ॥ १५ ॥

हे राजेन्द्र! किसी समय तुम रात की समाप्ति पर वृषध्वज नीलकण्ठ, भव, स्थाणु, कपाली, त्रिपुरान्तक, उग्र, रुद्र, पशुपति, महादेव, उमापति, हर, शर्व, वृष, शूल, पिनाकी, चर्मधारी, कैल

पर बैठे हुए, कैलाश पर्वत के तुल्य, श्वेतवर्ण शिव को स्वप्न में देखोगे, यह तुमको दक्षिण दिशा की ओर दिखाई देंगे ॥१३-१४

एवमीदृशकं स्वप्नं द्रक्ष्यसि त्वं विशांपते ।
मा तत्कृते ह्यनुध्याहि कालो हि दुरतिक्रमः ॥१६॥

हे राजन्! इस प्रकार के स्वप्न को देख कर तू इसके लिए सोच विचार कुछ मत करना; क्योंकि यह काल बड़ा बली है, इसका अति क्रमण नहीं हो सकता हैं ॥ १६ ॥

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि कैलासं पर्वतं प्रति
अप्रमत्तः स्थितो दान्तः पृथिवीं परिपालय ॥१७॥

अब तेरा कल्याण हो, मैं तो कैलास पर्वत की ओर जा रहा हूँ। तू भी सावधानी से उदारता के साथ प्रजा का पालन कर।

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा स भगवान्कैलासं पर्वतं ययौ ।
कृष्णद्वैपायनो व्यासः सह शिष्यैः श्रुतानुगैः ॥१८॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे जनमेजय! यह कह कर भगवान् वेदव्यास अपने धर्मात्मा शिष्यों के साथ कैलास की ओर चल दिए ॥१८॥

गतेपितामहे राजा चिन्ताशोकसमन्वितः ।
निःश्वसन्नुष्णमसकृत्तमेवार्थं विचिन्तयन् ॥१९॥

पितामह वेदव्यास के चले जाने पर राजा बड़ा चिन्तातुर हुआ और इसी विषय का विचार करता हुआ बार २ उष्ण श्वास छोड़ने लगा ॥ १९ ॥

कथं तु दैवं शक्येत पौरुषेण प्रबाधितुम् ।
अवश्यमेव भविता यदुक्तं परमर्षिणा ॥२०॥

होनहार उद्योग से कैसे दूर की जासकती है। जो महर्षि ने कहा है, वह तो अवश्य होगा ॥२०॥

ततोऽब्रवीन्महातेजाः सर्वान्भ्रातॄन्युधिष्ठिरः ।
श्रुतं वै पुरुषव्याघ्रा यन्मां द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥२१॥

महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर ने अब अपने सारे भाइयों से कहा, कि जो मुझ से वेदव्यास ने कहा है, वह तुमने सुना या नहीं ॥ २१ ॥

तदा तद्वचनं श्रुत्वा मरणे निश्चिता मतिः ।
सर्वक्षत्रस्य निधने यद्यहं हेतुरीप्सितः ॥२२॥

उनके वचन सुनकर मैंने तो मरने का निश्चय कर लिया है, क्योंकि सारे क्षत्रियों के मरने का मैं ही कारण होने वाला हूँ ॥ २२ ॥

कालेन निर्मितस्तात को ममार्थोऽस्ति जीवतः
एवं ब्रुवन्तं राजानं फाल्गुनः प्रत्यभाषत ॥२३॥

हे तात ! यदि काल ने मुझे ही कारण बनाया, तो फिर मेरे जीने से लाभ ही क्या है। इस प्रकार कहते हुए राजा युधिष्ठिर से अर्जुन ने कहा ॥ २३ ॥

मा राजन्कश्मलं घोरं प्राविशो बुद्धिनाशनम्।
संप्रधार्य महाराज यत्क्षमं तत्समाचर ॥२४॥

हे राजन्! इस बुद्धि के नाशक घोर शोक को धारण न करो। यही विचार कर जो आपका धर्मानुसार कर्तव्य है, वही करो ॥ २४ ॥

ततोऽब्रवीत्सत्यधृतिर्भ्रातॄन्सर्वान्युधिष्ठिरः ।
द्वैपायनस्य वचनं तत्रैव समचिन्तयन् ॥२५॥

सत्यवादी युधिष्ठिर वेदव्यास के वचनों को विचार कर फिर अपने भाइयों से कहने लगा ॥ २५ ॥

अद्यप्रभृति भद्रं वः प्रतीज्ञां मे निबोधत ।
त्रयोदश समास्तात को ममाऽर्थोऽस्ति जीवतः ॥२६॥

जो मैं जाति के नाश का कारण बनूं तो मुझे तेरह वर्ष जीवित रहने से प्रयोजन ही क्या है। परन्तु आज से मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, उसको तुम सुनो ॥ २६ ॥

न प्रवक्ष्यामि परुषं भ्रातॄनन्यांश्च पार्थिवान् ।
स्थितो निदेशे ज्ञातीनां योक्ष्ये तत्समुदाहरन् ॥२७॥

मैं कभी अपने भाई तथा अन्यों से कभी कठोर नहीं बोलूंगा। अपने जाति बन्धुओं की आज्ञा मे रहकर उनके कथन को ठीक २ पूरा करूंगा ॥ २७ ॥

एवं मे वर्तमानस्य स्वसुतेष्वितरेषु च ।
भेदो न भविता लोके भेदमूलो हि विग्रहः ॥२८॥

इसी प्रकार अपने पुत्र तथा अन्यों में व्यवहार करने से कोई फूट नहीं फैलेगी। फूट ही लड़ाई का घर है जब यह न होगी तो झगड़ा बखेड़ा ही क्यों होगा ॥ २८ ॥

विग्रहं दूरतो रक्षन्प्रियाण्येव समाचरन् ।
वाच्यतां न गमिष्यामि लोकेषु मनुजर्षभाः ॥२९॥

हे मनुजर्षभों! लड़ाई से दूर से ही बचता हुआ सब का हित करूंगा। इस प्रकार मैं संसार में निन्दा को प्राप्त न होऊंगा।

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य वचनं पाण्डवाः सन्निशम्य तद्।
तमेव समवर्तन्त धर्मराजहिते रताः ॥३०॥

अपने बड़े भाई के वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर के हित तत्पर होकर उसकी आज्ञा के अनुसार कार्य करने लगे।

संसत्सु समयं कृत्वा धर्मराट् भ्रातृभिः सह ।
पितृंस्तर्प्य यथान्यायं देवताश्च विशांपते ॥३१॥

कृतमङ्गलकल्याणो भ्रातृभिः परिवारितः ।

हे विशांपते! इस प्रकार धर्मराज ने अपने भाइयों के साथ सभा मे प्रतीज्ञा की। इस के अनन्तर विधि के अनुसार पितरों और देवताओं की तृप्ति करके अपने भाइयों के साथ माङ्गलिक कृत्य किये ॥ ३१ ॥

गतेषु क्षत्रियेन्द्रेषु सर्वेषु भरतर्षभ ॥ ३२ ॥
युधिष्ठिरः सहामात्यः प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ ३३ ॥

हे भरतर्षभ ! सारे क्षत्रियों के चले जाने पर राजा युधिष्ठिर, मन्त्री के साथ अपने पुर में प्रविष्ट हुआ ॥ ३२-३३ ॥

दुर्योधनो महाराज शकुनिश्चाऽपि सौबलः।
सभायां रमणीयायां तत्रैवाऽस्ते नराधिप ॥३४॥

इति श्रीमहाभरते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरसमये षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

हे महाराज ! सुबल पुत्र शकुनि और राजा दुर्योधन अभी तक उस सुन्दर सभा में ही निवास कर रहे थे ॥ ३४ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व में युधिष्ठिर की प्रतिज्ञा का छियालीसवां अध्याय पूरा हुआ।



सैंतालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

वसन्दुर्योधनस्तस्यां सभायां पुरुषर्षभ ।
शनैर्ददर्श तां सर्वां सभां शकुनिना सह ॥ १ ॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे पुरुषर्षभ ! दुर्योधन शकुनि के साथ उस सभा में रहता था। धीरे २ इसने इस सभा की श्रेष्ठता का ज्ञान प्राप्त कर लिया ॥ १ ॥

तस्यां दिव्यानभिप्रायान्ददर्श कुरुनन्दनः ।
न दृष्टपूर्वा ये तेन नगरे नागसाह्वये ॥ २ ॥

इस कुरुनन्दन ने इस सभा में वे दिव्य बनावटें देखी, जो उसने कभी हस्तिनापुर में नहीं देखी थी ॥ २ ॥

न कदाचित्सभामध्ये धार्तराष्ट्रो महीपतिः ।
स्फाटिकं स्थलमासाद्य जल जलमित्यभिशङ्कया ॥३॥

किसी दिन उस सभा में धृतराष्ट्र के पुत्र राजा दुर्योधन ने स्फटिक (संगमर्मर) के स्थल (फर्श) को देख कर जल समझा ॥ ३ ॥

स्ववस्त्रोत्कर्षणं राजा कृतवान्बुद्धिमोहितः ।
दुर्मना विमुखश्चैव परिचक्राम तां सभाम् ॥४॥

राजा दुर्योधन ने बुद्धिभ्रम के कारण वहां अपने वस्त्र समेट लिए और उदास तथा दुःखी होकर उस सभा में घूमने लगा ।४।

ततः स्थले निपतितो दुर्मना व्रीडितो नृपः।
निःश्वसन्विमुखश्चापि परिचक्राम तां सभाम् ॥५॥

यह दुःखी और लज्जित दुर्योधन वहां स्थल (फर्श) पर गिर पड़ा और श्वास लेता हुआ, उदासीन मन से फिर उसी सभा में फिरने लगा ॥ ५ ॥

ततः स्फाटिकतोयां वै स्फाटिकांबुजशोभिताम्।
वापीं मत्वा स्थलमिव सवासाः प्रापतज्जले ॥६।

उस सभा में स्फटिक के तुल्य जल वाली और स्फटिक के तुल्य कमल वाली वापी (बावली) को स्फटिक का फर्श जान कर वस्त्रों सहित उसमें गिर गया ॥ ६ ॥

जले निपतितं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः।
जहास जहसुश्चैव किंकराश्च सुयोधनम् ॥
वासांसि च शुभान्यस्मै प्रददू राजशासनात् ॥७॥

जल में गिरे हुए सुयोधन को देख कर भीमसेन और किंकर नामक राक्षस हंसने लगे और राजा की आज्ञा से इन्होंने राजा दुर्योधन को अन्य उत्तम २ वस्त्र प्रदान किये ॥ ७ ॥

तथागतं तु तं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः।
अर्जुनश्च यमौ चोभौ सर्वे ते प्राहसंस्तदा ॥८॥

दुर्योधन की यह दशा देख कर महाबली भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव ये सारे हंस पड़े ॥ ८ ॥

नाऽमर्षयत्ततस्तेषामवहासममर्षणः ।
आकारं रक्षमाणस्तु न तान्समुदैक्षत ॥६॥

इस क्रोधी दुर्योधन ने उनकी हंसी का सहन नहीं किया, परन्तु अपने इस क्रोध को छुपा कर उस ओर देखा तक नहीं ।६

पुनर्वसनमुत्क्षिप्य प्रतरिष्यन्निव स्थलम् ।
आरुरोह ततः सर्वे जहसुश्च पुनर्जनाः ॥१०॥

फिर कहीं वस्त्र समेट कर तैरते हुए के तुल्य जलरहित स्थान में भी चलने लगा। जिसे देख कर सारे मनुष्य हंस पड़े ॥१०॥

द्वारं तु पिहिताकारं स्फाटिकं प्रेक्षय भूमिपः ।
प्रविशन्नाहतो मूर्ध्नि व्याघूर्णित इव स्थितः ॥११॥

राजा दुर्योधन स्फटिक के बने हुए बन्द द्वार को खुला जान घुसने लगा। ज्योंही यह प्रविष्ट होने लगा, उसका शिर टकरा गया और चक्कर खा गया ॥ ११ ॥

तादृशं च परं द्वारं स्फाटिकोरुकपाटकम् ।
विघट्टयन्कराभ्यां तु निष्क्रम्याऽग्रे पपात ह ॥१२॥

इसी प्रकार इसने स्फटिक के कपाट वाले, दूसरे खुले हुए द्वार को बन्द समझा और यह उसे हाथों से खोलता हुआ आगे की ओर निकल कर गिर गया ॥ १२ ॥

द्वारं तु विततकारं समापेदे पुनश्च सः ।
तद्वृत्तं चेति मन्वानो द्वारस्थानादुपारमत् ॥१३॥

एक विशाल द्वार को देखकर और उसे गोल खिड़की सी समझकर उसके पास से लौट आया ॥ १३ ॥

एवं प्रलम्भान्विविधान्प्राप्य तत्र विशांपते ।
पाण्डवेयाभ्यनुज्ञातस्ततो दुर्योधनो नृपः ॥१४॥
अप्रहृष्टेन मनसा राजसूये महाक्रतौ ।
प्रेक्ष्य तामद्भुतामृद्धिं जगाम गजसाह्वयम् ॥१५॥

हे प्रजानाथ ! इस प्रकार राजा दुर्योधन, अनेक प्रकार की वञ्चनाओं को भोगता हुआ, राजसूय यज्ञ मे युधिष्ठिर की अद्भुत समृद्धि को देखकर युधिष्ठिर की आज्ञा के अनन्तर उदास मन से हस्तिनापुर को चला आया ॥ १४--१५ ॥

पाण्डवश्रीप्रतप्तस्य ध्यायमानस्य गच्छतः ।
दुर्योधनस्य नृपतेः पापा मतिरजायत ॥ १६॥

पाण्डवों की राज्यलक्ष्मी से दग्ध हुए और उसी का ध्यान करके चलते हुए राजा दुर्योधन की बुद्धि पाप की ओर प्रवृत्त हुई ॥ १६ ॥

पार्थान्सुमनसो दृष्ट्वा पार्थिवांश्च वशानुगान् ।
कृत्स्नं चापि हितं लोकमाकुमारं कुरूद्वह ॥१७॥
महिमानं परं चापि पाण्डवानां महात्मनाम् ।
दुर्योधनो धार्तराष्ट्रो विवर्णः समपद्यत ॥ १८॥

हे कुरु-वंश-श्रेष्ठ ! पाण्डवों को प्रसन्न चित्त, राजाओं को उनका अनुचर, बच्चे से लेकर वृद्ध तक सारे लोक को उनका

मित्र और महानुभाव पाण्डवों की महिमा को देखकर धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन का रंग फीका पड़ गया ॥ १७--१८ ॥

स तु गच्छन्ननेकाग्रः सभामेकोऽन्वचिन्तयत् ।
श्रियं च तामनुपमां धर्मराजस्य धीमतः ॥१९॥
प्रमत्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रो दुर्योधनस्तदा ।
नाऽभ्यभाषत्सुबलजं भाषमाणं पुनः पुनः ॥२०॥

दुर्योधन, व्याकुल चित्त से चलता हुआ और केवल युधिष्ठिर की सभा का ही विचार कर रहा था या युधिष्ठिर की उस अद्भुत राज्यश्री के ध्यान में निमग्न था। इस ध्यान में दुर्योधन इतना लिपट गया, कि शकुनि के बार २ सम्बोधित करने पर भी वह उससे नहीं बोलता था ॥ १९--२० ॥

अनेकाग्रं तु तं दृष्ट्वा शकुनिः प्रत्यभाषत ।
दुर्योधन कुतो मूलं निःश्वसन्निव गच्छसि ॥२१॥

दुर्योधन को व्याकुल देखकर शकुनि बोला—दुर्योधन ! तुम श्वास मारते हुये से चल रहे हो, इसका क्या कारण है ॥ २१ ॥

दुर्योधन उवाच—

दृष्ट्वेमां पृथिवीं कृत्स्नां युधिष्ठिरवशानुगाम् ।
जितामस्त्रप्रतापेन श्वेताश्वस्य महात्मनः ॥२२॥
तं च यज्ञं तथाभूतं दृष्ट्वा पार्थस्य मातुल ।
यथा शक्रस्य देवेषु तथाभूतं महाद्युतेः ॥२३॥

अमर्षेण तु संपूर्णो दह्यमानो दिवानिशम् ।
शुचिशुक्रागमे काले शुष्येत्तोयमिवाऽल्पकम् ॥२४॥

दुर्योधन ने कहा—हे मातुल ! अर्जुन के अस्त्र के प्रताप से जीती हुई, युधिष्ठिर के वशीभूत, इस सारी भूमि और देवों में इन्द्र के समान उस महाद्युति युधिष्ठिर के इस प्रकार सम्पूर्ण हुए यज्ञ को देखकर मैं नीचे से ऊपर तक सारा रात-दिन जल रहा हूँ। जैसे—ज्येष्ठ, आषाढ़ के महीने में थोड़ा जल सूख जाता है ॥ २२—२४ ॥

पश्य सात्वतमुख्येन शिशुपालो निपातितः ।
न च तत्र पुमानासीत्कश्चित्तस्य पदानुगः ॥२५॥

देखो ! जब कृष्ण ने राजा शिशुपाल को मारा तो कोई भी पुरुष वहां ऐसा नहीं निकला; जो इसका प्रतिकार करता ॥२५॥

दह्यमाना हि राजानः पाण्डवोत्थेन वह्निना ।
क्षान्तवन्तोऽपराधं ते को हि तत्क्षन्तुमर्हति ॥२६॥

पाण्डवों के तेज की आग से जले हुए राजाओं ने कृष्ण के इस अपराध को सह लिया, नहीं तो इस अनुचित कर्म को कौन सह सकता था ॥ २६ ॥

वासुदेवेन तत्कर्म यथायुक्तं महत्कृतम् ।
सिद्धं च पाण्डुपुत्राणां प्रतापेन महात्मनाम् ॥२७॥

कृष्ण ने अपने कांटे को बड़ी भारी युक्ति से निकाल डाला। इसका यह कार्य, महानुभाव पाण्डवों के प्रताप के कारण ही सिद्ध हो गया ॥ २७ ॥

तथा हि रत्नान्यादाय विविधानि नृपा नृपम् ।
उपातिष्ठन्त कौन्तेयं वैश्या इव करप्रदाः ॥२८॥

इसी प्रकार कर देने वाले वैश्यों की भांति अनेक रत्न लेकर राजा लोग राजा युधिष्ठिर की सेवा में उपस्थित हुए ॥ २८ ॥

श्रियं तथागतां दृष्ट्वा ज्वलन्तीमिव पाण्डवे ।
अमर्षवशमापन्नो दह्यामि न तथोचितः ॥२९॥

युधिष्ठिर की चमचमाती हुई राजश्री को देखकर शोक के वशीभूत हुआ मैं जल रहा हूँ, यद्यपि यह अनुचित है ॥ २९ ॥

एवं स निश्चयं कृत्वा ततो वचनमब्रवीत् ।
पुनर्गान्धारनृपतिं दह्यमान इवाऽग्निना ॥ ३० ॥

अग्नि से दग्ध हुए के तुल्य, दुर्योधन, इस प्रकार विचार कर फिर गान्धार देश के पति शकुनि से कहने लगा ॥ ३० ॥.

वह्निमेव प्रवेक्ष्यामि भक्षयिष्यामि वा विषम् ।
अपो वापि प्रवेक्ष्यामि न हि शक्ष्यामि जीवितुम्॥३१॥

अब मैं या तो आग में जल मरूंगा, या विष खाऊंगा अथवा जल में डूब मरूंगा, परन्तु इस दशा में जीना नहीं चाहता हूँ ॥ ३१ ॥

को हि नाम पुमांल्लोके मर्षयिष्यति सत्त्ववान् ।
सपत्नानृध्यतो दृष्ट्वा हीनमात्मानमेव च ॥३२॥

कौन ऐसा मनस्वी पुरुष लोक में होगा, जो शत्रुओं को बढ़ता हुआ अपने को हीन देखकर चुपचाप बैठा रहे ॥ ३२ ॥

सोऽहं न स्त्री न चाप्यस्त्री न पुमान्नाऽपुमानपि।
योऽहं तां मर्षयाम्यद्य तादृशीं श्रियमागताम् ॥३३॥

इस समय तो न मैं स्त्री हूँ और न अस्त्रधारी हूँ। न पुरुष हूँ और न नपुंसक हूँ, जो पाण्डवों की इस राज्य-लक्ष्मी को देखकर चुपचाप सह रहा हूँ ॥ ३३ ॥

ईश्वरत्वं पृथिव्याश्च वसुमत्तां च तादृशीम् ।
यज्ञं च तादृशं दृष्ट्वा मादृशः को न संज्वरेत् ॥३४॥

सारी पृथिवी की प्रभुता, इस प्रकार बढ़ा चढ़ा हुआ ऐश्वर्य, और ऐसे यज्ञ को देखकर मुझसा मनुष्य क्यों न दुःखी होवे ॥ ३४ ॥

अशक्तश्चैक एवाऽहं तामाहर्तुं नृपश्रियम्।
सहायांश्च न पश्यामि तेन मृत्युं विचिन्तये ॥३५॥

मैं इस राज लक्ष्मी के अपहरण करने में अकेला ही समर्थ नहीं हूँ और दूसरा कोई साथी नहीं देखता हूँ, इससे मौत को ही याद कर रहा हूं ॥ ३५ ॥

दैवमेव परं मन्ये पौरुषं च निरर्थकम् ।
दृष्ट्वा कुन्तिसुते शुभ्रां श्रियं तामहतां तथा ॥३६॥

मैं तो अब युधिष्ठिर की सर्वाङ्ग पूर्ण लक्ष्मी को देखकर भाग्य को ही प्रबल मानता हूं, पुरुषार्थ तो निरर्थक ही है ॥३६॥

कृतो यत्नो मया पूर्वं विनाशे तस्य सौबल ।
तच्च सर्वमतिक्रम्य संवृद्धोऽप्स्विव पङ्कजम् ॥३७॥

हे सौबल ! मैंने इनके विनाश के लिये पहिले भी प्रयत्न किया था, परन्तु वह तो उलटा होकर जल में कमल के समान बढ़ गया ॥ ३७ ॥

तेन दैवं परं मन्ये पौरुषं च निरर्थकम् ।
धार्तराष्ट्राश्च हीयन्ते पार्था वर्धन्ति नित्यशः ॥३८॥

इससे दैव बलवान् है और सारे उपाय निरर्थक हैं। इसी से धृतराष्ट्र के पुत्र हम गिरते जाते हैं और नित्य पाण्डव बढ़ रहे हैं ॥ ३८ ॥

सोऽहं श्रियं च तां दृष्ट्वा सभां तां च तथाविधाम्।
रक्षिभिश्चाऽवहासं तं परितप्ये यथाऽग्निना ॥३९॥

मैं उस राज्य-लक्ष्मी, उस प्रकार की अद्भुत सभा और रक्षा करने वाले सेवकों के उपहास का स्मरण करके अग्नि से तपने के तुल्य तप रहा हूं ॥ ३९ ॥

स मामभ्यनुजानीहि मातुलाऽद्य सुदुःखितम् ।
अमर्षं च समाविष्टं धृतराष्ट्रे निवेदय ॥४०॥ [१७३९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि दुर्योधनसंतापे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४७॥

हे मातुल ! अब तुम मुझ दुःखी को तो मरने की आज्ञा दो और मेरे हृदय में प्रविष्ट हुए इस शोक को राजा धृतराष्ट्र को सुना दो ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व में दुर्योधन सन्तापका सैंतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ।

अड़तालीसवां अध्याय

शकुनिउवाच—

दुर्योधन न तेऽमर्षः कार्यः प्रति युधिष्ठिरम् ।
भागधेयानि हि स्वानि पाण्डवा भुञ्जते सदा ॥ १ ॥

शकुनि कहने लगा—हे दुर्योधन ! युधिष्ठिर के इस वैभव से तुझे शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि पाण्डव भी सदा अपने भाग्य के फल को ही भोग रहे हैं ॥ १ ॥

विधानं विविधाकारं परं तेषां विधानतः ।
अनेकैरभ्युपायैश्च त्वया न शकिताः पुरा ॥ २ ॥

तूने पहले उपायों द्वारा अनेक प्रकार के जुटाव जुटाये परन्तु उनसे तू उनको वश मे नहीं लासका ॥ २ ॥

आरब्धापि महाराज पुनः पुनररिन्दम ।
विमुक्ताश्च नरव्याघ्रा भागधेयपुरस्कृताः ॥ ३ ॥

हे महाराज ! तुमने वार २ उनको पकडा, परन्तु वे नर श्रेष्ठ अपने भाग्य की सहायता से वार २ बच निकले ॥ ३ ॥

तैर्लब्धा द्रौपदी भार्या द्रुपदश्च सुतैः सह ।
सहायः पृथिवीलाभे वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ ४ ॥

उन्होंने द्रौपदी जैसी भार्या प्राप्त की और पृथिवी लाभ करने मे, पुत्रों के साथ द्रुपद और वीर्यवान् कृष्ण को प्राप्त किया ॥ ४ ॥

लब्धश्चाऽनभिभूतार्थैः पित्र्योंऽश पृथिवीपते।
विवृद्धस्तेजसा तेषां तत्र का परिदेवना ॥ ५ ॥

हे पृथिवी पते ! लगातार प्रयत्न करके ही उन्होंने अपने पिता का अंश प्राप्त किया है। अब वे अपने तेज से बढ़ गए तो इस मे रोना चिल्लाना ही क्या है ॥ ५ ॥

धनंजयेन गाण्डीवमक्षय्यौ च महेषुधी ।
लब्धान्यस्त्राणि दिव्यानि तोपयित्वा हुताशनम् ॥६॥

अर्जुन ने अग्नि को प्रसन्न करके गाण्डीव धनुप, नहीं क्षीण होने वाले तरकस, दिव्य अस्त्र प्राप्त किये हैं ॥ ६ ॥

तेन कार्मुकमुख्येन बाहुवीर्येण चाऽऽत्मनः ।
कृता वशे महीपालास्तत्र का परिदेवना ॥ ७ ॥

अर्जुन ने उस श्रेष्ठ धनुप और अपने भुजाओं के बल से राजा वश मे किये है, तो इसमे रोना ही क्या है ॥ ७ ॥

अग्निदाहान्मयं चापि मोक्षयित्वा स दानवम् ।
सभां तां कारयामास सव्यसाची परंतपः ॥ ८ ॥

शत्रुओं को तपाने वाले, अर्जुन ने अग्नि के दाह से मय दानव को मुक्त कर दिया और प्रत्युपकार मे उस से यह सभा बनवाई है ॥ ८ ॥

तेन चैव मयेनोक्ताः किङ्करा नाम राक्षसाः ।
वहन्ति तां सभां भीमास्तत्र का परिदेवना ॥९॥

उस मय की आज्ञा से ही भीम आकारधारी किङ्कर नाम के राक्षस, उस सभा को धारण किए हुए हैं फिर इस में शोक करने की क्या बात है ॥ ९ ॥

यच्चाऽसहायतां राजन्नुक्तवानसि भारत ॥
तन्मिथ्या भ्रातरो हीमे तव सर्वे वशानुगाः ॥१०॥

हे भारत ! जो तू कहता है, कि मैं इस विषय में असहाय हूँ, यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि ये तेरे सारे भाई तेरी आज्ञा के वश में हैं ॥ १० ॥

द्रोणस्तव महेष्वासः सह पुत्रेण वीर्यवान् ।
सूतपुत्रश्च राधेयो गौतमश्च महारथः ॥११॥
अहं च सह सोदर्यैः सौमदत्तिश्च पार्थिवः ।
एतैस्त्वं सहितः सर्वैर्जय कृत्स्नां वसुन्धराम् ॥१२॥

अश्वत्थामा अपने पुत्र के साथ द्रोणाचार्य, सूतपुत्र कर्ण, महारथी गौतम वशी कृपाचार्य, अपने भाइयों के साथ मैं, राजा सोमदत्ति, इन सबके साथ तू इस सारी पृथिवी को जीत ले ।११-१२

दुर्योधन उवाच—

त्वया च सहितो राजन्नेतैश्चाऽन्यैर्महारथैः ।
एतानेव विजेष्यामि यदि त्वमनुमन्यसे ॥१३॥

दुर्योधन ने कहा—हे राजन् ! इन महारथी राजा तथा तेरे साथ मैं इन को जीत सकता हूँ यदि तुम इजाजत दे दो ॥ १३ ॥

एतेषु विजितेष्वद्य भविष्यति मही मम ।
सर्वे च पृथिवीपालाः सभा सा च महाधना ॥१४

जब आज मैं पण्डवों को जीत लूंगा तो सारी पृथिवी और यह धन के कोप से निमित दिव्य सभा सब मेरी ही हो जावेगी ॥ १४ ॥

शकुनिरुवाच—

धनंजयो वासुदेवो भीमसेनो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च द्रुपदश्च सहात्मजैः ॥१५॥
नैते युधि पराजेतुं शक्या देवगणैरपि ।
महारथा महेष्वासाः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ॥१६॥

शकुनि बोला—अर्जुन, श्रीकृष्ण, भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव; पुत्रों सहित राजा द्रुपद, इनको युद्ध में देवता भी हराने में समर्थ नहीं हैं। ये सारे महारथी, बड़े २ धनुषधारी शस्त्र विद्या मे कुशल और युद्धवीर हैं ॥ १५-१६ ॥

अहं तु तद्विजानामि विजेतुं येन शक्यते ।
युधिष्ठिरं स्वयं राजंस्तन्निबोध जुषस्व च ॥१७॥

हे राजन् ! मैं एक बात जानता हूं, जिस से यह युधिष्ठिर भी जीता जा सकता है तुम इसको सुनो और वर्ताव मे लाओ ॥१७॥

दुर्योधन उवाच—

अप्रमादेन सुहृदामन्येषां च महात्मनाम् ।
यदि शक्या विजेतुं ते तन्ममाऽऽचक्ष्व मातुल ॥१८॥

दुर्योधन बोला—हे मातुल ! सुहृद् और अन्य महानुभावों के विनाश के बिना या सावधानी से ही यदि पाण्डव जीते जा सकते हैं, तो वह उपाय बताओ ॥ १८ ॥

शकुनिरुवाच—

द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न स्म जानाति देवितुम् ।
समाहूतश्च राजेन्द्रो न शक्ष्यति निवर्तितुम् ॥१६॥

शकुनी बोला—यह युधिष्ठिर जुआ खेलने का व्यसनी है, परन्तु खेलना नहीं जानता है। यदि राजा युधिष्ठिर को खेलने के लिए बुलाया गया तो वह उसका निषेध नहीं करेगा ॥ १६ ॥

देवने कुशलश्चाऽहं न मेऽस्ति सदृशो भुवि ।
त्रिषु लोकेषु कौरव्य तं त्वं द्यूते समाह्वय ॥ २० ॥

हे कौरव ! मैं जुआ खेलने में बड़ा कुशल हूँ, मेरे सदृश त्रिलोकी या इस जगत् मे कोई नहीं है, इसलिए तू उसको जुआ खेलने के लिए बुला ॥ २० ॥

ततोऽक्षकुशलो राजन्नादास्येऽहमसंशयम् ।
राज्यं श्रियं च तां दीप्तां त्वदर्थं पुरुषर्षभ ॥ २१ ॥

हे पुरुषर्षभ ! मैं पासे फेंकने मे बड़ा कुशल हूं, इससे निःसन्देह युधिष्ठिर का राज्य या उसकी चमकती हुई श्री को छीन कर तुमको दे दूंगा ॥ २१ ॥

इदं तु सर्वं त्वं राज्ञे दुर्योधन निवेदय ।
अनुज्ञातस्तु ते पित्रा विजेष्ये तान्न संशयः ॥ २२ ॥

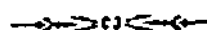
हे दुर्योधन ! तू यह सारी कथा राजा धृतराष्ट्र से कह दे। यदि उसने आज्ञा दे दी तो मैं उनको अवश्य जीत लूंगा ॥२२॥

दुर्योधन उवाच—

त्वमेव कुरुमुख्याय धृतराष्ट्राय सौबल ।
निवेदय यथान्यायं नाऽहं शक्ष्ये निवेदितुम्॥२३॥[१७६२]
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापेऽष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

दुर्योधन बोला—हे सौबल ! तू ही कुरुश्रेष्ठ धृतराष्ट्र से युक्ति पूर्वक इस बात को सूचित कर दे, क्योंकि मैं कह नहीं सकता हूं।

इति श्रीमहाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व दुर्योधन सन्ताप का अड़तालीसवां अध्याय पूरा हुआ ॥



उनचासवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

अनुभूय च राज्ञस्तं राजसूयं महाक्रतुम् ।
युधिष्ठिरस्य नृपतेर्गांधारीपुत्रसंयुतः ॥ १
प्रियकृन्मतमादाय पूर्वं दुर्योधनस्य तत् ।
प्रज्ञाचक्षुषमासीनं शकुनिः सौबलस्तदा ॥ २ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! राजा युधिष्ठिर के महायज्ञ राजसूय को देख कर दुर्योधन के सहित, दुर्योधन का हितकारी सुबलपुत्र शकुनि, दुर्योधन के वचनों को मान कर बैठे हुए अन्धे धृतराष्ट्र के पास पहुंचा ॥ १-२ ॥

दुर्योधनवचः श्रुत्वा धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
उपगम्य महाप्राज्ञं शकुनिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ३ ॥

शकुनि, दुर्योधन के वचनों को सुन कर और महाप्राज्ञ राजा धृतराष्ट्र के पास जाकर यह वाक्य बोला ॥ ३॥

शकुनिरुवाच—

दुर्योधनो महाराज विवर्णो हरिणः कृशः ।
दीनश्चिन्तापरश्च तं विद्धि मनुजाधिप ॥ ४ ॥

शकुनि ने कहा—हे महाराज ! दुर्योधन का रंग फीका पड़ गया है तथा नित्य पीला और दुर्बल होता जा रहा है, वह बड़ा दीन और चिन्तातुर रहता है । तू उसकी कुछ खबर तो ले ॥४॥

न वै परीक्षसे सम्यगसह्यं शत्रुसंभवम् ।
ज्येष्ठपुत्रस्य हृच्छोकं किमर्थं नाऽवबुध्यसे ॥ ५ ॥

शत्रु के कारण उत्पन्न हुए असह्य, अपने बड़े पुत्र के हृदय के शोक को क्यों नहीं देखते हो और उसके कारण का क्यों नहीं पता लगाते हो ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

दुर्योधन कुतोमूलं भृशमार्तोऽसि पुत्रक ।
श्रोतव्यश्चेन्मया सोऽर्थो ब्रूहि मे कुरुनन्दन ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे पुत्र दुर्योधन ! क्या कारण है, जो तू अत्यन्त दुःखी रहता है ? हे कुरुनन्दन ! यदि मैं इसको सुन सकता हूं तो मुझसे कहो ॥ ६ ॥

अयं त्वां शकुनिः प्राह विवर्णं हरिणं कृशम् ।
चिन्तयंश्च न पश्यामि शोकस्य तव संभवम् ॥ ७ ॥

यह शकुनि कहता है कि दुर्योधन काला, पीला और दुर्बल पड़ गया है। परन्तु मैं बहुत विचारने पर भी तुम्हारे शोक का कारण नहीं देखता हूं ॥ ७ ॥

ऐश्वर्यं हि महत्पुत्र त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
भ्रातरः सुहृदश्चैव नाऽऽचरन्ति तवाऽप्रियम् ॥ ८ ॥

हे पुत्र! तुम्हें बहुत बड़ा ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है। तेरे भाई या मित्र कोई भी तेरे अहित में प्रवृत्त नहीं है ॥ ८ ॥

आच्छादयसि प्रावारानश्नासि पिशितौदनम् ।
आजानेया वहन्त्यश्वाः केनाऽसि हरिणः कृशः ॥ ९ ॥

तुम शाल दुशाले ओढ़ते और मांस ओदन खातेहो, अरबी घोड़ों पर चढ़े फिरते हो, फिर क्या ? कारण है कि पीले और दुर्बल पड़े जा रहे हो ॥ ९ ॥

शयनानि महार्हाणि योषितश्च मनोरमाः ।
गुणवन्ति च वेश्मानि विहाराश्च यथासुखम् ॥ १० ॥
देवानामिव ते सर्वं वाचि बद्धं न संशयः ।
स दीन इव दुर्धर्षः कस्माच्छोचसि पुत्रक ॥ ११ ॥

हे पुत्र! तुम्हें कीमती शय्याएँ, मनोहर स्त्रियां, उत्तम २ भवन तथा इच्छानुकूल भोग-विलास के समान प्राप्त हैं। देवों की भांति सारे सुख तुम्हारी वाणी के पीछे लगे हुए फिरते हैं।

फिर तू इतना वैभवशाली होकर भी दीन की तरह क्यों शोक कर रहा है ॥ १०-११ ॥

दुर्योधन उवाच—

अश्नाम्याच्छादये चाऽहं यथा कुपुरुषस्तथा ।
अमर्षं धारये चोग्रं निनीषुः कालपर्ययम् ॥ १२ ॥

दुर्योधन ने कहा—मैं कुपुरुष की भांति भोजन करता हूं और उत्तम २ वस्त्र पहनता हूँ। परन्तु काल की गति को देखता हुआ, उग्र शोक को धारण किये हुए हूँ ॥ १२ ॥

अमर्षणः स्वाः प्रकृतीरभिभूय परं स्थितः ।
क्लेशान्मुमुक्षुः परजात्स वै पुरुष उच्यते ॥ १३ ॥

जो शत्रु की उन्नति का असहनशील है और शत्रु का अतिक्रमण करके रहता है तथा अपनी प्रजा को शत्रु के क्लेशों से बचाता है, वही पुरुष कहता है ॥ १३ ॥

संतोषो वै श्रियं हन्ति ह्यभिमानं च भारत ।
अनुक्रोशभये चोभे यैर्वृतोनाऽश्नुते महत् ॥ १४ ॥

हे भारत! सन्तोष, श्री और अभिमान का नाश कर देता है; दया और भय से युक्त हुआ पुरुष उच्च पद को प्राप्त नहीं कर सकता है ॥ १४ ॥

न मां प्रीणाति मद्भुक्तं श्रियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरे ।
अतिज्वलन्तीं कौन्तेये विवर्णकरणीं मम ॥ १५ ॥

कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर की राज लक्ष्मी देखकर मुझे मेरा खाना पीना कुछ भी सुख नहीं देता है। जो अत्यन्त सुशोभित और मेरे रंग को फीका करने वाली है ॥ १५ ॥

सपत्नानृध्यतोऽत्मानं हीयमानं निशम्य च ।
अदृश्यामपि कौन्तेयश्रियं पश्यन्निवोद्यताम् ॥ १६ ॥
तस्मादहं विवर्णश्च दीनश्च हरिणः कृशः ॥ १७ ॥

शत्रुओं को उन्नत और अपने को अवनत तथा इस समय सम्मुख नहीं दिखाई देती हुई भी युधिष्ठिर की बढ़ती हुई राज्य-लक्ष्मी को देखकर मैं, दीन, काला, पीला और दुर्बल पड़ रहा हूँ ॥ १६–१७ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान्बिभर्त्ति युधिष्ठिरः ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर, तीस २ दास-दासी रखने वाले, अट्ठासी हज़ार गृहमेधी स्नातकों की पालना करता है ॥ १८ ॥

दशाऽन्यानि सहस्राणि नित्यं तत्राऽन्नमुत्तमम् ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर के राज-भवन में दश हज़ार ब्राह्मण, सोने के पात्रों में उत्तम २ अन्न का भोजन करते रहते हैं ॥ १९ ॥

कदलीमृगमोकानि कृष्णश्यामारुणानि च ।
काम्बोजः प्राहिणोत्तस्मै परार्ध्यानपि कम्बलान् ॥ २० ॥

कदली जाति के मृगों के काले, नीले, लाल चर्म और बहु-मूल्य के कम्बल, कम्बोज के राजा ने युधिष्ठिर के लिये भेंट में भेजे थे ॥ २० ॥

गजयोषिद्गवाऽश्वस्य शतशोऽथ सहस्रशः ।
त्रिशतं चोष्ट्रवामीनां शतानि विचरन्त्युत ।
राजन्या बलिमादाय समेता हि नृपक्षये ॥ २१ ॥

हथिनी, गौ, घोड़े तो युधिष्ठिर के राज-भवन मे लाखों की संख्या मे हैं। तीस हज़ार तो ऊंटनी होंगी। ये सब अनेक राजा भेंट मे लाए हैं ॥ २१ ॥

पृथग्विधानि रत्नानि पार्थिवाः पृथिवीपते ।
आहरन्क्रतुमुख्येऽस्मिन्कुन्तीपुत्राय भूरिशः ॥ २२ ॥
न कचिद्धिमया तादृग्दृष्टपूर्वो न च श्रुतः ।
यादृग्धनाऽऽगमो यज्ञे पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥ २३ ॥

हे पृथ्वी नाथ ! राजा लोग, कुन्ती-पुत्र, युधिष्ठिर के लिये बहुत से रत्न लेकर इस यज्ञ श्रेष्ठ मे पधारे थे। जैसी धन की वर्षा पाण्डु-पुत्र, बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर के हुई वैसी न तो मैं ने किसी यज्ञ मे देखी और न सुनी ॥ २३ ॥

अपर्यन्तं धनौघं तं दृष्ट्वा शत्रोरहं नृप
शर्मनैवाऽभिगच्छामि चिन्तयानो विशांपते ॥ २४ ॥

हेप्रजानाथ ! शत्रु की विशाल धनराशि को देख कर और उसका विचार कर के मुझे चैन नहीं पड़ता है ॥ २४ ॥

ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसंघशः ।
त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ २५ ॥

हरे-भरे क्षेत्रों के भोगने वाले, गौओं से युक्त, हजारों ब्राह्मण तीन खर्व तक की संख्या की भेंट लेकर भृत्यों से रोके हुए द्वार पर खड़े थे ॥ २५ ॥

कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयाञ्छुभान ।
एतद्धनं समादाय प्रवेशं लेभिरे न च ॥ २६ ॥

घृतादि से भरे हुए, सुवर्ण के कलशोंको ले कर भी वे लोग राजद्वार में प्रवेश नहीं पाते थे। यद्यपि इन ब्राह्मणों ने पुष्कल धन धारण कर रखा था ॥ २६ ॥

यन्नैव मधु शक्राय धारयन्त्यमरस्त्रियः ।
तदस्मै कांस्यमाहार्षीद्वारुणं कलशोदधिः ॥ २७ ॥
शङ्खप्रवरमादाय वासुदेवोऽभिषिक्तवान् ।

देवाङ्गनाऐं जिस जल को इन्द्र के लिए धारण किये रहती थी, उसी वरुण सम्बन्धी जल को इस यज्ञ में लेकर समुद्र उपस्थित हुआ। सर्वोत्तम शङ्ख में जल लेकर कृष्ण ने युधिष्ठिर का अभिषेक किया ॥ २७ ॥

शैक्यं रुक्मसहस्रस्य बहुरत्न विभूषितम् ॥ २८ ॥
दृष्ट्वा च मम तत्सर्वं ज्वररूपमिवाऽभवत् ।

सहस्रों रुक्म (मोहरों) की संख्या की तोल से बने हुए और बहुत रत्नों से भूषित, शैक्य (बेंहगी) उस यज्ञ में थी। यह सब कुछ देखकर मुझे ज्वर सा चढ़ आया ॥ २८ ॥

गृहीत्वा तत्तु गच्छन्ति समुद्रौ पूर्वदक्षिणौ ॥ २६ ॥
तथैव पश्चिमं यान्ति गृहीत्वा भरतर्षभ ।

हे भरतर्षभ ! इन वंहगियों को ले ले कर लोग पूर्व और दक्षिण के समुद्र पर जा रहे थे। इसी प्रकार इन शैक्यों (कावड़ों) को ले कर पश्चिम समुद्र पर जाते थे ॥ २६ ॥

उत्तरं तु न गच्छन्ति विना तात पतत्रिणः ॥ ३० ॥
तत्रगत्वाऽर्जुनो दण्डमाजहाराऽमितं धनम् ।

हे तात ! उत्तर दिशा में तो पक्षियों के सिवाय कोई जा भी नहीं सकता, वहां जाकर भी अर्जुन ने दण्ड रूप से अमितधन इकट्ठा किया ॥ ३० ॥

इदं चाद्भुतमत्राऽऽसीत्तन्मे निगदतः शृणु ॥३१॥
पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां परिविष्यताम्
स्थापितातत्रसंज्ञाऽभूच्छंखो ध्मायति नित्यशः ॥३२॥
मुहुर्मुहुः प्रणदतस्तस्य शङ्खस्य भारत ।
अनिशं शब्दमश्रौषं ततो रोमाणि मेऽहृषन् ॥३३॥

इस समय एक विचित्र बात यह हो रही थी, वह भी सुनों। जब एक लाख ब्राह्मणों को भोजन परोस दिया जाता था, तब वहां एक संकेत यह कर रखा था कि उस समय शङ्ख बजा दिया जाता था। हे भारत ! मैं तो बार २ बजते उस शङ्ख के शब्द सुनता था, जिससे मेरे रोमाञ्च खड़े हो जाते थे ॥ ३१-३३ ॥

पार्थिवैर्बहुभिः कीर्णमुपस्थानं दिदृक्षुभिः ।
अशोभतमहाराज नक्षत्रैर्द्यौरिवाऽमला ॥३४॥

हे महाराज ! इस सभा के देखने के लिए आये हुए बहुत से राजाओं से वह सभास्थान भर गया और तारों से निर्मल आकाश की भांति सुशोभित होने लगा ॥ ३४ ॥

सर्वरत्नान्युपादाय पार्थिवा वै जनेश्वर ।
यज्ञे तस्य महाराज पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥३५॥
वैश्या इव महीपाल द्विजातिपरिवेषकाः ॥३६॥

हे जनेश्वर ! उस पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर के यज्ञ में राजा लोग सारे रत्नों को लेकर आये थे और वैश्यों की भांति ब्राह्मणों को भोजन परोसने में व्यग्र थे ॥ ३५-३६ ॥

न सा श्रीर्देवराजस्य यमस्य वरुणस्य च ।
गुह्यकाधिपतेर्वाऽपि या श्री राजन्युधिष्ठिरे ॥३७॥

ऐसी लक्ष्मी न तो इन्द्र की ही थी और न यमराज, वरुण तथा कुबेर की ही थी। जैसी श्री इस समय राजा युधिष्ठिर के राज भवन सुशोभित हो रही थी ॥ ३७ ॥

तां दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रस्य श्रियं परमिकामहम् ।
शान्ति न परिगच्छामि दह्यमानेन चेतसा ॥३८॥

इस प्रकार की युधिष्ठिर की अत्यन्त राज्य लक्ष्मी को देख कर मेरा चित्त जल रहा है और मुझे शान्ति प्राप्त नहीं होती है ॥३८॥

शकुनिरुवाच—

यामेतामतुलां लक्ष्मीं दृष्टवानसि पाण्डवे ।
तस्याः प्राप्तावुपायं मे शृणु सत्यपराक्रम ॥३६॥

शकुनि ने कहा—हे सत्य पराक्रमधारी राजन्! जो तू ने अतुल लक्ष्मी राजा युधिष्ठिर के भवन में देखी है, उसकी प्राप्ति का उपाय सुन ॥ ३६ ॥

अहमक्षेष्वभिज्ञातः पृथिव्यामपि भारत ।
हृदयज्ञः पणज्ञश्च विशेषज्ञश्च देवेन ॥४०॥

हे भारत! मैं पृथ्वी भर मे पांसे फैंकने मे सबसे अधिक चतुर हूँ। जुआ खेलने वाले का हृदय, जुआ के दाव और उसकी चाल बाजियों का विशेष प्रकार जानने वाला हूं ॥ ४० ॥

द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न च जानाति देवितुम् ।
आहूतश्चैष्यति व्यक्तं द्यूतादपि रणादपि ॥४१॥

राजा युधिष्ठिर को जुआ खेलना तो बहुत पसन्द है, परन्तु वह खेलना नहीं जानता है। यदि इसको युद्ध या द्यूत (जुआ) के लिये ललकारा तो वह अवश्य आवेगा ॥ ४१ ॥

नियतं तं विजेष्यामि कृत्वा तु कपटं विभो ।
आनयामि समृद्धिं तां दिव्यां चोपाह्वयस्व तम् ॥४२

हे विभो! मैं कपट करके उसको अवश्य जीत लूंगा और उस समृद्धि को तुम्हें प्राप्त करा दूंगा। तुम उसको बुलवाओ ॥ ४२ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तः शकुनिना राजा दुर्योधनस्ततः
धृतराष्ट्रमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ॥४३॥

वैशम्पायन बोले—जब शकुनि ने यह कहा तो राजा दुर्योधन शकुनि से यह वचन बोला ॥ ४३ ॥

अयमुत्सहते राजञ्छ्रियमाहर्तुं मन्त्रवित् ।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रस्य तदनुज्ञातुमर्हसि ॥४४॥

हे राजन् ! यह पांसों के मर्म का जानने वाला शकुनि, युधिष्ठिर की राजलक्ष्मी का अपहरण करने की प्रतिज्ञा करता है। अब आप इसको आज्ञा दे दीजिए ॥ ४४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

क्षत्ता मन्त्री महाप्राज्ञः स्थितो यस्यास्मि शासने ।
तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्याऽस्य विनिश्चयम् ॥४५॥

धृतराष्ट्र बोले—महाबुद्धिमान् मेरे मन्त्री विदुर हैं, मैं उन की ही सम्मति से चलता हूं। मैं उनसे सलाह करके इस कार्य का निश्चय करूंगा ॥ ४५ ॥

स हि धर्मं पुरस्कृत्य दीर्घदर्शी परं हितम् ।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं वक्ष्यत्यर्थविनिश्चयम् ॥४७॥

परिणाम के देखने वाला, यह विदुर, दोनों पक्ष के हितकारी, उचित कार्य का धर्मानुसार निर्णय कर देगा ॥ ४६ ॥

दुर्योधनउवाच—

निवर्तयिष्यति त्वासौ यदि क्षत्ता समेष्यति ।
निवृत्ते त्वयि राजेन्द्र मरिष्ये हमसंशयम् ॥४७॥

दुर्योधन बोला—हे राजेन्द्र! यदि विदुर इस विषय में सम्मति देने आवेगा, तो वह आपको अवश्य रोकेगा और यदि तुम इसकी आज्ञा देने से निवृत्त हो गए, तो मैं अवश्य मर जाऊंगा। ॥ ४७ ॥

स त्वं मयि मृते राजन्विदुरेण सुखी भव ।
भोक्ष्यसे पृथिवीं कृत्स्नां किं मया त्वं करिष्यसि ॥४८॥

हे राजन्! मेरे मर जाने पर तुम विदुर के साथ आनन्द उड़ाना। तुम तो सारी पृथ्वी को भोगते ही रहोगे, मेरे जीवित रहने से तुम्हारा प्रयोजन ही क्या है॥ ४८ ॥

वैशम्पायन उवाच—

आर्तवाक्यं तु तत्तस्य प्रणयोक्तं निशम्य सः ।
धृतराष्ट्रोऽब्रवीत्प्रेष्यान्दुर्योधनमते स्थितः ॥४९॥

वैशम्पायन बोले—प्रेम से भरे हुए दुर्योधन के आर्त-वचन सुनकर धृतराष्ट्र दुर्योधन से सहमत हो गया और भृत्यों को बुलाकर कहने लगा॥ ४९ ॥

स्थूणासहस्रैर्बृहतीं शतद्वारां सभां मम ।
मनोरमां दर्शनीयामाशु कुर्वन्तु शिल्पिनः ॥५०॥

सहस्रों खम्भों से युक्त, विशाल शतद्वारों वाली, सुन्दर, देखने योग्य, एक मेरी सभा शिल्पी लोग तय्यार करें ॥ ५० ॥

ततः संस्तीर्य रत्नैस्तां तक्ष्ण आनाय्य सर्वशः ।
सुकृतां सुप्रवेशां च निवेदयत मे शनैः ॥५१॥

फिर तक्षों (जड़ने वालों) को बुलाकर और रत्नों से युक्त उस सभा को कराके, अच्छी तरह प्रवेश के योग्य हो जाने पर धीरे से मुझसे कहो ॥ ५१ ॥

दुर्योधनस्य शान्त्यर्थमिति निश्चित्य भूमिपः ।
धृतराष्ट्रो महाराज प्राहिणोद्विदुराय वै ॥५२॥

हे महाराज ! दुर्योधन के चित्त की शान्ति के लिये यह निश्चित करके राजा धृतराष्ट्र ने विदुर को बुलाने के लिए उनके पास दूत भेजा ॥ ५२ ॥

अपृष्ट्वा विदुरं स्वस्य नासीत्कश्चिद्विनिश्चयः ।
द्यूते दोषांश्च जानन्स पुत्रस्नेहादकृष्यत ॥५३॥

राजा धृतराष्ट्र, विदुर के बिना पूछे किसी कार्य का निश्चय नहीं करता था। द्यूत के दोष जानकर भी राजा धृतराष्ट्र पुत्र स्नेह के कारण पुत्र की ओर खिंच गया ॥ ५३ ॥

तच्छ्रुत्वा विदुरो धीमान्कलिद्वारमुपस्थितम् ।
विनाशमुखमुत्पन्नं धृतराष्ट्रमुपाद्रवत् ॥५४॥

विद्वान् विदुर ने जब विनाश का आरम्भ करने वाला कलह का द्वार उपस्थित हुआ सुना, तो धृतराष्ट्र के पास दौड़ कर पहुंचा ॥ ५४ ॥

सोभिगम्य महात्मानं भ्राता भ्रातरमग्रजम् ।
मूर्ध्ना प्रणम्य चरणाविदं वचनमब्रवीत् ॥५५॥

इस विदुर ने महात्मा अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र के पास पहुंचकर और मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और कहा ॥५५॥

विदुर उवाच—

नाभिनन्दामि ते राजन्व्यवसायमिमं प्रभो ।
पुत्रैर्भेदो यथा न स्याद् द्यूतहेतोस्तथा कुरु ॥५६॥

विदुर बोले—हे राजन्! धृतराष्ट्र! मैं तेरे इस कार्य का अभिनन्दन नहीं कर सकता। इस जुआ से भाइयों के विरोध की आग न भड़क जावे ॥ ५६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

क्षत्तः पुत्रेषु पुत्रैर्मे कलहो न भविष्यति ।
यदि देवाः प्रसादं नः करिष्यन्ति न संशयः ॥५७॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर! जो देवताओं ने हमारे ऊपर कृपा की, तो मेरे दोनों पुत्रों में किसी प्रकार का झगड़ा नहीं होगा, यह निश्चय है ॥ ५७ ॥

अशुभं वा शुभं वाऽपि हितं वा यदि वाऽहितम् ।
प्रवर्ततां सुहृद्द्यूतं दिष्टमेतन्न संशयः ॥५८॥

यह शुभ है या अशुभ, हितकारी है, या अहितकारी, मित्रता के साथ द्यूत होने दो, यह तो निश्चय भाग्य की परीक्षा है ॥ ५८ ॥

मयि संनिहिते द्रोणे भीष्मे त्वयि च भारत ।
अनयोर्दैवविहितो न कथंचिद्भविष्यति ॥५९॥

हे भारत ! मुझ धृतराष्ट्र, द्रोण, भीष्म और विदुर के पास मे रहने से इन दोनों पक्षों मे कोई दैव का किया हुआ विरोध उत्पन्न न होगा ॥ ५६ ॥

गच्छ त्वं रथमास्थाय हयैर्वातसमैर्जवे ।
खाण्डवप्रस्थमद्यैव समानय युधिष्ठिरम् ॥६०

अब तुम वायु के तुल्य वेग शील, अश्वों से युक्त रथ में बठकर आज ही इन्द्रप्रस्थ को जाओ और युधिष्ठिर को ले आवो ॥ ६० ॥

न वाच्यो व्यवसायो मे विदुरैतद्ब्रवीमिते ।
दैवमेव परं मन्ये येनैतदुपपद्यते ॥६१॥

हे विदुर ! तुम मेरे इस कार्य की निन्दा न करना। मैं तो दैव को ही बड़ा मानता हूं; जिसने यह सब कुछ झगड़ा खड़ा किया है ॥ ६१ ॥

जनमेजय उवाच—

इत्युक्तो विदुरो धीमान्नेदमस्तीति चिन्तयन् ।
आपगेयं महाप्राज्ञमभ्यगच्छत्सुदुःखितः ॥६२॥[१८२४]

इति श्री महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंताप
एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥४९॥

राजा धृतराष्ट्र के इतना कहने पर बुद्धिमान् विदुर ने विचारा कि अब यह कुल नहीं रहेगा। इस प्रकार दुःखी हुआ विदुर महाप्राज्ञ भीष्म के पास गया॥ ६२॥

इतिश्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व मे दुर्योधन के सन्तापका उनचासवां अध्याय पूरा हुआ।



पचासवां अध्याय

जनमेजय उवाच—

कथं समभवद्द्यूतं भ्रातृणां तन्महात्ययम्।
यत्र तद्व्यसनं प्राप्तं पाण्डवैर्मे पितामहैः॥१॥

जनमेजय बोले—हे ब्रह्मन्! यह महा विनाशकारी द्यूत (जुआ) भाइयों में ही कैसे मच गया, जिससे मेरे पितामहों पाण्डवों ने बड़ा सकट उठाया॥ १॥

के च तत्र सभास्तारा राजानो ब्रह्मवित्तम।
के चैनमन्वमोदन्त के चैनं प्रत्यषेधयन्॥२॥

हे ब्रह्म के जानने वालों में उत्तम! 'वहा कौन २ सभासद राजा थे और किस २ राजा ने इस द्यूत का अनुमोदन और किस २ ने निषेध किया॥ २॥

विस्तरेणैतदिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज।
मूलं ह्येतद्विनाशस्य पृथिव्या द्विजसत्तम॥३॥

हे द्विज-सत्तम ! पृथिवी भर के विनाश का मूल, इस द्यूत को मैं आपके मुख से सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच—

एवमुक्तस्ततो राज्ञा व्यासशिष्यः प्रतापवान् ।
आचचक्षेऽथ यद्वृत्तं तत्सर्वं वेदतत्त्ववित् ॥४॥

सूतपुत्र कहने लगे—हे ब्राह्मणों ! राजा जनमेजय के इतना पूछ लेने पर प्रतापी और वेद के तत्त्व का जानने वाले व्यास शिष्य वैशम्पायन, उस सारे वृत्तान्त को कहने लगे ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

शृणु मे विस्तरेणेमां कथां भारतसत्तम ।
भूय एव महाराज यदि ते श्रवणे मतिः ॥५॥

वैशम्पायन बोले—हे भारत सत्तम ! महाराज, यदि आपके सुनने की इच्छा है, तो इस कथा को विस्तार से सुनो ॥ ५ ॥

विदुरस्य मतं ज्ञात्वा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमुवाच विजने पुनः ॥६॥

अम्बिका पुत्र, धृतराष्ट्र ने विदुर के मन को जान कर एकान्त मे दुर्योधन से यह वाक्य बोले ॥ ६ ॥

अलं द्यूतेन गान्धारे विदुरो न प्रशंसति ।
न ह्यसौ सुमहाबुद्धिरहितं नो वदिष्यति ॥७॥

हे दुर्योधन ! इस द्यूत को नहीं खेलना चाहिए । विदुर ने इसका अनुमोदन नहीं किया है । यह महाप्राज्ञ विदुर हमारे अहित की बात नहीं कहता है ॥ ७ ॥

हितं हि परमं मन्ये विदुरो यत्प्रभाषते ।
क्रियतां पुत्र तत्सर्वमेतन्मन्ये हितं तव ॥८॥

जो विदुर कहता है, मैं तो उसी को हित मानता हूँ। हे पुत्र! तू भी विदुर के विचार के अनुसार ही कार्य कर, इसी में तेरा हित है ॥ ८ ॥

देवर्षिर्वासवगुरुर्देवराजाय धीमते ।
यत्प्राह शास्त्रं भगवान्बृहस्पतिरुदारधीः ॥९॥
तद्वेद विदुरः सर्वं सरहस्यं महाकविः ।
स्थितस्तु वचने तस्य सदाहमपि पुत्रक ॥१०॥

हे पुत्र ! उदारबुद्धि वाले, इन्द्र के गुरु, देवर्षि, भगवान् बृहस्पति ने जिन शास्त्रों का उपदेश, बुद्धिमान् इन्द्र के लिए किया है; उन सब शास्त्रों के रहस्य को महाकवि विदुर अच्छी तरह जानता है। मैं भी सदा उसी के वचन के अनुसार कार्य करता हूं ॥ ९-१० ॥

विदुरो वाऽपि मेधावी कुरूणां प्रवरो मतः ।
उद्धवो वा महाबुद्धिर्वृष्णीनामर्चितो नृप ॥११॥

हे राजन् ! बुद्धिमान् विदुर, कौरवों में श्रेष्ठ माना गया है । महाबुद्धि उद्धव वृष्णियों में प्रतिष्ठा पा रहा है ॥ ११ ॥

तदलं पुत्र द्यूतेन द्यूते भेदो हि दृश्यते ।
भेदे विनाशो राज्यस्य तत्पुत्र परिवर्जय ॥१२॥

हे पुत्र! इससे तुम द्यूत (जुआं) को बन्द करो। द्यूत तो फूट का घर है। फूट में राज्य का विनाश है, इससे इस काम के विचार को छोड़ो॥ १२॥

पित्रा मात्रा च पुत्रस्य यद्वै कार्यं परं स्मृतम्।
प्राप्तस्त्वमसि तन्नाम पितृपैतामहं पदम्॥ १३॥

पिता और माता पर जो पुत्र का भार है, उसी के अनुसार तुम पिता, पितामह के राज्य को पाये हुए हो॥ १३॥

अधीतवान्कृती शास्त्रे लालितः सततं गृहे।
भ्रातृज्येष्ठः स्थितो राज्ये विन्दसे किं न शोभनम्॥१४॥

तुमने सब कुछ पढ़ लिया; शास्त्राध्ययन में कुशल भी हो और सदा घर पर दुलार से रक्खे गये हो। बड़े भाई होकर अपने राज्य पर बैठे हो और क्या उत्तम वस्तु है, जिसको तुम प्राप्त नहीं कर सकते हो॥ १४॥

पृथग्जनैरलभ्यं यद्भोजनाऽऽच्छादनं परम्।
तत्प्राप्तोसि महाबाहो कस्माच्छोचसि पुत्रक॥१५॥

महाबाहो! साधारण मनुष्य, जिन भोजन, वस्त्रों को प्राप्त नहीं कर सकते हैं, उनको तुम प्राप्त कर लेते हो। फिर तुम्हें किस बात की चिन्ता है॥ १५॥

स्फीतं राष्ट्रं महाबाहो पितृपैतामहं महत्।
नित्यमाज्ञापयन्भासि दिवि देवेश्वरो यथा॥१६॥

हे महा-शक्ति-शाली ! तू तो अपने पिता और पितामहों के विशाल उत्तम राज्य का शासन करके स्वर्ग में इन्द्र के तुल्य, सुशोभित हो रहा है ॥ १६ ॥

तस्य ते विदितप्रज्ञ शोकमूलमिदं कथम् ।
समुत्थितं दुःखकरं तन्मे शंसितुमर्हसि ॥१७॥

हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ ! फिर यह शोक शंकु तुम्हें कहा से गड़ गया है, जो बड़ा दु खकारी है, यह मुझे बताओ ॥ १७ ॥

दुर्योधन उवाच—

अश्नाम्याच्छादयामीति प्रपश्यन्पापपूरुषः ।
नामर्षं कुरुते यस्तु पुरुषः सोऽधमः स्मृतः ॥१८

दुर्योधन बोला—हे पिता ! मैं बड़ा पापी मनुष्य हूं, जो शत्रु की उन्नति देख कर भी खाता और पहनता हूं । जो इस दशा में भी क्रोध नहीं करता, वह पुरुष अधम ही है ॥ १८ ॥

न मां प्रीणाति राजेन्द्र लक्ष्मीः साधारणी विभो ।
ज्वलितामेव कौन्तेये श्रियं दृष्ट्वा च विव्यथे ॥१९॥

हे राजेन्द्र ! मुझे यह साधारण लक्ष्मी आनन्द नहीं देती है, युधिष्ठिर की देदीप्यमान लक्ष्मी को देख कर तो मेरा मन बड़ा ही [दुःखी] हो रहा है ॥ १९ ॥

सर्वां च पृथिवीं चैव युधिष्ठिरवशानुगाम् ।
स्थिरोऽस्मि योऽहं जीवामि दुःखादेतद्ब्रवीमि ते ॥२०॥

मैं सारी पृथिवी को युधिष्ठिर के वश मे देख कर भी जीता हूं, इससे बड़ा कठोर हूं। इसी दुःख से मैं तुम से यह कह रहा हूं ॥ २० ॥

आवर्जिता इवऽभान्ति नीपाश्चित्रककौकुराः ।
कारस्कारा लोहजङ्घा युधिष्ठिरनिवेशने ॥२१॥

नीप, चित्रक, कौकुर, कारस्कार, लोहजङ्घ आदि क्षत्रियों के समूह, युधिष्ठिर के भवन में दासों की भांति वश में हो रहे हैं ।२१

हिमवत्सागराऽनूपाः सर्वे रत्नाकरास्तथा ।
अन्त्याः सर्वे पर्युदस्ता युधिष्ठिरनिवेशने ॥२२॥

हिमालय पर्वत, समुद्र, समुद्र के तट के प्रदेश, अन्य सारे जलाशय भी तथा उनके समीप के देश के निवासी भी युधिष्ठिर के भवन में परास्त हुए खड़े हैं ॥ २२ ॥

ज्येष्ठोऽयमिति मां मत्वा श्रेष्ठश्चेति विशांपते ।
युधिष्ठिरेण सत्कृत्य युक्तो रत्नपरिग्रहे ॥२३॥
उपस्थितानां रत्नानां श्रेष्ठानामर्घहारिणाम् ।
नाऽदृश्यत परः पारो नाऽपरस्तत्र भारत ॥२४॥

हे विशांपते ! मुझे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ मान कर ही युधिष्ठिर ने सत्कार से रत्नों की भेंट लेने पर नियुक्त किया था। हे भारत ! भेंट लाने वाले के लाये हुए उत्तम २ रत्नों का कोई और छोर नहीं था ॥ २४ ॥

न मे हस्तः समभवद्वसु तत्प्रतिगृह्णतः ।
अतिष्ठन्त मयि श्रान्ते गृह्य दूराहृतं वसु ॥२५॥

उन वस्तुओं के लेते २ मेरे हाथ थक गए। जब मैं थक गया, तो द्रव्य को लेकर लोग दूर ही खड़े २ प्रतीक्षा करते रहते थे ॥ २५ ॥

कृतां विन्दु सरोरत्नैर्मयेन स्फाटिकच्छदाम् ।
अपश्यन्नलिनीं पूर्णामुदकस्येव भारत ॥२६॥

हे भारत! विन्दुसर के रत्न और स्फटिक (संगमर्मर) से मय दानव द्वारा बनाई गई एक कमलिनी देखी, जो जल में खिली सी दिखाई देती थी ॥ २६ ॥

वस्त्रमुत्कर्षति मयि प्राहसत्स वृकोदरः ।
शत्रोर्ऋद्धिविशेषेण विमूढं रत्नवर्जितम् ॥२७॥
तत्र स्म यदि शक्तः स्यां पातयेऽहं वृकोदरम् ।

जब मैंने वहा वस्त्र समेट लिए तो भीमसेन ने मेरी हंसी की। मैं उस समय शत्रु की समृद्धि से मूढ़ हो रहा था, क्योंकि मेरे पास ऐसे रत्न नहीं थे, यदि मैं उस समय समर्थ होता तो भीमसेन को मार गिराता ॥ २७ ॥

यदि कुर्यां समारम्भं भीमं हन्तुं नराधिप ॥२८॥
शिशुपाल इवाऽस्माकं गतिः स्यान्नाऽत्र संशयः ।
सपत्नेनाऽवहासो मे स मां दहति भारत ॥२९॥

हे नराधिप ! यदि मैं भीमसेन के मारने का कोई भी प्रयत्न करता, तो शिशुपाल के समान हमारी भी गति होती इस मे सन्देह नहीं है। हे भारत ! शत्रु का उपहास मुझे अभी तक जला रहा है ॥ २८-२६ ॥

पुनश्च तादृशीमेव वापीं जलजशालिनीम् ।
मत्वा शिलासमां तोये पतितोऽस्मि नराऽधिप ॥३०॥

हे नराधिप ! फिर मैं कमलों से सुशोभित वाणी को पत्थर का फर्श समझ कर जल मे गिर गया ॥ ३० ॥

तत्र मां प्राहसत्कृष्णः पार्थेन सह सुस्वरम् ।
द्रौपदी च सह स्त्रीभिर्व्यथयन्ती मनो मम ॥३१॥

वहा अर्जुन के साथ कृष्ण और मेरे मन को पीड़ित करती हुई, अन्य स्त्रियों के साथ द्रौपदी भी मुझ पर हंस पड़ी ॥ ३१ ॥

क्लिन्नवस्त्रस्य तु जले किंकरा राजनोदिताः ।
ददुर्वासांसि मेऽन्यानि तच्च दुःखं परं मम ।
प्रलम्भं च शृणुष्वान्यद्वदतो मे नराधिप ॥३२॥

हे राजन् जब मेरे वस्त्र भीग गए, तब राजा युधिष्ठिर की आज्ञा से सेवकों ने मुझे अन्य वस्त्र दिए, यह भी मेरे लिए बड़ा दु.ख है। इसके अतिरिक्त अन्य मेरे प्रवञ्चन की बात सुनो ॥ ३२ ॥

अद्वारेण विनिर्गच्छन्द्वारसंस्थानरूपिणा ।
अभिहत्य शिलां भूयो ललाटेनाऽस्मि विक्षतः॥३३॥

मैं जब द्वार की आकृति के बने हुए अद्वार से निकलने लगा, तो मैं शिला से टकरा गया और मेरा मस्तक फूट गया।

तत्र मां यमजौ दूरादालोक्याऽभिहतं तदा।
बाहुभिः परिगृह्णीतां शोचन्तौ सहितावुभौ ॥३४॥

जब टक्कर खाये हुए मुझे दूर से नकुल और सहदेव ने देखा, तो दोनों ने शोक के साथ मुझे अपनी भुजाओं से पकड़ लिया।

उवाच सहदेवस्तु तत्र मां विस्मयन्निव।
इदं द्वारमितो गच्छ राजन्निति पुनः पुनः ॥३५॥

मुझे विस्मित करता हुआ सहदेव बोला—हे राजन्! यह द्वार है, आप इधर आइये॥ ३५॥

भीमसेनेन तत्रोक्तो धृतराष्ट्रात्मजेति च।
संबोध्य प्रहसित्वा च इतो द्वारं नराधिप ॥३६॥

हे राजन्! उस समय भीमसेन ने धृतराष्ट्र पुत्र (अन्ध पुत्र) सम्बोधन कर के और हंसकर कहा—हे राजन्! यह द्वार है।

नामधेयानि रत्नानां पुरस्तान्न श्रुतानि मे।
यानि दृष्टानि मे तस्यां मनस्तपति तच्च मे ॥३७॥[१८६१]

इति श्री महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५०॥

जिन रत्नों के प्रथम मैंने नाम भी नहीं सुने थे, उन को मैंने उस सभा में देखा, जिससे मेरा मन अत्यन्त तप्त हो रहा है।

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूत पर्व में दुर्योधन संताप का पचासवां अध्याय समाप्त हुआ।

—⊱⊰—

इक्यावनवाँ अध्याय

दुर्योधन उवाच—

यन्मया पाण्डवेयानां दृष्टं तच्छृणु भारत ।
आहृतं भूमिपालैर्हि वसु मुख्यं ततस्ततः ॥१॥

दुर्योधन कहने लगा—हे भारत ! मैंने पाण्डु पुत्रों के यज्ञ मे जहां तहां के नृपों द्वारा जो उत्तम २ द्रव्य लाया हुआ देखा वह तुम भी सुनो ॥ १ ॥

नाविदं मूढमात्मनं दृष्ट्वाऽहं तदरेर्धनम् ।
फलतो भूमितो चाऽपि प्रतिपद्यस्व भारत ॥२॥

हे राजन् ! वस्त्र और हीरे आदि के उस धन को देख कर मैं अपने आपको भूल सा गया, अब तुम भी सुनो ॥२॥

और्णान्बैलान्वार्पदंशाञ्जातरूपपरिष्कृतान् ।
प्रावाराजिनमुख्यांश्च काम्बोजः प्रददौ वहून् ॥३॥
अश्वांस्तित्तिरिकल्माषांस्त्रिशतं शुकनासिकान् ।
उष्ट्रवामीस्त्रिशतं च पुष्टाः पीलुशमीङ्गुदैः ॥४॥

काम्बोज देश के राजा ने भेड़ बिलवासी पनैले जन्तु, बिलाव आदि के रोमों से बने वस्त्र और चर्म जिनमे सोने के कलाबत्तू लगे हुए थे तित्तर और कल्माष जाति के तथा तोते की नासिका जैसे तीन सौ अश्व, और पीलु, शमी तथा इङ्गुदी से पुष्ट हुई तीन सौ ऊंटनी, भेंट मे दी ॥ ३-४ ॥

गोवासना ब्राह्मणाश्च दासनीयाश्च सर्वशः ।
प्रीत्यर्थं ते महाराज धर्मराज्ञो महात्मनः ॥५॥
त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥६॥

हे महाराज ! गौ पालने वाले, दास वृत्ति करने वाले, ब्राह्मण, महात्मा धर्मराज की प्रीति के लिए तीन खर्व संख्या की बलि लेकर खड़े थे, तो भी उनको द्वार पर ही रोक दिया॥ ५-६ ॥

ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसंघशः ।
कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयाञ्छुभान् ।७॥
एवं बलिं समादाय प्रवेशं लेभिरे न च ।

इसी प्रकार कृषि करने वाले, गौओं से युक्त सैंकड़ों के समूह में आये हुए ब्राह्मण सोने के कलश घी से भर २ कर लाये थे। इस प्रकार की बलि लाए हुए ब्राह्मण भी भीतर द्वार तक मे घुस नहीं सकते थे ॥ ७ ॥

शतं दासीसहस्राणां कार्पासिकनिवासिनाम्॥ ८ ॥
श्यामास्तन्व्यो दीर्घकेश्यो हेमाऽऽभरणभूषिताः ।

कार्पासिक देश की लाखों की संख्या में दासियां थी, जो श्यामा (सोलह वर्ष की) पतली, लम्बे २ बालों वाली और सोने के भूषणों से लदी हुई थी ॥ ८ ॥

शूद्रा विप्रोत्तमार्हाणि राङ्कवाण्यजिनानि च ॥ ९ ॥
बलिं च कृत्स्नमादाय भरुकच्छनिवासिनः ।
उपनिन्युर्महाराज हयान्गान्धारदेशजान् ॥ १० ॥

हे महाराज ! ब्राह्मणों के योग्य, मृगों के चर्म, शूद्र लेकर आए। भरु कच्छ देश के निवासी जन भी इस प्रकार की भेंट लाये और गान्धार देश के घोड़े भी उन्होंने अर्पण किए ॥९-१०॥

इन्द्रकृष्टैर्वर्तयन्ति धान्यैर्ये च नदीमुखैः ।
समुद्रनिष्कुटे जाताः पारेसिन्धु च मानवाः ॥ ११ ॥
ते वैरामाः पारदाश्च आभीराः कितवैः सह ।
विविधं बलिमादाय रत्नानि विविधानि च ॥ १२ ॥
अजाविकं गोहिरण्यं खरोष्ट्रं फलजं मधु ।
कम्बलान्विविधांश्चैव द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ १३ ॥

इन्द्र के द्वारा ही जोती हुई भूमि अर्थात् बिना जोती भूमि से तथा नदी से उत्पन्न धान्य से वृत्ति करने वाले, समुद्र के पास और समुद्र के पार के कितव जाति के लोगों के साथ, पारद आभीर लोग भी नाना प्रकार के रत्न तथा बकरी, भेड़, गौ, सोना, गधा ऊंट; वज्र मधु, और अनेक जाति के कम्बल भेंट में लेकर द्वार पर खड़े थे ॥ ११-१३ ॥

प्राग्ज्योतिषाऽधिपः शूरो म्लेच्छानामधिपो बली ।
यवनैः सहितो राजा भगदत्तो महारथः ॥ १४ ॥
आजानेयान्हयाञ्छीघ्रानादायानिलरंहसः ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठति वारितः ॥ १५ ॥

यवनों के सहित महारथी म्लेच्छों का अधिपति, बलवान् प्राग्ज्योतिपुर का राजा भगदत्त वायु के तुल्य वेगशील पारसी घोड़ों की भेंट तथा अन्य प्रकार की भेंटें लेकर द्वार पर खड़ा था ॥ १५

अश्मसारमयं भाण्डं शुद्धदन्तत्सरूनसीन् ।
प्राग्ज्योतिषाऽधिपो दत्त्वा भगदत्तोऽव्रजत्तदा ॥ १६ ॥

यह प्राग्ज्योतिषपुर का स्वामी भगदत्त, हीरे जड़े हुए भूषण और शुद्ध हाथी दान्त की मूंठ वाली तलवारें देकर गया है ॥१६॥

द्व्यक्षांस्त्र्यक्षांल्ललाटाक्षान्नानादिग्भ्यः समागतान् ।
औष्णीकानन्तवासांश्च रोमकान्पुरुषादकान् ॥ १७ ॥
एकपादांश्च तत्राहमपश्यं द्वारि वारितान् ।
राजानो बलिमादाय नानावर्णाननेकशः ॥ १८ ॥
कृष्णग्रीवान्महाकायान्रासभान्दूरपातिनः ।
आजह्रुर्दशसाहस्रान्विनीतान्दिक्षु विश्रुतान् ॥ १९ ॥
प्रमाणरागसंपन्नान्वङ्क्षुतीर समुद्भवान् ।
बल्यर्थं ददतस्तस्मै हिरण्यं रजतं बहु ।
दत्त्वा प्रवेशं प्राप्तास्ते युधिष्ठिरनिवेशने ॥ २० ॥

द्व्यक्ष, त्र्यक्ष, ललाटाक्ष, औष्णीक, अन्तवासो, रोमक, पुरुषादक, एकपाद आदि नाना दिशाओं से आये हुए, नाना वर्णों के राजाओं को मैं ने देखा। ये राजा बड़े २ और काली ग्रीवा वाले, वेगशील, विनीत, दिशाओं में प्रसिद्ध रासभ जाति के दश हजार अश्वों को लाये थे। जो नाप-तोल मे पूरे, सुन्दर रंग वाले और वङ्क्षु नदी के तीर पर उत्पन्न हुए थे। ये बहुतसा सोना, चांदी भेंट कर रहे थे। जब इन्होंने भेंटें दे दो, तभी ये कहीं युधिष्ठिर के राज भवन मे प्रवेश पा सके ॥ १७-२० ॥

इन्द्रगोपकवर्णाभाञ्छुकवर्णान्मनोजवान् ।
तथैवेन्द्रायुधनिभान्सन्ध्याभ्रसदृशानपि ॥ २१ ॥
अनेकवर्णानारण्यान्गृहीत्वाऽश्वान्महाजवान् ।
जातरूपमनर्घ्यं च ददुस्तस्यैकपादकाः ॥ २२ ॥

एकपादक राजाओं ने इन्द्रगोप (बीरबहूटी) के समान लाल, शुक के समान हरे, मन के तुल्य वेगशील, इन्द्र के धनुष के तुल्य रंग-बिरंगे, सायंकाल के मेघों के सदृश अनेक वर्णों के महावेग वाले, वनैले घोड़े और शुद्ध सुवर्ण भेंट में दिया।२१-२२

चीनाञ्छकांस्तथा ओड्रान्वर्बरान्वनवासिनः ।
वार्ष्णेयान्हारहूणांश्च कृष्णान्हैमवतांस्तथा ॥ २३ ॥
नीपानूपानधिगतान्विविधान्द्वारवारितान् ।
बल्यर्थं ददतस्तस्य नानारूपाननेकशः ॥ २४ ॥

चीन, शक, ओड्र, वनवासी, वर्वर, वार्ष्णेय, हारहूण, कृष्ण हिम-प्रदेश-वासी, नीप, अनूप देश के नाना रूप-धारी राजाओं को भेंट देने के लिए द्वार पर ही रोक रखा था ॥ २३-२४ ॥

कृष्णग्रीवान्महाकायान्रासभाञ्छतपातिनः ।
अहार्षुर्दशसाहस्रान्विनीतान्दिक्षु विश्रुतान् ॥ २५ ॥

कालीग्रीवा वाले, विशाल शरीरधारी, वेगशील, दिशाओं में प्रसिद्ध, विनीत दश हजार रासभ घोड़े ये भी भेंट में लाये ॥२५॥

प्रमाणरागस्पर्शाढ्यं बाह्लीचीनसमुद्भवम् ।
और्णं च राङ्कवं चैव कीटजं पट्टजं तथा ॥ २६ ॥

कुटीकृतं तथैवात्र कमलाभं सहस्रशः ।
श्लक्ष्णं वस्त्रमकार्पासमाविकं मृदु चाजिनम् ॥ २७ ॥

प्रमाण, रंगस्पर्श में सुन्दर, वाल्हीक चीन के बने हुए, ऊनी, हिरन के रोम से बने हुए, रेशमी, सन से बने हुए, चित्र-विचित्र गुच्छों के बनाये हुए, कमल के तुल्य कोमल, जिसमें कपास का नाम भी नहीं था, ऐसे वस्त्र और भेड़ आदि के चर्म भेंट में लाये गये ॥ २६-२७ ॥

निशितांश्चैव दीर्घासीनृष्टिशक्तिपरश्वधान् ।
अपरान्तसमुद्भूतांस्तथैव परशूञ्छितान् ॥ २८ ॥
रसान्गन्धांश्च विविधान्रत्नानि च सहस्रशः ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ २९॥
शकास्तुषाराः कङ्काश्च रोमशाः शृङ्गिणो नराः ।

तीक्ष्ण तलवारें, ऋष्टि, शक्ति परशु, पश्चिम देश में बने हुए तीक्ष्ण परशु (फरसी) रस, गन्ध, सहस्रों की संख्या में रत्न आदि की भेंट लेकर आये हुए शक, तुषार, कङ्क, रोमश, शृङ्गी लोग, द्वार पर ही रोके हुए खड़े थे ॥ २८-२९ ॥

महागजान्दूरगमान्गणितानर्बुदान्हयान् ॥ ३० ॥
शतशश्चैव बहुशः सुवर्णं पद्मसंमितम् ।
बलिमादाय विविधं द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ३१ ॥

दूर तक चले जाने वाले, करोड़ों हाथी, लाखों घोड़े, पद्मों की संख्या में सुवर्ण की भेंट लेकर ये राजा द्वार पर ही रोके हुए थे ॥ ३०-३१ ॥

आसनानि महार्हाणि यानानि शयनानि च ।
मणिकाञ्चनचित्राणि गजदन्तमयानि च ॥ ३२ ॥
कवचानि विचित्राणि शस्त्राणि विविधानि च ।
रथांश्च विविधाकाराञ्जातरूपपरिष्कृतान् ॥ ३३ ॥
हयैर्विनतैः संपन्नान्वैयाघ्रपरिवारितान् ।
विचित्रांश्च परिस्तोमान्रत्नानि विविधानि च ॥ ३४ ॥
नाराचानर्धनाराचाञ्छस्त्राणि विविधानि च ॥ ३५ ॥
एतद्दत्वा महद्द्रव्यं पूर्वदेशाधिपा नृपाः ।
प्रविष्टा यज्ञसदनं पाण्डवस्य महात्मनः ॥३६॥[१८९७]

इति श्री महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे एकपञ्चशत्तमोऽध्याय ॥५१॥

अमूल्य आसन, यान, शयन, अद्भुत २ मणि और सुवर्ण, हाथीदांत, जड़े हुए विचित्र कवच, अनेक शस्त्र, जिसमें शिक्षित घोड़े जुते हुए थे, ऐसे शुद्ध सोने के अनेक रथ, सिंह के चर्म से ढके ए हाथी, अद्भुत २ हाथियों के कम्बल, अनेक रत्न, नाराच, वाण विशेष) अनेक शस्त्र आदि महाद्रव्य की भेंट देकर पूर्व देश के राजा, महात्मा, युधिष्ठिर के यज्ञ मण्डप में प्रविष्ट हो सके ॥ ३६ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व में दुर्योधन सन्ताप का इक्यावनवां अध्याय समाप्त हुआ ।



बावनवां अध्याय

दुर्योधन उवाच—

दायं तु विविधं तस्मै शृणु मे गदतोऽनघ ।
यज्ञार्थं राजभिर्दत्तं महान्तं धनसंचयम् ॥१॥

दुर्योधन बोले—हे राजन्! इसके अतिरिक्त राजाओं ने यज्ञ के निमित्त जो महान् धन की राशि राजा युधिष्ठिर के लिये प्रदान की, वह मैं तुम को बताता हूँ, तुम सुनो ॥ १ ॥

मेरुमन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीम् ।
ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते ॥२॥
खसा एकासना ह्यर्हाः प्रदरा दीर्घवेणवः ।
पारदाश्च कुलिन्दाश्च तङ्गणाः परतङ्गणाः ॥३॥

मेरु और मन्दर पर्वत के मध्य मे शैलोदा नदी के पास क रहने वाले जो बासों की सुन्दर छाया के सेवन करने वाले हैं, वे खस, एकासन, अर्ह, प्रदर, दीर्घ वेणु, पारद, कुलिन्द, तङ्गण, पर-तङ्गण, आदि राजा भी भेंट मे लाए थे ॥ २-३ ॥

तद्वै पिपीलिकं नाम उद्धृतं यत्पिपीलिकैः ।
जातरूपं द्रोणमेयमहार्षुः पुञ्जशो नृपाः॥४॥
कृष्णाल्ँललामांश्चमराञ्छुक्लांश्चान्याञ्छशिप्रभान् ।
हिमवत्पुष्पजं चैव स्वादु क्षौद्रं तथा बहु ॥५॥

जो पिपीलिकाओंने देश बनाया उसे पिपीलिक कहते हैं । द्रोण परिमाण मे सोना, कृष्ण, ललाम, चमर,

शुक्ल और चन्द्रमा के तुल्य वर्ण वाले मणि तथा हिमालय के पुष्पों मे उत्पन्न हुआ स्वादु मधु (शहद) भी लाए थे ॥ ४-५ ॥

उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्चाऽप्यपोढं माल्यमम्बुभिः ।
उत्तरादपि कैलासादोषधीः सुमहाबलाः ॥६॥

उत्तर कुरु देश से तीर्थ जलों के साथ मालायें और उत्तर कैलास से बलकारक औषधियां लाई गई ॥ ६ ॥

पार्वतीया बलि चाऽन्यमाहृत्य प्रणताः स्थिताः ।
अजातशत्रोर्नृपतेर्द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥७॥

अन्य पर्वत के राजा भेंट लेकर नम्रता के साथ युधिष्ठिर के द्वार पर रोके हुए खड़े थे ॥ ७ ॥

ये परार्धे हिमवतः सूर्योदयगिरौ नृपाः ।
कारूपे च समुद्रान्ते लौहित्यमभितश्च ये ॥८॥

जो हिमालय के पार सूर्योदय पर्वत के रहने वाले तथा समुद्र पार कारूप देश के एवं लौहित्य पर्वत के पास के राजा थे, वे सब युधिष्ठिर के द्वार पर भेंट लाए थे ॥ ८॥

फलमूलाशना ये च किराताश्चर्मवाससः ।
क्रूरशस्त्राः क्रूरकृतस्तांश्च पश्याम्यहं प्रभो ॥९॥

हे प्रभो ! फल-मूल के भक्षण करने वाले, चर्मधारी क्रूर कर्म करने वाले क्रूर अस्त्रधारी किरातों को भी मैंने वहां देखा है ॥ ९ ॥

चन्दनाऽगुरुकाष्ठानां भारान्कालीयकस्य च ।
चर्मरत्नसुवर्णानां गन्धाना चैव राशयः ॥१०॥
कैरातकीनामयुतं दासीनां च विशांपते ।
आहृत्य रमणीयाऽर्थान्दूरजान्मृगपक्षिणः ॥११॥
निचितं पर्वतेभ्यश्च हिरण्यं भूरिवर्चसम् ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥१२॥

चन्दन, अगर, कृष्ण अगर, चर्म, रत्न, सुवर्ण और सुगन्धित पदार्थों की ढेरी, किरात जाति की दश हजार दासी, सुन्दर २ पदार्थ, दूर देशों के मृगपक्षी, पर्वतों से इकट्ठा किया हुआ अत्यन्त चमकते हुए सोने की भेंट लेकर राजा द्वार पर खड़े थे ॥ १०-१२ ॥

कैराता दरदा दर्वाः शूरा वै यमकास्तथा ।
औदुम्बरा दुर्विभागाः पारदा वाह्लिकैः सह ॥१३॥
काश्मीराश्च कुमाराश्च घोरका हंसकायनाः ।
शिबित्रिगर्तयौधेया राजन्या भद्रकेकयाः ॥१४॥
अम्बष्ठाः कौकुरास्तार्क्ष्या वस्त्रपाः पह्लवैः सह ।
वशातलाश्च मौलेयाः सह क्षुद्रकमालवैः ॥१५॥
पौण्ड्रिकाः कुक्कुराश्चैव शकाश्चैव विशांपते ।
अङ्गा वङ्गाश्च पुण्ड्राश्च शाणवत्या गयास्तथा ॥१६॥
सुजातयः श्रेणिमन्तः श्रेयांसः शस्त्रधारिणः ।
आहार्षुः क्षत्रिया वित्तं शतशोऽजातशत्रवे ॥१७॥

हे विशांपते ! कैरात, दरद, दर्व, शूर, यमक, औदुम्बर, दुर्विभाग, पारद, वाल्हिक, काश्मीर, कुमारक, घोरक, हंसकायन शिवि, त्रिगर्त, यौधेय, भद्रकैकेय, अम्वष्ठ, कौकुर, तार्क्ष्य, वस्त्रप, पल्हव वशातल क्षुद्रक मालवों के सहित मौलेय,, पौण्ड्रिक, कुक्कुर, शक, अङ्ग वङ्ग, पुण्ड्र, शाणवत्य, गया, सुजाति, श्रोणिमन् , शस्त्रधारी श्रेयान् , इतने क्षत्रिय वीर राजा युधिष्ठिर के लिये भेंट लाए थे ॥ १३-१७ ॥

वङ्गाः कलिङ्गा मगधास्ताम्रलिप्ताः सुपुण्ड्रकाः ।
दौवालिकाः सागरकाः पत्रोर्णाः शैशवास्तथा ॥१८॥
कर्णप्रावरणाश्चैव बहवस्तत्रभारत ।
तत्रस्था द्वारपालैस्ते प्रोच्यन्ते राजशासनात् ॥१६॥
कृतकालाः सुबलयस्ततो द्वारमवाप्स्यथ ॥२०॥

हे भारत ! वङ्ग, कलिङ्ग, मगध, ताम्र-लिप्त, सुपुण्ड्रक, दौवालिक, सागरक, पत्रोर्ण, शैशव, कर्ण प्रावरण इन सारे क्षत्रियों को राजा की आज्ञा से द्वारपाल जब आकर कहते थे, तब समय मिलने पर ये अपनी भेंट लेकर द्वार पर पहुंच पाते थे ॥ १८-२० ॥

ईषादन्तान्हेमकक्षान्पद्मवर्णान्कुथावृतान् ।
शैलाभान्नित्यमत्तांश्चाऽप्यभितः काम्यकं सरः ॥२१॥
दत्त्वैकैको दशशतान्कुञ्जरान्कवचावृतान् ।
क्षमावन्तः कुलीनाश्च द्वारेण प्राविशंस्तथाः ॥२२॥

ईषादन्त, हेमकक्ष, पद्मवर्ण, कुथावृत, शौलाभ, नित्यमत्त, झूल पहिने हुए हाथियों को काम्यक सरोवर के समीप उत्पन्न हुए प्रत्येक राजा ने हजारों की संख्या में भेंट किये, तब वे कुलीन और क्षमाशील राजा जैसे तैसे द्वार में प्रवेश पा सके ।२१-२२

एते चान्ये च बहवो गणा दिग्भ्यः समागताः ।
अन्यै श्चोपाहृतान्यत्र रत्नानीह महात्मभिः ।।२३।।

ये तथा अन्य क्षत्रियों के गण अनेक दिशाओं से वहां आये। अन्य अनेक राजाओं ने भी वहां भेंट में रत्न भेजे ॥ २३ ॥

राजाचित्ररथो नाम गन्धर्वो वासवानुगः ।
शतानि चत्वार्यददद्धयानां वातरंहसाम् ।।२४।।

इन्द्र के अनुचर, चित्ररथ नामक गन्धर्व ने वायु के तुल्य वेग वाले चार सौ घोड़े भेंट में दिये ॥ २४ ॥

तुम्बरुस्तु प्रमुदितो गन्धर्वो वाजिनां शतम् ।
आम्रपत्रसवर्णानामददद्धेममालिनाम् ।।२५।।

तुम्बरु नामक गन्धर्व ने प्रसन्नता के साथ सोने की माला पहिने हुए आम के पत्तों के समान चार सौ घोड़े दिये ॥ २५ ॥

कृतो राजा च कौरव्य शूकराणां विशांपते ।
अददद्गजरत्नानां शतानि सुबहून्यथ ।।२६।।

हे कौरव्य ! शूकर जाति के क्षत्रियों के राजा ने अनेक उत्तम २ हाथी भेंट में भेजे, जिससे वह कृतार्थ हो गया ॥ २६ ॥

विराटेन तु मत्स्येन बल्यर्थं हेममालिनाम् ।
कुञ्जराणां सहस्रे द्वे मत्तानां समुपाहृते ॥२७॥

मत्स्यविराट देश के राजा ने सोने की माला पहिने, दो हज़ार मस्त हाथी भेंट में दिये ॥ २७ ॥

पांशुराष्ट्राद्वसुदानो राजा षड्विंशतिं गजान् ।
अश्वानां च सहस्रे द्वे राजन्काञ्चनमालिनाम् ॥२८॥

जवसत्त्वोपपन्नानां वयस्थानां नराधिप ।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवेभ्यो न्यवेदयत् ॥२९॥

हे राजन् ! पांशुराष्ट्र से वसुदान राजा ने छब्बीस हाथी और सोने की माला पहिने दो हज़ार अश्व, राजा युधिष्ठिर की भेंट में अर्पण किये । हे नराधिप ! ये अश्व, वेग और बल से युक्त, युवा अवस्था वाले थे ॥ २८-२९ ॥

यज्ञसेनेन दासीनां सहस्राणि चतुर्दश ।
दासानामयुतं चैव सदाराणां विशांपते ॥३०॥

हे विशांपते ! राजा यज्ञसेन ने एक हज़ार दासी और, स्त्रियों सहित दश हज़ार दास अर्पण किये ॥ ३० ॥

अददद्गजरत्नानां शतानि च बहूनि च ।
गजयुक्ता महाराज रथाः षड्विंशतिस्तथा ।
राज्यं च कृत्स्नं पार्थेभ्यो यज्ञार्थं वै निवेदितम् ॥ ३१॥

हे महाराज ! इसी राजा ने सैकड़ों हाथी, हाथी जुड़े हुए छब्बीस रथ, भेंट में दिये । यहां तक कि इसने राज्य तक अर्पण कर दिया ॥ ३१ ॥

वासुदेवोऽपि वार्ष्णेयो मानं कुर्वन्किरीटिनः ।
अददद्गजमुख्यानां सहस्राणि चतुर्दश ॥३२॥

वृष्णि वंशोत्पन्न श्रीकृष्ण ने अर्जुन का मान करने के लिए चौदह हजार हाथी दिए ॥ ३२ ॥

आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्याऽऽत्मा धनंजयः ।
यद् ब्रूयादर्जुनः कृष्ण सर्वं कुर्यादसंशयम् ॥३३॥

अर्जुन-श्रीकृष्ण के आत्मा है और श्रीकृष्ण, अर्जुन के आत्मा है। जो अर्जुन श्रीकृष्ण से कहता है, श्रीकृष्ण भी उसे निःसन्देह पूरा करते हैं ॥ ३३ ॥

कृष्णो धनञ्जयस्यार्थे स्वर्गलोकमपि त्यजेत् ।
तथैव पार्थः कृष्णार्थे प्राणानपि परित्यजेत् ॥३४॥

श्रीकृष्ण, अर्जुन के लिए स्वर्ग लोक का भी त्याग कर सकते हैं। इसी तरह अर्जुन भी श्रीकृष्ण के लिए प्राण छोड़ सकते हैं ॥ ३४ ॥

सुरभींश्चन्दनरसान्हेमकुम्भसमास्थितान् ।
मलया दर्दुरा चैव चन्दनाऽगुरुसंचयान् ॥३५॥

सोने के घड़ों में भरा हुआ सुगन्धित चन्दन का रस (इत्र) और चन्दन तथा अगर के ढ़ेर मलय और दर्दुर पर्वत से राजा लोग लाये ॥ ३५ ॥

मणिरत्नानि भास्वन्ति काञ्चनं सूक्ष्मवस्त्रकम् ।
चोलपाण्ड्यावपि द्वारं न लेभाते ह्युपस्थितौ ॥३६॥

चमकदार मणि और रत्न, सुवर्ण, सूक्ष्म वस्त्र लेकर आये हुए चोल और पाण्ड्यदेश के राजा भी खड़े २ थक गये, पर द्वार तक न पहुंच पाये ॥ ३६ ॥

समुद्रसारं वैदूर्यं मुक्तासंघांस्तथैव च ।
शतशश्च कुथांस्तत्र सिंहलाः समुपाहरन् ॥३७॥

समुद्र के उत्तम रत्न, वैडूर्य, मोतियों के समूह, सैंकड़ों हाथियों की झूलें सिंहल देश के राजा लाये ॥ ३७ ॥

संवृत्ता मणिचीरैस्तु श्यामास्ताम्रान्तलोचनाः ।
ता गृहीत्वा नरास्तत्र द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥३८॥

मणियों के गुच्छों से युक्त, श्याम रंग के लाल आंख वाले, मनुष्य, भेंट लेकर दरवाजे पर खड़े रहते थे ॥ ३८ ॥

प्रीत्यर्थं ब्राह्मणाश्चैव क्षत्रियाश्च विनिर्जिताः ।
उपाजह्रुर्विशश्चैव शूद्राः शुश्रूषवस्तथा ॥ ३९॥

राजा युधिष्ठिर की प्रीति के लिये, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र सेवा की इच्छा से भेंट लाये ॥ ३९ ॥

प्रीत्या च बहुमानाच्चाप्युपागच्छन्युधिष्ठिरम् ।
सर्वे म्लेच्छाः सर्ववर्णा आदिमध्यान्तजास्तथा ॥४०॥

इसी तरह सारे म्लेच्छ और आदि, मध्य और अन्त के वर्ण वाले, प्रीति और मान से राजा युधिष्ठिर को भेंट अर्पण कर रहे थे ॥ ४० ॥

नानादेशसमुत्थैश्च नानाजातिभिरेव च ।
पर्यस्त इव लोकोऽयं युधिष्ठिरनिवेशने ॥४१॥

अनेक देश के उत्पन्न हुए, नाना जाति के आए हुए लोगों से युधिष्ठिर के भवन में सारा लोक इकट्ठा सा हो रहा था ॥ ४१ ॥

उच्चाऽवचानुपग्राहान्राजभिः प्रापितान्बहून् ।
शत्रूणां पश्यतो दुःखान्मुमूर्षा मे व्यजायत ॥४२॥

शत्रुओं के लिए ऊंची से ऊंची राजाओं से लाई हुई बहुत सी भेंट को देखकर दु:ख से मुझे मूर्च्छा सी आगई ॥ ४२ ॥

भृत्यास्तु ये पाण्डवानां तांस्ते वक्ष्यामि पार्थिव ।
येषामामं च पक्वं च संविधत्ते युधिष्ठिरः ॥४३॥

हे राजन्! अब मैं तुमसे युधिष्ठिर के भृत्यों का वर्णन करता हूँ, जिनके लिये कच्चा सीधा या पक्का भोजन युधिष्ठिर देता है ॥ ४३ ॥

अयुतं त्रीणि पद्मानि गजारोहाः ससादिनः ।
रथानामर्बुदं चाऽपि पादाता बहवस्तथा ॥४४॥

तीस हजार पद्म संख्या वाले हाथी-घोड़ों के सवारों की सेना की संख्या है। रथों की संख्या तीन अरब तथा पैदलों की तो कोई गिनती ही नहीं है ॥ ४४ ॥

प्रमीयमाणमामं च पच्यमानं तथैव च ।
विसृज्यमानं चाऽन्यत्र पुण्याहस्वन एव च ॥४५॥

कहीं पर कच्चा सामान तुल रहा था और कहीं पर भोजन पक रहा था। कहीं २ भोजन परोसा जा रहा था और इस समय ब्राह्मणों द्वारा की हुई पुण्याहध्वनि सुनी जाती थी ॥ ४५ ॥

नाऽभुक्तवन्तं नापीतं नाऽलंकृतमसत्कृतम् ।
अपश्यं सर्ववर्णानां युधिष्ठिरनिवेशने ॥४६॥

मैंने युधिष्ठिर के भवन में चारों वर्णों के पुरुषों में किसी को भूखा, प्यासा, भूषणों से रिक्त या सत्कार शून्य नहीं देखा ॥४६॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान्बिभर्ति युधिष्ठिरः ॥४७॥
सुप्रीताः परितुष्टाश्च ते ह्याशंसन्त्यरिक्षयम् ॥४८॥

अट्ठासी हज़ार, गृहमेधी स्नातक थे जिन में प्रत्येक के तीस तीस दासियां थी, युधिष्ठिर उन सबका पालन करता है। वे प्रसन्न और तुष्ट हुए शत्रु के नाश का आशीर्वाद दे रहे थे ॥ ४७-४८॥

दशाऽन्यानि सहस्राणि यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥४९॥

दश हजार ब्रह्मचारी यति, युधिष्ठिर के भवन में सोने के पात्रों में खाते रहते हैं ॥ ४९ ॥

अभुक्तं भुक्तवद्वाऽपि सर्वमाकुब्जवामनम् ।
अभुञ्जाना याज्ञसेनी प्रत्यवैक्षद्विशांपते ॥५०॥

हे राजन्! भूखे या भोजन किये हुए कुब्ज और वामनों से लेकर बड़े भृत्यों तक की स्वयं भूखी द्रौपदी पड़ताल करती रहती थी ॥ ५० ॥

द्वौ करौ न प्रयच्छेतां कुन्तीपुत्राय भारत ।
सांबन्धिकेन पाञ्चालाः सख्येनाऽन्धकवृष्णयः ५१[१६४८]

इति श्री महाभारते शतसाहस्र्या संहितायां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५२॥

हे भारत ! कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर के लिये सम्बन्ध के कारण तो पाचालों ने और मित्रता के कारण से अन्धक और वृष्णियों ने भेंट प्रदान नहीं की॥ ५१ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व मे दुर्योधन सन्तापका बावनवा अध्याय पूरा हुआ।



त्रेपनवाँ अध्याय

दुर्योधन उवाच—

आर्यास्तु ये वै राजानः सत्यसन्धा महाव्रताः ।
पर्याप्तविद्या वक्तारो वेदान्तावभृथप्लुताः ॥१॥
धृतिमन्तो ह्रीनिषेधा धर्मात्मानो यशस्विनः ।
मूर्धाभिषिक्तास्ते चैनं राजानः पर्युपासते ॥२॥

दुर्योधन ने कहा—सत्य प्रतिज्ञ, महाव्रतशील, विद्वान्, वक्ता, वेदान्त और यज्ञ विद्या मे कुशल, धैर्यशाल, लज्जावान्, धर्मात्मा, यशस्वी राज्य सिंहासनासीन जो आर्य राजा हैं, वे सब युधिष्ठिर की उपासना में लगे रहते थे ॥ १–२ ॥

दक्षिणार्थं समानीता राजभिः कांस्यदोहनाः ।
आरण्या बहुसाहस्रा अपश्यंस्तत्र तत्र गाः॥३॥

दक्षिणामें देने के लिए राजाओं से लाई हुई कांसी के दोहने के पात्रों से युक्त, जंगल में खुली चरने वाली हजारों गाएँ मैं ने वहां देखी ॥ ३ ॥

आजहुस्तत्र सत्कृत्य स्वयमुद्यम्य भारत ।
अभिषेकार्थमव्यग्रा भाण्डमुच्चाऽवचं नृपाः ॥४॥

हे भारत ! सत्कार करने के उद्देश्य से उत्तम २ वर्तनों को स्वयं उठा कर व्याकुलता से रहित हुए राजा लोग, अभिषेक करने के लिए ला रहे थे ॥ ४ ॥

वाह्लीको रथमाहार्षीज्जाम्बूनदविभूषितम् ।
सुदक्षिणस्तु युयुजे श्वेतः कम्बोजजैर्हयैः ॥५॥

राजा वाह्लीक सुनहरी रथ लाया । राजा सुदक्षिण ने उसमें कम्बोज देश के चार श्वेत अश्व जोड़ दिये ॥ ५ ॥

सुनीथः प्रीतिमांश्चैव ह्यनुकर्षं महाबलः ।
ध्वजं चेदिपतिश्चैवमाहार्षीत्स्वयमुद्यतम् ॥६॥

प्रसन्नता के साथ महाबली सुनीथ ध्वजा के बांस को और स्वयं चेदिपति, उठी हुई ध्वजा को लाये ॥ ६ ॥

दाक्षिणात्यः संनहनं स्रगुष्णीषे च मागधः ।
वसुदानो महेष्वासो गजेन्द्रं षष्टिहायनम् ॥७॥
मत्स्यस्त्वक्षान्हेमनद्धानेकलव्य उपानहौ ।
आवन्त्यस्त्वभिषेकार्थमपो बहुविधास्तथा॥८॥
चेकितान उपासङ्गं धनुः काश्य उपाहरत् ।
असिं च सुत्सरुं शल्यः शैक्यं काञ्चनभूषणम् ॥९॥

दक्षिण देश का राजा, कवच, मगध का राजा माला और पगड़ी, महा-धनुष-धारी वसुदान, साठ वर्ष के हाथी, मत्स्यनाथ सुवर्ण से युक्त, शकट, एकलव्य जूते, अवन्तीनाथ अभिषेक के लिए अनेक प्रकार के जल, चेकितान तूणीर, काशीपति धनुष, शल्य अच्छी मूठ वाली तलवार और सोने से भूषित शैक्य, (कावड़) स्वयं प्रेम से उठा लाये ॥ ७-६ ॥

अभ्यषिंचत्ततो धौम्यो व्यासश्च सुमहातपाः ।
नारदं च पुरस्कृत्य देवलं चाऽसितं मुनिम् ॥१०॥

महातपस्वी व्यास और धौम्य ने नारद, देवल, असित को साथ लेकर अभिषेक करने लगे ॥ १० ॥

प्रीतिमन्त उपातिष्ठन्नभिषेकं महर्षयः
जामदग्न्येन सहितास्तथाऽन्ये वेदपारगाः ॥११॥

जमदग्नि पुत्र परशुराम के साथ २ वेद के पारङ्गत महर्षियों ने प्रसन्नता के साथ यह अभिषेक पूरा किया ॥ ११ ॥

अभिजग्मुर्महात्मानो मन्त्रवद्भूरिदक्षिणम् ।
महेन्द्रमिव देवेन्द्रं दिवि सप्तर्षयो यथा ॥१२

ये सब महर्षि, मन्त्रोचारण करते हुए, स्वर्ग में इन्द्र के पास सप्तर्षियों की भांति, अधिक दक्षिणा देने वाले युधिष्ठिर के पास पहुंचे ॥ १२ ॥

आधारयच्छत्रमस्य सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
धनञ्जयश्च व्यजने भोमसेनश्च पाण्डवः ॥१३॥
चामरे चापि शुद्धे द्वे यमौ जगृहतुस्तदा ।

राजा युधिष्ठिर के ऊपर छत्र धारण, सच्चे पराक्रमी सात्यकि ने किया। अर्जुन और भीम ने पंखा झलना तथा नकुल और सहदेव ने शुद्ध चँवर डुलाये ॥ १३॥

उपागृह्णाद्यमिन्द्राय पुराकल्पे प्रजापतिः ॥१४॥
तमस्मै शङ्खमाहार्षीद्वारुणं कलशोदधिः ।

पूर्वकाल मे प्रजापति ने जिस वरुण के शङ्ख को इन्द्र के लिए भेंट दिया, उसी शङ्ख को समुद्र ने भेंट मे अर्पण किया ॥१४॥

शैक्यं निष्कसहस्रेण सुकृतं विश्वकर्मणा ॥१५॥
तेनाऽभिषिक्तः कृष्णेन तत्र मे कश्मलोऽभवत् ।

जिस शिक्य (बंहगी) को हजारों निष्कों (मोंहरों) से विश्वकर्मा ने बनाया, उसी के धारण किये हुए कलशों से कृष्ण ने युधिष्ठिर का अभिषेक किया, जिससे मेरे मन मे बड़ा क्षोभ हुआ ॥ १५ ॥

गच्छन्ति पूर्वादपरं समुद्रं चाऽपि दक्षिणम् ॥१६॥
उत्तरं तु न गच्छन्ति विना तात पतत्रिभिः ।

हे तात ! पूर्व से पश्चिम और दक्षिणी समुद्र तक लोग जा सकते हैं। परन्तु उत्तर दिशा मे पक्षियो के बिना कोई भी नहीं पहुंच सकता है, परन्तु अर्जुन वहा भी पहुंच गया ॥ १६॥

तत्र स्म दध्मुः शतशः शङ्खान्मङ्गलकारकान् ॥१७॥
प्राणदन्त समाध्मातास्ततो रोमाणि मेऽहृषन् ।
अपतन्भूमिपालाश्च ये तु हीनाः स्वतेजसा ॥१८॥

वहां के राजाओं ने बहुत से मङ्गलकारी सैंकड़ों शंख फूंक भर कर बजाये, जिससे हर्ष के कारण मेरे रोम खड़े होगये ; कि क्या युद्ध होगा ? वहां तो तेज-हीन राजा थे भूमि पर, वे लेट गये ॥ १७-१८ ॥

धृष्टद्युम्नः पाण्डवाश्च सात्यकिः केशवोऽष्टमः ।
सत्त्वस्था वीर्यसंपन्ना ह्यन्योन्यप्रियदर्शनाः ॥१९॥
विसंज्ञान्भूमिपान्दृष्ट्वा मां च ते प्राहसंस्तदा।

धृष्टद्युम्न, पांच पाण्डव, सात्यकि और आठवां कृष्ण, ये बलपूर्वक ज्यों के त्यों स्थित रहे। ये एक दूसरे की ओर देख रहे थे। ये मूर्च्छित हुए राजाओं को देख कर मुझ पर हंसने लगे ॥१९॥

ततः प्रहृष्टो बीभत्सुः प्रादाद्धेमविषाणिनाम् ॥२०॥
शतान्यनडुहां पञ्च द्विजमुख्येषु भारत ।

हे भारत ! अब प्रसन्न हुए अर्जुन ने सोने से मढ़े सींग वाले पांच सौ बैल, उत्तम २ ब्राह्मणों को प्रदान किये ॥ २० ॥

न रन्तिदेवो नाभागो यौवनाश्वो मनुर्न च ॥२१॥
न च राजा पृथुर्वैन्यो न चाप्यासीद्भगीरथः ।
ययातिर्नहुषो वापि यथा राजा युधिष्ठिरः ॥२२॥

रन्तिदेव, नाभाग, यौवनाश्व, मनु, पृथु, वैन्य, भगीरथ, ययाति नहुष, इनमें कोई ऐसा राजा नहीं हुआ, जैसा राजा युधिष्ठिर हुआ ॥ २१-२२ ॥

यथातिमात्रं कौन्तेयः श्रिया परमया युतः ।
राजसूयमवाप्यैवं हरिश्चन्द्र इव प्रभुः ॥२३॥

जैसे युधिष्ठिर बहुत अधिक मात्रा मे ऐश्वर्य से सुशोभित हो रहा है, वैसे ही इस राजसूय यज्ञ को करके हरिश्चन्द्र के समान यशस्वी हो गया है ॥ २३ ॥

एतां दृष्ट्वा श्रियं पार्थे हरिश्चन्द्रे यथा विभो ।
कथं तु जीवितं श्रेयो मम पश्यसि भारत ॥२४॥

हे भारत ! हरिश्चन्द्र के तुल्य, युधिष्ठिर की राज्य लक्ष्मी देख कर, तुम मेरा जीना कैसे कल्याणकारी समझते हो ॥ २४ ॥

अन्धेनेव युगं नद्धं विपर्यस्तं नराधिप ।
कनीयांसो विवर्धन्ते ज्येष्ठा हीयन्त एव च ॥२५॥

हे नराधिप ! अन्धे हुए विधाताने युगों की रचना बड़ी विपरीत कर रखी है कि जिससे छोटे बढ़ रहे है और बड़े गिरते जाते है ॥ २५ ॥

एवं दृष्ट्वा नाभिविन्दामि शर्म समीक्षमाणोपि कुरुप्रवीर ।
तेनाहमेवं कृशतां गतश्च विवर्णतां चैव सशोकतां च ॥२६॥

इति श्री० म० संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥ [१६७४]

हे कुरु प्रवीर ! यह देख कर बार २ सोचता हुआ, मैं कुछ भी सुख नहीं पा रहा हूँ। इसीसे मैं दुबला, काला हो गया हूँ और शोक से जलता हूँ ॥ २६ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व मे दुर्योधन सन्ताप का त्रेपनवां अध्याय पूरा हुआ ।

चौवनवां अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच—

त्वं वै ज्येष्ठो ज्यैष्ठिनेयः पुत्र मा पाण्डवान्द्विषः।
द्वेष्टा ह्यसुखमादत्ते यथैव निधनं तथा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र कहने लगा—हे पुत्र ! तू मेरी ज्येष्ठ रानी से उत्पन्न हुआ, ज्येष्ठ पुत्र है। तुम पाण्डवों से द्वेष मत करो। जो द्वेष करने वाला होता है, वह मृत्यु के तुल्य दुःख पाता है ॥ १ ॥

अव्युत्पन्नं समानार्थं तुल्यमित्रं युधिष्ठिरम् ।
अद्विषन्तं कथं द्विष्यात्त्वादृशो भरतर्षभ ॥ २ ॥

हे भरतर्षभ ! पराये के साथ कपट नहीं करने वाले, समान प्रतिज्ञाधारी, तुम्हारे मित्र या तुमसे द्वेष नहीं करने वाले युधिष्ठिर से तुम जैसे पुरुषों को द्वेष नहीं करना चाहिये ॥ २ ॥

तुल्याऽभिजनवीर्यश्च कथं भ्रातुः श्रियं नृप ।
पुत्र कामयसे मोहान्मैवं भूः शाम्य मा शुचः ॥ ३ ॥

हे नृप ! समान कुल और शक्ति वाले भाई की लक्ष्मी को तू मोह से चाहता है, ऐसा न कर, शान्त हो जा, शोक न कर ।३।

अथ यज्ञविभूतिं तां काङ्क्षसे भरतर्षभ ।
ऋत्विजस्तव तन्वन्तु सप्ततन्तुं महाध्वरम् ॥ ४ ॥

हे भरतर्षभ ! यदि तू उस यज्ञ वैभव की इच्छा करता है, तो ऋत्विक् तेरे लिए भी राजसूय महायज्ञ को करा देंगे ॥ ४ ॥

आहरिष्यन्ति राजानस्तथापि विपुलं धनम् ।
प्रीत्या च बहुमानाच रत्नान्याभरणानि च ॥ ५ ॥

राजा लोग प्रीति से तुम्हारे यहां भी बहुतसा धन, रत्न और आभूषण लेकर मान के साथ आवेंगे ॥ ५ ॥

अनार्याचरितं तात परस्वस्पृहणं भृशम् ।
स्वसंतुष्टः स्वधर्मस्थो यः स वै सुखमेधते ॥ ६ ॥

हे तात ! अन्य के धन की इच्छा करना अनार्यों का आचरण है । जो अपने धन और अपने धर्म में स्थित रहता है, वही सुख पाता है ॥ ६ ॥

अव्यापारः परार्थेषु नित्योद्योगः स्वकर्मसु ।
रक्षणं समुपात्तानामेतद्वैभवलक्षणम् ॥ ७ ॥

अन्य के धन को ग्रहण करने की कोई चिन्ता न करके अपने कामों में नित्य उद्योग करता रहे । उपार्जित धनों की रक्षा करे, यही वैभव का लक्षण है ॥ ७ ॥

विपत्तिष्वव्यथो दक्षो नित्यमुत्थानवान्नरः ।
अप्रमत्तो विनीतात्मा नित्यं भद्राणि पश्यति ॥ ८ ॥

विपत्ति में चिन्ता रहित, चतुर, नित्य उन्नति का उद्योग करने वाला, प्रमाद से रहित, नम्रता युक्त, मनुष्य नित्य कल्याण पाता है ॥ ८ ॥

बाहूनिवैतान्मा च्छेत्सीः पाण्डुपुत्रांस्तथैव ते ।
भ्रातॄणां तद्धनार्थं वै मित्रद्रोहं च मा कुरु ॥ ९ ॥

भुजाओं के तुल्य इन पाण्डु के पुत्रों को काट कर न फेंक। इसी तरह भाइयों के धन के लिए भी मित्रद्रोह न कर ॥ ९ ॥

पाण्डोः पुत्रान्मा द्विपस्वेह राजंस्तथैव ते भ्रातृधनं समग्रम्।
मित्रद्रोहे तात महानधर्मः पितामहा ये तव तेऽपि तेषाम्॥१०॥

हे राजन्! तुम पाण्डु के पुत्रों से द्वेष मत करो, इसी तरह उन भाइयों का धन भी तुम्हारा ही धन है। हे तात! मित्रद्रोह में बड़ा अनर्थ है। जो तेरे पितामह हैं, वे उनके भी पितामह हैं॥ १० ॥

अन्तर्वेद्यां ददद्वित्तं कामाननुभवन्प्रियान्।
क्रीडन्स्त्रीभिर्निरातङ्कः प्रशाम्य भरतर्षभ ॥११॥[१९८५]

इति श्री महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसन्तापे चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५४॥

हे भरतर्षभ! यज्ञ में दान करता हुआ, अपनी प्रिय कामनाओं को भोगता हुआ और निर्द्वन्दता के साथ स्त्रियों से क्रीड़ा करता हुआ शान्ति ग्रहण कर ॥ ११ ॥

इतिश्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूत पर्व में
दुर्योधन सन्तापका चौवनवां अध्याय
समाप्त हुआ।



पचपनवां अध्याय

दुर्योधन उवाच—

यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलं तु बहुश्रुतः ।
न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वी सूपरसानिव ॥१॥

दुर्योधन बोले— हे तात! जिसको अपनी गांठ की बुद्धि नहीं है और केवल बहुश्रुत है, वह दाल के रस को दर्वी (कलछी) के समान शास्त्र के अर्थ को जान नहीं सकता है ॥ १ ॥

जानन्वै मोहयसि मां नावि नौरिव संयता ।
स्वार्थे किं नावधानं ते उताहो द्वेष्टि मां भवान् ॥२॥

तुम जानते हुए भी मुझ को चक्कर में डाल रहे हो, जैसे नौका से बंधी नौका चलती है, वैसे आप चलते हैं। क्या? तुम अपने स्वार्थ को भी नहीं समझते हो या आप मुझसे द्वेष करते हैं ॥ २ ॥

न सन्तीमे धार्तराष्ट्रा येषां त्वमनुशासिता -
भविष्यमर्थमाख्यासि सर्वदा कृत्यमात्मनः ॥३॥

जिनका तुम शासन कर रहे हो, वे हम धृतराष्ट्र के पुत्र तो आगे को शेष रहेंगे नहीं। तुम तो सदा अपने करने के काम को भविष्य पर डालते रहते हो ॥ ३ ॥

परनेयोऽग्रणीर्यस्य स मार्गान्प्रति मुह्यति ।
पन्थानमनुगच्छेयुः कथं तस्य पदानुगाः ॥४॥

जिनका नेता दूसरे की बुद्धि पर चलता है, वह अपने मार्गों (कर्तव्यों) में मोहित हो जाता है। उसके पीछे चलनेवाले, अपने मार्ग को कैसे जान सकते हैं ॥ ४ ॥

राजन्परिणतप्रज्ञो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ।
प्रतिपन्नान्स्वकार्येषु संमोहयसि नो भृशम् ॥५॥

हे राजन्! आप परिपक्व बुद्धिवाले, वृद्धों की संगति में तत्पर, जितेन्द्रिय हैं। अपने कामों में तत्पर हुए हम लोगों को आप क्यों बार २ रोकते हो ॥ ५ ॥

लोकवृत्ताद्राजवृत्तमन्यदाह बृहस्पतिः ।
तस्माद्राज्ञाप्रमत्तेन स्वार्थश्चिन्त्यः सदैव हि ॥६ ॥

बृहस्पति ने लोक के व्यवहार से राज-व्यवहार को पृथक् माना है, इसलिये राजा को अपने प्रयोजन पर ही दृष्टि रखनी चाहिए ॥ ६ ॥

क्षत्रियस्य महाराज जये वृत्तिः समाहिता ।
स वै धर्मस्त्वधर्मो वा स्ववृत्तौ का परीक्षणा ॥७॥

हे महाराज! क्षत्रिय की तो जय करना ही वृत्ति है। वह विजय धर्म से हो या अधर्म से, इस विषय में विचार की ही क्या आवश्यकता है ॥ ७ ॥

प्रकालयेद्दिशः सर्वाः प्रतोदेनेव सारथिः ।
प्रत्यमित्रश्रियं दीप्तां जिघृक्षुर्भरतर्षभ ॥८॥

हे भरतर्षभ! शत्रु की चमकती हुई राज्यलक्ष्मी को ग्रहण करने की इच्छा वाला मनुष्य; प्रतोद (साटा) से सारथि के समान सारी दिशाओं को अपनी ओर खेंच ले ॥ ८ ॥

अल्पोऽपि ह्यरिरत्यर्थं वर्धमानः पराक्रमैः ।
वाल्मीको मूलज इव ग्रसते वृत्तमन्तिकात् ॥१७॥

छोटा भी शत्रु यदि पराक्रम से बढ़ता चला जावे, तो वृक्ष के मूल में उत्पन्न हुई दीमक जैसे वृक्ष को खा डालती है वैसे ही यह भी खा जाता है ॥ १७ ॥

आजमीढ रिपोर्लक्ष्मीर्मा ते रोचिष्ट भारत ।
एष भारः सत्त्ववतां नयः शिरसि धिष्ठितः ॥१८॥

हे भरतवंशोद्भव ! अजमीढ़ कुलोत्पन्न ! धृतराष्ट्र ! तुम को अपने शत्रु की लक्ष्मी रुचिकर प्रतीत नहीं होनी चाहिये । मनस्वियों को यह बोझ अपने शिर पर धारण करना ही चाहिये ॥१८॥

जन्मवृद्धिमिवार्थानां यो वृद्धिमभिकाङ्क्षते ।
एधते ज्ञातिषु स वै सद्यो वृद्धिर्हि विक्रमः ॥१९॥

जन्म होने के अनन्तर जैसे वृद्धि होती रहती है, वैसे ही जो अपने ऐश्वर्य की वृद्धि चाहता है, वही अपनी जाति में वृद्धि पाता है, क्योंकि पराक्रम तत्काल वृद्धि देने वाला है ॥ १९ ॥

नाऽप्राप्य पाण्डवैश्वर्यं संशयो मे भविष्यति ।
अवाप्स्ये वा श्रियं तां हि शिष्ये वा निहतो युधि ॥२०॥

पाण्डवों के ऐश्वर्य के छीने बिना मुझे संशय ही लगा रहेगा। या तो मैं इस लक्ष्मी को छीन लूंगा, या युद्ध में मारा हुआ सो जाऊंगा ॥ २० ॥

एतादृगस्य किं मेऽद्य जीवितेन विशांपते ।
वर्धन्ते पाण्डवा नित्यं वयं त्वस्थिरवृद्धयः ॥२१॥[२००६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५५॥

हे विशांपते इस दशा में मेरे जीवित रहने से ही क्या प्रयोजन है। जब कि पाण्डव नित्य बढ़ रहे हैं और हमारी बुद्धि सन्देह में पड़ी हुई है ॥ २१ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूत पर्व
में दुर्योधन सन्तापका पचपनवां
अध्याय समाप्त हुआ।



छप्पनवां अध्याय

शकुनि उवाच—

या त्वमेतां श्रियं दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रे युधिष्ठिरे ।
तप्यसे तां हरिष्यामि द्यूतेन जयतांवर ॥
आहूयतां परं राजन्कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥१॥

शकुनि बोला—हे विनय शील ! दुर्योधन ! पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर के भवन में जिस लक्ष्मी को देखकर तू दुःखी हुआ है। उसको मैं द्यूत के द्वारा अपहरण कर लूंगा, आप किसी तरह कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर को बुला लें ॥ १ ॥

प्रच्छन्नो वा प्रकाशो वा योगो योऽरिं प्रबाधते ।
तद्वै शस्त्रं शस्त्रविदां न शस्त्रं छेदनं स्मृतम् ॥९॥

गुप्त या प्रकट जो उपाय शत्रु को वश में कर ले, वही शस्त्र जानने वाले वीरों को शस्त्र है । काटने छांटने वाला शस्त्र, शस्त्र नहीं है ॥ ९ ॥

शत्रुश्चैव हि मित्रं च न लेख्यं न च मातृकाः ।
यो वै संतापयति यं स शत्रुः प्रोच्यते नृप ॥१०॥

कौन शत्रु है और कौन मित्र है, इसका न लेख है और न नापने तोलने वाले ही हैं । जो जिसको सन्ताप देता है वही उसका शत्रु होता है ॥ १० ॥

असंतोषः श्रियो मूलं तस्मात्तं कामयाम्यहम् ।
समुच्छ्रये यो यतते स राजन्परमो नयः ॥ ११॥

असन्तोष रखना ही ऐश्वर्य का मूल है । इसी से इसके द्वारा ही मैं लक्ष्मी की कामना करता हूँ । हे राजन् ! जो नीति उन्नति के लिए समर्थ होती है, वही परम नीति है ॥ ११ ॥

ममत्वं हि न कर्तव्यमैश्वर्ये वा धनेऽपि वा ।
पूर्वावाप्तं हरन्त्यन्ये राजधर्मं हि तं विदुः ॥१२॥

ऐश्वर्य या धन मे ममता किसी को भी नहीं करनी चाहिए । पूर्व सञ्चित धन को अन्य अपहरण कर लेते हैं, क्योंकि यही राज-धर्म बताया जाता है ॥ १२ ॥

अद्रोहे समयं कृत्वा चिच्छेद नमुचेः शिरः ।
शक्रः साभिमता तस्य रिपौ वृत्तिः सनातनी ॥१३॥

इन्द्र ने द्रोह न करने की प्रतिज्ञा करके भी नमुचि का शिर काट लिया था, इससे शत्रु में ऐसा व्यवहार करना सनातन वृत्ति मानी गई है ॥ १३ ॥

द्वावेतौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाऽविरोद्धारं ब्राह्मणं चाऽप्रवासिनम् ॥१४॥

बिल में घुस आने वाले मूषकादिकों को जैसे सर्प खा जाता है वैसे ही शत्रु से विरोध नहीं करने वाले राजा और घर नहीं छोड़ने वाले सन्यासी इन दोनों को भूमि खा जाती है ॥ १४ ॥

नास्ति वै जातितः शत्रुः पुरुषस्य विशांपते ।
येन साधारणी वृत्तिः स शत्रुर्नेतरो जनः ॥१५॥

हे विशांपते ! पुरुष का कोई भी स्वभाव से वैरी नहीं है। जिसके साथ समान वृत्ति टकरा जाती है, वही शत्रु है, अन्य नहीं ॥ १५ ॥

शत्रुपक्षं समृध्यन्तं यो मोहात्समुपेक्षते ।
व्याधिराप्यायित इव तस्य मूलं छिनत्ति सः ॥१६॥

बढ़ते हुए शत्रु-पक्ष की जो मोह से उपेक्षा करता रहता है, बढ़ी हुई व्याधि के समान वह उसका मूल ही उखाड़ फेंकता है ॥ १६ ॥

अगत्वा संशयमहमयुद्धा च चमूमुखे ।
अक्षान्क्षिपन्नक्षतः सन्विद्वानविदुषो जये ॥२॥

किसी प्रकार के सन्देह में न जाकर और सेना मुखपर बिना युद्ध किये ही, बिना किसी प्रकार की चोट खाये, द्यूत खेलना न जानने वाले को मैं द्यूत का विद्वान् पासे फेंक कर जीत लूंगा ॥२॥

ग्लहान्धनूंषि मे विद्धि शरानक्षांश्च भारत ।
अक्षाणां हृदयं मे ज्यां रथं विद्धि ममास्फुरम् ॥३॥

हे भारत! जुआ पर लगाया हुआ दाव मेरा धनुष है, पासे बाण, पासों के दाव घात मेरे धनुष की डोरी और पासे फेंकने का स्थान मेरा रथ है ॥३॥

दुर्योधन उवाच—

अयमुत्सहते राजञ्छ्रियमाहर्तुमच्युत ।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रेभ्यस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥४॥

दुर्योधन बोला—हे राजन्! अक्ष विद्या में चतुर ये मामा शकुनि जुआ द्वारा पाण्डवों की—राज्यश्री का अपहरण कर सकता है, आप आज्ञा दे दीजिये ॥४॥

धृतराष्ट्र उवाच—

स्थितोऽस्मि शासने भ्रातुर्विदुरस्य महात्मनः ।
तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम् ॥५॥



कौरव और पाण्डवों की द्यूत सभा

धृतराष्ट्र ने कहा—मैं अपने भाई महात्मा विदुर के वचन में श्रद्धा रखता हूँ। मैं उसीसे सलाह करके इस कार्य का निश्चय करूंगा ॥ ५ ॥

दुर्योधन उवाच—

व्यपनेष्यति ते बुद्धिं विदुरो मुक्तसंशयः ।
पाण्डवानां हिते युक्तो न तथा मम कौरव ॥६॥

दुर्योधन कहने लगा ! हे कौरव ! सन्देह रहित, विदुर, तेरी बुद्धि को इस कार्य से हटा देगा, क्योंकि वह जितना पाण्डवों के हित मे तत्पर है, उतना हमारे हित मे तत्पर नहीं है ॥ ६ ॥

नारभेतान्यसामर्थ्यात्पुरुषः कार्यमात्मनः ।
मतिसाम्यं द्वयोर्नास्ति कार्येषु कुरुनन्दन ॥७॥

हे कुरु नन्दन ! अन्य के बल पर पुरुष किसी भी कार्य का आरम्भ न करे, क्योंकि प्राय किसी एक कार्य मे दो मनुष्यों की बुद्धि सहमत नहीं होती है ॥ ७ ॥

भयं परिहरन्मन्द आत्मानं परिपालयन् ।
वर्षासु क्लिन्नकटवत्तिष्ठन्नेवावसीदति ॥८॥

मूर्ख भय के कार्यों को छोड़ कर अपने आपको बचाता रहता है। ऐसा मनुष्य वर्षा मे भीगे हुए कीड़े की भांति क्लेशित होता जाता है ॥ ८ ॥

न व्याधयो नाऽपि यमः प्राप्तुं श्रेयः प्रतीक्षते ।
यावदेव भवेत्कल्पस्तावच्छ्रेयः समाचरेत् ॥९ ॥

व्याधियां या मौत मनुष्य के कल्याण प्राप्ति की प्रतीक्षा नहीं करती हैं, इस लिए जबतक मनुष्य समर्थ हो अपना कल्याण प्राप्त करे ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

सर्वथा पुत्र बलिभिर्विग्रहो मे न रोचते ।
वैरं विकारं सृजति तद्वै शस्त्रमनायसम् ॥१०॥

धृतराष्ट्र बोले—हे पुत्र ! सब तरह से बलवान् पाण्डवों से युद्ध करना मुझे अच्छा प्रतीत नहीं होता है। वैर, झगड़ा खड़ा करता है और यही बिना लोह का शस्त्र है ॥ १० ॥

अनर्थमर्थं मन्यसे राजपुत्र संग्रन्थनं कलहस्यातियाति ।
तद्वै प्रवृत्तं तुयथाकथंचित्सृजेदसीन्निशितान्सायकांश्च ॥११

हे राजपुत्र ! तू अनर्थ को अर्थ मान रहा है, जो कलह का बुनने वाला है। यदि किसी प्रकार यह कलह प्रवृत्त हो गया तो यह तलवार और तीक्ष्ण बाणों को तत्क्षण खड़ा कर देगा ॥ ११ ॥

दुर्योधन उवाच—

द्यूतेपुराणैर्व्यवहारः प्रणीतस्तत्रात्ययो नास्ति न संप्रहारः।
तद्रोचतां शकुनेर्वाक्यमद्यसभां क्षिप्रं त्वमिहाज्ञापयस्व॥१२॥

दुर्योधन बोला—द्यूत में पुराने मनुष्यों ने व्यवहार बनाया है, उसमें न तो नाश है और न युद्ध ही खड़ा होता है। मुझे तो इस समय शकुनि का ही वाक्य अच्छा प्रतीत होता है, आप शीघ्र सभा करने की आज्ञा दें ॥ १२ ॥

स्वर्गद्वारं दीव्यतां नो विशिष्टं तद्वर्तिनां चापि तथैव युक्तम् ।
भवदेवं ह्यात्मना तुल्यमेवं दुरोदरं पाण्डवैस्त्वं कुरुष्व ॥१३॥

इस जुए के खेलने से विशेष सुखदायी स्वर्ग का द्वार खुल जावेगा। इस व्यवहार में पड़नेवालों को ऐसा होना ठीक ही है। इस तरह हमारी उनकी समानता होगी, इस लिए तू पाण्डवों के साथ जुए का प्रबन्ध कर॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

वाक्यं न मे रोचते यत्त्वयोक्तं यत्ते प्रियं तत्क्रियतां नरेन्द्र ।
पश्चात्तप्स्यसे तदुपाक्रम्य वाक्यं नहीदृशं भावि वचो हि धर्म्यम्॥१४

धृतराष्ट्र ने कहा—हे राजन्! जो तूने कहा है, मुझे यह अच्छा प्रतीत नहीं होता है। तू इस वाक्य का उल्लङ्घन कर के पीछे पछतावेगा। इस प्रकार की भविष्यवाणी झूठी नहीं होती है॥ १४ ॥

दृष्टं ह्येतद्विदुरेणैवसर्वं विपश्चिता बुद्धिविद्यानुगेन ।
तदेतदेवशस्याभ्युपैति महद्भयं क्षत्रियजीवघाति ॥१५॥

बुद्धि और विद्या के स्थान, विद्वान् विदुर ने इसका फल देख लिया है। अब यह क्षत्रियों के विनाश का हेतु महाभय दैववश अवश्य प्राप्त हो॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी दैवं मत्वा परमं दुस्तरं च ।
शशासोच्चैः पुरुषान्पुत्रवाक्ये स्थितो राजा दैवसंमूढचेताः॥१६

वैशम्पायन बोले—बुद्धिमान, धृतराष्ट्र इतना कहकर दैव के वश में हुआ राजा अपने पुत्र के वचन में स्थित होकर अधिकारियों से उच्चस्वर से बोला ॥ १६ ॥

सहस्रस्तम्भां हेमवैदूर्यचित्रां शतद्वारां तोरणस्फाटिकाख्याम्।
सभामग्र्यां क्रोशमात्रायतां मे तद्विस्तारामाशु कुर्वन्तु युक्ताः॥

हे शिल्पियो ! सहस्रों खम्भोंवाली, सोने और वैडूर्य मणियों से चित्र विचित्र, सौ द्वारों वाली, तोरण स्फटिक नाम की कोश भर लम्बी और उतनीही चौड़ी एक सभा शीघ्र बनाओ ॥ १७ ॥

श्रुत्वा तस्य त्वरिता निर्विशङ्काः प्राज्ञा दक्षास्तां तदा चक्रुराशु
सर्वद्रव्याण्युपजह्रुः सभायां सहस्रशः शिल्पिनश्चैव युक्ताः॥

राजा के वचनों को सुनकर सहस्रों योग्य चतुर, बुद्धिमान, शंका रहित, शीघ्रता करने वाले, शिल्पियो ने सभा बना डाली। और उन्होंने उसमें सारे सामान लगा दिए ॥ १८ ॥

कालेनाऽल्पेनाऽथ निष्ठांगतां तां सभां रम्यां बहुरत्नां विचित्राम्।
चित्रैर्हैमैरासनैरभ्युपेतामाचख्युस्ते तस्य राज्ञः प्रतीताः।१९।
ततो विद्वान्विदुरं मन्त्रिमुख्यमुवाचेदं धृतराष्ट्रो नरेन्द्रः।
युधिष्ठिरं राजपुत्रं च गत्वा मद्वाक्येन क्षिप्रमिहाऽऽनयस्व

थोड़ेही काल में बनकर समाप्त हुई उस सुन्दर, विचित्र, सुन्दर सोने के आसनों से युक्त, उस सभा की निश्चिन्त शिल्पियों ने राजा को सूचना दी। इसके अनन्तर मन्त्रियों में

श्रेष्ठ विदुर से राजा धृतराष्ट्र, बोला—कि राजा युधिष्ठिर को मेरे वाक्य से यहां ले आओ ॥ १६ ॥ २० ॥

सभेयं मे बहुरत्ना विचित्रा शय्यासनैरुपपन्ना महार्हैः ।
सा दृश्यतां भ्रातृभिः सार्धमेत्य सुहृद्द्यूतं वर्ततामत्रचेति

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरानयने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्याः ।५६।

यह सभा अनेक रत्नों से विचित्र है और अमूल्य शय्या और आसनों से सुशोभित है । इसको युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ आकर देखें और यहां आकर प्रेम का जुआ खेलें ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व में युधिष्ठिर के लाने का छप्पनवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ ।



सत्तावनवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

मतमाज्ञाय पुत्रस्य धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
मत्वा च दुस्तरं दैवमेतद्राजश्चकार ह ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! धृतराष्ट्र राजा अपने पुत्र के इस मत को मानकर और दैव को दुस्तर समझ कर यह सब कुछ करने के लिए तय्यार होगया ॥ १ ॥

अन्यायेन तथोक्तस्तु विदुरो विदुषां वरः ।
नाऽभ्यनन्दद्वचो भ्रातुर्वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २ ॥

विद्वानों में श्रेष्ठ विदुर ने अपने भाई के इन वचनों का अनुमोदन नहीं किया, क्योंकि वे अन्याय से पूर्ण थे ॥ २ ॥

विदुर उवाच—

नाभिनन्दे नृपते प्रैषमेतं मैवं कृथाः कुलनाशाद्बिभेमि।
पुत्रैर्भिन्नैः कलहस्ते ध्रुवं स्यादेतच्छङ्के द्यूतकृते नरेन्द्र॥३॥

हे नृपते ! मैं आपकी इस आज्ञा का स्वागत नहीं करता हूँ। तू ऐसा न कर ! मैं तो कुल नाश से बड़ा डर रहा हूँ। हे नरेन्द्र! जब पुत्रों में फूट होगी तो कलह भी अवश्य होगा। मैं तो इस द्यूत में यही देख रहा हूँ ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

नेह क्षत्तः कलहस्तप्स्यते मां न चेद्दैवं प्रतिलोमं भविष्यत्।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं सर्वं जगच्चेष्टति न स्वतन्त्रम्

धृतराष्ट्र कहने लगा—हे विदुर ! यदि दैव उलटा नहीं हुआ, तो यह कलह मुझे तप्त नहीं करेगा। विधाता इस जगत् को दैव के वश में बनाता है। यह सारा जगत् दैव के वश में ही चेष्टा कर रहा है, स्वतन्त्र कुछ भी नहीं करता है ॥ ४ ॥ ॥

तदद्य विदुर प्राप्य राजानं मम शासनात्।
क्षिप्रमानय दुर्धर्षं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥५॥ [२०३२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि युधिष्ठिरानयने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

हे विदुर ! इससे तू शीघ्र मेरी आज्ञा से जा और कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर को लेकर चला आ ॥ ५ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व में युधिष्ठिर के लाने का सत्तावनवां अध्याय पूरा हुआ।

अट्ठावनवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततः प्रायाद्विदुरोऽश्वैरुदारैर्महाजवैर्बलिभिः साधुदान्तैः।
बलान्नियुक्तो धृतराष्ट्रेण राज्ञा मनीषिणा पाण्डवानां सकाशे

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! सुशिक्षित, वेगशील, बली, उदार घोड़ों को रथ में जोड़ कर धृतराष्ट्र से बलपूर्वक प्रेरित किया हुआ, विदुर, मनस्वी पाण्डवों के पास चल दिया ॥ १ ॥

सोऽभिपत्य तदध्वानमासाद्य नृपतेः पुरम् ।
प्रविवेश महाबुद्धिः पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥२॥

वह महाबुद्धि विदुर, इन्द्रप्रस्थ के मार्ग का अवलम्बन कर तथा द्विजातियों से पूजित होकर पाण्डवों के नगर में घुसा ॥२॥

स राजगृहमासाद्य कुबेरभवनोपमम् ।
अभ्यागच्छत धर्मात्मा धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥३॥

धर्मात्मा विदुर, कुबेर के भवन के तुल्य, राजभवन को पा कर धर्मराज युधिष्ठिर के पास पहुचा ॥ ३ ॥

तं वै राजा सत्यधृतिर्महात्मा अजातशत्रुर्विदुरं यथावत् ।
पूजापूर्वं प्रतिगृह्याऽजमीढस्ततोऽपृच्छद्धृतराष्ट्रं सपुत्रम् ॥४॥

सत्य का धारण करने वाला, अजमीढ कुलोत्पन्न, महात्मा राजा युधिष्ठिर ने विधि पूर्वक पूजा करके विदुर का स्वागत किया और फिर राजा धृतराष्ट्र और उनके पुत्रों के विषय में पूछा ॥ ४॥

युधिष्ठिर उवाच —

विज्ञायते ते मनसोऽप्रहर्षः कच्चित्क्षत्तः कुशलेनागतोऽसि ।
कच्चित्पुत्राः स्थविरस्यानुलोमा वशानुगाश्चापि विशोऽथ कच्चित्

हे विदुर ! तुम्हारे मन में अप्रसन्नता सी दिखाई देती है। आप कुशल से तो आये हैं ? वृद्ध धृतराष्ट्र के अनुलोम पुत्र दुर्योधन आदि और वशीभूत प्रजा कुशल से तो है ? ॥ ५ ॥

विदुर उवाच—

राजा महात्मा कुशली सुपुत्र आस्ते वृतो ज्ञातिभिरिन्द्रकल्पः
प्रीतो राजन्पुत्रगुणैर्विनीतो विशोक एवात्मरतिर्दृढात्मा ॥६॥

विदुर ने कहा—हे राजन् ! अपने बन्धु-बान्धवों से युक्त हुआ महात्मा, राजा धृतराष्ट्र, इन्द्र के सदृश सुशोभित है। यह अपने पुत्रों के गुणों पर मुग्ध है। यह सर्वथा शोकरहित, नम्र, दृढ़ और अपनी उन्नति में सन्तुष्ट है ॥ ६ ॥

इदं तु त्वां कुरुराजोभ्युवाच पूर्वं पृष्ट्वा कुशलं चाव्ययं च ।
इयं सभा त्वत्सभातुल्यरूपा भ्रातॄणां ते दृश्यतामेत्य पुत्र॥७॥

राजा धृतराष्ट्र ने पहिले तुम्हारी कुशल और धनादि की उन्नति पूछ कर कहा है, कि यह सभा तुम्हारी सभा जैसी ही तुम्हारे भाइयों ने बनवायी है, तुम आकर देखो ॥ ७ ॥

समागम्य भ्रातृभिः पार्थ तस्यां सुहृद्द्यूतं क्रियतां रम्यतां च।
प्रीयामहे भवतां संगमेन समागताः कुरवश्चापि सर्वे ॥८॥

हे पार्थ ! तुम आवो और अपने भाइयों के साथ उस में सुहृद् द्यूत खेलो और आनन्द करो। तुम भाइयों के मिलने से हम और सारे कौरव प्रसन्न होंगे ॥ ८ ॥

दुरोदरा विहिता ये तु तत्र महात्मना धृतराष्ट्रेण राज्ञा ।
तान्द्रक्ष्यसे कितवान्सन्निविष्टान्नित्यागतोऽहं नृपते तज्जुषस्व॥

हे नृपते ! महात्मा, राजा धृतराष्ट्र ने जिन जुआरियों को नियुक्त किया है, उनको तुम वहां बैठे हुए देखोगे। मैं इसीलिए आया हूं, तुम भी चलो ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

द्यूते क्षत्तः कलहो विद्यते नः को वै द्यूतं रोचते बुध्यमानः ।
किं वा भवान्मन्यते युक्तरूपं भवद्वाक्ये सर्व एव स्थिताःस्म १०

हे विदुर ! द्यूत में तो कलह हो जाती है, कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा ? जो द्यूत को पसन्द करेगा । क्या ? आप इसको उचित मानते हैं । हम तो सब आपकी आज्ञा में तत्पर हैं ॥१०॥

विदुर उवाच—

जानाम्यहं द्यूतमनर्थमूलं कृतश्च यत्नोऽस्य मया निवारणे ।
राजा च मां प्राहिणोत्त्वत्सकाशं श्रुत्वा विद्वञ्छ्रेय इहाचरस्व

विदुर बोले—मैं जानता हूं, कि जुआ अनर्थ का मूल है। मैंने तो इसके रोकने का भी बड़ा प्रयत्न किया। हे विद्वान्! फिर भी राजा धृतराष्ट्र ने मुझे यहां तुम्हारे पास भेज दिया है। यह सुनकर जो कल्याणकारी हो, वह करो॥ ११॥

युधिष्ठिर उवाच—

के तत्रान्ये कितवा दीव्यमाना विना राज्ञो धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः ।
पृच्छामि त्वां विदुर ब्रूहि नस्तान्यैर्दीव्यामः शतशः संनिपत्य॥

युधिष्ठिर बोले—हे विदुर ! धृतराष्ट्र के पुत्रों के सिवा वहां कौन २ छली जुआरी खेलने वाले हैं। मैं तुमसे यह पूछता हूँ, कि हम सैकड़ों मनुष्यों को धनादि किस वस्तु को दाव पर लगाकर खेलना होगा ॥ १२ ॥

विदुर उवाच—

गान्धारराजः शकुनिर्विशांपते राजातिदेवी कृतहस्तो मताक्षः ।

विविंशतिश्चित्रसेनश्च राजा सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयश्च ॥१३॥

विदुर बोले—हे विशांपते ! मर्यादा का अतिक्रमणकारी, पासे की विद्या मे कुशल, सिद्ध-हस्त गान्धार-राज, राजा शकुनि विविंशति, चित्रसेन, राजा सत्यव्रत, पुरुमित्र और जय वहां इकट्ठे हो रहे हैं ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

महाभयाः कितवाः संनिविष्टामायोपधा देवितारोऽत्र सन्ति ।

धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं सर्वं जगत्तिष्ठति न स्वतन्त्रम् ॥

ये सारे ही महाभयकारी कपटी जुआरी इकट्ठे हो रहे हैं। विधाता ने कर्मों के अधीन इस जगत् को बनाया है, स्वतन्त्र नहीं। जो होनहार होगा सो होगा ही ॥ १४ ॥

नाहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य शासनान्न गन्तुमिच्छामि कवे दुरोदरम् ।

इष्टो हि पुत्रस्य पिता सदैव तदस्मि कर्ता विदुरात्थ मां यथा ॥

हे चतुर ! विदुर ! मैं राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा से भी वहां बिल्कुल न जाऊंगा। पिता को अपना पुत्र ही सदा प्यारा होता है, इसलिये आप ही मुझे बताइए, मैं वही करूंगा ॥ १५ ॥

नचाकामः शकुनिना देविताहं चेन्मांजिष्णुराह्वयितासभायाम्
आहूतोऽहं न निवर्ते कदाचित्तदाहितं शाश्वतं वै व्रतं मे ॥१६॥

मैं बिना प्रयोजन शकुनि से खेलना ही नहीं चाहता हूँ; जो वह जयशील शकुनि, सभा में मेरा आह्वान नहीं करेगा, (तो मैं चुप रहूंगा) जो उन्होंने मुझे ललकार लिया, तो मैं पीछे नहीं हटूंगा, यही मेरा दृढ़ व्रत है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा विदुरं धर्मराजः प्रायात्रिकं सर्वमाज्ञाप्य तूर्णम् ।
प्रायाच्छ्वोभूते सगणः सानुयात्रः सह स्त्रीभिर्द्रौपदीमादि कृत्वा॥

वैशम्पायन बोले—धर्मराज युधिष्ठिर ने विदुर से इतना कह कर शीघ्र यात्रा के लिए आज्ञा दे दी, कि कल सारे भाई, सेना तथा द्रौपदी आदि स्त्रियों के साथ हस्तिनापुर चलेंगे ॥ १७ ॥

दैवं हि प्रज्ञां मुष्णाति चक्षुस्तेज इवाऽपतत् ।
धातुश्च वशमन्वेति पाशैरिव नरः सितः ॥१८॥

आंखों का तेज के पतन के तुल्य, दैव मनुष्य की बुद्धि को हर लेता है। पाश से बंधा हुआ मनुष्य, विधाता के वश में घूमता रहता है ॥ १८ ॥

इत्युक्त्वा प्रययौ राजा सह क्षत्त्रा युधिष्ठिरः ।
अमृष्यमाणस्तस्याऽथ समाह्वानमरिन्दमः ॥१९॥

यह कह कर अरिमर्दन राजा युधिष्ठिर, इस आह्वान को न सहकर विदुर के साथ चल दिया ॥ १९ ॥

वाह्लीकेन रथं यत्तमास्थाय परवीरहा ।
परिच्छन्नो ययौ पार्थो भ्रातृभिः सह पाण्डवः ॥२०॥

वाल्हीक ने रथ सजाया, इस पर शत्रु-विजयी, युधिष्ठिर वस्त्र पहन कर भाइयों सहित बैठकर चल दिया ॥ २० ॥

राजश्रिया दीप्यमानो ययौ ब्रह्मपुरः सरः ।
धृतराष्ट्रेण चाहूतः कालस्य समयेन च ॥२१॥

राजा धृतराष्ट्र से बुलाया हुआ और काल की प्रेरणा से ब्राह्मणों को साथ लेकर राजलक्ष्मी से देदीप्यमान युधिष्ठिर हस्तिनापुर को चला ॥ २१ ॥

स हास्तिनपुरं गत्वा धृतराष्ट्रगृहं ययौ ।
समियाय च धर्मात्मा धृतराष्ट्रेण पाण्डवः ॥२२॥

यह युधिष्ठिर हस्तिनापुर में पहुंच कर धृतराष्ट्र के भवन में पहुंचा और उनसे प्रेम से मिला ॥ २२ ॥

तथा भीष्मेण द्रोणेन कर्णेन च कृपेण च ।
समियाय यथान्यायं द्रौणिना च विभुः सह ॥२३॥

यह शक्तिशाली युधिष्ठिर, भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृप और अश्वत्थामा से भी मिला ॥ २३ ॥

समेत्य च महाबाहुः सोमदत्तेन चैव ह ।
दुर्योधनेन शल्येन सौबलेन च वीर्यवान् ॥२४॥

यह वीर्यवान्, महाबाहु युधिष्ठिर, सोमदत्त, दुर्योधन, शल्य और शकुनी से भी मिला ॥ २४ ॥

ये चाऽन्ये तत्र राजानः पूर्वमेव समागताः ।
दुःशासनेन वीरेण सर्वैर्भ्रातृभिरेव च ॥२५॥
जयद्रथेन च तथा कुरुभिश्चाऽपि सर्वशः ।
ततः सर्वैर्महाबाहुर्भ्रातृभिः परिवारितः ॥२६॥
प्रविवेश गृहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥२७॥

जो अन्य राजा वहा पहिले ही मौजूद थे, उन और सारे भाइयों के साथ दुःशासन तथा जयद्रथ, अन्य कौरवों से अपने भाइयों के सहित महाबाहु, राजा युधिष्ठिर मिले और फिर बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र के भवन मे प्रविष्ट हुए ॥ २४-२७ ॥

ददर्श तत्र गान्धारीं देवीं पतिमनुव्रताम् ।
स्नुषाभिः संवृतां शश्वत्ताराभिरिव रोहिणीम् ॥२८॥

वहां इसने पतिव्रता गान्धारी को ताराओं से घिरी हुई रोहिणी के तुल्य अपनी पुत्र-वधुओं से घिरे हुए देखा ॥ २८ ॥

अभिवाद्य स गान्धारीं तया च प्रतिनन्दितः ।
ददर्श पितरं वृद्धं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ॥२९॥

यह गान्धारी को नमस्कार करके और उससे आशीर्वाद लेकर वृद्ध पिता धृतराष्ट्र के पास पहुचा ॥ २९ ॥

राज्ञा मूर्धन्युपाघ्रातास्ते च कौरवनन्दनाः ।
चत्वारः पाण्डवा राजन्भीमसेनपुरोगमाः ॥३०॥

हे राजन् ! राजा ने इन भीमसेन आदि चारों पाण्डवों के मस्तक को सूंघा ॥ ३० ॥

ततो हर्षः समभवत्कौरवाणां विशांपते।
तान्दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान्पाण्डवान्प्रियदर्शनान् ॥३१॥

हे विशांपते! सारे कौरवों को इस समय पुरुष श्रेष्ठ प्रिय दर्शन पाण्डवों को देखकर बड़ा हर्ष हो रहा था ॥ ३१ ॥

प्रविशुस्तेऽभ्यनुज्ञाता रत्नवन्ति गृहाणि च।
ददृशुश्चोपयातांस्तान्द्रौपदीप्रमुखाः स्त्रियः ॥३२॥

ये सारे कौरव, आज्ञा लेकर रत्नों से सुसज्जित भवनों में प्रविष्ट हुए। द्रौपदी आदि स्त्रियों ने उन सब को देखा ॥ ३२ ॥

याज्ञसेन्याः परामृद्धिं दृष्ट्वा प्रज्वलितामिव।
स्नुषास्ता धृतराष्ट्रस्य नातिप्रमनसोऽभवन् ॥३३॥

द्रौपदी की देदीप्यमान समृद्धि को देखकर धृतराष्ट्र की पुत्र-वधुएँ अधिक प्रसन्न न हुईं ॥ ३३ ॥

ततस्ते पुरुषव्याघ्रा गत्वा स्त्रीभिस्तु संविदम्।
कृत्वा व्यायामपूर्वाणि कृत्यानि प्रतिकर्म च ॥३४॥

अब इन महानुभावों ने आपस में स्त्रियों से बातचीत की, फिर व्यायाम कर के बाल आदि संभाले ॥ ३४ ॥

ततः कृताह्निकाः सर्वे दिव्यचन्दनभूषिताः।
कल्याणमनसश्चैव ब्राह्मणान्स्वस्ति वाच्य च ॥
मनोज्ञमशनं भुक्त्वा विविशुः शरणान्यथ ॥३५॥

सबने अपने नित्य कर्म किये और सुगन्धित चन्दन लगाया। प्रसन्न मन से ब्राह्मणों द्वारा स्वस्ति वाचन कराके, तथा सुन्दर २ भोजन करके अपने २ महलों में चले गए ॥ ३४-३५ ॥

उपगीयमाना नारीभिरस्वपन्कुरुपुङ्गवाः ।
अनन्तरं च तत्प्राप्य प्रीताः परपुरञ्जयाः ॥३६॥

नारियों के गाने के साथ साथ सारे कुरु श्रेष्ठ सो गए। इसके अनन्तर जो पाना था, वह पाकर पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३६ ॥

जगाम तेषां स रात्रिः पुण्या रतिविहारिणाम् ।
स्तूयमानाश्च विश्रान्ताः काले निन्द्रामथाऽत्यजन् ॥३७॥

यही उनकी शुभ रात रति और विहार में समाप्त हुई। स्तुति के साथ उन्होंने विश्राम किया और समय पर नींद से जाग उठे ॥ ३७ ॥

सुखोषितास्ते रजनीं प्रातः सर्वे कृताह्निकाः ।
सभां रम्यां प्रविविशुः कितवैरभिनन्दिताः ॥३८॥ [२०७०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरसभागमनेऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

रात में वे सुख से सोये और प्रातःकाल उठकर नित्य-कर्म करने लगे। इसके अनन्तर जुआरियों से स्वागत पाकर उस सभा में प्रविष्ट हुए ॥ ३८ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व में युधिष्ठिर के सभा में आने का अट्ठावनवां अध्याय समाप्त हुआ।



उनसठवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

प्रविश्य तां सभां पार्था युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
समेत्य पार्थिवान्सर्वान्पूजार्हानभिपूज्य च ॥ १ ॥
यथावयः समेयाना उपविष्टा यथार्हतः ।
आसनेषु विचित्रेषु स्पर्ध्यास्तरणवत्सु च ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर आदि पाण्डव सभा मे पहुंच कर अन्य राजाओं से मिले और इन्होंने पूजा के योग्य राजाओं की पूजा की । जिसकी जैसी अवस्था थी, उसके अनुसार उससे मिले और अपने योग्य कीमती गलीचों से युक्त विचित्र आसनों पर जा विराजे ॥ १-२ ॥

तेषु तत्रोपविष्टेषु सर्वेष्वथ नृपेषु च ।
शकुनिः सौबलस्तत्र युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३ ॥

उन सब राजाओं के वहा बैठ जाने पर सुबल पुत्र शकुनि युधिष्ठिर से बोला ॥ ३ ॥

शकुनिरुवाच—

उपस्तीर्णा सभा राजन्सर्वे त्वयि कृतक्षणाः ।
अक्षानुप्त्वा देवनस्य समयोऽस्तु युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

शकुनि ने कहा हे राजन् ! सारी सभा उचित सामग्री से सजाई जा चुकी है । सारे राजा तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहे है । अब पासे फैंक कर खेल आरम्भ हो जाना चाहिए ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

निकृतिर्देवनं पापं न चात्रोऽत्र पराक्रमः ।
न च नीतिध्रु वा राजन्कि त्वं द्यूतं प्रशंससि ॥५॥

युधिष्ठिर बोले—जुआ छल और पाप है, इसमें कुछ भी क्षात्र पराक्रम नहीं है। यह कोई ध्रुव नीति नहीं है। फिर तुम द्यूत की क्यों प्रशंसा कर रहे हो ॥ ५ ॥

न हि मानं प्रशंसन्ति निकृतौ कितवस्य हि ।
शकुने मैव नो जैषीरमार्गेण नृशंसवत् ॥६॥

इस जुआ में जुआरी की कोई प्रशंसा नहीं करते हैं। हे शकुनि ! इस अमार्ग से तू नृशंस की भांति हमारे जीतने का प्रयत्न न कर ॥ ६ ॥

शकुनिरुवाच—

यो वेत्ति संख्यां निकृतौ विधिज्ञश्चेष्टास्वखिन्नः कितवोऽक्षजासु
महामतिर्यश्च जानाति द्यूतं स वै सर्वं सहते प्रक्रियासु ॥७॥

शकुनि बोला—द्यूत का जानने वाला खिलाड़ी जय और पराजय के द्वार को जानता है। पासों की चेष्टाओं में घबराता नहीं है। जो बुद्धिमान् द्यूत खेलना जानता है, वही द्यूत की प्रक्रियाओं में सब कुछ कर सकता है ॥ ७ ॥

अक्षग्लहः सोऽभिभवेत्परं नस्तेनैव दोषो भवतीह पार्थ ।
दीव्यामहे पार्थिव मा विशङ्कां कुरुष्व पाणं च चिरं च मा कृथाः

हे पार्थ ! पासों के अधीनही द्यूत का पण (दाव पर रखा द्रव्य) है। ये पासेही तुम और हम में से एक को पराजित कर देते हैं। इससे हारना जीतना तो इन दैवाधीन पासों के ही हाथ में है। हे राजन् ! आवो, खेलें, कुछ शंका न करो। दाव पर द्रव्य लगावो, अब विलम्ब का कोई कारण नहीं है ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

एवमाहाऽयमसितो देवलो मुनिसत्तमः ।
इमानि लोकद्वाराणि यो वै भ्राम्यति सर्वदा ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—जो इन स्वर्गादि लोकों के द्वार ज्ञान, कर्म के मार्ग में सर्वदा घूमता है, उसे मुनि श्रेष्ठ, असित, देवल ने यह कहा है ॥ ९ ॥

इदं वै देवनं पापं निकृत्या कितवैः सह ।
धर्मेण तु जयो युद्धे तत्परं न तु देवनम् ॥१०॥

छल के साथ होने वाली जुआ, जुआरियों के साथ खेलना बड़ा पाप है। युद्ध से विजय प्राप्त करना धर्म है, इसलिए युद्ध करना चाहिये; जुआ खेलना उचित नहीं है ॥ १० ॥

नार्या म्लेच्छन्ति भाषाभिर्मायया न चरन्त्युत ।
अजिह्ममशठं युद्धमेतत्सत्पुरुषव्रतम् ॥११

आर्य पुरुष म्लेच्छ भाषा में भाषण नहीं करते और न कपट का व्यवहार करते हैं। कपट और शठता से रहित युद्ध होता है, यही सत्पुरुषों का व्रत है ॥ ११ ॥

शक्तितो ब्राह्मणार्थाय शिक्षितुं प्रयतामहे ।
तद् वित्तं मातिदेवीर्मा जैषी शकुने परान् ॥१२॥

हे शकुनि ! शक्ति के अनुसार ब्राह्मणों को शिक्षित करने के लिए जिस धन से प्रयत्न करते रहते हैं, उस धन को हम से जुआ द्वारा जीतने का प्रयत्न न कर ॥ १२ ॥

निकृत्या कामये नाऽहं सुखान्युत धनानि वा ।
कितवस्येह कृतिनो वृत्तमेतन्न पूज्यते ॥१३॥

इस जुआ के द्वारा प्राप्त किये हुए सुख और धन की मैं इच्छा नहीं करता हूँ; इस जगत् में इस तरह के जुआरियों के आचरण को महात्मा लोग पूजा नहीं करते हैं ॥ १३ ॥

शकुनिरुवाच—

श्रोत्रियः श्रोत्रियानेति निकृत्यैव युधिष्ठिर ।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥१४॥

हे युधिष्ठिर ! जो पासों का खिलाड़ी है, वह इस जुआ से ही प्राप्त होगा । विद्वान् विजय के लिए अविद्वान् पर चढ़ जाता है, इसे कोई भी निकृति नहीं कहते हैं ॥ १४ ॥

अक्षैर्हि शिक्षितोऽभ्येति निकृत्यैव युधिष्ठिर ।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥१५॥

शकुनि बोले—हे युधिष्ठिर ! इस प्रकार की निकृति (व्यवहार) से तो श्रोत्रिय अश्रोत्रिय और विद्वान् अविद्वान् के पास जाते हैं; उसको कोई भी छल नहीं कहते हैं ॥ १५ ॥

अकृतास्त्रं कृतास्त्रश्च दुर्बलं बलवत्तरः ।
एवं कर्मसु सर्वेषु निकृत्यैव युधिष्ठिर ॥१६॥
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥१७॥

हे युधिष्ठिर! शस्त्रविद्या के नहीं जानने वाले के पास शस्त्र जानने वाला, दुर्बल के समीप बलवान्, इसी तरह जाते हैं। इस प्रकार तो सारे कामों में छल ही घुसा पड़ा है। विद्वान् अविद्वान् के पास भी इसी तरह जाता है उसको कोई भी निकृति (छल) नहीं कहते हैं ॥ १६-१७ ॥

एवं त्वं मामिहाऽभ्येत्य निकृतिं यदि मन्यसे ।
देवनाद्वा निवर्तस्व यदि ते विद्यते भयम् ॥१८॥

यदि तुम यहा आकर भी इसको छल ही मानते हो और तुम को भय है, तो मत खेलो ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

आहूतो न निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम् ।
विधिश्च बलवान्राजन्दिष्टस्यास्मि वशे स्थितः ॥१९॥

युधिष्ठिर बोले—आह्वान किया हुआ मैं लौटता नहींहूँ, यही मेरा व्रत है। हे राजन्! दैव बलवान् है और यह जगत् दैव के वश में है ॥ १९ ॥

अस्मिन्समागमे केन देवनं मे भविष्यति ।
प्रतिपाणश्च कोऽन्योऽस्ति ततो द्यूतं प्रवर्तताम् ॥२०॥

इस जनसमाज में मेरा किसके साथ खेल होगा। दाव लगाने वाला कौन है, जिससे जुआ प्रवृत हो सके ॥ २० ॥

दुर्योधन उवाच—

अहं दाताऽस्मि रत्नानां धनानां च विशांपते ।
मदर्थे देविता चाऽयं शकुनिर्मातुलो मम ॥२१॥

दुर्योधन बोले—हे विशांपते ! मैं अपना धन और रत्न जुआ पर लगाऊंगा और मेरे लिए मेरा यह मामा शकुनि खेलगा ॥२१॥

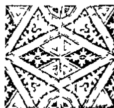
युधिष्ठिरउवाच—

अन्येनाऽन्यस्य वै द्यूतं विषमं प्रतिभाति मे ।
एतद्विद्वन्नुपादत्स्व काममेवं प्रवर्तताम् ॥२२॥[२०६२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि युधिष्ठिरशकुनिसंवाद एकोनषष्ठितमोऽध्यायः ॥५६॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे विद्वान् ! अन्य के लिए अन्य का पासा फेंकना मुझे अनुचित प्रतीत होता है, यह तुम जान लो और खेल (जुआ) आरम्भ करो ॥ २२ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व में युधिष्ठिर शकुनि के सम्वाद का उनसठवां अध्याय पूरा हुआ।



साठवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

उपोह्यमाने द्यूते तु राजानः सर्व एव ते ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां ततः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! जुआ के प्रारम्भ होने के निश्चित होते ही धृतराष्ट्र को साथ लेकर सारे राजा उस सभा में प्रविष्ट हुए ॥ १ ॥

भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव विदुरश्च महामतिः ।
नातिप्रीतेन मनसा तेऽन्वर्वतन्त भारत ॥२॥

हे भारत! भीष्म, द्रोण, कृप, महामति विदुर असन्तुष्ट मन से उनके पीछे २ चल दिये ॥ २ ॥

ते द्वन्द्वशः पृथक्चैव सिंहग्रीवा महौजसः ।
सिंहासनानि भूरीणि विचित्राणि विभेजिरे ॥३॥

सिंह के तुल्य ग्रीवावाले, महा ओजस्वी राजा दो २ की जोड़ी से या पृथक् २ अनेक विचित्र आसनों पर जा विराजे ॥ ३ ॥

शुशुभे सा सभा राजन्राजभिस्तैः समागतैः ।
देवैरिव महाभागैः समवेतैस्त्रिविष्टपम् ॥४॥

हे राजन्! यह सभा, आये हुए उन राजाओं से, इकट्ठे हुए महाभाग देवों से, स्वर्ग के सदृश सुशोभित होने लगी ॥ ४॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे भास्वरमूर्तयः ।
प्रावर्तत महाराज सुहृद्द्यूतमनन्तरम् ॥ ५ ॥

हे महाराज ! ये सारे राजा वेद के जानने वाले, शूर और तेज से देदीप्यमान हो रहे थे। इसके अनन्तर सुहृद् द्यूत प्रवृत्त हुआ ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अयं बहुधनो राजन्सागरावर्तसंभवः ।
मणिर्हारोत्तरः श्रीमान्कनकोत्तमभूषणः ॥ ६ ॥

एतद्राजन्मम धनं प्रतिपाणोऽस्ति कस्तव ।
येन मां त्वं महाराज धनेन प्रतिदीव्यसे ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर कहने लगे—हे राजन् ! यह समुद्र से उत्पन्न हुआ बहुमूल्य, शोभाशाली हार में जड़ा हुआ मणि और यह सोने का हार मैं दाव पर लगाता हूँ, तुम्हारा इसके मुकाबिले में क्या दाव है। जिस धन से तुम मेरे साथ खेलना चाहते हो ॥ ७ ॥

दुर्योधन उवाच—

सन्ति मे मणयश्चैव धनानि सुबहूनि च ।
मत्सरश्च न मेऽर्थेषु जयस्वैनं दुरोदरम् ॥ ८ ॥

दुर्योधन बोले—मेरे पास भी अनेक मणि और बहुतसा धन है। इससे दाव पर लगाता हूँ, मुझे धन में कोई मत्सर (डाह) नहीं है, तू इस दाव को जीत सकता है ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततो जग्राह शकुनिस्तानक्षानक्षतत्त्ववित् ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ९ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
सभापर्वणि द्यूतारंभे षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

वैशम्पायन बोले—पासों की विद्या का जानने वाले, शकुनि ने पासे उठाये। मैं जीत गया, इस प्रकार शकुनि ने युधिष्ठिर से कहा ॥ ६ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व में द्यूत
आरम्भ का साठवां अध्याय पूरा हुआ।



इकसठवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

मत्तः कैतवकेनैव यज्जितोऽस्मि दुरोदरे ।
शकुने हन्त दीव्यामो ग्लहमानाः परस्परम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे शकुनि ! मुझसे तू ने छल से इस दावको जीता है। अच्छा ? आओ, अब फिर आपस में दाव रख कर जुआ खेलें ॥ १ ॥

सन्ति निष्कसहस्रस्य भाण्डिन्यो भरिताः शुभाः ।
कोशो हिरण्यमक्षय्यं जातरूपमनेकशः ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २ ॥

मेरे पास हजारों मुद्राओं से भरे हुए सुन्दर सन्दूक हैं और विशुद्ध तपाया हुआ अक्षय सुवर्ण है, यह मेरा दाव है, इसे लगा कर मैं फिर तुमसे खेलता हूँ ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच—

कौरवाणां कुलकरं ज्येष्ठं पाण्डवमच्युतम् ।
इत्युक्तः शकुनिः प्राह जितमित्येव तं नृपम् ॥ ३ ॥

कौरवों के कुल को बढ़ाने वाले, दृढ़, ज्येष्ठ पाण्डव, युधिष्ठिर से शकुनि ने कहा—लो यह भी जीत लिया ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अयं सहस्रसमितो वैयाघ्रः सुप्रतिष्ठितः ।
सुचक्रोपस्करः श्रीमान्किङ्किणीजालमण्डितः ॥ ४ ॥
संह्रादनो राजरथो य इहाऽस्मानुपावहत् ।
जैत्रो रथवरः पुण्यो मेघसागरनिस्वनः ॥ ५ ॥
अष्टौ यं कुमुदच्छायाः सदश्वा राष्ट्रसंमताः ।
वहन्ति नैषां मुच्येत पदाद् भूमिमुपस्पृशन् ॥ ६॥
एतद्राजन्धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ७ ॥

हे राजन् ! सहस्रों रथों के समान, व्याघ्र के चर्म से बंधा हुआ, अच्छी तरह से बनाया हुआ, उत्तम २ चक्रों से युक्त, शोभाशाली, किङ्किणी जाल से सुशोभित, आनन्ददायी, राजरथ, जो हमको यहां लाया है । यह बड़ा जयशील, पवित्र, मेघ और समुद्र के तुल्य ध्वनि वाले हैं । राष्ट्र में माने हुए आठ कुमुद के समान श्वेत घोड़े इसमें जोते जाते हैं । पैरों से भूमि को छूने वाले भूचर मात्र इससे बच नहीं सकता है अर्थात् कोई भी इसके तुल्य वेगशील नहीं है । मैं इस रथ को दाव पर लगाता हूँ ।४-७।

वैशम्पायन उवाच—

एवं श्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ८ ॥

वैशम्पायन बोले—यह सुन कर शकुनि ने छल का आश्रय लेकर पासा फेंका और कहा कि लो, मैं फिर जीत गया हूँ ॥८॥

युधिष्ठिर उवाच —

शतं दासीसहस्राणां तरुण्यो हेमभद्रिकाः ।
कम्बुकेयूरधारिण्यो निष्ककण्ठ्यः स्वलंकृताः ॥ ९ ॥
महार्हमाल्याभरणाः सुवस्त्राश्चन्दनोक्षिताः ।
मणीन्हेम च बिभ्रत्यश्चतुःषष्टिविशारदाः ॥ १० ॥
अनुसेवां चरन्तीमाः कुशला नृत्यसामसु ।
स्नातकानाममात्यानां राज्ञां च मम शासनात् ॥
यतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर बोला—हे राजन् ! मेरी एक लाख दासी हैं, जो युवति, सुवर्ण के माङ्गलिक आभूषण पहनने वाली, शंख के कड़े और मुकट धारण करने वाली, हार पहन ने से सुन्दर, अमूल्य माला और आभरण धारिणी, सुन्दर वस्त्रों वाली, चन्दन से सुवासित, मणि और सुवर्ण धारण किये हुए, चौंसठ कलाओं में विशारद हैं। ये मेरी आज्ञा से स्नातक, अमात्य और अतिथि राजाओं की सेवा करती हैं। जो नाचने गाने में कुशल हैं, इस धन को मैं दाव पर लगा कर तुझसे खेलना चाहता हूँ ॥९-११॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १२ ॥

वैशम्पायन बोले—यह सुन कर शकुनि ने फिर पासा फैंका और युधिष्ठिर से कहा—लो, यह भी जीत लिया ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

एतावन्ति च दासानां सहस्राण्युत सन्ति मे।
प्रदक्षिणानुलोमाश्च प्रावारवसनाः सदा ॥ १३ ॥
प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता युवानो मृष्टकुण्डलाः।
पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन्भोजयन्त्युत ॥ १४ ॥
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—इतने ही एक लाख मेरे दास हैं, जो चतुर अनुकूल और सुन्दर २ वस्त्र के धारण करने वाले हैं। ये बुद्धिमान् विद्वान, दानी, युवा, कुण्डल धारण किये हुए हैं। ये नित्य पात्र हाथ में लेकर अतिथियों को भोजन कराते रहते हैं। यह मेरा धन है, अब मैं इससे खेलना चाहता हूँ ॥ १३-१५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १६ ॥

वैशम्पायन बोले—यह सुन कर शकुनि ने फिर पासा डाला और युधिष्ठिर से कहा—लीजिये यह भी मैं ने जीत लिया ॥१६॥

युधिष्ठिर उवाच—

सहस्रसंख्या नागा मे मत्तास्तिष्ठन्ति सौबल ।
हेमकक्षाः कृतापीडाः पद्मिनो हेममालिनः ॥ १७
सुदान्ता राजवहनाः सर्वशब्दक्षमा युधि ।
ईषादन्ता महाकायाः सर्वे चाऽष्टकरेणवः ॥ १८ ॥
सर्वे च पुरभेत्तारो नवमेघनिभा गजाः ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे शकुनि ! हजारों की संख्या में सोने की रज्जु, भूषणधारी, कमल चिन्हवाले, सोने की माला पहिने हुए, उदार, राजा को सवारी के योग्य, युद्ध में सब प्रकार के शब्दों के सहलेने वाले, जुए के समान दन्तों के धारी, विशालकाय, आठ २ हथिनियों के स्वामी हाथी, मेरे पास मौजूद है। जो सारे शत्रु के पुर को भेदन करने वाले और नये मेघ के तुल्य गर्जना में कुशल हैं। हे राजन् ! यह मेरा धन है, जिससे मैं तेरे साथ खेलना चाहता हूँ ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्येवं वादिनं पार्थं प्रहसन्निव सौबलः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २० ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इस प्रकार कहते हुए युधिष्ठिर से शकुनि बोला कि यह भी मैं ने जीत लिया ॥ २०

युधिष्ठिर उवाच—

रथास्तावन्त एवेमे हेमदण्डाः पताकिनः ।
हयैर्विनीतैः संपन्ना रथिभिश्चित्रयोधिभिः ॥ २१ ॥
एकैको ह्यत्र लभते सहस्रपरमां भृतिम् ।
युध्यतोऽयुध्यतो वापि वेतनं मासकालिकम् ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे राजन् ! मेरे पास सुवर्ण के दण्डधारी पताका से युक्त, अद्भुत युद्ध करने वाले, महारथियों से सम्पन्न एवं सीखे हुए अश्वों के सहित, एक लाख के करीब ही रथ हैं। एक २ महारथी एक २ हजार की मासिक तनख्वाह पाता है, चाहे युद्ध करना पड़े या नहीं। यह मेरा धन अबकी बार दाव पर है, जिससे मैं तुमसे खेलना चाहता हूं ॥ २१-२२॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्येवमुक्ते वचने कृतवैरी दुरात्मवान् ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर के इतना कहने पर वैरी, दुरात्मा शकुनि ने कहा—यह दाव भी मैं जीत गया ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अश्वांस्तित्तिरिकल्माषान्गान्धर्वान्हेममालिनः ।
ददौ चित्ररथस्तुष्टो यांस्तान्गाण्डीवधन्वने ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—तित्तिरि, कल्माष; सुवर्ण की माला पहने हुए गन्धर्व जाति के अश्व हैं, जिनको प्रसन्न होकर चित्ररथ ने अर्जुन को दिये थे ॥ २४ ॥

युद्धे जितः पराभूतः प्रीतिपूर्वमरिन्दमः ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २५ ॥

जिस अरिमर्दन गन्धर्व को अर्जुन ने युद्ध में जीत कर हराया था। अब की बार यह अर्जुन मेरा धन है, जिससे मैं खेलना चाहता हूं ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २६ ॥

वैशम्पायन बोले—यह सुनकर शकुनि ने फिर छल से पासे फेंके और युधिष्ठिर से कहा कि यह दाव भी मैंने जीत लिया है ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

रथानां शकटानां च श्रेष्ठानां चाऽयुतानि मे ।
युक्तान्येव हि तिष्ठन्ति वाहैरुच्चावचैस्तथा ॥ २७ ॥
एवं वर्णस्य वर्णस्य समुच्चीय सहस्रशः ।
यथा समुदिता वीराः सर्वे वीरपराक्रमाः ॥ २८ ॥
क्षीरं पिबन्तस्तिष्ठन्ति भुंजानाः शालितण्डुलान् ।
षष्टिस्तानि सहस्राणि सर्वे विपुलवक्षसः ॥ २९ ॥
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर बोले—मेरे पास दश हजार रथ और गाड़ी हैं, जिनमें उत्तम २ घोड़े सदा जुते रहते हैं। इसी प्रकार वर्ण वर्ण के सहस्रों योद्धा चुनकर वीर इकट्ठे किए हैं, जो वीरों के पराक्रम करने वाले हैं। इनकी संख्या साठ हजार है। ये सारे बड़ी २ छाती वाले हैं। हे राजन्! यह मेरा धन है जिससे मैं खेलना चाहता हूँ॥ २७–३०॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन बोले—यह सुनकर शकुनि ने फिर छल का आश्रय लेकर पासे फेंके और युधिष्ठिर से कहा—कि मैं जीत गया हूँ॥ ३१॥

युधिष्ठिर उवाच—

ताम्रलोहैः परिवृता निधयो ये चतुःशताः ।
पञ्चद्रौणिक एकैकः सुवर्णस्याऽहतस्य वै ॥ ३२ ॥
जातरूपस्य मुख्यस्य अनर्घेयस्य भारत ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ३३ ॥

ताम्र और लोह के पात्रों मे भरी हुई मेरे पास चार सौ निधियां हैं, जो प्रत्येक पांच द्रोण सोने के सिक्कों से तोली जा सकती है जो तपाकर शुद्ध किये हुए पांच द्रोण सोने की राशि के समान है। मेरा यह धन है; जिससे मैं खेलना चाहता हूँ॥३२-३३

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते वैयासिक्या सभापर्वणि द्यूतपर्वणि देवन एकषष्टितमोऽध्याय ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—यह सुनकर छल का आश्रय लेकर शकुनि ने फिर पासे फेंकने का प्रयास किया। इसके अनन्तर युधिष्ठिर से कहा, कि अबकी बार भी मैं ही जीत गया हूं ॥३४॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूत पर्व
में द्यूत खेलने का इकसठवा
अध्याय पूरा हुआ।



बासठवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

एवं प्रवर्तिते द्यूते घोरे सर्वापहारिणि ।
सर्वसंशयनिर्मोक्ता विदुरो वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! जब इस प्रकार सर्वस्व का अपहरण करने वाला घोर द्यूत प्रवृत्त हो रहा था, तब सब सन्देहों का छेदन करने वाला विदुर बोला—॥ १ ॥

विदुर उवाच—

महाराज विजानीहि यत्त्वा वक्ष्यामि भारत ।
मुमूर्षोरौषधमिव न रोचेताऽपि ते श्रुतम् ॥ २

विदुर ने कहा—हे भारत ! मैं जो तुम से कहता हूँ उसको सुनो। यद्यपि मरने वाले को औषधि के समान यह तुमको अच्छा प्रतीत नहीं होगा॥ २ ॥

यद्वै पुरा जातमात्रो रुराव गोमायुवद्विस्वरं पापचेताः ।
दुर्योधनो भारतानां कुलघ्नः सोऽयं युक्तो भवता कालहेतुः ॥

जो पूर्व मे उत्पत्ति के समय यह पापी दुर्योधन, उत्पन्न होते ही गीदडों की भांति निस्वर म रोया था। यही भरत वशियों के कुल का नाशक है। यह सचमुच ? तुम्हार काल का हेतु है ॥३॥

गृहे वसन्तं गोमायुं त्वं वै मोहान्न बुध्यसे ।
दुर्योधनस्य रूपेण शृणु काव्यां गिरं मम ॥४॥

हे राजन् ! तू दुर्योधन के रूप म रहने वाले गीदड़ को अपने अज्ञान से नहीं जानता है। अब शुक्राचार्य की नीतियुक्त वाणी को जरा सुन ॥ ४ ॥

मधु वै माध्विको लब्ध्वा प्रपातं नैव बुध्यते ।
आरुह्य तं मज्जति वा पतनं चाऽधिगच्छति ॥५॥

शहद इकट्ठा करने वाला, शहद के छत्ते को पाकर भूल जाता है और अपने पतन का उसको खयाल भी नहीं रहता है। वह वहा ऊंचाई पर चढकर मधु म मग्न हो जाता है, या गिर जाता है ॥ ५ ॥

सोऽयं मत्तोऽक्षद्यूतेन मधुवन्न परीक्षते ।
प्रपातं बुध्यते नैव वैरं कृत्वा महारथैः ॥६॥

इसी तरह दुर्योधन भी इस द्यूत में मस्त हो रहा है और मधु चाटने वाले की भांति अपने पतन का इसको भी कुछ खयाल नहीं है। यह इन महारथि से वैर करके भी अपने नाश को नहीं जानता है ॥ ६ ॥

विदितं मे महाप्राज्ञ भोजेष्वेवाऽसमञ्जसम् ।
पुत्रं संत्यक्तवान्पूर्वं पौराणां हितकाम्यया ॥७॥
अन्धका यादवा भोजाः समेताः कंसमत्यजन् ।
नियोगात्तु हते तस्मिन्कृष्णेन ऽमित्रघातिना ॥८॥

हे महाप्राज्ञ ! आपको सब कुछ मालूम है, जो कुछ झगड़ा भोजवंश के क्षत्रियों में हुआ है। पुरवासियों के हित की कामना से पिता ने पूर्व पुत्र का त्याग किया। इसके सिवा, अन्धक, यादव और भोजवंशों ने भी कंस को छोड़ दिया। इन सबकी आज्ञा या दैव की प्रेरणा से शत्रुओं के नाश करने वाले, श्रीकृष्ण ने कंस को मार डाला ॥ ७–८ ॥

एवं ते ज्ञातयः सर्वे मोदमानाः शतं समाः ।
त्वन्नियुक्तः सव्यसाची निगृह्णातु सुयोधनम् ॥
निग्रहादस्य पापस्य मोदन्ते कुरवः सुखम् ॥९॥

हे राजन् ! इसी प्रकार तेरी आज्ञा से अर्जुन इस दुर्योधन को पराजित करे, जिससे तेरे बन्धु-बान्धव, सैकड़ों वर्षों तक आनन्द का अनुभव करें। इस पापी के पराजित हो जाने पर सारे कौरव सुखी हो जावेंगे ॥ ९ ॥

काकैनेमांश्चित्रबर्हाञ्छार्दूलान्क्रोष्टुकेन च ।
क्रीणीष्व पाण्डवान्राजन्मा मज्जीः शोकसागरे ॥१०॥

हे महाराज ! काक और गीदड़ रूपी दुर्योधन से मोर और सिंह रूपी पाण्डवों को बदल लो और तुम शोक-सागर में मत डूबो ॥ १० ॥

त्यजेत्कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥११॥

कुल की रक्षा के लिए एक पुरुष का त्याग कर देना चाहिए और ग्राम के लिए कुल का त्याग करदे । देश की रक्षा के लिए ग्राम को और आत्मोद्धार के लिए तो पृथ्वी भरको छोड़ दे ॥११॥

सर्वज्ञः सर्वभावज्ञः सर्वशत्रुभयंकरः ।
इति स्म भाषते काव्यो जम्भत्यागे महासुरान् ॥१२॥

सब कुछ जानने वाले और सबके चित्त के अभिप्राय के ज्ञाता, शुक्राचार्य ने जम्भ के त्याग करने के समय असुरों से कह दिया, कि यह जम्भ सबका शत्रु और भयङ्कर है ॥ १२ ॥

हिरण्यष्ठीविनः कांश्चित्पक्षिणो वनगोचरान् ।
गृहे किलकृतावासांल्लोभाद्राजान्यपीडयत् ॥१३॥

सुवर्ण उगलने वाले, वनवासी, किसी कारण से घर में आकर वास करने वाले पक्षियों को, राजा ने लोभ से मार डाला था ॥ १३ ॥

स चोपभोगलोभान्धो हिरण्यार्थी परन्तप ।
आयतिं च तदात्वं च उभे सद्यो व्यनाशयत् ॥१४॥

हे परन्तप ! भोग और लोभ में अन्धे हुए सुवर्ण के इच्छुक राजा ने भविष्य और वर्तमान दोनों काल के सुख को एक वार में ही नष्टकर दिया था ॥ १४ ॥

तदर्थकामस्तद्वत्त्वं मा द्रुहः पाण्डवान्नृप ।
मोहात्मा तप्स्यसे पश्चात्पक्षिहा पुरुषो यथा ॥१५॥

हे नृप ! अपने प्रयोजन में अन्धा होकर उसी तरह तू भी पाण्डवों से द्रोह न कर । मोह में फंसा हुआ, तू पीछे पक्षी मारने वाले राजा की भांति पछतावेगा ॥ १५ ॥

जातं जातं पाण्डवेभ्यः पुष्पमादत्स्व भारत ।
मालाकार इवाऽऽरामे स्नेहं कुर्वन्पुनः पुनः ॥१६॥
वृक्षानङ्गारकारीव मैनान्धाक्षीः समूलकान् ।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥१७॥

हे भारत ! तुम बगीचे में माली के सदृश इन पाण्डव-रूपी वृक्षों से धीरे २ स्नेह के साथ पुष्पों को चुनो । आग लगाने वाले की भांति जड़ सहित इन वृक्षों को जलाओ नहीं । पुत्र अमात्य और सेना के साथ यमराज की पुरी को न जाओ ॥ १६-१७ ॥

समवेतान्हि कः पार्थान्प्रतियुध्येत भारत ।
मरुद्भिः सहितो राजन्नपि साक्षान्मरुत्पतिः ॥१८॥[२१५३]

:इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरहितवाक्ये द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

हे भारत ! इन सारे पाण्डवों से लड़ने की किस की शक्ति है, देवताओं के साथ इन्द्र ही चाहे क्यों न आजावे ॥ १८॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूत पर्व में विदुर हित वाक्य का बासठवां अध्याय पूरा हुआ।



त्रेसठवाँ अध्याय

विदुर उवाच—

द्यूतं मूलं कलहस्याऽभ्युपैति मिथो भेदं महते दारुणाय।
तदास्थितोऽयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रो दुर्योधनः सृजते वैरमुग्रम्१

विदुर बोले—यह जुआ कलह का मूल होता है। आपस की फूट बड़े भारी दुःख के लिए होती है। यह धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन इस जुआ पर उतर आया है; जो बड़े भारी वैर की रचना कर रहा है॥ १ ॥

प्रातिपेयाः शान्तनवा भीमसेनाः सबाह्लिकाः ।
दुर्योधनापराधेन कृच्छ्रं प्राप्स्यन्ति सर्वशः ॥२॥

प्रतीप, शान्तनु, भीमसेन और बाल्हिक वंश के वीर, दुर्योधन के अपराध से संकट प्राप्त करेंगे ॥ २ ॥

दुर्योधनो मदेनैव क्षेमं राष्ट्रादपोहति ।
विषाणं गौरिव मदात्स्वयमारुजतेत्मनः ॥३॥

यह दुर्योधन अपने घमण्ड से सारे राष्ट्र से मङ्गल का नष्ट करना चाहता है। बैल अपने सींग को जैसे मद से तोड़ लेता है, वैसे ही यह अपना नाश करेगा ॥ ३ ॥

यश्चित्तमन्वेति परस्य राजन्वीरः कविः स्वामवमन्य दृष्टिम्।
नावं समुद्रे इव बालनेत्रामारुह्य घोरे व्यसने निमज्जेत् ॥४॥

हे राजन्! जो वीर और कवि पुरुष अपनी दृष्टि को छोड़ कर पराये के चित्त के अनुसार चलता है, वह समुद्र में बच्चे से चलाई हुई नौका पर चढ़ने के तुल्य बड़ी विपत्ति में पड़ जाता है ॥ ४ ॥

दुर्योधनो ग्लहते पाण्डवेन प्रीयायसे त्वं जयतीति तच्च।
अतिनर्मा जायते संप्रहारो यतो विनाशः समुपैति पुंसाम् ॥५

दुर्योधन, युधिष्ठिर से जुआ खेलता है और जब जीतता है, तब तुम प्रसन्न होते हो। यह अत्यानन्द अन्त में युद्ध में परिणत हो जावेगा, जिससे पुरुषों का विनाश होगा ॥ ५ ॥

आकर्षस्तेऽवाक्फलः सुप्रणीतो हृदि प्रौढो मन्त्रपदः समाधिः
युधिष्ठिरेण कलहस्तवायमचिन्तितोऽभिमतः स्वबन्धुना ॥६॥

यह द्यूत अधः पतन का हेतु है। तुमने सम्मति करके यह खयाल हृदय में उत्पन्न किया है। अपने बन्धु युधिष्ठिर से यह कहना कितना अनुचित है, यह भी तुमने नहीं विचारा है ॥ ६ ॥

प्रातिपेयाः शान्तनवाः शृणुध्वं काव्यां वाचं संसदि कौरवाणाम्
वैश्वानरं प्रज्वलितं सुघोरं मा यास्यध्वं मन्दमनुप्रपन्नाः ॥७॥

प्रतीप और शान्तनु वंश के राजकुमारों, कौरवों की सभा में मुझ दीर्घ-दर्शी से कही हुई वाणी को सुनो। तुम इस मूर्ख दुर्योधन का साथ देकर इस जली हुई आग मे मत कूदो ॥७॥

यदा मन्यु पाण्डवोऽजातशत्रुर्न संयच्छेदक्षमदाभिभूतः।
वृकोदरः सव्यसाची यमौ च कोऽत्र द्वीपः,स्यात्तुमुले वस्तदानीम्

हे क्षत्रियों ! पासों के मद में चूर हुआ युधिष्ठिर, जब अपने क्रोध को नहीं रोक सकेगा और अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव जब क्रोध करेंगे; तो उस समय तुम्हारे समूह मे कौन इनका आश्रय बनेगा ॥ ८ ॥

महाराज प्रभवस्त्वं धनानां पुरा द्यूतान्मनसा यावदिच्छेः।
बहुवित्तान्पाण्डवांश्चेज्जयस्त्वं किं ते तत्स्याद्वसु विन्देह पार्थान्

हे महाराज ! द्यूत खेलने से पूर्व भी तुम धन के स्थान थे। अब जितना धन तुम चाहते, उतना प्राप्त हो सकता था। यदि तुम धनवान्-गुणवान् पाण्डवों को जीत लोगे तो भी तुम्हारा क्या बढ़ जावेगा। इससे धनरूप इन पाण्डवों से ही प्रेम रखो ॥६॥

जानीमहे देवितं सौबलस्य वेद द्यूते निकृतिं पार्वतीयः।
यतः प्राप्तः शकुनिस्तत्र यातु मा युयुधो भारत पाण्डवेयान्

इति श्री० शत० संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥६३॥ २१६३

हे भारत ! हम शकुनि के खेलने को जानते हैं। यह पर्वत वासी जुआ में छल करना जानता है। यह शकुनि जहां से आया है, वहीं चला जाना चाहिए, तुम इन पाण्डवों से युद्ध न ठानो १०

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व में विदुर वाक्य का त्रेसठवां अध्याय पूरा हुआ।

चौसठवां अध्याय

दुर्योधन उवाच—

परेषामेव यशसा श्लाघसे त्वं सदा चत्तः कुत्सयन्धार्तराष्ट्रान्।
जानीमहे विदुर यत्प्रियस्त्वं बालानिवाऽस्मानवमन्यसे नित्यमेव

दुर्योधन बोला—हे विदुर ! तुम सदा दूसरों की प्रशंसा करते हो और हम लोगों की सदा निन्दा करते रहते हो। हम जानते हैं, जो तुमको प्रिय है, तुम तो हमें मूर्ख समझ कर नित्य अपमानित करते हो॥ १॥

स विज्ञेयः पुरुषोऽन्यत्रकामो निन्द्राप्रशंसे हि तथा युनक्ति।
जिह्वा कथं ते हृदयं व्यनक्ति यो न ज्यायसः कुथा मनस॰
प्रातिकूल्यम्॥ २॥

अन्य के चाहने वाले पुरुष का निन्दा और प्रशंसा से ही पता लगता है। तुम्हारी जिह्वा ही किस प्रकार हृदय के द्वेष को प्रकट कर रही है। तुम अपने मन के विरोध को लम्बा न करो॥ २॥

उत्सङ्गे च व्याल इवाऽऽहितोऽसि मार्जारवत्पोषकं चोपहंसि
भर्तृघ्नं त्वां न हि पापीय आहुस्तस्मात् चत्तः किं न बिभेषि
पापात्॥३॥

तुमको सर्प के तुल्य हमने गोद मे बैठाया है। बिलाव की भांति तुम पोषण करने वाले को ही मारते हो। स्वामी के हित के नाश करने वाले तुमको कौन पापी नहीं कहेगा। हे विदुर ! तुम पाप से क्यों नहीं डरते हो॥ ३॥

जित्वा शत्रून्फलमाप्तं महद्वै माऽस्मात्त्वत्तः परुषाणीह वोचः
द्विषद्भि त्वं संप्रयोगाभिनन्दी मुहुर्द्वेषं यासि नः संप्रयोगात् ४

हम अपने शत्रुओं को जीत कर बड़ा भारी फल प्राप्त कर चुके हैं। विदुर ! तुम वृथा कठोर क्यों बोल रहे हो। तुम शत्रुओं की मित्रता के चाहने वाले हो और हमारे साथ मेल होने पर भी हमसे वार २ द्वेष करते हो ॥ ४ ॥

अमित्रतां याति नरोऽक्षमं ब्रुवन्निगूहते गुह्यममित्रसंस्तवे ।
यदाश्रितोऽपत्रप किंनु बाधसे यदिच्छसि त्वं मदिहाऽभिभाषसे

हे निर्लज्ज ! क्षमा के अयोग्य कुत्सित वचनों का कहने वाला मनुष्य शत्रु कहाता है। शत्रु की प्रशंसा के समय भी ऐसे लोग गुप्त आशय को छुपाते रहते हैं, परन्तु तू उनको भी प्रकट कर देता है। जिस राजा के आश्रित है उसको ही हानि पहुंचाता है और जो तेरे मन में आता है, वही बक देता है ॥ ४ ॥

मा नोऽवमंस्था विद्म मनस्तवेदं शिक्षस्व बुद्धिं स्थविराणां सकाशात् । यशो रक्षस्व विदुर संप्रणीतं मा व्यापृतः परकार्येषु भूस्त्वम् ॥६ ॥

हे विदुर ! तुम हमारा अपमान न करो, हम तुम्हारा मन जान चुके हैं तथा कुछ बुद्धि वृद्धजनों के पास से सीखो। तुम अपने यश की रक्षा करो और अन्य के कार्य के सफल करने में व्यर्थ संलग्न न होओ ॥ ६ ॥

अहं कर्तेति विदुर मा च मंस्था, मानो नित्यं परुषाणीह वोचः। न त्वां पृच्छामि विदुर यद्धितं मे, स्वस्ति क्षत्तर्मा तितिक्षून्क्षिणुत्वम् ॥७॥

हे विदुर! यह दुर्योधन सब कुछ झगड़े करता है, यह न समझो और इसी से हम को कटुवचन न कहो। हे विदुर! हम तुम से यह पूछते ही नहीं हैं, कि हमारा हित क्या है। तुम हम क्षमाशीलों को अपने वचनों से क्षीण न करो ॥ ७ ॥

एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता
गर्भे शयानं पुरुषं शास्ति शास्ता ।
तेनाऽनुशिष्टः प्रवणादिवाऽम्भो यथा
नियुक्तोऽस्मि तथा भवामि ॥८॥

जगत् में एक ही शासक रह सकता है, दूसरा नहीं। वह गर्भ के बच्चे का भी शासन करता है। निम्न प्रदेश में जल की भांति उसी शासक की इच्छानुसार नियुक्त हुआ, मैं इधर उधर होता रहता हूँ ॥ ८ ॥

भिनत्ति शिरसा शैलमहिं भोजयते च यः ।
धीरेव कुरुते तस्य कार्याणामनुशासनम् ॥९॥

जो पर्वतों को शिर (शिखर) से तोड़ देता है, अजगर को भोजन पहुंचाता है, उसी की बुद्धि मनुष्यों के हृदय को प्रेरित करके कर्तव्यों को सुझाती रहती है ॥ ९ ॥

यो बलादनुशास्तीह सोऽमित्रं तेन विन्दति ।
मित्रतामनुवृत्तं तु समुपेक्षेत पण्डितः ॥१०॥

जो कोई किसी को बलपूर्वक सिखाता हो, वह उसको शत्रु मानता है। उस के मित्रता दिखाने पर भी पण्डित उस की उपेक्षा कर देते हैं ॥ १० ॥

प्रदीप्य यः प्रदीप्ताग्निं प्राक्चिरं नाऽभिधावति ।
भस्मापि न स विन्देत शिष्टं क्वचन भारत ॥११॥

हे भारत! प्रथम कपूर को जला कर जो देर तक उसके बुझाने को नहीं दौड़ता है, वह उस कपूर की भस्म भी नहीं पा सकता है ॥ ११ ॥

न वासयेत्पारवर्ग्यं द्विषन्तं विशेषतः क्षत्रहितं मनुष्यं ।
स यत्रेच्छसि विदुर तत्र गच्छ सुसान्त्विता ह्यसती स्त्री जहाति ॥

हे विदुर! अन्य के पक्षपाती, द्वेष करने वाले, अहितकारी मनुष्य को कभी घर मे नहीं बसाना चाहिये। अब आप जहा चाहे पधारें। अच्छी तरह समझाई हुई भी असती स्त्री, पति को छोड़ देती है ॥ १२ ॥

विदुर उवाच—

एतावता पुरुष ये त्यजन्ति तेषां सख्यमन्तवद् ब्रूहि राजन् ।
राज्ञां हि चित्तानि परिप्लुतानि सान्त्वं दत्वा मुसलैर्घातयन्ति॥

विदुर बोले—हे राजन्! इतनी ही बात से जो, पुरुष को छोड़ देते हैं, उसकी मित्रता का तो एक दिन अन्त होना ही है। राजाओं का चित्त बड़ा ही अद्भुत है, कि शान्त वचन बोलकर भी मूसलों से मार देते हैं ॥ १३ ॥

अथालत्वं मन्यसे राजपुत्र बालोऽहमित्येव सुमन्दबुद्धे ।
यः सौहृदे पुरुषं स्थापयित्वा पश्चादेनं दूषयते स बालः ॥१४

हे मन्दबुद्धे ! राजपुत्र ! तू अपने को विद्वान् और मुझे मूर्ख समझता है । जो किसी पुरुष को मित्र बना कर फिर उसको दूषित करता है, वही मूर्ख है ॥ १४ ॥

श्रेयसे नीयते मन्दबुद्धिः स्त्री श्रोत्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा ।
ध्रुवं न रोचेद्भरतर्षभस्य पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ॥१५॥

वेद पाठी के घर मे दुष्ट स्त्री की भांति मन्द बुद्धि कल्याण मार्ग में नहीं लगाई जा सकती है । कुमारी कन्या को साठ वर्ष के पति के तुल्य, भरत वंश श्रेष्ठ तुम दुर्योधन को भी यह बात उत्तम नहीं जचेगी ॥ १५ ॥

अतः प्रियं चेदनुकाङ्क्षसे त्वं सर्वेषु कार्येषु हिताहितेषु ।
स्त्रियश्च राजञ्जडपङ्गुकांश्च पृच्छ त्वं वै तादृशांश्चैव सर्वान्१६

हे राजन ! अब से आगे जो तुम हित और अहित कार्यों में प्रिय वाणी ही सुनना चाहते हो तो स्त्री, जड़, पंगु आदि से पूछा करो या उन जैसे अन्य सब अपाहिजों से पूछ लिया करो ॥ १६ ॥

लभ्यते खलु पापीयान्नरो नु प्रियवागिह ।
अप्रियस्य हि पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥१७॥

प्यारी २ वाणी बोलने वाले अनेक पापी मिल जाते हैं परन्तु अप्रिय सत्य के बोलने और सुनने वाले दुर्लभ हैं ॥ १७ ॥

यस्तु धर्मपरश्च स्याद्धित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥१८॥

जो स्वामी के सन्मुख भी प्रिय और अप्रिय वाणी का विचार न करे और अप्रिय सत्य को भी बोल दे, उसी सेवक से राजा सहायता वाला माना जाता है ॥ १८ ॥

अव्याधिजं कटुकं तीक्ष्णमुष्णं यशोमुषं परुषं पूतिगन्धि ।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो मन्युं महाराज पिबन्न शाम्य१९

हे महाराज ! व्याधि के कारण से अनुत्पन्न, कड़वा, तीक्ष्ण यशोनाशक, कठोर दुर्गन्ध युक्त, सज्जनों के पीने योग्य, क्रोध को पीजाओ और शान्त होओ ॥ १९ ॥

वैचित्रवीर्यस्य यशो धनं च वाञ्छाम्यहं सहपुत्रस्य शश्वत् ।
यथा तथा तेऽस्तु नमश्च तेऽस्तु ममापि च स्वस्ति-
दिशन्तु विप्राः ॥२०॥

मैं तो पुत्रों सहित विचित्र वीर्य के पुत्र धृतराष्ट्र के यश और धन की वृद्धि सदा चाहता हूँ। अब तू तेरी इच्छा के अनुसार रह, मेरा तो तुमको नमस्कार है और मेरे लिए भी ब्राह्मण कल्याण की अभिलाषा करें ॥ २० ॥

आशीविषान्नेत्रविषान्कोपयेन्न च पण्डितः ।
एवं तेऽहं वदामीदं प्रयतः कुरुनन्दन ॥२१॥ [२१=४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ।

दांत और नेत्रों में विष धारण करने वाले सांपों को विद्वान् कुपित नहीं करते हैं। हे कुरुनन्दन ! इसी लिए मैं तुमको सावधान करता हूँ, कि तुम उपाय कर लो ॥ २१ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूत-पर्व में विदुर के हित वाक्य का चौंसठवां अध्याय पूरा हुआ।



पैंसठवां अध्याय

शकुनिरुवाच—

बहु वित्तं पराजैषीः पाण्डवानां युधिष्ठिर ।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम् ॥१॥

शकुनि कहने लगा—हे कुन्ती-पुत्र ! युधिष्ठिर तू अपना बहुत सा द्रव्य हार गया है। अब यदि तेरे पास अन्य कुछ और है, तो वह बताओ ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

मम वित्तमसंख्येयं यदहं वेद सौबल ।
अथ त्वं शकुने कस्माद्वित्तं समनुपृच्छसि ॥२॥
अयुतं प्रयुतं चैव शंकुं पद्मं तथाऽर्बुदम् ।
खर्वं शंखं निखर्वं च महापद्मं च कोटयः ॥३॥
मध्यं चैव परार्धं च सपरं चात्र पण्यताम् ।
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥४॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे सौबल ! मेरे पास अगणित द्रव्य है, जिसे मैं जानता हूँ, तू उसकी बाबत क्या २ पूछता है। दस हजार, लाख, करोड़, अरब, खरब, शंख, पद्म, महापद्म, मध्य, परार्द्ध आदि कितना ही द्रव्य दाव पर रखो, मैं इस सारे द्रव्य से तुम से खेलना चाहता हूँ ॥ २-४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥५॥

वैशम्पायन बोले—यह सुनकर छल का आश्रय लेकर शकुनि ने पासे फैंके और युधिष्ठिर से कहा, कि यह भी मैंने जीत लिया ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

गवाश्वं बहुधेनूकमसंख्येयमजाविकम् ।
यत्किंचिदनुपर्णाशां प्राक्सिन्धोरपि सौबल ॥६॥
एतन्मम धनं सर्वं तेन दीव्याम्यहं त्वया ।७॥

हे शकुनि ! पूर्व समुद्र से लेकर पर्णाशा नदी तक जितने मेरे बैल, घोड़े, भेड़ बकरी हैं, यह सब धन, दाव पर है मैं इसी से खेलना चाहता हूँ ॥ ६-७॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥८॥

वैशम्पायन बोले—यह सुनकर शकुनि ने छल पूर्वक पासे फेंके और युधिष्ठिर से कहा, कि मैं जीत गया ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

पुरं जनपदो भूमिरब्राह्मणधनैः सह ।
अब्राह्मणाश्च पुरुषा राजन्शिष्टं धनं मम ॥
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥९॥

युधिष्ठिर बोले—हे राजन् ! पुर, राष्ट्र, भूमि और ब्राह्मणों के धन तथा ब्राह्मणों को छोड़कर यह सारा धन मेरा शेष है। इस धन से मैं खेलना चाहता हूँ ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥१०॥

वैशम्पायन बोले—यह सुनकर छल से उस ने पासे फेंके और युधिष्ठिर से कहा यह भी मैं जीत गया ॥ १०

युधिष्ठिर उवाच—

राजपुत्रा इमे राजञ्छोभन्ते यैर्विभूषिताः
कुण्डलानि च निष्काश्च सर्वराजविभूषणम् ॥११॥
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥१२॥

युधिष्ठिर ने फिर कहा—ये राजपुत्र जिन आभूषणों से सुशोभित हो रहे हैं, वे कुण्डल हार और सारे आभूषण मेरा धन शेष हैं, मैं इससे खेलना चाहता हूं॥११-१२॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥१३॥

वैशम्पायन बोले—यह सुनकर फिर शकुनि ने पासे फेंके और युधिष्ठिर से कहा—यह मैंने फिर जीत लिया ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

श्यामो युवा लोहिताक्षः सिंहस्कन्धो महाभुजः ।
नकुलो ग्लह एवैको विद्धयेतन्मम तद्धनम् ॥१४॥

युधिष्ठिर कहने लगे—श्यामवर्ण, युवा, लाल आंखों वाला, सिंह के तुल्य कंधों का धारी, बड़ी २ भुजा वाला, यह नकुल मेरा भाई मेरा धन है। मैं इसको दाव पर रखता हूं ॥ १४ ॥

शकुनिरुवाच—

प्रियस्ते नकुलो राजन्राजपुत्रो युधिष्ठिर ।
अस्माकं वशतां प्राप्तो भूयः केनेह दीव्यसे ॥१५॥

शकुनि ने कहा—हे राजन् ! युधिष्ठिर ! यह राजकुमार तुम्हारा प्रिय भ्राता नकुल भी हमारे वश में होगया है, अब बताओ किस से खेलोगे ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा तु तानक्षाञ्छकुनिः प्रत्यदीव्यत ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥१६॥

वैशम्पायन बोले—यह कह कर फिर शकुनि ने वे पासे फेंके और युधिष्ठिर से कहा—लो यह भी जीता गया ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अयं धर्मान्सहदेवोऽनुशास्ति लोके ह्यस्मिन्पण्डिताख्यां गतश्च
अनर्हता राजपुत्रेण तेन दीव्याम्यहं चाऽप्रियवत्प्रियेण ॥१७॥

युधिष्ठिर बोले—यह सहदेव धर्म का अनुशासन करने वाला है। इस लोक में यह प्रसिद्ध पण्डित कहाता है। जुआ के दाव पर रखने के अयोग्य इस प्रिय राज कुमार से अप्रिय की भांति खेलना चाहता हूं ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥१८॥

वैशम्पायन ने कहा—यह सुनकर फिर शकुनि ने छल से पासे फेंके और युधिष्ठिर से कहा, कि अब की बार भी मैं जीत गया ॥ १८ ॥

शकुनिरुवाच—

माद्रीपुत्रौ प्रियौ राजंस्तवेमौ विजितौ मया।
गरीयांसौ तु ते मन्ये भीमसेनधनञ्जयौ ॥१९॥

शकुनि ने कहा—हे राजन्! माद्री पुत्र नकुल और सहदेव तो मैं ने जीत लिए। मालूम होता है कि तुम भीम और अर्जुन को अधिक प्रिय मानते हो, जिससे दाव पर नहीं रखते हो ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अधर्मं चरसे नूनं यो नाऽवेक्षसि वै नयम्।
यो नः सुमनसां मूढ विभेदं कर्तुमिच्छसि ॥२०॥

युधिष्ठिर बोले—हे मूर्ख ! तू बड़ा अधर्म करता है, जो न्याय की ओर नहीं देखता है। तू हम शुद्ध मन वाले भाइयों में फूट डालना चाहता है ॥ २० ॥

शकुनिरुवाच—

गर्ते मत्तः प्रपतते प्रमत्तः स्थाणुमृच्छति ।
ज्येष्ठो राजन्वरिष्ठोऽसि नमस्ते भरतर्षभ ॥२१॥

शकुनि ने कहा—उन्मत्त, मनुष्य गड्ढे मे पड़ता है और वह उन्मत्त वहां जड़ हो जाता है। हे राजन्! आप ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं, आपको नमस्कार है ॥ २१ ॥

स्वप्ने तानि न दृश्यन्ते जाग्रतो वा युधिष्ठिर ।
कितवा यानि दीव्यन्तः प्रलपन्त्युत्कटा इव ॥२२॥

हे युधिष्ठिर ! जो बातें जुआरी खेलने के समय पागल की भांति बक बैठते हैं, वे बातें स्वप्न या जागृत मे भी कभी नहीं होती हैं ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

यो नः संख्ये नौरिव पारनेता जेता रिपूणां राजपुत्रस्तरस्वी ।
अनर्हता लोकवीरेण तेन दीव्याम्यहं शकुने फाल्गुनेन २३

युधिष्ठिर ने कहा—हे शकुनि ! समुद्र में नौका की भांति जो शत्रुविजयी, वेगवान् राजकुमार युद्ध में हमको पार ले जाता है, उसी जगत् प्रसिद्ध वीर, दाव पर रखने के अयोग्य, अर्जुन को दाव पर रख कर खेलना चाहता हूँ ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥२४॥

वैशम्पायन ने कहा—यह सुन कर छल का आश्रय ले कर शकुनि ने पासे फेंके और युधिष्ठिर से कहा—मैं फिर जीत गया

शकुनिरुवाच—

अयं मया पाण्डवानां धनुर्धरः पराजितः पाण्डव सव्यसाची
भीमेन राजन्दयितेन दीव्य यत्कैतवं पाण्डव तेऽवशिष्टम् २५

शकुनि बोला—हे राजन्! पाण्डवों में प्रसिद्ध धनुर्धर अर्जुन को जीत लिया है। अब जो जुआ पर लगाने योग्य द्रव्य अवशेष है, उस प्रिय भीम को दाव पर लगा कर खेलो? ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

यो नो नेता यो युधि नः प्रणेता यथा वज्री दानवशत्रुरेकः।
तिर्यक्प्रेक्षी संनतभ्रूर्महात्मा सिंहस्कन्धो यश्च सदात्यमर्षी
बलेन तुल्यो यस्य पुमान्न विद्यते गदाभृतामग्र्य इहारिमर्दनः
अनर्हता राजपुत्रेण तेन दीव्याम्यहं भीमसेनेन राजन् ॥२७॥

युधिष्ठिर ने कहा—जो हमारा नेता और युद्ध में अकेला आगे चलने वाला, दानवों के शत्रु इन्द्र के समान बली है। जो टेढ़ा देखने वाला, धनुष के समान भौंह वाला, सिंह के तुल्य स्कन्धों का धारी, महान् आत्मा और अत्यन्त कोप करने वाला है। जिसके बल के समान कोई पुरुष नहीं है। जो गदाधारियों

में श्रेष्ठ और शत्रुओं का मर्दन करने वाला है। हे राजन्! जुआ के दाव के अयोग्य उस राजकुमार भीम से भी मैं जुआ खेलना चाहता हूँ॥ २७॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥२८॥

वैशम्पायन बोले—इतना सुनकर शकुनि ने पासे फैंके और युधिष्ठिर से कहा—यह भी मैं जीता॥ २८॥

शकुनिरुवाच—

बहु वित्तं पराजैषी भ्रातृंश्च सहयद्विपान्।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम् ॥२९॥

शकुनि कहने लगा—हे कौन्तेय! तुम अपने हाथी, घोड़े के साथ अपने भाई और सारे धन को हार चुके हो। अब यदि कुछ अन्य धन शेष हो तो बताओ?॥ २३॥

युधिष्ठिर उवाच—

अहं विशिष्टः सर्वेषां भ्रातृणां दयितस्तथा।
कुर्यामहं जितः कर्म स्वयमात्मन्युपप्लवे ॥३०॥

युधिष्ठिर ने कहा—मैं सब में बड़ा और भाइयों का प्रिय हूं, मैं अपने को दाव पर रखता हूं। यदि अपने को हार गया तो जीते हुए दास की भाति कर्म करूंगा॥ ३०॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥३१॥

वैशम्पायन बोले—यह सुनकर शकुनि ने फिर छल पूर्वक पासा फेंका और युधिष्ठिर से कहा—मैं जीत गया हूं ॥ ३१ ॥

शकुनिरुवाच—

एतत्पापिष्ठमकरोर्यदात्मानं पराजये ।
शिष्टे सति धने राजन्पाप आत्मपराजयः ॥३२॥

हे राजन्! यह बड़े पाप का कार्य हुआ, जो अपने को पराजित कर दिया। जब धन शेष बचा है, तो अपने को पराजित करना पाप है॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा मताक्षस्तान्ग्लहे सर्वानवस्थितान् ।
पराजयं लोकवीरानुक्त्वा राज्ञां पृथक्पृथक् ॥३३॥

वैशम्पायन बोले—पासों की विद्या के जानने वाला शकुनि, दावपर चढ़े हुए सारे अर्जुन आदि की हारकी बात पृथक् २ राजाओं से कहने लगा॥ ३३ ॥

शकुनिरुवाच—

अस्ति ते वै प्रिया राजन्ग्लह एको पराजितः ।
पणस्व कृष्णां पाञ्चालीं तयाऽऽत्मानं पुनर्जय ॥३४॥

शकुनि ने कहा—हे राजन्! तुम्हारे पास एक दाव पर रखने की वस्तु अभी तुम्हारी प्रिया शेष है। उसी कृष्णा (द्रौपदी) पाञ्चाली को दावपर रख और अपनेको फिर विजयी करलो ॥३४॥

युधिष्ठिर उवाच—

नैव ह्रस्वा न महती न कृशा नातिरोहिणी ।
नीलकुञ्चितकेशी च तया दीव्याम्यहं त्वया ॥३५॥

युधिष्ठिर ने कहा—जो न तो छोटी है और न लम्बी, न कृश है, न मोटी। नीले और कुञ्चित (बांके) केशों वाली द्रौपदी को दाव पर रखके तेरे साथ खेलता हूं ॥ ३५ ॥

शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगन्धया ।
शारदोत्पलसेविन्या रूपेण श्रीसमानया ॥३६॥

जो द्रौपदी, शरद् ऋतु के कमल के समान आंखों वाली, शरद् कमल के समान गन्ध वाली और शरद् के कमलों से क्रीड़ा करने वाली, रूप मे लक्ष्मी के तुल्य है, आज उस से ही तेरे साथ खेलूंगा ॥ ३६ ॥

तथैव स्यादानृशंस्यात्तथा स्याद्रूपसंपदा ।
तथा स्याच्छीलसंपत्त्या यामिच्छेत्पुरुषः स्त्रियम् ॥३७॥

यह उत्तम २ गुण, रूप और शक्ति में लक्ष्मी के समान ही है। यह उतनी ही उत्तम स्त्री है, जैसी पुरुष पसन्द करता है ॥३७

सर्वैर्गुणैर्हि संपन्नामनुकूलां प्रियंवदाम् ।
यादृशीं धर्मकामार्थ सिद्धिमिच्छेन्नरः स्त्रियम् ॥३८॥

यह सब गुणों से सम्पन्न, अनुकूल, प्रिय बोलने वाली, धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि करने वाली है। जैसी उत्तम स्त्री पुरुष चाहता है, यह वैसी ही उत्तम है ॥ ३८ ॥

चरमं संविशति या प्रथमं प्रतिबुध्यते ।

आगोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ॥३९॥

जो पीछे सोती है और प्रथम जाग जाती है। यह गो-पाल भेड़-पालों से लेकर सबके कामों को जानती रहती है ॥ ३९ ॥

आभाति पद्मवद्वक्त्रं सस्वेदं मल्लिकेव च ।

वेदीमध्या दीर्घकेशी ताम्रास्या नातिलोमशा ॥४०॥

पसीनों से भरा हुआ इसका मुख, कमल की भाति सुशोभित रहता है। यह मालती लता के समान मनोहर है। वेदी के तुल्य कटिवाली, लम्बे २ केशों वाली और लाल मुख तथा सुन्दर लोमों वाली है ॥ ४० ॥

तयैवंविधया राजन्पाञ्चाल्याऽहं सुमध्यमया ।

ग्लहं दीव्यामि चार्वङ्ग्या द्रौपद्या हन्त सौबल ॥४१॥

हे राजन् ! इस प्रकार की सुन्दर, चारु अङ्ग वाली द्रौपदी को दावपर रखकर भी मैं खेलना चाहता हूँ ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्ते तु वचने धर्मराजेन धीमता ।

धिग्धिगित्येव वृद्धानां सभ्यानां निःसृता गिरः ॥४२॥

वैशम्पायन बोले— ज्योंही बुद्धिमान् युधिष्ठिर ने यह वाणी कही, त्यों ही सभासदों के मुख से धिक्कार की वाणी निकली ॥४२॥

चुक्षुभे सा सभा राजन्राज्ञां संजज्ञिरे शुचः ।
भीष्मद्रोणकृपादीनां स्वेदश्च समजायत ॥४३॥

हे राजन् ! उस समय सभा मे खलबली मच गई और राजाओं को चिन्ता होने लगी । भीष्म, द्रोण और कृपादि के पसीना निकल आया ॥ ४३ ॥

शिरो गृहीत्वा विदुरो गतसत्व इवाऽभवत् ।
आस्ते ध्यायन्नधोवक्त्रो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥४४॥

शिर पकड़ कर विदुर तो मृतक सा हो गया और वह नीचे को मुख करके सांप के तुल्य श्वास लेता हुआ चिन्ता पूर्वक बैठा रहा ॥ ४४ ॥

धृतराष्ट्रस्तु संहृष्टः पर्यपृच्छत्पुनः पुनः ।
किं जितं किं जितमिति ह्याकारं नाभ्यरक्षत ॥४५॥

धृतराष्ट्र बड़ा हर्षित हो रहा था और बार बार पूछ रहा था, कि कौन जीता । यह इस समय अपने आकार को भी नहीं छुपा सका ॥ ४५ ॥

जहर्ष कर्णोऽतिभृशं सह दुःशासनादिभिः ।
इतरेषां तु सभ्यानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥४६॥

दुःशासन आदि के साथ कर्ण बड़ा प्रसन्न हुआ और अन्य सभ्यों की आंखों से जल गिरने लगा ॥ ४६ ॥

सौबलस्त्वमिधायैवं जितकाशी मदोत्कटः ।
जितमित्येव तानक्षान्पुनरेवाऽन्वपद्यत ॥४७॥ [२२३१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीपराजये पञ्चषष्टितोऽध्यायः ॥६५॥

, जीतने की आशा वाले, मदोन्मत्त शकुनि ने "मैं जीत गया" यह कह कर फिर पांसों को उठा लिया ॥ ४७ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व में द्रौपदी पराजय का पैंसठवां अध्याय पूरा हुआ ।



छियासठवां अध्याय

दुर्योधन उवाच—

एहि क्षत्तर्द्रौपदीमानयस्व प्रियां भार्यां संमतां पाण्डवानाम् ।
संमार्जतां वेश्म परैतु शीघ्रं तत्रास्तु दासीभिरपुण्यशीला ॥

दुर्योधन कहने लगा-हे विदुर ! अब तुम पाण्डवों की मान्य प्रिय भार्या द्रौपदी को यहां लाओ । यह कमबख्त शीघ्र जावे और दासियों के साथ घर में बुहारी लगावे ॥ १ ॥

विदुर उवाच—

, दुर्विभाषं भाषितं त्वादृशेन न मन्द संबुध्यसि पाशबद्धः ।
प्रपाते त्वं लम्बमानो न वेत्सि व्याघ्रान्मृगः कोपयसेऽतिवेलम्

विदुर बोले—हे मूर्ख ! तूने बड़ा असभ्य भाषण किया है, तू अपने को पाश में बंधा हुआ नहीं देखता है। तू प्रवाह में लटक रहा है और कुछ नहीं जानता है। तू मृग होकर भी व्याघ्रों को कुपित करता है ॥ २ ॥

आशीविषास्ते शिरसि पूर्णकोपा महाविषाः ।
मा कोपिष्ठाः सुमन्दात्मन्मागमस्त्वं यमक्षयम् ॥३॥

हे महामूर्ख ! महाविषैले, कुपित, सर्प, तेरे शिर पर लटक रहे हैं, उनको तू कुपित और यमराज के घर के गमन की तय्यारी न कर ॥ ३ ॥

न हि दासीत्वमापन्ना कृष्णा भवितुमर्हति ।
अनीशेन हि राज्ञैषा पणे न्यस्तेति मे मतिः ॥४॥

यह द्रौपदी दासी नहीं हो सकेगी, क्योंकि इस पर स्वामी न रहने पर ही इसने इसको दासी बनाया है अर्थात् अपने दास हो जाने के अनन्तर ही युधिष्ठिर ने इसको दाव पर रखा है ॥४॥

अयं धत्ते वेणुरिवात्मऽऽघाती फलं राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
द्यूतं हि वैराय महाभयाय मत्तो न बुध्यत्ययमन्तकाले॥५॥

यह धृतराष्ट्र का पुत्र दुर्योधन, बांस के वृक्ष की भांति अपने नाश के लिए फल धारण करता है। यह जुआ, कलह के लिये होकर महा भय खड़ा कर देगी। यह मदोन्मत्त अन्त तक भी यह बात नहीं समझेगा ॥ ५ ॥

नाऽरुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत।
ययाऽस्य वाचा परउद्विजेत न तां वदेदुषतीं पापलोक्याम्६

किसी के मर्म को दुःखाना या कुत्सित बात नहीं कहनी चाहिए, न नीच उपायों से शत्रु को वश में लाना उचित है। जिस वाणी से दूसरे का चित्त उद्विग्न हो, ऐसी जलाने वाली पापिनी वाणी नहीं बोलनी चाहिए ॥ ६ ॥

समुच्चरन्त्यतिवादांश्च वक्त्राद्यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नाऽमर्मसु ते पतन्ति तान्पंडितो नावसृजेत्परेषु ॥७॥

एक पुरुष अपने मुख से दुष्ट वाणी का प्रयोग कर देता है, अन्य जिससे रात दिन जलता रहता है। कटुवचन अन्य के अमर्म स्थान में नहीं पड़ते अर्थात् मर्म स्थान को बींधते हैं। ऐसे वाक्यों की रचना पण्डित लोग नहीं करते ॥ ७ ॥

अजो हि शस्त्रमगिलत्किलैकः शस्त्रे विपन्ने शिरसाऽस्य भूमौ
निकृन्तनं स्वस्य कण्ठस्य घोरं तद्वद् वैरंमाकृथाः पाण्डुपुत्रैः ८

एक बकरे ने शस्त्र को निगल लिया, जब शस्त्र काटने लगा तो यह भूमि पर शिर पटकने लगा। इसका स्वयं ही कण्ठ कट गया; इसी तरह तू भी पाण्डवों से वैर न कर ॥ ८ ॥

न किंचिदित्थं प्रवदन्ति पार्था वनेचरं वा गृहमेधिनं वा ।
तपस्विनं वा परिपूर्णविद्यं भषन्ति हैवं श्वनराः सदैव ॥९॥

पाण्डव, वनवासी, गृहस्थी, तपस्वी या विद्वान् किसी से भी ऐसी कटुवाणी नहीं बोलते हैं। ऐसी वाणी तो कुत्ते के समान पुरुष ही बोला करते हैं ॥ ९ ॥

द्वारं सुघोरं नरकस्य जिह्मं न बुध्यते धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ।
त्वमन्वेतारो बहवः कुरूणां द्यूतोदयः सह दुःशासनेन ॥१०॥

यह धृतराष्ट्र का पुत्र दुर्योधन टेढ़े, घोर नरक के द्वार को नहीं देख रहा है। इस द्यूत के खेलने से दुःशासन के साथ उस नरक में जाने वाले दुर्योधन के अनेक कौरव साथी बन गए ॥१०

मज्जन्त्यलाबूनि शिलाः प्लवन्ते मुह्यन्ति नावोऽम्भसि शश्वदेव
मूढो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो न मे वाचः पथ्यरूपाः शृणोति ११

तुम्बिका डूब सकती है, पत्थर तर सकते हैं और नौकाएं सदा जल में नष्ट हो सकती हैं, परन्तु यह मूर्ख धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन, मेरे हितकारी वचन नहीं सुन सकता है ॥ ११ ॥

अन्तो नूनं भविताऽयं कुरूणां सुदारुणः सर्वहरो विनाशः।
वाचः काव्याः सुहृदां पथ्यरूपा न श्रूयन्ते वर्धते लोभ एव १२

इति श्री० म० संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥ [२२४३]

अब कौरवों का दारुण अन्त और सर्व-संहारी विनाश होगा, क्योंकि यह दुर्योधन मित्रों की कही हुई हितकारी पाण्डित्य पूर्ण वाणियों को नहीं सुनता है और इसको लोभ बढ़ा ही जा रहा है ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व में विदुर वाक्य का छियासठवां अध्याय पूरा हुआ।



सड़सठवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

धिगस्तु क्षत्तारमिति ब्रुवाणो दर्पेण मत्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
अवैक्षत प्रातिकामीं सभायामुवाच चैनं परमार्यमध्ये ॥१॥

वैशम्पायन बोले—अभिमान से मदोन्मत्त धृतराष्ट्र पुत्र, दुर्योधन ने विदुर को धिक्कार दिया और आज्ञा वाहक की ओर देखा एवं इस परम आर्यों के मध्य में उससे कहा ॥ १ ॥

दुर्योधन उवाच—

त्वं प्रातिकामिन्द्रौपदीमानयस्व न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः
क्षत्ता ह्ययं विवदत्येव भीतो न चास्माकं वृद्धिकामः सदैव २

हे आज्ञा—वाहक ! तू द्रौपदी को ले आ और पाण्डवों का कुछ भय न कर। यह विदुर तो व्यर्थ इसी तरह डरता रहता है, यह कभी भी हमारी वृद्धि नहीं चाहता है ॥ २॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तः प्रातिकामी स सूतः प्रायाच्छीघ्रं राजवचो निशम्य।
प्रविश्य च श्वेव हि सिंहगोष्ठं समासदन्महिषीं पाण्डवानाम् ३

वैशम्पायन ने कहा—इतना कहने पर वह आज्ञा वाहक सूत राजा के वचनों को सुन कर शीघ्र चल दिया और सिंह के स्थान मे कुत्ते की भांति घुस कर पाण्डवों की रानी द्रौपदी को पकड़ लिया ॥ ३ ॥

प्रातिकाम्युवाच—

युधिष्ठिरो द्यूतमदेन मत्तो दुर्योधनो द्रौपदीं त्वामजैषीत् ।
सा त्वं प्रपद्यस्व धृतराष्ट्रस्य वेश्म नयामि त्वां कर्मणे याज्ञसेनि ॥

प्रतिकामी कहने लगा—हे द्रौपदी ! युधिष्ठिर द्यूत के मद में उन्मत्त होगया, इससे दुर्योधन ने तुझे जीत लिया है । अब तू धृतराष्ट्र के घर चल, मैं तुझे दासी बनाने को लेने आया हूं ।

द्रौपद्युवाच—

कथं त्वेवं वदसि प्रातिकामिन्को सि दीव्येद्भार्यया राजपुत्रः ।
मूढो राजा द्यूतमदेन मत्तो ह्यभून्नान्यत्कैतवस्य किंचित् ॥५॥

द्रौपदी बोली—हे प्राति कामी ! तू क्या बक रहा है ? कौन ऐसा राजकुमार होगा, जो अपनी भार्या को दाव पर लगावेगा । द्यूत के मद में राजा उन्मत्त होगया मालूम होता है; नहीं तो क्या उस के पास अन्य कुछ नहीं था ॥ ५ ॥

प्रातिकाम्युवाच

यदा नाऽभूत्कैतवमन्यदस्य तदाऽदेवीत्पाण्डवोऽजातशत्रुः ।
न्यस्ताः पूर्वं भ्रातरस्तेन राज्ञा स्वयं चात्मा त्वमथो राजपुत्री ॥

प्रातिकामी बोला—हे राज-पुत्रि ! जब इसके पास दाव पर रखने को अन्य कुछ न रहा, तब ही राजा युधिष्ठिर ने तुम्हें दाव पर लगाया है । इस राजा ने प्रथम तो अपने भाइयों को जुआ के दाव पर लगाया, फिर अपने को और इसके बाद तुम को दाव पर रख दिया ॥ ६ ॥

द्रौपद्युवाच—

गच्छ त्वं कितवं गत्वा सभायां पृच्छ सूतज ।
किं नु पूर्वं पराजैपीरात्मानमथवाऽपि माम् ॥७॥

द्रौपदी बोली—हे सूत-पुत्र! तू सभा मे जाकर खेलने वालों से पूछ, क्या राजा ने प्रथम अपने को हराया है या मुझ को हारा है?॥ ७॥

एतज्ज्ञात्वा समागच्छ ततो मां नय सूतज ।
ज्ञात्वा चिकीर्षितमहं राज्ञो यास्यामि दुःखिता ॥८॥

हे आज्ञावाहक! यह पता लगाकर और फिर मुझे ले चल। मैं प्रथम राजा का अभिप्राय जानना चाहती हूँ और फिर सभा मे दुःखी होकर चलूंगी॥ ८॥

वैशम्पायन उवाच—

सभां गत्वा स चोवाच द्रौपद्यास्तद्वचस्तदा ।
युधिष्ठिरं नरेन्द्राणां मध्ये स्थितमिदं वचः ॥९॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! उस आज्ञावाहक ने सभा मे जाकर द्रौपदी का यह वचन सभा मे बैठे हुए युधिष्ठिर से कहा॥ ९॥

कस्येशो नः पराजैपीरिति त्वामाह द्रौपदी ।
किं नु पूर्वं पराजैपीरात्मानमथवाऽपि माम् ॥१०॥

तुम किस के स्वामी होकर पराजित हुए हो, यह प्रथम द्रौपदी ने पूछा है। क्या तुमने प्रथम अपने को हारा है या मुझे हारा है॥ १०॥

युधिष्ठिरस्तु निश्चेता गतसत्व इवाऽभवत् ।
न तं सूतं प्रत्युवाच वचनं साध्वसाधु वा ॥११॥

इस समय युधिष्ठिर तो वे होश और मृतक सा हो रहा था। उस ने तो आज्ञावाहक से अच्छा बुरा कुछ भी नहीं कहा ॥ ११॥

दुर्योधन उवाच—

इहैवाऽऽगत्य पाञ्चाली प्रश्नमेनं प्रभाषताम् ।
इहैव सर्वे शृण्वन्तु तस्याश्चै तस्य यद्वचः ॥१२॥

दुर्योधन बोला—यहीं आकर द्रौपदी इस प्रश्न को कर लेगी; जिसको ये सारे सभासद भी द्रौपदी और युधिष्ठिर के प्रश्न और उत्तर को सुन लेंगे ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच—

स गत्वा राजभवनं दुर्योधनवशानुगः ।
उवाच द्रौपदीं सूतः प्रातिकामी व्यथन्निव ॥१३॥

वैशम्पायन बोले—दुःखी हुआ आज्ञावाहक, दुर्योधन की आज्ञा से फिर राज भवन में गया और द्रौपदी से बोला ॥ १३ ॥

प्रातिकाम्युवाच—

सभ्यास्त्वमी राजपुत्र्याह्वयन्ति मन्ये प्राप्तः संशयः कौरवाणाम्
न वै समृद्धिं पालयते लघीयान्यस्त्वां सभां नेष्यति राजपुत्री ॥

हे राज-पुत्रि ! सभासद तुमको वहीं बुलाते हैं। मेरी समझ में तो अब कौरवों के नाश का समय आ पहुंचा है। जो बड़प्पन से गिर जाता है वह समृद्धि प्राप्त नहीं कर सकता है। यह उन का बहुत नीचपन है, जो तुम को भी सभा में बुलाते हैं ॥ १४॥

द्रौपद्युवाच—

एवं नूनं व्यदधात्संविधाता स्पर्शावुभौ स्पृशतो वृद्धबालौ।
धर्मं त्वेकं परमं प्राप लोके स नः शमं धास्यति गोप्यमानः॥

द्रौपदी कहने लगी—विधाता ने ऐसी ही होनहार रची है। ये सुख और दुःख वृद्ध और बालक सबको प्राप्त होते हैं। इस जगत् में एक धर्म ही बड़ी चीज है। जब हम उसका आश्रय लेंगे, तो वह हमारी रक्षा अवश्य करेगा॥ १५॥

सोऽयं धर्मो माऽत्यगात्कौरवान्वै सभ्यान्गत्वा पृच्छ धर्म्यं वचो मे
ते मा ब्रूयुर्निश्चितं तत्करिष्ये धर्मात्मानो नीतिमन्तो वरिष्ठाः॥

यह धर्म, कौरवों को त्याग न दे, इस से सभासदों के पास जाकर मेरे इस धर्म युक्त वचन को पूछो। ये सब धर्मात्मा, नीतिमान् और श्रेष्ठ हैं। वे जैसा कहेंगे मैं वैसा ही करूंगी॥१६॥

श्रुत्वा सूतस्तद्वचो याज्ञसेन्याः सभां गत्वा प्राह वाक्यं तदानीम्।
अधोमुखास्ते न च किंचिदूचुर्निर्बन्धं तं धार्तराष्ट्रस्य बुद्ध्वा॥

याज्ञसेनी (द्रौपदी) के वचन सुनकर सूत सभा में पहुंचा और उस ने सभा में यह वचन कहा। उन सबों ने नीचा मुख कर लिया और कुछ न बोले, क्योंकि सब दुर्योधन से दबे हुए थे॥ १७॥

वैशम्पायन उवाच—

युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा दुर्योधनचिकीर्षितम्।
द्रौपद्याः संमतं दूतं प्राहिणोद्भरतर्षभ॥१८॥

वैशम्पायन बोले—हे भरतर्षभ ! युधिष्ठिर ने दुर्योधन की इच्छा जानकर द्रौपदी के पास उसके पहचान का दूत भेजा।

एकवस्त्रा त्वधोनीवी रोदमाना रजस्वला ।
सभामागम्य पाञ्चालि श्वशुरस्याऽग्रतो भव ॥१९॥

हे द्रौपदी ! यद्यपि तुम रजस्वला हो और नीवी के नीचे २ एक वस्त्र पहिने हो, तो भी रोती हुई एक बार अपने श्वसुर के सन्मुख तो तुमको आना ही होगा ॥ १९ ॥

अथ त्वामागतां दृष्ट्वा राजपुत्रीं सभां तदा ।
सभ्याः सर्वे विनिन्देरन्मनोभिर्धृतराष्ट्रजम् ॥२०॥

हे द्रौपदी ! तुम राजपुत्री को सभा में आई हुई देखकर सारे सभ्य, मन ही मन दुर्योधन की निन्दा करेंगे ॥ २० ॥

स गत्वा त्वरितं दूतः कृष्णाया भवनं नृप ।
न्यवेदयन्मतं धीमान्धर्मराजस्य निश्चितम् ॥२१॥

हे नृप ! उस बुद्धिमान् दूत ने शीघ्र द्रौपदी के भवन में जाकर धर्म राज का निश्चय सुना दिया ॥ २१ ॥

पाण्डवाश्च महात्मानो दीना दुःखसमन्विताः ।
सत्येनाऽतिपरीताङ्गा नोदीक्षन्ते स्म किंचन ॥२२॥

पाण्डव, महात्मा, दीन और दुःखी हैं। वे सत्य के परवश हो रहे हैं और ऊपर को भी नहीं देखते हैं ॥ २२ ॥

ततस्त्वेषां मुखमालोक्य राजा दुर्योधनः सूतमुवाच हृष्टः ।
इहैवैतामानय प्रातिकामिन्नत्यत्र मस्याः कुरवो ब्रुवन्तु २३

राजा दुर्योधन, पांडवों के मुखकी ओर देख कर प्रसन्नता के साथ सूत से बोला—हे प्रातिकामिन् ! तुम द्रौपदी को यहां लाओ, वह सबके सामने जो कुछ कहना है कह देगी। सब के सामने ही कौरव उसको उत्तर देंगे ॥ २३ ॥

ततः सूतस्तस्य वशानुगामी भीतश्च कोपाद् द्रुपदात्मजायाः।
विहाय मानं पुनरेव सभ्यानुवाच कृष्णां किमहं ब्रवीमि२४

दुर्योधन की आज्ञा के वशवर्ती, सूत, द्रौपदी के क्रोध से भी डरता था। वह अपने अभिमान को छोड़कर फिर सभ्यों से बोला—कि मैं द्रौपदी से क्या कहूँ ॥ २४ ॥

दुर्योधन उवाच—

दुःशासनैष मम सूतपुत्रो वृकोदरादुद्विजतेऽल्पचेताः ।
स्वयं प्रगृह्याऽऽनय याज्ञसेनीं किं ते करिष्यन्त्यवशाः सपत्नाः २५

दुर्योधन ने कहा—हे दुःशासन ! यह मूर्ख सूत-पुत्र, शायद भीमसेन से डरता है। तुम जाओ और पकड़कर द्रौपदी को ले आओ। ये हमारे वशी भूत शत्रु पाण्डव, अब क्या कर सकते हैं ॥ २५ ॥

ततः समुत्थाय स राजपुत्रः श्रुत्वा भ्रातुः शासनं रक्तदृष्टिः ।
प्रविश्य तद्वेश्म महारथानामित्यब्रवीद् द्रौपदीं राजपुत्रीम् २६

इस के अनन्तर वह राजकुमार दुःशासन, अपने भाई की आज्ञा सुनकर, खड़ा हो गया और इसकी लाल आंखें हो गई। वह इन महारथी पाडवों के महल मे घुसा और राजपुत्री द्रौपदी से बोला ॥ २६ ॥

एह्येहि पाञ्चालि जितासि कृष्णे दुर्योधनं पश्य विमुक्तलज्जा
कुरून्भजस्वाऽऽयतपत्रनेत्रे धर्मेण लब्धासि सभां परैहि २७

हे द्रौपदी ! आजाओ, आजाओ, तुम को जीत लिया गया है। अब लज्जा छोड़कर दुर्योधन की ओर देखो। हे विशाल नेत्रों वाली ! तुम्हें धर्म से जीता है। अब तुम कुरुओं की सेवा करो और सभा में आओ ॥ २७ ॥

ततः समुत्थाय सुदुर्मनाः सा विवर्णमामृज्य मुखं करेण ।
आर्ता प्रदुद्राव यतः स्त्रियस्ता वृद्धस्य राज्ञः कुरुपुङ्गवस्य २८

अपने रंग बदले हुए मुख को हाथों से पोंछ कर दुःख से द्रौपदी उठी। वृद्ध राजा धृतराष्ट्र की स्त्रियां जिधर बैठी थी, उधर को वह दुःखी होकर दौड़ी ॥ २८ ॥

ततो जवेनाऽभिससार रोषाद् दुःशासनस्तामभिगर्जमानः ।
दीर्घेषु नीलेष्वथ चोर्मिमत्सु जग्राह केशेषु नरेन्द्रपत्नीम् २६

दुःशासन भी गर्जता हुआ, क्रोध और वेग से इसके पीछे २ दौड़ा। लम्बे और काले लहराते हुए बालों से नरेन्द्र-पत्नी द्रौपदी को पकड़ लिया ॥ २६ ॥

ये राजसूयावभृथे जलेन महाक्रतौ मन्त्रपूतेन सिक्ताः ।
ते पाण्डवानां परिभूय वीर्यं बलात्प्रमृष्टा धृतराष्ट्रजेन ॥३०॥

महायज्ञ राजसूय में मन्त्रों के पवित्र जल से जिसके केशों में अभिषेक किया गया, दुःशासन ने पाण्डवों के पराक्रम को कुचल कर उन केशों को भी बलपूर्वक जा पकड़ा ॥ ३० ॥

स तां पराकृष्य सभासमीपमानीय कृष्णामतिदीर्घकेशीम्।
दुःशासनो नाथवतीमनाथवच्चकर्ष वायुःकदलीमिवाऽऽर्ताम्३१

दुःशासन अत्यन्त लम्बे केशों वाली द्रौपदी को खैंचकर सभा में लाया। इसने नाथयुक्त आर्त द्रौपदी, को केले को वायु के सदृश अनाथ की भांति खैंचा॥ ३१॥

सा कृष्यमाणा नमितांगयष्टिः शनैरुवाचाऽथ रजस्वलाऽस्मि
एकं च वासो मम मन्दबुद्धे सभां नेतुं नाऽर्हसि मामनार्य॥३२॥

इस खैंची हुई द्रौपदी ने अपना अङ्ग नीचे की ओर सिकोड़ा और धीरे से कहा—मैं रजस्वला हूँ। हे मूर्ख अनार्य! मैंने एक ही वस्त्र धारण कर रखा है, इससे मुझे सभा मे ले जाना तुझे योग्य नहीं है॥ ३२॥

ततोऽब्रवीत्तां प्रसभं निगृह्य केशेषु कृष्णेषु तदा स कृष्णाम्।
कृष्णं च जिष्णुं च हरिं नरं च त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी३३॥

इसने केशों से बलपूर्वक द्रौपदी को पकड़ लिया। अब द्रौपदी अपनी रक्षा के लिये नर-नारायण के अवतार अर्जुन और कृष्ण को पुकारने लगी॥ ३३॥

दुःशासन उवाच—

रजस्वला वा भव याज्ञसेनि एकाम्बरा वाऽप्यथवा विवस्त्रा।
द्यूते जिता चासि कृतासि दासी दासीषु वासश्च यथोपजोषम्३४

दुःशासन बोला—हे द्रौपदी! तुम रजस्वला होकर एक वस्त्र धारण किये हुए हो या वस्त्रों से रहित हो, कुछ भी हो जुआ में

जीत ली गई हो और दासी बनाई जा चुकी हो। अब दासी को वस्त्र देना न देना स्वामी की इच्छा पर है ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

प्रकीर्णकेशी पतितार्धवस्त्रा दुःशासनेन व्यवधूयमाना ।
ह्रीमत्यमर्षेण च दह्यमाना शनैरिदं वाक्यमुवाच कृष्णा ॥३५॥

वैशम्पायन बोले—खुले बालों और अधगिरे वस्त्रों वाली, दुःशासन की पीड़ित की हुई, लज्जावती द्रौपदी, क्रोध से जलने लगी और धीरे से यह वाक्य बोली ॥ ३५ ॥

द्रौपद्युवाच—

इमे सभायामुपनीतशास्त्राः क्रियावन्तः सर्व एवेन्द्रकल्पाः ।
गुरुस्थाना गुरवश्चैव सर्वे तेषामग्रे नोत्सहे स्थातुमेवम् ॥३६॥

ये शास्त्र के जानने वाले, क्रियाशील, सारे इन्द्र के तुल्य पराक्रमी, गुरु के सदृश, सारे ही पूज्य हैं। मैं इनके सामने खड़ी नहीं हो सकती हूं ॥ ३६ ॥

नृशंसकर्मंस्त्वमनार्यवृत्त मा मा विवस्त्रां कुरु मा विकार्षीः
न मर्षयेयुस्तव राजपुत्राः सेन्द्रापि देवा यदि ते सहायाः ॥३७॥

हे नीच कर्म करने वाले, अनार्य ! मुझे नङ्गी न कर और न खैंच। तेरे इस अपराध को ये पाण्डव नहीं सह सकेंगे, चाहे तेरी रक्षा में इन्द्र भी क्यों न आजावे ॥ ३७ ॥

धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा धर्मश्च सूक्ष्मो निपुणोपलक्ष्यः ।
वाचापि भर्तुः परमाणुमात्रमिच्छामि दोषं न गुणान्विसृज्य ३८

यह धर्म का पुत्र धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर, धर्म में स्थित हैं। धर्म बड़ा सूक्ष्म है, निपुण मनुष्य ही इसको समझ सकता है। मैं तो वाणी से भी अपने पति के गुणों को छोड़ कर परमाणु के समान दोष भी कथन नहीं कर सकती हूं ॥ ३८॥

इदं त्वकार्यं कुरुवीरमध्ये रजस्वलां यत्परिकर्षसे माम् ।
न चापि कश्चित्कुरुतेऽत्र कुत्सां ध्रुवं तवेदं मतमभ्युपेतः ॥३६॥

यह तेरा अकार्य है, जो कुरु वीरों के सम्मुख मुझ रजस्वला को खेंच रहा है। इस स्थान में कोई भी तेरी निन्दा नहीं कर रहा है, इससे ज्ञात होता है, ये सब तुझ से मिल रहे हैं ॥३६॥

धिगस्तु नष्टः खलु भारतानां धर्मस्तथा क्षत्रविदां च वृत्तम् ।
यत्र ह्यतीतां कुरुधर्मवेलां प्रेक्षन्ति सर्वे कुरवः सभायाम् ॥४०॥

धिक्कार है कि आज भरतवंशी क्षत्रियों का आचरण नष्ट हो गया है। जो कौरवों की टूटी हुई मर्यादा को सारे कौरव, सभा में देख रहे हैं ॥ ४० ॥

द्रोणस्य भीष्मस्य च नास्ति सत्त्वं क्षत्तुस्तथैवाऽस्य महात्मनोऽपि
राज्ञस्तथा हीममधर्ममुग्रं न लक्षयन्ते कुरुवृद्धमुख्याः ॥४१॥

द्रोण, भीष्म तथा महात्मा विदुर में भी अब बल नहीं रहा है; जो ये कुरुओं मे वृद्ध, और मुख्य होकर भी राजा दुर्योधन के इस अत्याचार को चुपचाप सह रहे हैं ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच—,

तथाब्रुवन्ती करुणं सुमध्यमा भर्तॄन्कटाक्षैः कुपितानपश्यत् ।
सा पाण्डवान्कोपपरीतदेहान्संदीपयामास कटाक्षपातैः ॥४२॥

वैशम्पायन बोले—यह कहती हुई, सुन्दरी द्रौपदी ने कुपित पतियों को अपने कटाक्ष से देखा। इसने अपने कटाक्षों (टेढ़ी नजर) से कुपित पाण्डवों को और भी कुपित कर दिया ॥४२॥

हृतेन राज्येन तथा धनेन रत्नैश्च मुख्यैर्न तथा बभूव ।
यथा त्रपाकोपसमीरितेन कृष्णाकटाक्षेण बभूव दुःखम् ॥४३॥

राज्य, धन, मुख्य २ रत्नों के अपहरण से भी इन पाण्डवों को इतना दुःख नहीं हुआ जितना लज्जा और कोप से युक्त द्रौपदी के कटाक्षों को देखकर हुआ ॥ ४३ ॥

दुःशासनश्चापि समीक्ष्य कृष्णामवेक्षमाणां कृपणान्पतींस्तान् ।
आधूय वेगेन विसंज्ञकल्पामुवाच दासीति हसन्सशब्दम् ॥४४॥

दुश्शासन ने भी अपने परवश पतियों को देखती हुई द्रोपदी को देखा। यह वेग से द्रौपदी को झटका देकर मूर्छित (बेहोश) सी द्रौपदी को दासी कहकर जोर से उस पर हंसा ॥ ४४ ॥

कर्णस्तु तद्वाक्यमतीव हृष्टः संपूजयामास हसन्सशब्दम् ।
गान्धारराजः सुबलस्य पुत्रस्तथैव दुःशासनमभ्यनन्दत् ॥४५॥

कर्ण ने भी जोर से हंसकर दु.शासन के वाक्य का प्रसन्नता से अनुमोदन किया। इसी तरह गान्धार-राज शकुनि ने भी दुःशासन के वाक्य का समर्थन किया ॥ ४५ ॥

सभ्यास्तु ये तत्र बभूवुरन्ये ताभ्यामृते धार्तराष्ट्रेण चैव ।
तेषामभूद्दुःखमतीव कृष्णां दृष्ट्वा सभायां परिकृष्यमाणाम् ४६

उस सभा में जितने सभासद थे, उनमें कर्ण, शकुनि और दुर्योधन को छोड़ कर अन्य सब द्रौपदी को इस तरह खैंचते देख कर अत्यन्त दुखी हुए ॥ ४६ ॥

भीष्म उवाच—

न धर्मसौक्ष्म्यात्सुभगे विवेक्तुं शक्नोमि ते प्रश्नमिमं यथावत् ।
अस्वाम्यशक्तः पणितुं परस्वं स्त्रियश्च भर्तुर्वशतां समीक्ष्य ४७

भीष्म बोले—हे सुन्दरि ! धर्म बड़ा सूक्ष्म है, इससे मैं तेरे इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर नहीं दे सकता हूं। दास हुआ स्वामी अपनी स्त्री को दावपर नहीं रख सकता, क्योंकि वह स्त्री अब उसका धन नहीं है अथवा स्त्री तो पति के साथ सदा वश में ही होती है ॥ ४७ ॥

त्यजेत सर्वां पृथिवीं समृद्धां, युधिष्ठिरो धर्ममथो न जह्यात् ।
उक्तं जितोऽस्मीति च पाण्डवेन तस्मान्न शक्नोमि
विवेक्तुमेतत् ॥४८॥

द्यूतेऽद्वितीयः शकुनिर्नरेषु कुन्तीसुतस्तेन निसृष्टकामः ।
न मन्यते तां निकृतिं युधिष्ठिरस्तस्मान्न ते प्रश्नमिमं ब्रवीमि ४९

यह युधिष्ठिर सारी पृथिवी को छोड़ देगा, परन्तु धर्म को नहीं छोड़ सकता है। युधिष्ठिर ने स्वयं कह दिया है कि मैं हार गया, इससे मैं इसका कुछ विवेचन कर ही नहीं सकता हूं। द्यूत में अद्वितीय कुशल शकुनि ने तुम्हें दावपर लगाने को कहा—इससे कुन्ती-सुत युधिष्ठिर ने तुम्हें दाव पर लगाया है।

युधिष्ठिर ही तुम्हें दावपर लगाने को छल नहीं मानता है, इससे मैं इस प्रश्न का विवेचन ही कैसे करूं ॥४८-४६ ॥

द्रौपद्युवाच —

आहूय राजा कुशलैरनार्यैर्दुष्टात्मभिर्नैकृतिकैः सभायाम् ।
द्यूतप्रियैर्नातिकृतप्रयत्नः कस्मादयं नाम निसृष्टकामः ॥५०॥

द्रौपदी कहने लगी—इन अनार्य, दुष्ट, छली और जुआ में कुशल, जुआरियों ने राजा को सभा मे बुलाया है। यह नीति धर्म मे आरूढ़ रहने वाला है। फिर यह उनकी प्रेरणा के बिना स्वयं मुझे कैसे दांव पर रख सकता था ॥ ५० ॥

अशुद्धभावैर्निकृतिप्रवृत्तैरबुध्यमानः कुरुपाण्डवाग्र्यः ।
संभूय सर्वैश्च जितोऽपि यस्मात्पश्चादयं कैतवमभ्युपेतः ॥५१॥

अशुद्ध भाव रखने वाले, छल मे तत्पर, इन धूर्तों ने इकट्ठे होकर दावघातों को नहीं जानने वाले, पाण्डव श्रेष्ठ राजायुधिष्ठिर को प्रथम जीत लिया और पीछे इसने मेरा दाव लगाया है ॥५१॥

तिष्ठन्ति चेमे कुरवः सभायामीशाः सुतानां च तथा स्नुषाणाम् ।
समीक्ष्य सर्वे मम चापि वाक्यं विब्रूत मे प्रश्नमिमं यथावत् ५२

ये सारे कुरुवंशी, इस सभा मे बैठे है, जिन सबके बेटे और बहू हैं। ये सब विचार कर देखो और मेरे प्रश्न का ठीक२ उत्तर दो

वैशम्पायन उवाच--

तथा ब्रुवन्तीं करुणं रुदन्तीमवेक्षमाणां कृपणान्पतींस्तान् ।
दुःशासनः परुषाण्यप्रियाणि वाक्यान्युवाचाऽमधुराणि चैव५३:

वैशम्पायन बोले—इस प्रकार करुणा के साथ रोती और परवश हुए अपने पतियों को देखती हुई द्रौपदी से दुःशासन कठोर अप्रिय और कटु वचन कहने लगा ॥ ५३ ॥

तां कृष्यमाणां च रजस्वलां च स्रस्तोत्तरीयामतदर्हमाणाम् ।
वृकोदरः प्रेक्ष्य युधिष्ठिरं च चकार कोपं परमार्तरूपः ॥५४॥

इति श्री महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीप्रश्ने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

नीचे गिरे हुए वस्त्रवाली, खींचने के अयोग्य, रजस्वला द्रौपदी और युधिष्ठिर की ओर देख कर अत्यन्त दुःखी भीम ने कोप किया ॥ ५४ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व में द्रौपदी प्रश्न का सड़सठवां अध्याय पूरा हुआ।



अड़सठवां अध्याय

वाहनानि धनं चैव कवचान्यायुधानि च ।
राज्यमात्मा वयं चैव कैतवेन हृतं परैः ॥३॥
न च मे तत्र कोपोऽभूत्सर्वस्येशो हि नो भवान् ।
इमं व्यतिक्रमं मन्ये द्रौपदी यत्र पण्यते ॥४॥

जो धन और उत्तम द्रव्य काशिराज ने दिया तथा अन्य राजाओं ने जो उत्तम २ रत्न अर्पण किये। वाहन, धन, कवच, आयुध, राज्य, आत्मा और हम लोगों को शत्रुओं ने छल से जीत लिया। इसमें मुझे कुछ भी कोप नहीं है, क्योंकि आप हमारे स्वामी हैं। परन्तु मैं इसको अधर्म समझता हूँ, जो द्रौपदी दाव पर लगाई गई है ॥ २-४ ॥

एषा ह्यनर्हती बाला पाण्डवान्प्राप्य कौरवैः ।
त्वत्कृते क्लिश्यते क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ॥५॥

इस सुन्दरी द्रौपदी का पाण्डवों को प्राप्त करके कौरव दुर्योधन को प्राप्त होना अनुचित है। इन नीच और दुष्ट कौरवों से यह तेरे कारण से ही क्लेशित की जा रही है ॥ ५ ॥

अस्याः कृते मन्युरयं त्वयि राजन्निपात्यते ।
बाहू ते संप्रधक्ष्यामि सहदेवाऽग्निमानय ॥६॥

हे राजन्! यह तुम पर मेरा कोप इसी द्रौपदी के कारण से ही हुआ है। हे सहदेव! अग्नि लाओ, हम इस राजा के भुजाओं को जलावेंगे ॥ ६ ॥

अर्जुन उवाच—

न पुरा भीमसेन त्वमीदृशीर्वदिता गिरः ।
परैस्ते नाशितं नूनं नृशंसैर्धर्मगौरवम् ॥ ७ ॥

अर्जुन बोला—हे भीमसेन! तू ने कभी पहिले ऐसी बात नहीं कही है। इन नीच, विरोधियों ने उत्तेजित करके तेरे धर्म-गौरव को नष्ट कर दिया है ॥७॥

न सकामाः परे कार्या धर्ममेवाऽऽचरोत्तमम् ।
भ्रातरं धार्मिकं ज्येष्ठं कोऽतिवर्तितुमर्हति ॥ ८ ॥

विरोधियों को सफल मनोरथ न होने दो, इससे उत्तम धर्म का ही आचरण करो। कौन ऐसा है, जो धार्मिक और ज्येष्ठ भाई की आज्ञा का अतिक्रमण करे ॥ ८ ॥

आहूतो हि परै राजा क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ।
दीव्यते परकामेन तन्नः कीर्तिकरं महत् ॥ ९ ॥

विरोधियों से ललकारे हुए राजा युधिष्ठिर ने क्षात्र धर्म का स्मरण करके ही दूसरे की इच्छा के कारण जुआ खेला है, यह हमारे लिए बड़ी गौरव की चीज है ॥ ९ ॥

भीमसेन उवाच—

एवमस्मिन्कृतं विद्यां यदि नाहं धनञ्जय ।
दीप्तेऽग्नौ सहितौ बाहू निर्दहेयं बलादिव ॥ १० ॥

भीमसेन ने कहा—हे अर्जुन! यदि इस विषय में मैं भी इतना न जानता होता तो दीप्त अग्नि में इसके दोनों हाथों को बल पूर्वक अवश्य जला डालता ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच—

तथा तान्दुःखितान्दृष्ट्वा पाण्डवान्धृतराष्ट्रजः ।
क्रियमानां च पाञ्चालीं विकर्ण इदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

वैशम्पायन बोले—इस तरह पाण्डवों और द्रौपदी को दुःखी देख कर धृतराष्ट्र पुत्र विकर्ण बोला—॥ ११ ॥

याज्ञसेन्या यदुक्तं तद्वाक्यं विब्रूत पार्थिवाः ।
अविवेकेन वाक्यस्य नरकः सद्य एव नः ॥ १२ ॥

हे राजाओं ! जो वाक्य द्रौपदी ने कहा है, उसका उत्तर दो । जो वाक्य को जान कर भी अज्ञानी बने, वो तत्काल ही नरक होता है ॥ १२ ॥

भीष्मश्च धृतराष्ट्रश्च कुरुवृद्धतमावुभौ ।
समेत्य नाहतुः किंचिद्विदुरश्च महामतिः ॥ १३ ॥

भीष्म और धृतराष्ट्र, ये कौरवों में अत्यन्त वृद्ध हैं, इन दोनों ने भी सम्मति करके कुछ नहीं कहा और महामति विदुर भी चुप बैठे हैं ॥ १३ ॥

भारद्वाजश्च सर्वेषामाचार्यः कृप एव च ।
कुत एतावपि प्रश्नं नाऽऽहतुर्द्विजसत्तमौ ॥ १४ ॥

द्रोण और कृप सब के आचार्य हैं, क्या कारण है, जो ये द्विजोत्तम भी इस प्रश्न को नहीं छेड़ते हैं ॥ १४ ॥

ये त्वन्ये पृथिवीपालाः समेताः सर्वतो दिशम् ।
कामक्रोधौ समुत्सृज्य ते ब्रुवन्तु यथामति ॥ १५ ॥

अन्य भी बहुत से राजा सब ओर से यहां आये हुए हैं, ये भी काम और क्रोध को छोड कर अपनी २ मति के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर दें ॥ १५ ॥

यदिदं द्रौपदी वाक्यमुक्तवत्यसकृच्छुभा ।
विमृश्य कस्य कः पक्षः पार्थिवा वदतोत्तरम् ॥ १६ ॥

जिस वाक्य को यह सुन्दरी द्रौपदी बार २ दोहरा रही है। इस पर विचार करके सारे राजा कहो, कि किसका पक्ष प्रबल है ।१६

एवं स बहुशः सर्वानुक्तवांस्तान्सभासदः ।
न च ते पृथिवीपालास्तमूचुः साध्वसाधु वा ॥ १७ ॥

इस तरह उसने सारे सभासदों से बार २ कहा। परन्तु राजाओं ने अच्छा, बुरा कुछ भी न कहा ॥ १७ ॥

उक्त्वाऽसकृत्तथा सर्वान्विकर्णः पृथिवीपतीन् ।
पाणौ पाणिं विनिष्पिष्य निःश्वसन्निदमब्रवीत् ॥१८॥

विकर्ण सारे राजाओं से बार २ यह कह कर हाथ मलने लगा और श्वास लेकर बोला ॥ १८ ॥

विब्रूत पृथिवीपाला वाक्यं मा वा कथंचन ।
मन्ये न्याय्यं यदत्राऽहं तद्धि वक्ष्यामि कौरवाः ॥१६॥

हे राजाओं ! हे कौरवों ! तुम इस वाक्य का उत्तर दो या न दो। मैं तो जो न्याय समझता हूँ, वह कहता हूँ ॥ १६ ॥

चत्वार्याहुर्नरश्रेष्ठा व्यसनानि महीक्षिताम् ।
मृगया पानमक्षाश्च ग्राम्ये चैवाऽतिरक्तता ॥ २० ॥

एतेषु हि नरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्तते ।
तथाऽयुक्तेन च कृतां क्रियां लोको न मन्यते ॥ २१ ॥

हे नर श्रेष्ठों ! राजाओं के लिए शिकार खेलना, शराब पीना, जुआ खेलना और मैथुन में संलग्न रहना, ये चार व्यसन माने गये हैं। इनमें जो मनुष्य आसक्त होता है, वह धर्म छोड़ कर चलता है। इनमें पागल हो कर मनुष्य जो कुछ कर डालता है, उनके कामों को लोग हुआ ही नहीं मानते हैं ॥ २०-२१ ॥

तदयं पाण्डुपुत्रेण व्यसने वर्तता भृशम् ।
समाहूतेन कितवैरास्थितो द्रौपदीपणः ॥ २२ ॥

इस राजा युधिष्ठिर ने जुआ के व्यसन में फंस कर ही धूर्तों के आह्वान से इस द्रौपदी को दाव पर लगाया है ॥ २२ ॥

साधारणी च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता ।
जितेन पूर्वं चाऽनेन पाण्डवेन कृतः पणः ॥२३॥
इयं च कीर्तिता कृष्णा सौबलेन पणार्थिना ।
एतत्सर्वं विचार्याऽहं मन्ये न विजितामिमाम् ॥२४॥

यह सुन्दरी द्रौपदी सारे पाण्डवों की साझे की भार्या है और पराजित हुए युधिष्ठिर ने इसे दाव पर रखा है। शकुनि ने इसको दाव पर रखने की प्रेरणा भी की है। मैं यह सब कुछ विचार कर यही मानता हूँ कि द्रौपदी जीती नहीं गई है ॥ २३-२४ ॥

एतच्छ्रुत्वा महान्नादः सभ्यानामुदतिष्ठत ।
विकर्णं शंसमानानां सौबलं चापि निन्दताम् ॥२५॥

यह सुन कर सभासदों का बड़ा भारी कोलाहल उठ खड़ा हुआ और लोग शकुनि की निन्दा तथा विकर्ण की प्रशंसा करने लगे ॥ २५ ॥

कर्ण उवाच—

तस्मिन्नुपरते शब्दे राधेयः क्रोधमूर्च्छितः ।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुमिदं वचनमब्रवीत् ॥२६॥

इस कोलाहल के शान्त होने पर क्रोध से व्याकुल कर्ण, अपनी सुन्दर बाहु को पकड़ कर यह वचन बोला ॥ २६ ॥

दृश्यन्ते वै विकर्णेह वैकृतानि बहून्यपि ।
तज्जातस्तद्विनाशाय यथाऽग्निररणीप्रजः ॥२७॥

हे विकर्ण ! इस जगत् में अनेक विपरीत अर्थ होते हैं, इनसे उत्पन्न हुआ दोष अपने कारण को ही नाश कर देता है, जैसे अग्नि, अरणी से उत्पन्न होकर ही अरणी को जला डालती है।२७

एते न किंचिदप्याहुश्चोदिता ह्यपि कृष्णया ।
धर्मेण विजितामेतां मन्यन्ते द्रुपदात्मजाम् ॥२८॥

द्रौपदी से बार २ प्रेरित किये हुए राजा लोग कुछ भी नहीं कह रहे हैं, इससे स्पष्ट है कि ये द्रौपदी के जीतने को धर्म-युक्त मान रहे हैं ॥ २८ ॥

त्वं तु केवलबाल्येन धार्तराष्ट्र विदीर्यसे ।
यद्ब्रवीषि सभामध्ये बालः स्थविरभाषितम् ॥२९॥

हे विकर्ण ! तू अभी बचा है, जिससे फटा जाता है । तू बचा होकर भी वृद्धों की सी बातें बनाता है ॥ २६ ॥

न च धर्मं यथावत्त्वं वेत्सि दुर्योधनावर ।
यद्ब्रवीषि जितां कृष्णां न जितेति सुमन्दधीः ॥३०॥

हे दुर्योधनानुज ! तू धर्म की गति को ठीक २ नहीं जानता है, जो तू जीती हुई द्रौपदी को नहीं जीती हुई बताता है, इससे तू महा-मूर्ख प्रतीत होता है ॥ ३० ॥

कथं ह्यविजितां कृष्णां मन्यसे धृतराष्ट्रज ।
यदा सभायां सर्वस्वं न्यस्तवान्पाण्डवाग्रजः ॥३१॥

हे धृतराष्ट्र पुत्र ! तू यह कैसे मानता है कि द्रौपदी नहीं जीती गई, जब कि युधिष्ठिर ने सभा में सर्वस्व रख दिया है ॥ ३१ ॥

अभ्यन्तरा च सर्वस्वे द्रौपदी भरतर्षभ ।
एवं धर्मजितां कृष्णां मन्यसे न जितां कथम् ॥३२॥

हे भरतर्षभ ! सर्वस्व के भीतर ही द्रौपदी भी आ गई, फिर तू जीती हुई द्रौपदी को बिना जीती हुई कैसे कहता है ॥ ३२ ॥

कीर्तिता द्रौपदी वाचा अनुज्ञाता च पाण्डवैः ।
भवत्यविजिता केन हेतुनैषा मता तव ॥३३॥

द्रौपदी वाणी से खरीदी गई है और पाण्डवों ने इसकी इजाजत दे दी है, फिर किस हेतु से तुम इसको अभी नहीं जीती हुई मानते हो ॥ ३३ ॥

मन्यसे वा सभामेतामानीतामेकवाससम् ।
अधर्मेणेति तत्रापि शृणु मे वाक्यमुत्तमम् ॥३४॥

जो तू यह मानता हो कि इसको एक वस्त्र से ही सभा में लाना अधर्म है, तो मैं इसका भी उत्तर देता हूँ, तू सुन ॥३४॥

एको भर्ता स्त्रिया देवैर्विहितः कुरुनन्दन ।
इयं त्वनेकवशगा बन्धकीति विनिश्चिता ॥३५॥

हे कुरुनन्दन ! देवों ने स्त्री का एक ही पति नियत किया है। यह तो अनेकों को विवाही गई है, इससे वेश्या मानी जानी चाहिये ॥ ३५ ॥

अस्याः सभामानयनं न चित्रमिति मे मतिः ।
एकाम्बरधरत्वं वाऽप्यथवाऽपि विवस्त्रता ॥३६॥

जब इसकी यह दशा ही वेश्या तुल्य है, तो इसका सभा में लाना ही क्या अनुचित है। अब यह एक वस्त्र धारण किये हो या नहीं हो, इसका विचार ही क्या है ॥ ३६ ॥

यच्चैषां द्रविणं किंचिद्या चैषा ये च पाण्डवाः ।
सौबलेनेह तत्सर्वं धर्मेण विजितं वसु ॥३७॥

जो इनका धन है या यह द्रौपदी और पाण्डव हैं, ये सब कुछ द्रव्य, शकुनि ने धर्म से जीता है ॥ ३७ ॥

दुःशासन सुबालोऽयं विकर्णः प्राज्ञवादिकः ।
पाण्डवानां च वासांसि द्रौपद्याश्चाप्युपाहर ॥३८॥

हे दुःशासन ! यह विकर्ण बड़ा मूर्ख है और पण्डितों की सी बातें बनाता है अब तू पाण्डव और द्रौपदी के कपड़े उतरवा ले ॥ ३८ ॥

एवच्छ्रुत्वा पाण्डवाः सर्वे स्वानि वासांसि भारत ।
अवकीर्योत्तरीयाणि सभायां समुपाविशन् ॥३९॥

हे भारत ! यह सुनकर सारे पाण्डव अपने वस्त्र और दुपट्टे उतार कर सभा में बैठ गये ॥ ३९ ॥

ततो दुःशासनो राजन्द्रौपद्या वसनं बलात् ।
सभामध्ये समाक्षिप्य व्यपाक्रष्टुं प्रचक्रमे ॥४०॥

हे राजन् ! इसके बाद दुःशासन ने द्रौपदी के वस्त्र बलपूर्वक सभा में खेंच कर उतारने चाहे ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच—

आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्या चिन्तितो हरिः ।
गोविन्द द्वारकावासिन्कृष्ण गोपीजनप्रिय ॥४१॥

वैशम्पायन बोले—जब दुःशासन वस्त्र खैंचने लगा, तब द्रौपदी, गोविन्द ! द्वारिकावासिन् ! कृष्ण ! गोपीजन प्रिय ! इन सम्बोधनों से भगवान् कृष्ण का स्मरण करने लगी ॥ ४१ ॥

कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव ।
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन ।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ॥४२॥

हे केशव ! क्या तुम यह नहीं जान रहे हो, कि आज कौरव मेरा अपमान कर रहे हैं । हे नाथ ! हे व्रजनाथ ! हे रमानाथ ! इस दुःख का नाश करो ॥ ४२ ॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिन्विश्वात्मन्विश्वभावन ।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् ॥४३॥

हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे विश्वात्मन् ! हे विश्वभावन जनार्दन ! कौरवरूपी समुद्र में डूबती हुई मुझ दासी का उद्धार करो ॥ ४३ ॥

इत्यनुस्मृत्य कृष्णं सा हरिं त्रिभुवनेश्वरम् ।
प्रारुदद् दुःखिता राजन्मुखमाच्छाद्य भामिनी ॥४४॥

हे गोविन्द ! मैं आपकी शरण में आई हूँ, कौरवों के मध्य में तलफलाती हुई मुझ शरणागत की रक्षा करो ॥ ४४ ॥

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा कृष्णो गह्वरितोऽभवत् ।
त्यक्त्वा शय्यासनं पद्भ्यां कृपालुः कृपयाऽभ्यगात् ४५

हे राजन् ! इस तरह त्रिभुवन के स्वामी भगवान् कृष्ण का स्मरण करके द्रौपदी मुख ढककर दुःख से रोने लगी द्रौपदी के वचन सुनकर श्रीकृष्ण ध्यान गम्य हुए और कृपालु भगवान् अपने शय्यासन को छोड़कर पैदल ही भागे ॥ ४५ ॥

कृष्णं च जिष्णुं च हरिं नरं च त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ।
ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा समावृणोद्वै विविधैः सुवस्त्रैः॥४६

नारायण और नर के अवतार श्रीकृष्ण और अर्जुन को रक्षा के लिए द्रौपदी पुकारने लगी । तब धर्म-रूप महात्मा श्रीकृष्ण ने छुपे २ द्रौपदी को अनेक वस्त्रों से ढक दिया ॥ ४६ ॥

आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्यास्तु विशांपते ।
तद्रूपमपरं वस्त्रं प्रादुरासीदनेकशः ॥४७॥

हे विशांपते ! जब द्रौपदी के वस्त्र खींचे जा रहे थे, तो उसी तरह के अनेक वस्त्र उत्पन्न होते रहते थे ॥ ४७ ॥

नानारागविरागाणि वसनान्यथ वै प्रभो ।
प्रादुर्भवन्ति शतशो धर्मस्य परिपालनात् ॥४८॥
ततो हलहलाशब्दस्तत्राऽऽसीद्घोरदर्शनः ॥४९॥

हे प्रभो ! अनेक प्रकार के रङ्ग बिरंगे वस्त्र धर्म के परिपालन के कारण से उत्पन्न हो रहे थे । इसी समय सभा मे एक महान् कोलाहल खड़ा हुआ ॥ ४८--४९ ॥

तदद्भुततमं लोके वीक्ष्य सर्वे महीभृतः ।
शशंसुर्द्रौपदीं तत्र कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ॥५०॥

इस प्रकार के चमत्कार को देखकर सारे राजा द्रौपदी की प्रशंसा और दुर्योधन की निन्दा करने लगे ॥ ५० ॥

शशाप तत्र भीमस्तु राजमध्ये बृहत्स्वनः ।
क्रोधाद्विस्फुरमाणोष्ठो निनिष्पष्य करे करम् ॥५१।

इस समय राज सभा के मध्य मे उच्च स्वर से बोलकर भीमसेन ने प्रतिज्ञा की । यह भीम अपने हाथों को मल रहा था और क्रोध से इसके होठ फड़क रहे थे ॥ ५१ ॥

भीमसेन उवाच—

इदं मे वाक्यमादध्वं क्षत्रिया लोकवासिनः ।
नोक्तपूर्वं नरैरन्यैर्न चाऽन्यो यद्वदिष्यति ॥५२॥

भीमसेन बोला—हे संसार के समस्त क्षत्रियों इस मेरे वाक्य को सुनो, जो अन्य किसी मनुष्य ने आजतक नहीं कहा है और न आगे कोई कह सकेगा ॥ ५२ ॥

यद्येतदेवमुक्त्वाऽहं न कुर्यां पृथिवीश्वराः ।
पितामहानां पूर्वेषां नाऽहं गतिमवाप्नुयाम् ॥५३॥

हे राजाओ ! मैं इस वाक्य को कह कर यदि पूरा न करूं, तो अपने पूर्वजों की गति को प्राप्त न होऊं ॥ ५३ ॥

अस्य पापस्य दुर्बुद्धेर्भारतापसदस्य च ।
न पिबेयं बलाद्वक्षो भित्त्वा चेद् रुधिरं युधि ॥५४॥

इस पापी दुर्बुद्धि, भरतवंश के कलङ्क दुर्योधन के वक्षस्थल को बलपूर्वक चीर कर यदि युद्ध में रक्त न पीऊं, तो अपने पूर्वजों की गति को न पाऊं ॥ ५४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तस्य ते तद्वचः श्रुत्वा रौद्रं लोमप्रहर्षणम् ।
प्रचक्रुर्बहुलां पूजां कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ॥५५॥

वैशम्पायन बोले—भीम के भयानक और लोमों के खड़े कर देने वाले वचन सुनकर लोग भीम की बहुत सी पूजा और दुर्योधन की निन्दा करने लगे ॥ ५५ ॥

यदा तु वाससां राशिः सभामध्ये समाचितः ।
ततो दुःशासनः श्रान्तो व्रीडितः समुपाविशत् ॥५६॥

जब वस्त्रों की ढेरी सभा मे लग गई, तो दुःशासन थक गया और लज्जित होकर बैठ गया ॥ ५६ ॥

धिक्शब्दस्तु ततस्तत्र समभूल्लोमहर्षणः ।
सभ्यानां नरदेवानां दृष्ट्वा कुन्तीसुतांस्तथा ॥ ५७ ॥

इस दशा मे कुन्ती-पुत्र पाण्डवों को देख कर-सभासद् राजाओंका लोम खड़े कर देने वाला धिक्कार का शब्द इधर उधर होने लगा ॥ ५७ ॥

न विब्रुवन्ति कौरव्याः प्रश्नमेतमिति स्म ह ।
सुजनः क्रोशति स्माऽत्र धृतराष्ट्रं विगर्हयन् ॥ ५८ ॥

राजा लोग, कह रहे थे कि कौरव-द्रौपदी के इस प्रश्न का उत्तर नहीं देते हैं । सज्जन इससे दुर्योधन की बड़ी निन्दा कर रहे थे ॥ ५८ ॥

ततो बाहू समुत्क्षिप्य निवार्य च सभासदः ।
विदुरः सर्वधर्मज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥ ५९ ॥

इसके अनन्तर धर्मात्मा विदुर ने भुजा उठाकर और सभासदों को चुप करके यह वचन कहा ॥ ५९ ॥

विदुर उवाच—

द्रौपदी प्रश्नमुक्त्वैवं रोरवीति त्वनाथवत् ।
न च विब्रूत मे प्रश्नं सभ्या धर्मोऽत्र पीड्यते ॥ ६० ॥

द्रौपदी प्रश्न करके अनाथों की भांति रो रही है और कहती है, कि तुम मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं देते हो, इससे धर्म का नाश हो रहा है ॥ ६० ॥

सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्वलन्निव हव्यवाट् ।
तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत ॥ ६१ ॥

आर्तजन, सभा में जलती हुई आग की तरह प्रवेश करता है, उसको सत्य धर्म से सभासद् शान्त करते हैं ॥ ६१ ॥

धर्मप्रश्नमतो ब्रूयादार्यः सत्येन मानवः ।
विब्रूयुस्तत्र तं प्रश्नं कामक्रोधबलातिगाः ॥ ६२ ॥

इससे आर्यजन इस धर्म प्रश्न का सत्यता के साथ निपटारा करें। सभा में होने वाले प्रश्नों का तो काम और क्रोध से रहित पुरुष ही निपटारा कर सकता है ॥ ६२ ॥

विकर्णेन यथाप्रज्ञमुक्तः प्रश्नो नराधिपाः ।
भवन्तोऽपि हि तं प्रश्नं विब्रुवन्तु यथामति ॥ ६३ ॥

हे राजाओं ! विकर्ण ने अपनी बुद्धि के अनुसार इस प्रश्न को निपटा दिया है। अब तुम भी अपनी बुद्धि के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर दे दो ॥ ६३ ॥

यो हि प्रश्नं न विब्रूयाद्धर्मदर्शी सभां गतः ।
अनृते या फलावाप्तिस्तस्याः सोऽर्धं समश्नुते ॥ ६४ ॥

जो धर्मात्मा सभा में बैठकर भी प्रश्नों का उत्तर नहीं देता है, उसको झूठ बोलने वाले के पाप से आधा पाप लगता है ॥६४॥

यः पुनर्नितयं ब्रूयाद्धर्मदर्शी सभा गतः ।
अनृतस्य फलं कृत्स्नं संप्राप्नोतीति निश्चयः ॥ ६५ ॥

जो धर्मात्मा सभा में बैठकर भी झूठ बोलता है, वह झूठ बोलने वाले के सारे फल को पाता है, यह निश्चय है ॥ ६५ ॥

अत्राऽप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराङ्गिरसस्य च ॥६६॥

इस विषय में एक पुराना उपाख्यान आङ्गिरस मुनि और प्रह्लाद का कहा जाता है ॥ ६६ ॥

प्रह्लादो नाम दैत्येन्द्रस्तस्य पुत्रो विरोचनः ।
कन्याहेतोराङ्गिरसं सुधन्वानमुपाद्रवत् ॥ ६७ ॥

एक प्रह्लाद नामका दैत्य था, जिसका पुत्र विरोचन था। इसका एक कन्या पर आङ्गिरा के पुत्र सुधन्वा से झगड़ा खड़ा हो गया ॥ ६७ ॥

अहं ज्यायानहं ज्यायानिति कन्येप्सया तदा ।
तयोर्देवनमत्राऽऽसीत्प्राणयोरिति नः श्रुतम् ॥ ६८ ॥

विरोचन कहता था, मैं बड़ा हूँ और सुधन्वा कहता था, मैं बड़ा हूँ। इस प्रकार कन्या की चाह में इन दोनों ने अपने २ प्राणों की बाजी लगा दी ॥ ६८ ॥

तयोः प्रश्नविवादोऽभूत्प्रह्लादं तावपृच्छताम् ।
ज्यायान्क आवयोरेकः प्रश्नं प्रब्रूहि मा मृषा ॥६९॥

इन दोनों में इसी प्रश्न पर विवाद हो गया, तब इन दोनों ने प्रह्लाद से पूछा। हे प्रह्लाद! हम दोनों में कौन बड़ा है? तुम इस प्रश्न का सत्य २ निर्णय कर दो, झूठ न बोलना ॥ ६९ ॥

स वै विवदनाद्भीतः सुधन्वानं विलोकयन् ।
तं सुधन्वाऽब्रवीत्क्रुद्धो ब्रह्मदण्ड इव ज्वलन् ॥७०॥

प्रल्हाद् इस झगड़े से डरा और सुधन्वा की ओर देखने लगा। प्रल्हाद् से सुधन्वा क्रुद्ध होकर ब्रह्मदण्ड की भांति जलता हुआ बोला— ॥७०॥

यदि वै वक्ष्यसि मृषा प्रह्लादाऽथ न वक्ष्यसि ।
शतधा ते शिरो वज्री वज्रेण प्रहरिष्यति ॥७१॥

हे प्रल्हाद् ! यदि तुम इस प्रश्न का झूंठा उत्तर दोगे या उत्तर ही नहीं दोगे, तो तुम्हारे शिर को इन्द्र अपने वज्र से सौ टुकड़े कर डालेगा ॥ ७१ ॥

सुधन्वना तथोक्तः सन्व्यथितोऽश्वत्थपर्णवत् ।
जगाम कश्यपं दैत्यः परिप्रष्टुं महौजसम् ॥७२॥

सुधन्वा के ये वचन सुन कर प्रल्हाद् पीपल के वृक्ष की भांति कांपने लगा और इस प्रश्न को पूछने के लिए महाओजस्वी कश्यप मुनि के पास पहुंचा ॥ ७२ ॥

प्रह्लाद उवाच—

त्वं वै धर्मस्य विज्ञाता दैवस्येहाऽऽसुरस्य च ।
ब्राह्मणस्य महाभाग धर्मकृच्छ्रमिदं शृणु ॥७३॥

प्रल्हाद बोले—हे महाभाग ! तुम देव और असुरों के धर्मों के जानने वाले हो। इस समय तुम ब्राह्मण द्वारा खड़े किये हुए इस धर्म संकट को सुनो ॥ ७३ ॥

यो वै प्रश्नं न विब्रूयाद्वितथं चैव निर्दिशेत् ।
के वै तस्य परे लोकास्तन्ममाऽऽचक्ष्व पृच्छतः ॥७४॥

जो प्रश्न का उत्तर नहीं देता है या मिथ्या उत्तर देता है, उस के लिए परलोक मे कौन लोक प्राप्त होते है, मुझे यह सुनाओ ॥ ७४ ॥

कश्यप उवाच—

जानन्नविब्रुवन्प्रश्नं कामात्क्रोधाद्भयात्तथा ।
सहस्रं वारुणान्पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥७५॥

कश्यप कहने लगे—जो मनुष्य, प्रश्न को जानता हुआ भी उसका उत्तर काम, क्रोध या लोभ से नहीं देता है, वह हजारों वरुण की पाशों को अपने गले मे डालता है ॥ ७५ ॥

साक्षी वा विब्रुवन्साक्ष्यं गोकर्णशिथिलश्चरन् ।
सहस्रं वारुणान्पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥७६॥

जो साक्षी मिथ्या गवाही देता है और गाय के ढीले कानो की भाति दोनों ओर लटकता है, वह भी अपने को वरुण की फासी से बाधता है ॥ ७६ ॥

तस्य संवत्सरे पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते ।
तस्मात्सत्यं तु वक्तव्यं जानता सत्यमञ्जसा ॥७७॥

ऐसे मनुष्य की सहस्र फासियों मे से एक फासी एक वर्ष मे खुलती है, इस लिए ज्ञानी मनुष्य को सर्वदा सत्य ही कहना चाहिए ॥ ७७ ॥

विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते ।
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥७८॥

अधर्म से, बिंधा हुआ धर्म, जिस सभा मे होता है, उस के काटे को अधर्म से बिंधे हुए सभासद निकाल नहीं सकते हैं ॥ ७८ ॥

अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु ।
पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम् ॥७९॥

उस सभा मे जो श्रेष्ठ पुरुष होता है, पाप का आधा भाग उसको प्राप्त होता है। एक भाग उस पाप के करने वाले को अर्थात् मिथ्या भाषी को लगता है। एक भाग उन सभासदों को प्राप्त होता है, जो निन्दित पुरुष की निन्दा नहीं करते हैं ॥७९

अनेन भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥८०॥

जिस सभा मे निन्दा करने योग्य की निन्दा की जाती है, उस सभा मे श्रेष्ठ पुरुष (सभापति) और सभासद पाप से छूट जाते हैं, और वह पाप केवल कर्ता को ही रह जाता है ॥ ८० ॥

वितथं तु वदेयुर्ये धर्मं प्रह्लाद पृच्छते ।
इष्टापूर्तं च ते घ्नन्ति सप्त सप्त परावरान् ॥८१॥

हे प्रह्लाद ! धर्म पूछने वाले पुरुष को जो मिथ्यात्व का उपदेश करता है, वह सात पूर्व के और सात आगे के इष्टापूर्व यज्ञों का नाश करता है ॥ ८१ ॥

हृतस्वस्य हि यद् ःखं हृतपुत्रस्य चैव यत् ।
ऋणिनः प्रति यच्चैव स्वार्थाद् भ्रष्टस्य चैव यत् ॥८२॥
स्त्रियाः पत्या विहीनाया राज्ञा ग्रस्तस्य चैव यत् ।
अपुत्रायाश्च यद् ःखं व्याघ्राघ्रातस्य चैव यत् ॥८३॥
अध्यूढायाश्च यद् ःखं साक्षिभिर्विहितस्य च ।
एतानि वै समान्याहुर्दुःखानि त्रिदिवेश्वराः ॥८४॥
तानि सर्वाणि दुःखानि प्राप्नोति वितथं ब्रुवन् ।

जिसका धन छीन लिया गया है, जिस का पुत्र मर गया है, जो ऋणी है, जो स्वार्थ से भ्रष्ट हो गया है, जो पति से विहीन नारी है, जो राजा से पकड़ा हुआ है, जो स्त्री पुत्र रहित है, जिस को व्याघ्र ने दबा लिया है, जो प्रथम पत्नी है, जिसको साथियों ने छोड़ दिया है, इनको जो दु ख होता है, ये सब दु ख मिथ्या बोलने वालों को प्राप्त होता है। ये सब दु ख देवों ने बराबर कहे हैं॥ ८२-८४ ॥

समक्षदर्शनात्साक्षी श्रवणाच्चेति धारणात् ॥८५॥
तस्मात्सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ।

सुनने, जानने और देखने से साक्षी होता है। इस लिए सत्य कहने वाला साक्षी धर्म और अर्थ से रहित नहीं होता है॥ ८५ ॥

कश्यपस्य वचः श्रुत्वा प्रह्लादः पुत्रमब्रवीत् ॥८६॥
श्रेयान्सुधन्वा त्वत्तो वै मत्तः श्रेयांस्तथाऽङ्गिराः ।

कश्यप के वचन सुनकर प्रहलाद अपने पुत्र से बोला—कि तुम से तो अच्छा सुधन्वा और मुझ से अच्छा अङ्गिरा मुनि है ॥ ८६ ॥

माता सुधन्वनश्चापि मातृतः श्रेयसी तव।
विरोचन सुधन्वाऽयं प्राणानामीश्वरस्तव ॥८७॥

इस सुधन्वा की माता भी तेरी माता से श्रेष्ठ है। हे विरोचन! यह सुधन्वा तेरे प्राणों का स्वामी हो गया है ॥ ८७ ॥

सुधन्वोवाच—

पुत्रस्नेहं परित्यज्य यस्त्वं धर्मे व्यवस्थितः।
अनुजानामि ते पुत्रं जीवत्वेष शतं समाः ॥८८॥

सुधन्वा बोला—पुत्र के स्नेह को छोड़कर आप धर्म में स्थित रहे, अब मैं भी इसको आज्ञा देता हूँ, कि यह अपनी आयु के अनुसार सौ वर्ष तक जीवित रहे ॥ ८८ ॥

विदुर उवाच—

एवं वै परमं धर्मं श्रुत्वा सर्वे सभासदः।
यथाप्रश्नं तु कृष्णाया मन्यध्वं तत्र किं परम् ॥ ८६ ॥

विदुर बोला—इस तरह परम धर्म की व्याख्या सुनकर सारे सभासद, द्रौपदी के प्रश्नानुसार जो उनको ठीक २ प्रतीत हो कहो ॥ ८६ ॥



द्रौपदी केश हरण

महाभारत सभा पर्व अ० ६५-७९. पृ० सं० ६७९

वैशम्पायन उवाच—

विदुरस्य वचः श्रुत्वा नोचुः किंचन पार्थिवाः।
कर्णो दुःशासनं त्वाह कृष्णां दासीं गृहं नय ॥ ९० ॥

वैशम्पायन बोले—विदुर के वचन को भी सुन कर राजा कुछ नहीं बोले, तब कर्ण ने दुःशासन से कहा, कि तुम दासी द्रौपदी को महल मे ले जाओ ॥ ९० ॥

तां वेपमानां सव्रीडां प्रलपन्तीं स्म पाण्डवान्।
दुःशासनः सभामध्ये विचकर्ष तपस्विनीम् ॥ ९१ ॥ [२३८८

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपद्याकर्षणेऽष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार कांपती हुई, लज्जावती, पाण्डवों को पुकारती हुई दीन द्रौपदी को सभा मे दुःशासन, खैंचने लगा ॥ ९१ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व मे द्रौपदी आकर्षण का अडसठवां अध्याय पूरा हुआ।



उनहत्तरवां अध्याय

द्रौपद्युवाच—

तावत्प्रतीक्ष दुष्प्रज्ञ दुःशासन नराधम ।
पुरस्तात्करणीयं मे न कृतं कार्यमुत्तरम् ॥ १ ॥
विह्वलाऽस्मि कृताऽनेन कर्षता बलिना बलात् ॥ २ ॥

द्रौपदी बोली—हे मूर्ख, नराधम ! दुःशासन अभी तू ठहर जा। अभी तक किसी ने, सबसे प्रथम करने का कार्य जो उत्तर था, वह नहीं दिया है। इस बलवान् ने अपने बल से खैंचकर मुझे विह्वल करदी है ॥ १-२ ॥

अभिवादं करोम्यैषां कुरूणां कुरुसंसदि ।
न मे स्यादपराधोऽयं यदिदं न कृतं मया ॥ ३ ॥

मैं इस कुरुओं की सभा में सारे कौरवों का अभिवादन करती हूँ। इसमें मेरा अपराध नहीं था जो अभी तक मैंने अभिवादन नहीं किया ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

सा तेन च समाधूता दुःखेन च तपस्विनी ।
पतिता विललापेदं सभायामतथोचिता ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोला—दुशासन से खींची हुई दीन द्रौपदी दुःख के साथ सभा में गिर पड़ी, जो इस दशा के योग्य न थी। वह सभा में इस तरह विलाप करने लगी ॥ ४ ॥

द्रौपद्युवाच—

स्वयंवरे याऽस्मि नृपैर्दृष्टा रंगे समागतैः ।
न दृष्टपूर्वा चाऽन्यत्र साऽहमद्य सभां गता ॥ ५ ॥

स्वयम्वर में आये राजाओं ने केवल मुझे रङ्ग मञ्च पर देखा था, आज वही मैं द्रौपदी सभा मे लाई गई हूँ, जिसको कभी कोई नहीं देख सका था ॥ ५ ॥

यां न वायुर्न चाऽऽदित्यो दृष्टवन्तौ पुरा गृहे ।
साऽहमद्य सभामध्ये दृश्याऽस्मि जनसंसदि ॥ ६ ॥

जिस को वायु या सूर्य घर मे भी नहीं देख सके थे, वही मैं जनों के मध्य मे लाई गई हूँ ॥ ६ ॥

यां न मृष्यन्ति वातेन स्पृश्यमानां गृहे पुरा ।
स्पृश्यमानां सहन्तेऽद्य पाण्डवास्तां दुरात्मना ॥ ७ ॥

प्रथम घर मे जिसको वायु भी छू लेता था, तो उसको भी पाण्डव नहीं सहते थे, इस दुरात्मा दुःशासन से स्पर्श की हुई उसी द्रौपदी को आज ये पाण्डव भी सह रहे हैं ॥ ७ ॥

मृष्यन्ति कुरवश्चेमे मन्ये कालस्य पर्ययम् ।
स्नुषां दुहितरं चैव क्लिश्यमानामनर्हतीम् ॥ ८ ॥

ये कौरवों के बड़े २ और अपनी पुत्री के तुल्य क्लेश में पड़ी हुई क्लेश के अयोग्य पुत्र वधू को सह रहे हैं, मैं तो यह भी काल का उलटापन ही समझती हूं ॥ ८ ॥

किं न्वतः कृपणं भूयो यदहं स्त्री सती शुभा ।
सभामध्ये विगाहेऽद्य क्व नु धर्मो महीक्षिताम् ॥ ९ ॥

इससे अधिक नीचता क्या होगी, जो मैं सती-स्त्री भी, सभा के मध्य में लाई गई हूँ। अब राजाओं का धर्म चला कहां गया है ॥९॥

धर्म्यां स्त्रियं सभां पूर्वे न नयन्तीति नः श्रुतम् ।
स नष्टः कौरवेयेषु पूर्वो धर्मः सनातनः ॥ १० ॥

जो धर्म-शील स्त्री होती थी, उसको कोई भी सभा में नहीं लाता था, यह प्राचीन परिपाटी सुनी जाती है। आज वह सब सनातन धर्म कौरवों से नष्ट हो गया है ॥ १० ॥

कथं हि भार्या पाण्डूनां पार्षतस्य स्वसा सती ।
वासुदेवस्य च सखी पार्थिवानां सभामियाम् ॥ ११ ॥

पाण्डवों की सती-भार्या, धृष्टद्युम्न की बहिन और श्रीकृष्ण की श्रद्धा-पात्र सखी होकर भी मैं सभा में कैसे आ सकती हूँ ११

तामिमां धर्मराजस्य भार्यां सदृशवर्णजाम् ।
ब्रूत दासीमदासीं वा तत्करिष्यामि कौरवाः ॥ १२ ॥

हे कुरुवंश के वीरों! धर्मराज युधिष्ठिर की सदृश वर्ण में उत्पन्न हुई भार्या को तुम दासी या अदासी जो कुछ कहो, वह कह दो, जिससे मैं वही कार्य करूं ॥ १२ ॥

अयं मा सुदृढं क्षुद्रः कौरवाणां यशोहरः ।
क्लिश्नाति नाऽहं तत्सोढुं चिरं शक्ष्यामि कौरवाः १३

हे कौरवों ! यह क्षुद्र कौरवों की कीर्ति का नाशक, दुःशासन दृढ़ता से क्लेश दे रहा है, जिसको मैं बहुत देर सह नहीं सकती हूँ ॥ १३ ॥

जितां वाऽप्यजितां वापि मन्यध्वं मां यथा नृपाः ।
तथा प्रत्युक्तमिच्छामि तत्करिष्यामि कौरवाः ॥ १४ ॥

हे नृपों ! तुम मुझे जीती हुई या नहीं जीती हुई जैसी मानते हो, वैसा कहो, मैं सुनना चाहती हूँ , यह सुन कर मैं वैसा ही करूँगी ॥ १४ ॥

भीष्म उवाच—

उक्तवानस्मि कल्याणि धर्मस्य परमा गतिः ।
लोके न शक्यते ज्ञातुमपि विज्ञैर्महात्मभिः ॥१५॥

भीष्म बोले—हे कल्याणि ! मैं ने तो प्रथम ही कह दिया कि धर्म की बड़ी सूक्ष्मगति है । इसकी गति को लोक में विद्वान, महात्मा भी नहीं जान सकते हैं ॥ १५ ॥

बलवांश्च यथा धर्मं लोके पश्यति पूरुषः ।
स धर्मो धर्मवेलायां भवत्यभिहतः परः ॥१६

जो बलवान् पुरुष, जगत् में धर्म बताता है, वही धर्म के विवेचन के समय धर्म कहा जाता है, चाहे वह कितना ही दूषित क्यों न हो ॥ १६ ॥

न विवेक्तुं च ते प्रश्नमिमं शक्नोमि निश्चयात् ।
सूक्ष्मत्वाद्गहनत्वाच्च कार्यस्याऽस्य च गौरवात् ॥१७॥

मैं तो तेरे इस प्रश्न का निश्चय निर्णय कर ही नहीं सकता हूं, क्योंकि यह प्रश्न सूक्ष्म, गहन और गौरव-शाली है ॥ १७ ॥

नूनमन्तः कुलस्याऽस्य भविता न चिरादिव ।
तथा हि कुरवः सर्वे लोभमोहपरायणाः ॥१८

यह निश्चय है कि अब सारे कौरवों के विनाश का समय समीप ही आ गया है, क्यों कि सारे कौरव लोभ और मोह में परायण हो रहे हैं ॥ १८ ॥

कुलेषु जाताः कल्याणि व्यसनैराहता भृशम् ।
धर्म्यान्मार्गान्न च्यवन्ते येषां नस्त्वं वधूः स्थिता ॥१९॥

हे कल्याणि ! ये सारे पांडव उच्च कुल में उत्पन्न हुए हैं और अत्यन्त विपत्ति में फँस कर भी धर्म के मार्ग को नहीं छोड़ते हैं। उन पांडवों की तू पुत्र-वधू है ॥ १९ ॥

उपपन्नं च पाञ्चालि तवेदं वृत्तमीदृशम् ।
तत्कृच्छ्रमपि संप्राप्ता धर्ममेवाऽन्ववेक्षसे ॥२०॥

हे द्रौपदी ! आज तेरे धैर्य की परीक्षा हो गई, जो विपत्ति में पड़ कर भी धर्माचरण को ही चाहती है ॥ २० ॥

एते द्रोणादयश्चैव वृद्धा धर्मविदो जनाः ।
शून्यैः शरीरैस्तिष्ठन्ति गतासव इवाऽऽनताः ॥२१

ये द्रोण आदि वृद्ध, वीर, धर्म के जानने वाले सज्जन हैं। ये भी शून्य शरीरों से मृतकों की भांति नीचा मुख किये बैठे हैं ।२१

युधिष्ठिरस्तु प्रश्नेऽस्मिन्प्रमाणमिति मे मतिः ।
अजितां वा जितां वेति स्वयं व्याहर्तुमर्हति ॥२२॥ [२४१०-

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीष्मवाक्ये एकोनसप्ततितमोऽध्याय ॥६९॥

इस प्रश्न के विवेचन करने के लिए तो युधिष्ठिर ठीक हैं। वह स्वयं बतावे कि द्रौपदी जीती गई या नहीं जीती गई है ॥२२॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व में भीष्म वाक्य का उनहत्तरवां अध्याय पूरा हुआ।



सत्तरहवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

तथा च दृष्ट्वा बहु तत्र देवीं रोरूयमाणां कुररीमिवाऽऽर्ताम्।
नोचुर्वचः साध्वथ वाऽप्यसाधु महीक्षितो धार्तराष्ट्रस्य भीताः॥१

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! दुर्योधन से डरे हुए राजा लोग कुररी की भांति चिल्लाती हुई और रोती हुई दुःखी द्रौपदी को देखकर भी अच्छा या बुरा कुछ भी नहीं कह सके॥ १॥

दृष्ट्वा तथा पार्थिव पुत्रपौत्रांस्तूष्णींभूतान्धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
स्मयन्निदं वचनं बभाषे पाञ्चालराजस्य सुतां तदानीम्॥२॥

इस समय दुर्योधन, राज पुत्र या पौत्रों को चुपचाप देखकर हसता हुआ सा द्रौपदी से यह वचन बोला॥ २॥

दुर्योधन उवाच—

तिष्ठत्वयं प्रश्न उदारसत्त्वे भीमेऽर्जुने सहदेवे तथैव।
पत्यौ च ते नकुले याज्ञसेनि वदन्त्वेते वचनं त्वत्प्रसूतम्॥३॥

हे द्रौपदी ! यह तेरा प्रश्न, उदार विचार वाले भीम, अर्जुन, सहदेव और नकुल पर ही जाकर स्थिति प्राप्त करे । तेरे प्रश्न का उत्तर यही लोग ठीक देंगे ॥ ३ ॥

अनीश्वरं विब्रुवन्त्वार्यमध्ये युधिष्ठिरं तव पाञ्चालि हेतोः ।
कुर्वन्तु सर्वे चाऽनृतं धर्मराजं पाञ्चालि त्वं मोक्ष्यसे दासभावात् ४

हे द्रौपदी ! इस आर्यों की सभा में यही कह दे कि युधिष्ठिर मेरा स्वामी नहीं है । ये धर्मराज को झूंठा सिद्ध कर दें, तो हम अभी तुझे दासी भाव से छोड़ सकते हैं ॥ ४ ॥

धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा स्वयं चेदं कथयत्विन्द्रकल्पः ।
ईशो वा ते यद्यनीशोऽथवैष वाक्यादस्य क्षिप्रमेकं भजस्व ॥५॥

यह इन्द्र के तुल्य धर्म सुत धर्मात्मा और महात्मा युधिष्ठिर ही इस विषय को स्पष्ट कर दें, कि यह तेरे पर अधिकार रखता है या नहीं । इसके वाक्य के अनन्तर तू शीघ्र ही एक पक्ष का अवलम्बन कर लेना अर्थात् या तो मुक्त हो जाना या दासी रहना ॥ ५ ॥

सर्वे हीमे कौरवेयाः सभायां दुःखान्तरे वर्तमानास्तवैव ।
न विब्रुवन्त्यार्यसत्त्वा यथावत्पतींश्च ते समवेक्ष्याऽल्पभाग्यान् ॥६

ये सारे कौरव, दुःख में डूब रहे हैं । ये आर्य आचरण वाले कौरव, अल्प भाग्य वाले, तेरे पतियों को देखकर कुछ भी ठीक २ उत्तर नहीं दे रहे हैं ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततः सभ्याःकुरुराजस्य तस्य वाक्यं सर्वे प्रशशंसुस्तथोच्चैः ।
चेलावेधांश्चापि चक्रुर्नदन्तो हाहेत्यासीदपि चैवाऽऽर्तनादः ॥७

वैशम्पायन बोले—इसके बाद सारे सभासदों ने दुर्योधन के वाक्य की उच्च स्वर से प्रशंसा की और आनन्द की ध्वनि करके अपने २ नेत्र चलाने लगे और एक ओर हा हा कार का शोर मचा हुआ था ॥७॥

श्रुत्वा तु तद्वाक्यमनोहरं तद्धर्षश्चासीत्कौरवाणां सभायाम्
सर्वे चासन्पार्थिवाः प्रीतिमन्तः कुरुश्रेष्ठं धार्मिकं पूजयन्तः॥८

दुर्योधन के मनोहर वाक्य सुनकर सभा में कौरवों को बड़ा हर्ष हुआ। ये सारे राजा, बड़े प्रीति युक्त हो गए और दुर्योधन को धार्मिक कहकर उसका आदर प्रदर्शित करने लगे ॥ ८ ॥

युधिष्ठिरं च ते सर्वे समुदैक्षन्त पार्थिवाः ।
किं नु वक्ष्यति धर्मज्ञ इति साचीकृताननाः ॥९॥

अब सारे राजा युधिष्ठिर की ओर देख रहे थे, यह धर्मज्ञ राजा युधिष्ठिर क्या कहेगा। इसी से सारे राजाओं की इधर टकटकी लगी हुई थी ॥ ९ ॥

किं नु वक्ष्यति बीभत्सुरजितो युधि पाण्डवः ।
भीमसेनो यमौ चोभौ भृशं कौतूहलान्विताः ॥१०॥

इस के सिवा युद्ध में अजेय अर्जुन क्या कहेगा। इस को सुनने के लिए भीम, नकुल और सहदेव भी कुतूहल से व्याकुल हो उठे ॥ १० ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे भीमसेनोऽब्रवीदिदम् ।
प्रगृह्य रुचिरं दिव्यं भुजं चन्दनचर्चितम् ॥११॥

कोलाहल के शान्त होजाने पर भीमसेन, चन्दन से चर्चित दिव्य भुजा को छू कर बोला ॥ ११ ॥

भीमसेन उवाच—

यद्येष गुरुरस्माकं धर्मराजो महामनाः ।
न प्रभुः स्यात्कुलस्याऽस्य न वयं मर्षयेमहि ॥१२॥

भीमसेन ने कहा—यदि यह महामनस्वी धर्मराज हमारे गुरु (पूज्य) और कुल के स्वामी न होते तो हम इन को सह नहीं सकते थे ॥ १२ ॥

ईशो नः पुण्यतपसां प्राणानामपि चेश्वरः ।
मन्यते जितमात्मानं यद्येष विजिता वयम् ॥१३॥

यह हम पुण्यशीलों का स्वामी है और प्राणों का भी ईश्वर है। यदि यह अपने को ही हारा मानता है, तो हम तो इस के साथ २ हारे हुए ही हैं ॥ १३ ॥

न हि मुच्येत मे जीवन्पदा भूमिमुपस्पृशन् ।
मर्त्यधर्मा परामृश्य पाञ्चाल्या मूर्धजानिमान् ॥१४॥

जो मनुष्य द्रौपदी के बालों को खैंच कर पृथिवी पर पैरों से चलता फिरता या जीवित है, वह मुझ से अब कभी जीता नहीं बचेगा ॥ १४ ॥

पश्यध्वं ह्यायतौ वृत्तौ भुजौ मे परिघाविव ।
नैतयोरन्तरं प्राप्य मुच्येताऽपि शतक्रतुः ॥१५॥

देखो ? मेरी भुजाएं परिघ (आगल) के समान लम्बी और गोल हैं। इन के बीच में फंसा हुआ इन्द्र भी नहीं बच सकता है ॥ १५ ॥

धर्मपाशसितस्त्वेवं नाधिगच्छामि सङ्कटम् ।
गौरवेण निरुद्धश्च निग्रहादर्जुनस्य च ॥१६॥

मैं भी धर्म की फांसी से बंधा हुआ हूँ और इस संकट को कुछ नहीं मानता हूँ। मैं अपने कुल के गौरव और अर्जुन के दवाव से अभी तक रुका हुआ हूँ ॥ १६ ॥

धर्मराजनिसृष्टस्तु सिंहः क्षुद्रमृगानिव ।
धार्तराष्ट्रानिमान्पापान्निष्पिषेयं तलासिभिः ॥ १७॥

युधिष्ठिर की आज्ञा के अनन्तर क्षुद्र मृगों को सिंह की भांति धृतराष्ट्र के पुत्र इन पापी दुर्योधनादि को पैरों के तलवे से पीस डालूंगा ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तमुवाच तदा भीष्मो द्रोणो विदुर एव च ।
क्षम्यतामिदमित्येवं सर्वं संभाव्यते त्वयि।१८।[१४२८]।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीमवाक्ये सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

वैशम्पायन बोले—तब भीम से भीष्म, द्रोण और विदुर कहने लगे कि क्षमा करो, क्यों कि तुम सब कुछ कर सकते हो।

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व में भीम वाक्य का सत्तरहवां अध्याय समाप्त हुआ।

इकहत्तरवाँ अध्याय

कर्ण उवाच—

त्रयः किलेमे ह्यधना भवन्ति दासः पुत्रश्चाऽस्वतन्त्रा च नारी।
दासस्य पत्नी त्वधनस्य भद्रे हीनेश्वरा दासधनं च सर्वम् ॥१॥

कर्ण बोला—हे भद्रे! दास, पुत्र और पराधीन नारी ये तीनों निर्धन होते हैं। निर्धन दास, हीन स्वामी की स्त्री और दास का सारा धन स्वामी का ही होता है ॥ १ ॥

प्रविश्य राज्ञः परिवारं भजस्व तत्ते कार्यं शिष्टमादिश्यतेऽत्र।
ईशास्तु सर्वे तव राजपुत्रि भवन्ति वै धार्तराष्ट्रा न पार्थाः॥२॥

अब तू राजा दुर्योधन के राज-भवन मे जा और इनके परिवार की सेवा कर, यही तेरा कार्य शेष रहा है। अब तेरे स्वामी सारे धृतराष्ट्र के पुत्र हैं, कुन्ती पुत्र नहीं है ॥ २ ॥

अन्यं वृणीष्व पतिमाशु भाविनि
यस्माद्दास्यं न लभसि देवनेन।
अवाच्या वै पतिषु कामवृत्तिर्नित्यं
दास्ये विदितं तत्तवाऽस्तु ॥ ३ ॥

हे भाविनि! तू किसी अन्य पति को वर ले, जो दाव पर रख कर तुझे दासी न बनावे। दासी की पतियों मे काम वृत्ति कोई निन्दित नहीं मानी गई है, यह तुम्हें मालूम होना चाहिए ॥ ३ ॥

पराजितो नकुलो भीमसेनो
युधिष्ठिरः सहदेवार्जुनौ च ।
दासीभूतां त्वं हि वै याज्ञसेनि
पराजितास्ते पतयो नैव सन्ति ॥४॥

नकुल भीमसेन, युधिष्ठिर सहदेव और अर्जुन सब पराजित हो चुके हैं। हे द्रौपदी! अब तुम दासी हो गई हो, क्योंकि ये पराजित तुम्हारे पति नहीं रहे हैं ॥ ४ ॥

प्रयोजनं जन्मनि किं न मन्यते
पराक्रमं पौरुषं चैव पार्थः ।
पाञ्चालस्य द्रुपदस्याऽऽत्मजामिमां
सभामध्ये यो व्यदेवीद् ग्लहेन ॥५॥

क्या युधिष्ठिर-पराक्रम और पौरुष को जन्म का प्रयोजन ही नहीं मानते, जो पाञ्चालपति द्रुपद की पुत्री को दाव पर रख के सभा में जुआ खेला ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद्वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी भृशं निशश्वास तदार्तरूपः ।
राजानुगो धर्मपाशानुबद्धो दहन्निवैनं क्रोधसंरक्तदृष्टिः ॥६॥

वैशम्पायन बोले—यह सुन कर अत्यन्त क्रोधी और दुःखी भीमसेन ने श्वास ली। वह भीमसेन राजा की आज्ञा के अधीन है और धर्म की पाश से बंधा हुआ है। वह क्रोध से लाल दृष्टि करके कर्ण को दग्धसा करता हुआ देखने लगा ॥ ६ ॥

भीमसेन उवाच—

नाऽहं कुप्ये सुतपुत्रस्य राजन्नेष सत्यं दासधर्मः प्रदिष्टः ।
किं विद्विषो वै मामेवं व्याहरेयुर्नादेवीस्त्वं यद्यनया नरेन्द्र ॥७॥

भीमसेन बोला—हे नरेन्द्र ! मैं सूत पुत्र पर क्रोध नहीं करता हूँ, क्यों कि इसने तो दासों (गुलामों) के धर्म का ठीक २ कथन किया है। ये शत्रु हमसे ऐसा कैसे कह सकते थे, जो तुम द्रौपदी को दाव रख कर जुआ नहीं खेलते ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

भीमसेनवचः श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं तूष्णींभूतमचेतनम् ॥८॥

भीमसेन के वचन को सुन कर राजा दुर्योधन मूर्च्छित, से हुए और चुप-चाप बैठे हुए युधिष्ठिर से कहने लगा ॥ ८ ॥

भीमार्जुनौ यमौ चैव स्थितौ ते नृप शासने ।
प्रश्नं ब्रूहि च कृष्णां त्वमजितां यदि मन्यसे ॥९॥

हे नृप ! भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव आपकी आज्ञा में तत्पर हैं। यदि आप द्रौपदी को जीती हुई नहीं मानते हो वो इसके प्रश्न का उत्तर दो ॥ ९ ॥

एवमुक्त्वा तु कौन्तेयमपोह्य वसनं स्वकम् ।
स्मयन्निवैक्ष्य पाञ्चालीमैश्वर्यमदमोहितः ॥१०॥
कदलीदण्डसदृशं सर्वलक्षणसंयुतम् ।
राजहस्तप्रतीकाशं वज्रप्रतिमगौरवम् ॥११॥

अभ्युत्स्मयित्वा राधेयं भीममाधर्षयन्निव ।
द्रौपद्याः प्रेक्षमाणायः सव्यमूरुमदर्शयत् ॥१२॥

इतना युधिष्ठिर से कह कर और अपने वस्त्र उखाड़ कर ऐश्वर्य के मद से मोहित, हंसते हुए दुर्योधन ने द्रौपदी की ओर देख कर, कर्ण के हर्ष को बढ़ाने और भीम को दुःखी करने के लिए केले के दण्ड के सदृश, सब लक्षणों से युक्त, उत्तम हाथी की सूंड के समान, वज्र के तुल्य कठिन, बांई जङ्घा को इधर को ही देखती हुई द्रौपदी को दिखाई ॥ १०-१२ ॥

भीमसेनस्तमालोक्य नेत्रे उत्फाल्य लोहिते ।
प्रोवाच राजमध्ये तं सभां विश्रावयन्निव ॥१३॥

भीमसेन इसको देख कर और लाल आंखें फाड़ कर सारी सभा को सुनाता हुआ राज समूह में बोला ॥ १३ ॥

पितृभिः सह सालोक्यं मा स्म गच्छेद्वृकोदरः ।
यद्येतमूरुं गदया न भिन्द्यां ते महाहवे ॥१४॥

हे दुर्योधन ! जो मैं तेरी इसी जंघा को युद्ध में न तोड़ूं तो अपने पितरों के साथ मैं पितर लोक को प्राप्त न होऊं ॥१४॥

क्रुद्धस्य तस्य सर्वेभ्यः स्रोतोभ्यः पावकार्चिषः ।
वृक्षस्येव विनिश्चेरुः कोटरेभ्यः प्रदह्यतः ॥१५॥

क्रुद्ध हुए भीम के सारे स्रोतों से जलते हुए, वृक्ष के खोटरों से निकलती हुई आग के तुल्य आग की लपटें, निकलने लगी ।१५

विदुर उवाच—

परं भयं पश्यत भीमसेनात्तद्बुध्यध्वं पार्थिवाः प्रातिपेयाः ।
दैवेरितो नूनमयं पुरस्तात्परोऽनयो भरतेषूदपादि ॥१६

हे प्रतीपवंशोद्भव राजाओं ! भीमसेन से बड़ा भारी भय खड़ा हो गया, इसको देखो और समझो। दैव की प्रेरणा से यह महा अनीति भरत वंशी राजाओं में सब से प्रथम ही उत्पन्न होगई है।

अतिद्यूतं कृतमिदं धार्तराष्ट्रा यत्स्त्रियं विवदध्वं सभायाम् ।
योगक्षेमौ नश्यतो वः समग्रौ पापान्मन्त्रान्कुरवो मन्त्रयन्ति॥१७

हे धृतराष्ट्र के पुत्रों ! तुमने बड़ा ही अन्याय किया है, जो स्त्री से सभा में विवाद किया। तुम्हारा योग और क्षेम सब नष्ट हो गया। तुम कुरु लोग दुष्ट मन्त्रों को विचारते हो॥ १७॥

इमं धर्मं कुरवो जानताऽऽशु ध्वस्ते धर्मे परिषत्संप्रदुष्येत् ।
इमां चेत्पूर्वं कितवोऽग्लहीष्यदीशोऽभविष्यदपराजितात्मा॥१८॥

हे कौरवों ! तुम इस धर्म को शीघ्र जानो, जब धर्म नष्ट हो जावेगा, तो सारी सभा ही दूषित हो जावेगी। जो यह खिलारी (युधिष्ठिर) अपने हारने से प्रथम ही द्रौपदी को दाव पर लगा देता, तो यह इसका स्वामी हो सकता था॥ १८॥

स्वप्ने यथैतद्धि जितं धनं स्यादेवं मन्ये यस्य दीव्यत्यनीशः ।
गान्धारराजस्य वचो निशम्य धर्मादस्मात्कुरवो मापयात ॥१९॥

जिस धन पर जुआरी का अधिकार नहीं है, वह जीता हुआ धन भी स्वप्न के समान है। हे कौरवों ! तुम गान्धारराज शकुनि के वचन सुन कर धर्म के मार्ग से दूर न हटो॥ १९॥

दुर्योधन उवाच—

भीमस्य वाक्ये तद्वदेवार्ज्जुनस्य स्थितोऽहं वै यमयोश्चैवमेव
युधिष्ठिरं ते प्रवदन्त्वनीशमतो दास्यान्मोक्ष्यसे याज्ञसेनि २०

दुर्योधन बोला—हे द्रौपदी! मैं भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव के वचनों को भी प्रमाण मानता हूं। यदि ये भी कह दें कि युधिष्ठिर के लिए द्रौपदी को दाव पर लगाने का अधिकार नहीं था, तो तू अभी छोड़ दी जायेगी ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच—

ईशो राजा पूर्वमासीद् ग्लहे नः कुन्तीसुतो धर्मराजो महात्मा
ईशस्त्वयं कस्य पराजितात्मा तज्जानीध्वं कुरवः सर्व एव २१

अर्जुन बोले—कुन्ती-पुत्र, महात्मा धर्मराज युधिष्ठिर दाव लगाने के समय हमारा प्रभु था, परन्तु जब प्रथम अपने को ही हरा चुका, तो द्रौपदी को दाव पर रखने का क्या अधिकार है। यह बात सारे कौरव जान लो ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततो राज्ञो धृतराष्ट्रस्य गेहे गोमायुरुच्चैर्व्याहरदग्निहोत्रे ।
तं रासभाः प्रत्यभाषन्त राजन्समन्ततः पक्षिणश्चैव रौद्राः२२

वैशम्पायन कहने लगे—हे राजन्! इस समय राजा धृतराष्ट्र के भवन की यज्ञ-शाला में एक गीदड़ आकर जोर से चिल्लाने लगा। इसके साथ ही गधे और भयानक पक्षी चारों ओर अपना २ शब्द करने लगे ॥ २२ ॥

तं वै शब्दं विदुरस्तत्त्ववेदी शुश्राव घोरं सुबलात्मजा च ।
भीष्मो द्रोणो गौतमश्चापि विद्वान्स्वस्तिस्वस्तीत्यपि चैवाहुरुच्चैः ॥ २३ ॥

तत्व के जानने वाले विदुर और गान्धारी ने इस घोर शब्द को सुना। इस समय विद्वान् भीष्म, द्रोण और कृप "स्वस्ति, स्वस्ति" शब्द का उच्चारण करने लगे ॥ २३ ॥

ततो गान्धारी विदुरश्चापि विद्वांस्तमुत्पातं घोरमालक्ष्य राज्ञे
निवेदयामासतुरार्तवत्तदा ततो राजा वाक्यमिदं बभाषे ॥२४॥

गान्धारी और विद्वान् विदुर ने राजा दुर्योधन के लिए बड़ा उत्पात देखा। दुःखी होकर इन्होंने राजा धृतराष्ट्र से कहा—तब राजा यह वाक्य बोला ॥ २४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

हतोऽसि दुर्योधन मन्दबुद्धे यस्त्वं सभायां कुरुपुंगवानाम् ।
स्त्रियं समाभाषसि दुर्विनीत विशेषतो द्रौपदीं धर्मपत्नीम् ।२५।

हे दुर्योधन! मूर्ख, तू नष्ट हो गया, जो कौरवों की सभा में स्त्री से ऐसे कटु-वचन कहता है और विशेष कर यह धर्मराज की पत्नी द्रौपदी तो ऐसे कटु-वचनों के योग्य नहीं है ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी हितान्वेषी बान्धवानामपायात् ।
कृष्णां पाञ्चालीमब्रवीत्सान्त्वपूर्वं विमृश्यैतत्प्रज्ञया तत्त्वबुद्धिः

बुद्धिमान्, तत्वदर्शी तथा अपने परिवार को विपत्ति से बचा कर हित चाहने वाला, धृतराष्ट्र यह कह कर और अपनी बुद्धि से विचार कर शांति के साथ द्रौपदी से बोला ॥ २६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

वरं वृणीष्व पाञ्चालि मत्तो यदभिवाञ्छसि ।
वधूनां हि विशिष्टा मे त्वं धर्मपरमा सती ॥२७॥

हे द्रौपदी ! जो तू चाहती है, वह मुझसे वर मांग । तू धर्म में तत्पर और मेरी वधुओं में श्रेष्ठ है ॥ २७ ॥

द्रौपद्युवाच—

ददासि चेद्वरं मह्यं वृणोमि भरतर्षभ ।
सर्वधर्मानुगः श्रीमानदासोऽस्तु युधिष्ठिरः ॥२८॥

द्रौपदी बोली—हे भरतर्षभ ! यदि तुम मुझे वरदान देना चाहते हो, तो सब धर्मों के आचरण करने वाले, श्रीमान् युधिष्ठिर को दासता से मुक्त करें ॥ २८ ॥

मनस्विनमजानन्तो मैवं ब्रूयुः कुमारकाः ।
एष वै दासपुत्रो हि प्रतिविन्ध्यं ममाऽऽत्मजम् ॥२९॥
राजपुत्र पुरा भूत्वा यथा नाऽन्यः पुमान्कचित् ।
राजभिर्लालितस्याऽस्य न युक्ता दासपुत्रता ॥३०॥

ये अज्ञानी कुमार, मेरे पुत्र, मनस्वी प्रतिविन्ध्य को कोई दासपुत्र न कहे । यह राजपुत्र है, जो अन्य प्रत्येक पुरुष को सुलभ नहीं है । राजाओं ने इसको लडाया है, फिर इसको दास पुत्र कहना बड़ा ही अनुचित होगा ॥ ३० ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

एवं भवतु कल्याणि यथा त्वमभिभाषसे ।
द्वितीयं ते वरं भद्रे ददानि वरयस्व ह ॥३१॥
मनो हि मे वितरति नैकं त्वं वरमर्हसि ।

धृतराष्ट्र बोला—हे कल्याणि ! जो तू कहती है, वह स्वीकार है । अब मैं तुम को दूसरा वर देता हूँ, तुम उसको भी मांग लो । मेरा मन कहता है, कि तू एक ही वर के योग्य नहीं है ॥३१॥

द्रौपद्युवाच—

सरथौ सधनुष्कौ च भीमसेनधनञ्जयौ ॥३२॥
यमौ च वरये राजन्नदासान्स्ववशानहम् ।

द्रौपदी बोली—हे राजन् ! रथ और धनुष के साथ २ भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव को भी दास न रखा जावे, ये हमको सौंप दिये जावें ॥ ३२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

तथाऽस्तु ते महाभागे यथा त्वं नन्दिनीच्छसि ॥३३॥
तृतीयं वरयाऽस्मत्तो नासि द्वाभ्यां सुसत्कृता ।
त्वं हि सर्वस्नुषाणां मे श्रेयसी धर्मचारिणी ॥३४॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे महाभागे ! जैसा तू चाहती है, वही स्वीकार है । अब तू तीसरा वरदान मांग । क्योंकि दो से तेरा पूर्ण सत्कार नहीं हुआ है तू मेरी सारी वधुओं में उत्तम धर्मचारिणी है ॥ ३३-३४ ॥

द्रौपद्युवाच—

लोभो धर्मस्य नाशाय भगवन्नाऽहमुत्सहे ।
अनर्हा वरमादातुं तृतीयं राजसत्तम ॥३५॥

द्रौपदी बोली—हे राजसत्तम ! लोभ धर्म का नाश कर देता है, इससे मैं तीसरा वर लेने की इच्छा नहीं करती हूँ ॥ ३५ ॥

एकमाहुर्वैश्यवरं द्वौ तु क्षत्रस्त्रियो वरौ ।
त्रयस्तु राज्ञो राजेन्द्र ब्राह्मणस्य शतं वराः ॥३६॥

हे राजेन्द्र ! वैश्य एक वर, क्षत्रिय और स्त्री दो वर और ब्राह्मण तो सैकड़ों वर मांग सकता है ॥ ३६ ॥

पापीयांस इमे भूत्वा संतीर्णाः पतयो मम ।
वेत्स्यन्ति चैव भद्राणि राजन्पुण्येन कर्मणा ॥३७ [२४६५]

इति श्री० म० संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीवरलाभे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥७१॥

हे राजन् ! ये मेरे पति (रक्षक) दास-रूप पाप में फंसकर भी निकल आये हैं। अब ये अपने पुण्यकर्म से अपना कल्याण आप प्राप्त कर लेंगे ॥ ३७ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व में द्रौपदी के वर लाभ का इकहत्तरवां अध्याय पूरा हुआ ।



बहत्तरवाँ अध्याय

कर्ण उवाच—

या नः श्रुता मनुष्येषु स्त्रियो रूपेण संमताः ।
तासामेतादृशं कर्म न कस्याश्चन शुश्रुम ॥१॥

कर्ण बोला—हमने जितनी स्त्रियां रूपवती सुनी हैं, उनमें ऐसा कार्य किसी का भी नहीं सुना ॥ १ ॥

क्रोधाविष्टेषु पार्थेषु धार्तराष्ट्रेषु चाप्यति ।
द्रौपदी पाण्डुपुत्राणां कृष्णा शान्तिरिहाऽभवत् ॥२॥

जब पाण्डव और कौरवों में पूर्ण रूप से क्रोध भर गया था, उस समय यही द्रौपदी इन पाण्डवों के शान्ति का कारण बनी ॥ २ ॥

अप्लवेम्भसि मग्नानामप्रतिष्ठे निमज्जताम् ।
पाञ्चाली पाण्डुपुत्राणां नौरेषा पारगाऽभवत् ॥३॥

बिना नाव के बहते हुए जल में डूबते हुए पाण्डवों को यह द्रौपदी पार ले जाने वाली नौका बन गई है ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तद्वै श्रुत्वा भीमसेनः कुरुमध्येत्यमर्षणः ।
स्त्री गतिः पाण्डुपुत्राणामित्युवाच सुदुर्मनाः ॥४॥

वैशम्पायन कहने लगे—"पाण्डवों की रक्षक आज एक स्त्री हुई," यह सुनकर कौरवों की सभा में क्रोधी, भीम, क्लेश से बोला ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच—

त्रीणि ज्योतींपि पुरुष इति वै देवलोऽब्रवीत् ।
अपत्यं कर्म विद्या च यतः सृष्टाः प्रजास्ततः ॥५॥

भीष्म ने कहा—देवल ऋषि ने पुरुषों में तीन ज्योति मानी हैं। इन तीन पुत्र, कर्म और विद्या से ही यह सारी प्रजा उत्पन्न होती है॥५॥

अमेध्ये वै गतप्राणे शून्ये ज्ञातिभिरुज्झिते ।
देहे त्रयमेवैतत्पुरुषस्योपयुज्यते ॥६॥

जब यह शरीर प्राण रहित होकर अपवित्र हो जाता है और सारे बन्धु बान्धव छोड़ देते हैं; तब ये तीनों ही (पुत्र, कर्म, विद्या) पुरुष के उपयोग में आते हैं ॥ ६ ॥

तन्नो ज्योतिरभिहतं दाराणमभिमर्शनात् ।
धनञ्जय कथं स्वित्स्यादपत्यमभिमृष्टजम् ॥७॥

स्त्रियों के अपमान करने से हमारी ये ज्योतियां नष्ट हुई हैं। हे अर्जुन! अपमानित स्त्री से उत्पन्न सन्तान क्या सन्तान होगी? ॥ ७ ॥

अर्जुन उवाच—

न चैवोक्ता न चाऽनुक्ता हीनतः परुषा गिरः ।
भारत प्रतिजल्पन्ति सदातूत्तमपूरुषाः ॥८॥

अर्जुन ने कहा—हे भारत! नीच पुरुष द्वारा कही गई या नहीं कही गई, कठोर वातों का उत्तम पुरुष उत्तर नहीं देते हैं ॥ ८ ॥

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि ।
सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्धसंभावनाः स्वयम् ॥९॥

ज्ञानी विद्वान्, उपकार को ही याद रखते हैं, वैर को नहीं। वे अपना कर्त्तव्य आप निश्चित करते हैं ॥ ९ ॥

भीम उवाच—

इहैवैतानहं सर्वान्हन्मि शत्रून्समागतान् ।
अथ निष्क्रम्य राजेन्द्र समूलान्हन्मि भारत ॥१०॥

भीम ने कहा हे—राजेन्द्र, भारत ! मैं यहां पर आये हुए इन सब शत्रुओं को मार देता हूँ और बाहर निकल कर तो इनके मूल का भी उच्छेद कर दूंगा ॥ १० ॥

किं नो विवदितेनेह किमुक्तेन च भारत ।
अद्यैवैतान्निहन्मीह प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ॥११॥

हे भारत ! इस में विवाद करने या निषेध करने की क्या आवश्यकता है । मैं आज ही इनको मार लेता हूँ, फिर तुम इस पृथिवी का शासन करना ॥ ११ ॥

इत्युक्त्वा भीमसेनस्तु कनिष्ठैर्भ्रातृभिः सह ।
मृगमध्ये यथा सिंहो मुहुर्मुहुरुदैक्षत ॥१२॥

भीमसेन अपने छोटे भाइयों के साथ यह कहकर मृगों में सिंह की भांति राजाओं को देखने लगा ॥ १२ ॥

सान्त्व्यमानो वीक्षमाणः पार्थेनाऽक्लिष्टकर्मणा ।
खिद्यत्येव महाबाहुरन्तर्दाहेन वीर्यवान् ॥१३॥

उत्तम कर्म करने वाले युधिष्ठिर ने देखा और उसको शान्त किया। यह महाबाहु, शक्तिशाली, भीमसेन भीतरी जलन से जलने लगा ॥ १३ ॥

क्रुद्धस्य तस्य स्रोतोभ्यः कर्णादिभ्यो नराधिप ।
सधूमः सस्फुलिङ्गार्चिः पावकः समजायत ॥१४॥

हे नराधिप ! क्रुद्ध हुए भीमसेन के स्रोतों और कान आदि रन्ध्रों से धूम चिनगारी और लपटों के साथ अग्नि निकलने लगी ॥ १४ ॥

भ्रुकुटीकृतदुष्प्रेक्ष्यमभवत्तस्य तन्मुखम् ।
युगान्तकाले संप्राप्ते कृतान्तस्येव रूपिणः ॥१५॥

भौंह चढ़ाने से भीम का मुख प्रलयकाल में यम के तुल्य, भयावना हो गया ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरस्तमावार्य बाहुना बाहुशालिनम् ।
मैवमित्यब्रवीच्चैनं जोषमास्स्वेति भारत ॥१६॥

इस महाभुज धारी, भीम को अपनी भुजाओं से युधिष्ठिर ने रोका। तुम यह न बोलो—जरा चुप रहो ॥ १६ ॥

निवार्य च महाबाहुं कोपसंरक्तलोचनम् ।
पितरं समुपातिष्ठद्धृतराष्ट्रं कृताञ्जलिः ॥१७॥ [२४८२॥]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीमक्रोधे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२॥

कोप से लाल नेत्रों वाले भीम को रोक कर हाथ जोड़े हुए युधिष्ठिर अपने पिता तुल्य धृतराष्ट्र के पास पहुंचा ॥ १७ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व में भीमक्रोध का बहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ।

तिहत्तरवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

राजन्किं करवामस्ते प्रशाध्यस्मांस्त्वमीश्वरः।
नित्यं हि स्थातुमिच्छामस्तव भारत शासने ॥ १ ॥

युधिष्ठिर कहने लगे—हे राजन्, अब आप आज्ञा करें, कि हम क्या करें। आप हमारे स्वामी हैं, आपकी आज्ञा के अनुसार ही चलना चाहते हैं ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

अजातशत्रो भद्रं ते अरिष्टं स्वस्ति गच्छत।
अनुज्ञाताः सहधनाः स्वराज्यमनुशासत ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे अजात शत्रो! युधिष्ठिर! तुझे कल्याण, सुख और शान्ति प्राप्त हो। हमने आज्ञा दी, कि तुम धन के साथ अपने राज्य का शासन करो ॥ २ ॥

इदं चैवाऽवबोद्धव्यं वृद्धस्य मम शासनात्।
मया निगदितं सर्वं पथ्यं निःश्रेयसं परम् ॥ ३ ॥

मुझ वृद्ध की आज्ञा से यही करो। मेरा कहा हुआ, वचन सब हितकारी और कल्याणकारी है ॥ ३ ॥

वेत्थ त्वं तात धर्माणां गतिं सूक्ष्मां युधिष्ठिर।
विनीतोऽसि महाप्राज्ञ वृद्धानां पर्युपासिता ॥ ४ ॥

हे तात युधिष्ठिर ! तू धर्म की सूक्ष्म गतियों को भी जानता है। हे महाप्राज्ञ, तू विनयशील और वृद्धों का सेवक है ॥ ४॥

यतो बुद्धिस्ततः शान्तिः प्रशमं गच्छ भारत ।
नाऽदारुणि पतेच्छस्त्रं दारुण्येतन्निपात्यते ॥ ५ ॥

हे भारत ! जहां बुद्धि होती है, वहीं कल्याण है, तू शान्ति को प्राप्त कर। शस्त्र, काष्ठ जैसी कठिन वस्तुओं पर ही पड़ता है, मृदुओं में नहीं पड़ता है ॥ ५ ॥

न वैराण्यभिजानन्ति गुणान्पश्यन्ति नाऽगुणान् ।
विरोधं नाऽधिगच्छन्ति येच तू त्तमपूरुषाः ॥ ६ ॥

जो उत्तम पुरुष हैं, वे वैर का स्मरण नहीं रखते हैं और गुणों पर दृष्टि डालते हैं, अवगुणों पर नहीं, और वे विरोध को जानते ही नहीं हैं ॥ ६ ॥

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि ।
सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ते प्रतिक्रियाम् ॥ ७ ॥

वे अन्य के उपकारों को ही याद रखते हैं, वैर को याद नहीं रखते। महात्मा जन परोपकार करते हैं, बदला नहीं लिया करते

संवादे परुषाण्याहुर्युधिष्ठिर नराधमाः ।
प्रत्याहुर्मध्यमास्त्वेतेऽनुक्ताः परुषमुत्तरम् ॥ ८ ॥
न चोक्ता नैव चाऽनुक्तास्त्वहिताः परुषा गिरः ।
प्रतिजल्पन्ति वै धीराः सदा तूत्तमपूरुषाः ॥ ९ ॥

हे युधिष्ठिर! अधम मनुष्य, विवाद में कटु वचन बोला करते हैं, स्वयं प्रथम कटु वचन न कह कर प्रत्युत्तर में जो कटु बोलते हैं, वे मध्यम पुरुष हैं। जिनसे कठोर बोला गया या न बोला गया, परन्तु जो कटु भाषण को सदा अहित ही मान कर भी नहीं बोलते हैं, वे धीर और उत्तम पुरुष हैं ॥८-९॥

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि ।
सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्ध्वा प्रत्ययमात्मनः ॥ १० ॥

ज्ञानी महात्मा, आत्मा के विश्वास का आश्रय लेकर अन्य के उपकारों को जानते हैं और वैरों को भूल जाते हैं ॥१०॥

असंभिन्नार्यमर्यादाः साधवः प्रियदर्शनाः ।
तथाऽऽचरितमार्येण त्वयाऽस्मिन्सत्समागमे ॥
दुर्योधनस्य पारुष्यं तन्तात हृदि मा कृथाः ॥११॥

उत्तम पुरुष, आर्य मर्यादा को नहीं तोड़ते हैं और सदा प्रसन्न चित्त, दर्शन के योग्य होते हैं। इस सज्जनों के समागम में तूने भी आर्य आचरण कर दिखाया है। हे तात! तू दुर्योधन के कटु वचनों का हृदय में ध्यान न कर ॥ ११ ॥

मातरं चैव गान्धारीं मां च त्वं गुणकांक्षया ।
उपस्थितं वृद्धमन्धं पितरं पश्य भारत ॥ १२ ॥

हे भारत! तू गुण ग्रहण की इच्छा वाला है, इससे माता गान्धारी और मुझ अन्धे वृद्ध, खड़े हुए पितृव्य की ओर देख ॥१२

न चापूर्वं मया द्यूतमिदमासीदुपेक्षितम् ।
मित्राणि द्रष्टुकामेन पुत्राणां च बलाबलम् ॥१३॥

मैं ने इस जुआ की उपेक्षा इसी लिए की थी कि इससे मित्रो के दर्शन हो गये और पुत्रों के बलाबल का ज्ञान हो गया ॥१३॥

अशोच्याः कुरवो राजन्येषां त्वमनुशासिता ।
मन्त्री च विदुरो धीमान्सर्वशास्त्रविशारदः १४॥

हे राजन् ! कुरवशी तो सदा अशोच्य (शोच के अयोग्य) हैं, क्योंकि जिनके तुम शासक और बुद्धिमान् तथा सब शास्त्रों के ज्ञाता विदुर मन्त्री हैं ॥ १४ ॥

त्वयि धर्मोऽर्जुने धैर्यं भीमसेने पराक्रमः ।
श्रद्धा च गुरुशुश्रुषा यमयोः पुरुषाग्रयोः ॥१५॥

हे युधिष्ठिर ! तुम मे धर्म, अर्जुन मे धैर्य, भीम मे पराक्रम इन पुरुषाग्रणी नकुल और सहदेव मे शुद्ध गुरु सेवा वर्त्तमान है

अजातशत्रो भद्रं ते खाण्डवप्रस्थमाविश ।
भ्रातृभिस्तेऽस्तु सौभ्रात्रं धर्मे ते धीयतां मनः ॥१६॥

हे युधिष्ठिर ! तेरा कल्याण हो, अब तुम खाण्डवप्रस्थ को जावो। अपने भाइयों से प्रेम हो और धर्म मे मन सदा तत्पर रहे ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्तो भरतश्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
कृत्वार्यसमयं सर्वं प्रतस्थे भ्रातृभिः सह ॥१७॥

ते रथान्मेघसङ्काशानास्थाय सह कृष्णया ।
प्रययुर्हृष्टमनस इन्द्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ॥१८॥ [२५००]

:इति श्री महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि धृतराष्ट्रवरप्रदानपूर्वकमिन्द्रप्रस्थं प्रति युधिष्ठिरगमने ,त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥७३॥ समाप्तं च द्यूतपर्व ॥

वैशम्पायन बोले—इस प्रकार धृतराष्ट्र के कहने पर भरतवंश में श्रेष्ठ, धर्मराज युधिष्ठिर आर्यों के तुल्य प्रतिज्ञा करके अपने भाइयों के साथ चल दिया। वह युधिष्ठिर, द्रौपदी के साथ मेघ के तुल्य गर्जना करने वाले रथ में बैठ कर प्रसन्नता के साथ इन्द्रप्रस्थ नगर में पहुंचा॥ १८॥

इति श्रीमहाभारत सभापर्वान्तर्गत द्यूतपर्व में धृतराष्ट्र के वर प्रदान तथा युधिष्ठिर के इन्द्रप्रस्थ गमन का तिहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ और यहीं पर द्यूतपर्व भी पूरा हो गया।



अथ अनुद्यूतपर्व

चौहत्तरवां अध्याय

जनमेजय उवाच—

अनुज्ञातांस्तान्विदित्वा सरत्नधनसंचयान् ।
पाण्डवान्धार्तराष्ट्राणां कथमासीन्मनस्तदा ॥१॥

जनमेजय बोले—हे ब्रह्मन् ! धन, रत्नों के समूहों के साथ पाण्डवों को अपने पुर में जाने की आज्ञा को सुनकर धृतराष्ट्र के पुत्रों के मन की क्या दशा हुई, यह हम को बताओ ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—

अनुज्ञातांस्तान्विदित्वा धृतराष्ट्रेण धीमता ।
राजन्दुःशासनः क्षिप्रं जगाम भ्रातरं प्रति ॥२॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! बुद्धिमान् धृतराष्ट्र के द्वारा दी हुई आज्ञा को जान कर दुःशासन, शीघ्र अपने भाई दुर्योधन के पास पहुंचा ॥ २ ॥

दुर्योधनं समासाद्य सामात्यं भरतर्षभ ।
दुःखार्तो भरतश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ॥३॥

हे भरतर्षभ ! मन्त्री के साथ बैठे हुए राजा दुर्योधन के पास पहुंच कर भरतवंशोत्पन्न दुःशासन दुःख के साथ यह वचन बोला— ॥ ३ ॥

दुःशासन उवाच—

दुःखेनैतत्समानीतं स्थविरो नाशयत्यसौ ।
शत्रुसाद्गमयद् द्रव्यं तद् बुध्यध्वं महारथाः ॥४॥

हे महारथी भ्राताओं! जो द्रव्य दुःख से प्राप्त किया था, उस को इस बुड्ढे ने नष्ट कर दिया। तुम देखो कि इसने सारा धन शत्रुओं के अधीन कर दिया है ॥ ४ ॥

अथ दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चाऽपि सौबलः ।
मिथः संगम्य सहिताः पाण्डवान्प्रतिमानिनः ॥५॥
वैचित्रवीर्यं राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।
अभिगम्य त्वरायुक्ताः श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन् ॥६॥

अब दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि, सब मिलकर पाण्डवों पर नाराज हुए, विचित्रवीर्य के पुत्र मनीषी, राजा धृतराष्ट्र के पास पहुँच कर साफ २ यह वचन बोले—॥ ५-६ ॥

दुर्योधन उवाच—

न त्वयेदं श्रुतं राजन्यज्जगाद बृहस्पतिः ।
शक्रस्य नीतिं प्रवदन्विद्वान्देवपुरोहितः ॥७॥

हे राजन्! क्या आपने यह नहीं सुना, जो बृहस्पति ने कहा है। उन विद्वान, देव पुरोहित बृहस्पति ने इन्द्र की नीति का इस प्रकार वर्णन किया है ॥ ७ ॥

'सर्वोपायैर्निहन्तव्याः शत्रवः शत्रुसूदन ।
पुरा युद्धाद्बलाद्वापि प्रकुर्वन्ति तवाऽहितम् ॥८॥

हे शत्रुसूदन ! सारे उपायों से प्रथम ही शत्रु को मार देना चाहिये। क्यों कि यह तेरा अहित युद्ध और बल से अवश्य करेंगे ॥ ८॥

ते वयं पाण्डवधनैः सर्वान्संपूज्य पार्थिवान् ।
यदि तान्योधयिष्यामः किं वै नः परिहास्यति ॥९॥

हम पाण्डवों के ही धन से सारे राजाओं को सन्तुष्ट करके यदि उनसे युद्ध करें, तो हमारा क्या नष्ट हो जावेगा ॥ ९ ॥

अहीनाशीविषान्क्रुद्धान्नाशाय समुपस्थितान् ।
कृत्वा कण्ठे च पृष्ठे च कः समुत्स्रष्टुमर्हति ॥१०॥

विषैले कुपित नाश के लिए खड़े हुए सर्पों को कण्ठ और पीठ पर कौन छोड़ सकता है ॥ १० ॥

आत्तशस्त्रा रथगताः कुपितास्तात पाण्डवाः ।
निःशेषं वः करिष्यन्ति क्रुद्धा ह्याशीविषा इव ॥११॥

हे तात ! शस्त्रधारी रथ में बैठे हुए कुपित पाण्डव, क्रुद्ध सांपों की भांति तुमको निःशेष करके छोड़ेंगे ॥ ११ ॥

संनद्धो ह्यर्जुनो याति विवृत्य परमेषुधी ।
गाण्डीवं मुहुरादत्ते निश्वसंश्च निरीक्षते ॥१२ ॥

अर्जुन बड़े २ तूणीरों को धारण करके, बड़ी तय्यारी से गया है। वह बार २ गाण्डीव को उठाता था और क्रोध के श्वास मार रहा था ॥ १२ ॥

दृढमूला वयं राज्ये मित्राणि परिगृह्य च ।
सारवद्विपुलं सैन्यं सत्कृत्य च दुरासदम् ॥२२॥
ते च त्रयोदशं वर्षं पारयिष्यन्ति चेद्व्रतम् ।
जेष्यामस्तान्वयं राजन्रोचतां ते परन्तप ॥२३॥

हे परन्तप ! हम मित्रों को साथ लेकर इतने दिन अपने मूल को दृढ़ कर लेंगे । विजय के अयोग्य, शक्ति-शाली, विशाल सेना इस समय में हम इकट्ठी कर लेंगे । यदि तेरह वर्ष का अपना व्रत पूरा कर लेंगे, तो हम उनको फिर युद्ध मे जीत लेंगे । तुमको हमारी यह सम्मति उचित प्रतीत होनी चाहिए ॥ २२-२३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

तूर्णं प्रत्यानयस्वैतान्कामं व्यध्वगतानपि ।
आगच्छन्तु पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥२४॥

अच्छा शीघ्र जाओ ? और यदि वे पाण्डव आधे मार्ग मे भी पहुंच गये हैं, तो भी उनको ले आओ । वे अब फिर एक बार जुआ खेल सकते हैं ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततो द्रोणः सोमदत्तो बाह्लीकश्चैव गौतमः ।
विदुरो द्रोणपुत्रश्च वैश्यापुत्रश्च वीर्यवान् ॥२५॥
भूरिश्रवाः शान्तनवो विकर्णश्च महारथः ।
माद्यूतमित्यभाषन्त शमोऽस्त्विति च सर्वशः ॥२६॥

वैशम्पायन बोले—इस समय द्रोण, सोमदत्त, वाह्लीक, कृप, विदुर, अश्वत्थामा, वीर्यवान् युयुत्सु भूरिश्रवा, भीष्म, महारथी विकर्ण इन सबने कहा—अब जुआ नहीं होना चाहिए। अब तो इस झगड़े को शान्त करो ॥ २५-२६ ॥

अकामानां च सर्वेषां सुहृदामर्थदर्शिनाम्।
अकरोत्पाण्डवाह्वानं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ॥२७॥[२५२७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वण्यनुद्यूतपर्वणि पुनर्युधिष्ठिरप्रत्यानयने चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥७४॥

परिणाम के देखने वाले, सारे मित्रों के रोकने पर भी पुत्र के प्रेम से धृतराष्ट्र ने फिर पाण्डवों को बुला भेजा ॥ २७ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत अनुद्यूतपर्व में फिर युधिष्ठिर के लौटा लाने का चौहत्तरवां अध्याय पूरा हुआ।



पिछत्तरवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

अथाऽब्रवीन्महाराज धृतराष्ट्रं जनेश्वरम्।
पुत्रहार्दाद्धर्मयुक्ता गान्धारी शोककर्शिता ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे महाराज! अब धर्मचारिणी गान्धारी शोक से व्याकुल होकर पुत्र के प्रेम से राजा धृतराष्ट्र से कहने लगी—॥ १ ॥

जाते दुर्योधने चत्ता महामतिरभाषत ।
नीयतां परलोकाय साध्वयं कुलपांसनः ॥२॥

जब दुर्योधन उत्पन्न हुआ था, तभी महामति विदुर ने कहा था, कि इस कुल कलङ्क को मार डालो ॥ २ ॥

व्यनदज्जातमात्रो हि गोमायुरिव भारत ।
अन्तो नूनं कुलस्यास्य कुरवस्तन्निबोधत ॥३॥

हे भारत ! यह उत्पन्न होते ही गीदड़ की भांति चिल्लाया था, यह दुर्योधन इस कुल का अन्त करके छोड़ेगा। हे कुरुवंशोत्पन्न, वीरो ! तुम यह जान लो ॥ ३ ॥

मा निमज्जीः स्वदोषेण महाप्सु त्वं हि भारत ।
मा बालानामशिष्टानामभिमंस्था मतिं प्रभो ! ॥४॥

हे भारत ! तू स्वयं ही अपने दोष से इस कुल को गहरे जल मे न डाल। तू उद्दण्ड बालकों की बुद्धि का आदर न कर ॥ ४ ॥

मा कुलस्य क्षये घोरे कारणं त्वं भविष्यसि ।
बद्धं सेतुं को नु भिन्द्याद्धमेच्छान्तं च पावकम् ॥५॥

इस कुल के घोर विनाश का तू कारण न बन। बंधे हुए पुल को कौन तोड़ता है और बुझी आग को कौन फूंकता है ॥ ५ ॥

शमे स्थितान्को नु पार्थान्कोपयेद्भरतर्षभ ।
स्मरन्तं त्वामाजमीढ स्मारयिष्याम्यहं पुनः ॥६॥

हे भरतर्षभ ! शान्ति मे रहने वाले पाण्डवों को कौन कुपित कर सकता है। तुम्हें अजमीढ वंशोत्पन्न युधिष्ठिर के पराक्रम का स्मरण है, परन्तु मैं और स्मरण करा देती हूं ॥ ६ ॥

शास्त्रं न शास्ति दुर्बुद्धिं श्रेयसे चेतराय च ।
न वै वृद्धो बालमतिर्भवेद्राजन्कथंचन ॥७॥

हे राजन्! मूर्ख मनुष्य को शास्त्र भी अच्छे या बुरे मार्ग का निदर्शन नहीं करा सकता है। बच्चों की बुद्धि रखने वाला, नवयुवक, वृद्ध कैसे बन सकता है॥ ७॥

त्वन्नेत्राः सन्तु ते पुत्रा मा त्वां दीर्णाः प्रहासिषुः ।
तस्मादयं मद्वचनात्त्यज्यतां कुलपांसनः ॥८॥

तुम्हारे पुत्र, तुम्हारी आज्ञा में चलने चाहिए। तुम से पृथक् होकर उनको नष्ट होना उचित नहीं है। इसलिए मेरे वचन से इस कुल घातक का परित्याग कर दो॥ ८॥

तथा तेन कृतं राजन्पुत्रस्नेहान्नराधिप ।
तस्य प्राप्तं फलं विद्धि कुलान्तकरणाय यत् ॥९॥

हे नराधिप! पुत्र के स्नेह से तुम्हें जो करना योग्य था, वह नहीं किया। उसका फल कुल का अन्त तुमको प्राप्त होकर रहेगा।

शमेन धर्मेण नयेन युक्ता या ते बुद्धिः साऽस्तु ते मा प्रमादीः ।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्रीर्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥१०

शान्ति, धर्म और नीति से युक्त तुम्हारी बुद्धि थी, वह वैसी ही रहे, नष्ट न होवे। क्रूर कर्मों से प्राप्त की हुई लक्ष्मी नष्ट हो जाती है और धर्म से प्राप्त की हुई, अनन्त वृद्धि को पाकर पुत्र-पौत्रों तक चली जाती है॥ १०॥

अथाब्रवीन्महाराजो गान्धारीं धर्मदर्शिनीम् ।
अन्तः कामं कुलस्याऽस्तु न शक्नोमि निवारितुम् ॥११॥

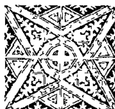
महाराज धृतराष्ट्र, धर्मशील-गान्धारी से कहने लगे, कि इस कुल का अन्त अवश्य होगा, क्योंकि मैं दुर्योधन के रोकने में असमर्थ हूँ ॥ ११ ॥

यथेच्छन्ति तथैवाऽस्तु प्रत्यागच्छन्तु पाण्डवाः ।
पुनर्द्यूतं च कुर्वन्तु मामकाः पाण्डवैः सह ॥१२॥ [२५३८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि गान्धारीवाक्ये पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥७५॥

वे सब जैसा चाहते हैं, वैसा ही होगा। फिर पाण्डवों को आने दो। इन मेरे पुत्रों को फिर पाण्डवों के साथ एक बार और जुआ खेल लेने दो ॥ १२ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत अनुद्यूतपर्व में गान्धारी वाक्य का पिछत्तरहवा अध्याय समाप्त हुआ।



छियत्तरवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यध्वगतं पार्थं प्रातिकामी युधिष्ठिरम् ।
उवाच वचनाद्राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! जब युधिष्ठिर बहुत दूर निकल गए, तब प्रातिकामी पहुंचकर बुद्धिमान राजा धृतराष्ट्र के वचन सुनाने लगा ॥ १ ॥

उपास्तीर्णा सभा राजन्नक्षानुप्त्वा युधिष्ठिर ।
एहि पाण्डव दीव्येति पिता त्वाहेति भारत ॥२॥

हे युधिष्ठिर ! अब दुबारा फिर सभा तय्यार की गई है। तुम एक बार पासे फेंककर फिर खेलो। हे भारत ! आओ तुम को तुम्हारे पितृव्य धृतराष्ट्र ने बुलाया है ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

धातुर्नियोगाद्भूतानि प्राप्नुवन्ति शुभाशुभम् ।
न निवृत्तिस्तयोरस्ति देवितव्यं पुनर्यदि ॥३॥

युधिष्ठिर ने कहा—विधाता की प्रेरणा से मनुष्य शुभ और अशुभ में प्रवृत्त होता है। इन शुभ और अशुभ कर्म से किसी की निवृत्ति नहीं है, जिससे फिर खेलना पड़ रहा है ॥ ३ ॥

अक्षद्यूते समाह्वानं नियोगात्स्थविरस्य च ।
जानन्नपि क्षयकरं नातिक्रमितुमुत्सहे ॥४॥

इस वृद्ध धृतराष्ट्र की आज्ञा से जुआ खेलने फिर बुलाया गया हूँ। मैं द्यूत को जानता हूँ कि यह नाशकारी है, परन्तु इस से हट ही कैसे सकता हूँ॥ ४॥

वैशम्पायन उवाच—

असंभवं हेममयस्य जन्तोस्तथापि रामो लुलुभे मृगाय।
प्रायः समासन्नपराभवाणां धियो विपर्यस्ततरा भवन्ति ॥५॥

वैशम्पायन बोले--यद्यपि सोने का हिरन होना असम्भव है, तो भी राम उस कपटी मृग पर मुग्ध हो गया। मनुष्य का जब विनाश सम्मुख आता है, तब उसकी बुद्धि प्रायः नष्ट हो जाती है॥ ५॥

इति ब्रुवन्निववृते भ्रातृभिः सह पाण्डवः।
जानंश्च शकुनेर्मायां पार्थो द्यूतमियात्पुनः ॥६॥

यह कहता हुआ युधिष्ठिर; अपने भाइयों के साथ फिर लौटा। युधिष्ठिर, शकुनि के कपट को जानता था, तो भी उसको जुआ के लिए फिर आना ही पड़ा॥ ६॥

विविशुस्ते सभां तां तु पुनरेव महारथाः।
व्यथयन्ति स्म चेतांसि सुहृदां भरतर्षभाः ॥७॥

ये भरतवंश-श्रेष्ठ, महारथी पाण्डव, फिर सभा में घुसे, जिसको देखकर मित्रों के चित्त बड़े दुखी हुए॥ ७॥

यथोपजोषमासीनाः पुनर्द्यूतप्रवृत्तये।
सर्वलोकविनाशाय दैवेनोपनिपीडिताः ॥८॥

ये फिर खेलने के लिए जाकर चुपचाप बैठ गये। सब लोक के विनाश के लिए यह सब कुछ दैव की प्रेरणा से हो रहा था ॥ ८ ॥

शकुनिरुवाच—

अमुञ्चत्स्थविरो यद्वो धनं पूजितमेव तत् ।
महाधनं ग्लहं त्वेकं शृणु भो भरतर्षभ ॥९॥

शकुनि ने कहा—हे भरतर्षभ ! इस वृद्ध ने तुमको वह विशाल धनराशि फिर वापिस दे दी। अब तो एक धन से पूर्ण बड़ा दाव रखना है, जो तुम सुन लो ॥ ९ ॥

वयं वा द्वादशाब्दानि युष्माभिर्द्यूतनिर्जिताः ।
प्रविशेम महारण्यं रौरवाजिनवाससः ॥१०॥
त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥११॥

यदि तुमने हमको जुआ मे जीत लिया तो हम बारह वर्ष तक मृगचर्म के वस्त्र धारण करके वनवास करेंगे और तेरहवें वर्ष अपने परिवार के साथ अज्ञात वास करेंगे। किसी ने जान लिए, तो फिर बारह वर्ष को वनवासी होंगे ॥ १०-११ ॥

अस्माभिर्निर्जिता यूयं वने द्वादश वत्सरान् ।
वसध्वं कृष्णया सार्धमजिनैः प्रतिवासिताः ॥१२॥
त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥१३॥

यदि हमने तुमको जीत लिया तो वन में तुम को बारह वर्ष मृगचर्म धारण करके द्रौपदी के साथ रहना होगा। तेरहवें वर्ष परिवार सहित अज्ञात वास करना होगा; यदि इस वर्ष जान लिए गए तो फिर बारह वर्ष वनवासी रहना होगा ॥ १२-१३ ॥

त्रयोदशे च निर्वृत्ते पुनरेव यथोचितम् ।
स्वराज्यं प्रतिपत्तव्यमितरैरथवेतरैः ॥१४॥

जब तेरहवां वर्ष पूरा हो जावेगा, तब हम या तुम अपना २ राज्य प्राप्त कर लेंगे ॥ १४ ॥

अनेन व्यवसायेन सहाऽस्माभिर्युधिष्ठिर ।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमेहि दीव्यस्व भारत ॥१५॥

हे भरतवंशोत्पन्न, युधिष्ठिर ! आओ और इस शर्त से अब की बार तुम हमारे साथ पासे फेंककर फिर जुआ खेलो ॥१५॥

अथ सभ्याः सभामध्ये समुच्छ्रितकरास्तदा ।
ऊचुरुद्विग्नमनसः संवेगात्सर्व एव हि ॥१६॥

इस समय सारे सभासद बड़े उद्विग्न हुए और वेग का साथ हाथ उठाकर सभा में कहने लगे—॥ १६ ॥

सभ्या ऊचुः—

अहो धिग्बान्धवा नैनं बोधयन्ति महद्भयम् ।
बुद्ध्या बुध्येन्नवा बुध्येदयं वै भरतर्षभ ॥१७॥

इन बान्धवों को धिक्कार है, जो युधिष्ठिर को जुआ खिला कर उसको उसका महाभय जताते नहीं है। यह युधिष्ठिर अपनी बुद्धि से चाहे इस भय को समझे या न समझे ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

जनप्रवादान्सुबहूञ्छृण्वन्नपि नराधिपः ।
ह्रिया च धर्मसंयोगात्पार्थो द्यूतमियात्पुनः ॥१८॥

वैशम्पायन ने कहा—राजा युधिष्ठिर जनता का यह कोलाहल सुनकर भी लज्जा या धर्म के कारण फिर जुआ खेलने लगा १८

जानन्नपि महाबुद्धिः पुनर्द्यूतमवर्तयत् ।
अप्यासन्नो विनाशः स्यात्कुरूणामिति चिन्तयन् ॥१९॥

यह महाबुद्धि युधिष्ठिर, कुरुवंश का विनाश विचार कर भी और सब कुछ जानकर भी फिर जुआ खेलने लगा ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

कथं वै मद्विधो राजा स्वधर्ममनुपालयन् ।
आहूतो विनिवर्तेत दीव्यामि शकुने त्वया ॥२०॥

युधिष्ठिर बोले—हे शकुनि ! मेरे समान धर्म पालन करने वाला राजा आह्वान किया हुआ कैसे हट सकता है, इससे आओ, मैं फिर द्यूत खेलता हूँ ॥ २० ॥

शकुनिरुवाच—

गवाश्वं बहुधेनूकमपर्यन्तमजाविकम् ।
गजाः कोशो हिरण्यं च दासीदासाश्च सर्वशः ॥२१॥
एष नो ग्लह एवैको वनवासाय पाण्डवाः ।
यूयं वयं वा विजिता वसेम वनमाश्रिताः ॥२२॥

त्रयोदशं च वै वर्षमज्ञाताः सजने तथा ।
अनेन व्यवसायेन दीव्यामः पुरुषर्षभाः ॥२३॥
समुत्क्षेपेण चैकेन वनवासाय भारत ॥२४॥

शकुनि ने कहा—हे पांडवों! बैल, अश्व, गाय, बहु संख्या में भेड़, बकरी, हाथी, कोष, सोना, दासी, दास ये सब कुछ एक ही दावपर है, जो वनवास के लिये होगा। तुम या हम जो हार जावेगा, उसे ही वन में वास करना पड़ेगा। तेरहवें वर्ष फिर सपरिवार अज्ञात वास करना होगा। हे पुरुष-श्रेष्ठों! इस दाव से फिर यह जुआ हम और तुम खेल रहे हैं। हे भारत! इसका एक ही बार के पासे फेंकने में निर्णय हो जावेगा ॥२१-४२॥

प्रतिजग्राह तं पार्थो ग्लहं जग्राह सौबलः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥२५॥ [२५६४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वण्यनुद्यूतपर्वणि पुनर्युधिष्ठिरपराभवे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥७६॥

युधिष्ठिर ने इस दाव को मान लिया और शकुनि ने पासे फेंके तथा युधिष्ठिर से कहा, यह लो मैं जीत गया हूँ ॥ २५ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत अनुद्यूतपर्व में युधिष्ठिर सम्वाद का छियत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ

सतत्तरहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततः पराजिताः पार्था वनवासाय दीक्षिताः ।
अजिनान्युत्तरीयाणि जगृहुश्चऽयथाक्रमम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! जब पाण्डव पराजित हो गए तब वनवास के लिए तय्यार हुए। अब उन्होंने मृग चर्म के वस्त्र क्रम से धारण किये ॥ १ ॥

अजिनैः संवृतान्दृष्ट्वा हृतराज्यानरिन्दमान् ।
प्रस्थितान्वनवासाय ततो दुःशासनोऽब्रवीत् ॥२॥

मृग चर्म से ढके हुए, राज्य रहित शत्रु विजयी वन को जाते हुए पांडवों से दुःशासन बोला ॥ २ ॥

प्रवृत्तं धार्तराष्ट्रस्य चक्रं राज्ञो महात्मनः ।
पराजिताः पाण्डवेया विपत्तिं परमां गताः ॥ ३ ॥

ऐश्वर्यशाली, राजा दुर्योधन का शासन सर्वत्र प्रवृत्त होगया है। तुम सारे पांडव पराजित और अत्यन्त विपत्ति को प्राप्त हो गए हो ॥ ३ ॥

अद्य देवाः संप्रयाताः समैर्वर्त्मभिरस्थलैः ।
गुणज्येष्ठास्तथा श्रेष्ठाः श्रेयांसो यद्वयं परैः ॥ ४ ॥

आज हम पर देवों के गण, सारे मार्गों से प्रसन्न हो गए, जो हम लोग विरोधियों से गुण में बड़े और श्रेष्ठ हो रहे हैं। देवों के आगमन से सारे स्थल रुक से गए हैं ॥ ४ ॥

नरकं पातिताः पार्था दीर्घकालमनन्तकम् ।
सुखाच्च हीना राज्याच्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः ॥५॥

बहुत काल के लिए पांडवों को दुःख में गिरा दिया है। अब ये अनेक वर्षों के लिए सुख से हीन और राज्य से भ्रष्ट हो गए हैं ॥ ५ ॥

धनेन मत्ता ये ते स्म धार्तराष्ट्रान्प्रहासिषुः ।
ते निर्जिता हृतधना वनमेष्यन्ति पाण्डवाः ॥६॥

जो पांडव धन से मत्त होकर धृतराष्ट्र के पुत्रों की निन्दा करते रहते थे, उनका आज सारा धन छीन लिया गया और वे अब वन गमन करेंगे ॥ ६ ॥

चित्रान्सन्नाहानवमुञ्चन्तु चैषां वासांसि दीव्यानि च भानुमन्ति
विवास्यन्तां रुरुचर्माणि सर्वे यथा ग्लहं सौबलस्याभ्युपेताः

इनके विचित्र कवच और चमकदार वस्त्र उतार लेने चाहिए इन सब को शकुनि की शर्त के अनुसार मृग चर्म पहनाकर वन में भेज देना चाहिए ॥ ७ ॥

न सन्ति लोकेषु पुमांस ईदृशा
इत्येव ये भावितबुद्धयः सदा ।
ज्ञास्यन्ति तेऽत्मानमिहाऽद्य पाण्डवा
विपर्यये षण्ढतिला इवाऽफलाः ॥८॥

ये पांडव सदा यही मानते थे कि हमारे समान जगत् में वीर पुरुष नहीं है। अब इस विपत्ति में निरर्थक नपुंसक की भांति अपने को जान जावेंगे ॥ ८ ॥

इदं हि वासो यदि वेदशानां मनस्विनां रौरवमाहवेषु ।
अदीक्षितानामजिनानि यद्वद्बलीयसां पश्यत पाण्डवानाम्

ये मृग चर्म के वस्त्र, यज्ञ मे मनस्वी, ऋषियों के वस्त्रों के समान प्रतीत होते हैं । इन बलवान् और यज्ञ में अदीक्षित, पाडवों के इन मृग चर्मों को देखो ॥ ९ ॥

महाप्राज्ञः सौमकिर्यज्ञसेनः कन्यां पाञ्चालीं पाण्डवेभ्यः प्रदाय,
अकार्षीद्वै सुकृतं नेह किंचित्क्लीबाःपार्थाः पतयो याज्ञसेन्याः१०

अत्यन्त बुद्धिमान, सोमक-पुत्र, द्रुपद ने अपनी कन्या द्रौपदी को पांडवों के लिए देकर कुछ अच्छा काम नहीं किया, क्योंकि ये द्रौपति के पति (रक्षक)। पांडव तो निरे नपुंसक ही निकले॥ १० ॥

सूक्ष्मप्रावारानजिनोत्तरीयान्दृष्ट्वाऽरण्ये निर्धनानप्रतिष्ठान् ।
का त्वं प्रीतिं लप्स्यसे याज्ञसेनि पतिं वृणीष्वेह यमन्यमिच्छसि

हे द्रौपदी ! सूक्ष्म वस्त्रधारी पांडवों को मृग चर्मधारी, निर्धन और प्रतिष्ठा से रहित वन में देखकर तुझे क्या प्रेम होगा। अब तू जिसको चाहती हो, उसको पति बना सकती है ॥ ११ ॥

एते हि सर्वे कुरवः समेताः क्षान्ता दान्ताः सुद्रविणोपपन्नाः ।
एषां वृणीष्वैकतमं पतित्वे न त्वां नयेत्कालविपर्ययोऽयम् ॥१२

ये सारे कौरव, क्षमाशील, दानी, जितेन्द्रिय और धनी हैं। इनमें से तू किसी को पति बनाले। अब वृथा विलम्ब करने से क्या लाभ है ॥ १२ ॥

यथाऽफलाः षण्ढतिला यथा चर्ममया मृगाः ।
तथैव पाण्डवाः सर्वे यथा काकयवा अपि ॥१३॥

जैसे नपुंसक मनुष्य, चर्म के मृग और काकयव निरर्थक और निष्फल हैं, उसी तरह ये पांडव भी निरर्थक हो रहे हैं।

किं पाण्डवांस्ते पतितानुपास्य मोघः श्रमः षण्ढतिलानुपास्य।
एवं नृशंसः परुषाणि पार्थानश्रावयद् धृतराष्ट्रस्य पुत्रः॥ १४

पतित पांडवों की सेवा से तुझे क्या फल होगा। नपुंसकों की उपासना का श्रम व्यर्थ है। धृतराष्ट्र के पुत्र, नीच, दुःशासन ने पांडवों को इस तरह कठोर वचन सुनाए ॥ १४ ॥

तद्वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी निर्भर्त्स्योच्चैःसंनिगृह्यैव रोषात्
उवाच चैनं सहसैवोपगम्य सिंहो यथा हैमवतः शृगालम् १५

यह सुनकर अत्यन्त क्रोधी भीमसेन ने उसको उच्चस्वर से फटकार कर और रोष को रोक कर तथा हिमालय के सिंह के तुल्य उस गीदड़ दुःशासन के पास पहुँचकर कहा ॥ १५॥

भीमसेन उवाच—

क्रूरं पापजनैर्जुष्टमकृतार्थं प्रभाषसे ।
गान्धारविद्यया हि त्वं राजमध्ये विकत्थसे ॥१६॥

अरे दुष्ट ! तू पापी जनों से भाषण करने योग्य, कठोर और क्रूर वाणी बोलता है। इस गान्धारराज की विद्या से ही तू राजाओं के मध्य में अपनी डींग मार रहा है॥ १६ ॥

यथा तुदसि मर्माणि वाक्छरैरिह नो भृशम् ।
तथा स्मारयिता तेऽहं कृन्तन्मर्माणि संयुगे ॥१७॥

जिस तरह तू वाणी के शरों से हमारे मर्मों को वेधता है, इसको मैं युद्ध में तेरे मर्मों को काटता हुआ स्मरण कराऊंगा ।१७

ये च त्वामनुवर्तन्ते क्रोधलोभवशानुगाः ।
गोप्तारः सानुबन्धांस्तान्नेतास्मि यमसादनम् ॥१८॥

जो वीर, क्रोध लोभ के वश में होकर तेरे अनुसार चलेंगे और रक्षा करेंगे, उनको उनके साथियों के साथ यमराज के भवन में पहुंचा दूंगा ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवं ब्रुवाणमजिनैर्विवासितं दुःशासनस्तं परिनृत्यति स्म ।
मध्ये कुरूणां धर्मनिबद्धमार्गं गौर्गौरिति स्माह्वयन्मुक्तलज्जः ॥१९

वैशम्पायन बोले—मृग चर्म, पहने हुए, भीमसेन के इतना कहने पर दुःशासन सारे कौरवों के मध्य में निर्लज्जता से नाचने लगा और धर्म से अपने शत्रुओं के मारने में असमर्थ, भीमसेन को "गौ गौ" कह कर सम्बोधित करने लगा ॥ १९ ॥

भीमसेन उवाच—

नृशंस परुषं वक्तुं शक्यं दुःशासनः त्वया ।
निकृत्या हि धनं लब्ध्वा को विकत्थितुमर्हति ॥२०॥

भीमसेन बोला—हे नीच ! दुःशासन ! तू इस समय कठोर बोल सकता है, छल से किसी का धन छीनकर तेरे सिवा कौन अपनी प्रशंसा कर सकता है ॥ २० ॥

मैव स्म सुकृतांल्लोकान्गच्छेत्पार्थो वृकोदरः ।
यदि वक्षो हि ते भित्त्वा न पिबेच्छोणितं रणे ॥२१॥

युद्ध में तेरे वक्षःस्थल को चीर कर यदि यह भीम रक्त न पीवे तो इस भीमसेन को उत्तम लोकों की प्राप्ति न हो ॥२१॥

धार्तराष्ट्रान्रणे हत्वा मिषतां सर्वधन्विनाम् ।
शमं गन्तास्मि न चिरात्सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥२२॥

इन धृतराष्ट्र के पुत्रों को सारे धनुष धारियों के सामने ही मार कर शीघ्र शान्ति प्राप्त करूंगा, यह मैं सत्य कहता हूँ ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तस्य राजा सिंहगतेः सखेलं दुर्योधनो भीमसेनस्य हर्षात् ।
गतिं स्वगत्याऽनुचकार मन्दो निर्गच्छतां पाण्डवानां सभायाः

वैशम्पायन बोला—जब पांडव सभा से निकले, उस समय सिंह के समान गति वाले, भीमसेन की चाल की नकल मूर्ख राजा दुर्योधन ने हर्ष और लीला के साथ अपनी चाल से की।

नैतावता कृतमित्यब्रवीत्तं वृकोदरः संनिवृत्तार्धकायः ।
शीघ्रं हि त्वां निहतं सानुबन्धं संस्मार्याऽहं प्रतिवक्ष्यामि मूढ

हे मूढ़ ! अपने आधे शरीर को मोड़ कर भीमसेन ने उससे कहा—इतने करने से ही तेरा कार्य सिद्ध नहीं हो सकता है। थोड़े ही काल में तेरे सहायकों के साथ तुझे मार कर इसी बात को याद दिलाऊं ॥ २४ ॥

एवं समीक्ष्याऽऽत्मनि चाऽवमानं नियम्य मन्युं बलवान्स मानी
राजानुगः संसदि कौरवाणां विनिष्क्रामन्वाक्यमुवाच भीमः ।

इस तरह अपना अपमान देखकर भी बलवान् और अभिमानी भीम ने अपना क्रोध रोक लिया। कौरवों की सभा में राजा युधिष्ठिर के पीछे २ चलता हुआ, भीम यह वचन बोला—॥२५॥

भीमसेन उवाच—

अहं दुर्योधनं हन्ता कर्णं हन्ता धनञ्जयः ।
शकुनिं चाऽक्षकितवं सहदेवो हनिष्यति ॥२६॥

मैं दुर्योधन को, अर्जुन कर्ण को, सहदेव जुआ में छली शकुनी को युद्ध में मारेंगे ॥ २६ ॥

इदं च भूयो वक्ष्यामि सभामध्ये बृहद्वचः ।
सत्यं देवा करिष्यन्ति यन्नो युद्धं भविष्यति ॥२७॥

यह मैं सभा के बीच में बड़ा भारी वचन कह छोड़ता हूं। जब युद्ध होगा, तब देवता मेरे इस कथन को सत्य करेंगे ।२७

सुयोधनमिमं पापं हन्ताऽस्मि गदया युधि ।
शिरः पादेन चाऽस्याऽहमधिष्ठास्यामि भूतले ॥२८॥

युद्ध में इस पापी दुर्योधन को मैं गदा से मारूँगा। पृथिवी पर पड़े हुए इस दुष्ट दुर्योधन के शिर पर मैं अपने चरण से प्रहार करूंगा ॥ २८ ॥

वाक्यशूरस्य चैवास्य परुषस्य दुरात्मनः ।
दुःशासनस्य रुधिरं पाताऽस्मि मृगराडिव ॥२९॥

इस डींग मारने वाले दुरात्मा, कठोर दुःशासन का खून भी मैं युद्ध में सिंह की भांति पीऊंगा ॥ २६ ॥

अर्जुन उवाच—

नैवं वाचा व्यवसितं भीमविज्ञायते सताम् ।
इतश्चतुर्दशे वर्षे द्रष्टारो यद्भविष्यति ॥३०॥

अर्जुन बोला—हे भीम! इस तुम्हारी प्रतिज्ञा को सज्जन वाणी से कथन कर देने से ही पूरी हुई नहीं मान सकते हैं। अब से चौदह वर्ष आगे ये देखने वाले स्वयं देखेंगे, जो होगा ॥३०॥

भीमसेन उवाच—

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥३१॥

भीमसेन बोले—दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनि और चौथे दुःशासन का रक्त यह भूमि अवश्य पान करेगी ॥ ३१ ॥

अर्जुन उवाच—

असूयितारं द्रष्टारं प्रवक्तारं विकत्थनम् ।
भीमसेन नियोगात्ते हन्ताऽहं कर्णमाहवे ॥३२॥

अर्जुन कहने लगा—हे भीमसेन! निन्दक, पाप का मार्ग दिखाने वाले और अपनी मिथ्या प्रशंसा करने वाले, कर्ण को मैं तेरी प्रतिज्ञानुसार युद्ध में अवश्य मारूंगा ॥ ३२ ॥

अर्जुनः प्रतिजानीते भीमस्य प्रियकाम्यया ।
कर्णं कर्णानुगांश्चैव रणे हन्ताऽस्मि पत्रिभिः ॥३३

भीम के प्रिय करने की कामना से प्रतिज्ञा करता हूं कि कर्ण और उसके साथियों को मैं अपने बाणों से रण में मार गिराऊंगा ॥ ३३ ॥

ये चाऽन्ये प्रतियोत्स्यन्ति बुद्धिमोहेन मां नृपाः ।
तांश्च सर्वानहं बाणैर्नेतास्मि यमसादनम् ॥३४॥

जो मूर्ख राजा अपने अज्ञान से मुझसे युद्ध करेंगे, उन सबको भी मैं अपने बाणों से यमराज के घर पहुंचा दूंगा ॥ ३४ ॥

चलेद्धि हिमवान्स्थानान्निष्प्रभः स्याद्दिवाकरः ।
शैत्यं सोमात्प्रणश्येत मत्सत्यं विचलेद्यदि ॥३५॥

जो यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा मिथ्या होगी, तो हिमालय अपने स्थान से चल देगा, सूर्य अपने तेज को छोड़ देगा और चन्द्रमा ठंडा पड़ जावेगा ॥ ३५ ॥

न प्रदास्यति चेद्राज्यमितो वर्षे चतुर्दशे ।
दुर्योधनोऽभिसत्कृत्य सत्यमेतद्भविष्यति ॥३६॥

आगे आने वाले चौदहवें वर्ष में यदि दुर्योधन हमारा राज्य हमको सत्कार के साथ नहीं लौटावेगा, तो यह कथन सत्य होगा ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्तवति पार्थे तु श्रीमान्माद्रवतीसुतः ।
प्रगृह्य विपुलं बाहुं सहदेवः प्रतापवान् ॥३७॥

सौबलस्य वधं प्रेप्सुरिदं वचनमब्रवीत् ।
क्रोधसंरक्तनयनो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥३८॥

वैशम्पायन बोले—अर्जुन के इतना कहने पर श्रीमान् प्रताप माद्री का पुत्र सहदेव, अपनी विशाल भुजाओं को पकड़कर और क्रोध से लाल आंखें करके सर्प की भांति श्वास लेता हुआ, शकुनि के वध की अभिलाषा से यह वचन बोला ॥ ३७-३८ ॥

सहदेव उवाच—

अक्षान्यान्मन्यसे मूढ गान्धाराणां यशोहर ।
नैतेऽक्षा निशिता बाणास्त्वयैते समरे वृताः ॥३९॥

हे गान्धार के राजाओं के यश के अपहरण करने वाले, मूर्ख ! शकुनि ! तू जिन पासों का अभिमान करता है, ये तीक्ष्ण बाण नहीं हैं, जिनका प्रयोग युद्ध में कर लेगा ॥ ३९ ॥

तथा चैवोक्तवान्भीमस्त्वामुद्दिश्य सबान्धवम् ।
कर्ताऽहं कर्मणस्तस्य कुरु कार्याणि सर्वशः ॥४०॥

बान्धवों सहित लक्ष्य करके जो भीम ने कहा है, मैं वही काम करके दिखाऊंगा; तू अपने सब उपायों को कर लेना ॥ ४० ॥

हन्ताऽस्मि तरसा युद्धे त्वामेवेह सबान्धवम् ।
यदि स्थास्यसि संग्रामे क्षत्रधर्मेण सौबल ॥४१॥

हे शकुनि ! यदि तू क्षात्र धर्म को स्वीकार करके युद्ध में स्थित रहेगा तो मैं बान्धवों के साथ वेग से तेरा अवश्य नाश करूंगा ॥ ४१ ॥

सहदेववचः श्रुत्वा नकुलोऽपि विशाम्पते ।
दर्शनीयतमो नृणामिदं वचनमब्रवीत् ॥४२॥

हे विशांपते ! सहदेव के वचन को सुनकर सुन्दर नकुल भी पुरुषों के मध्य में यह वचन बोला ॥ ४२ ॥

नकुल उवाच—

सुतेयं यज्ञसेनस्य द्यूतेस्मिन्धृतराष्ट्रजैः ।
यैर्वाचः श्राविता रूक्षाः स्थितैर्दुर्योधनप्रिये ॥ ४३ ॥
तान्धार्तराष्ट्रान्दुर्वृत्तान्मुमूर्षून्कालचोदितान् ।
गमयिष्यामि भूयिष्ठानहं वैवस्वतक्षयम् ॥४४॥

इस यज्ञसेन की पुत्री द्रौपदी को जिन धृतराष्ट्र के पुत्रों ने दुर्योधन के प्रिय में स्थित होकर कटु वचन सुनाए हैं, उनकाल से प्रेरित, मरणासन्न, दुराचारी बहुत से धृतराष्ट्र पुत्रों को यमराज के भवन में पहुंचा दूंगा ॥ ४३-४४ ॥

निदेशाद्धर्मराजस्य द्रौपद्याः पदवीं चरन् ।
निर्धार्तराष्ट्रां पृथिवीं कर्तास्मि न चिरादिव ॥४५॥

धर्मराज की आज्ञा से और द्रौपदी की इस दुर्दशा को याद करके शीघ्र ही इस भूमि को धृतराष्ट्र के पुत्रों से हीन कर दूंगा ॥४५॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ते पुरुषव्याघ्राः सर्वे व्यायतबाहवः ।
प्रतिज्ञा बहुलाः कृत्वा धृतराष्ट्रमुपागमन् ॥४६॥[२६१०]

इति श्री महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्व-पर्वण्यनुद्यूतपर्वणि पाण्डवप्रतिज्ञाकरणे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ।७७

इसतरह विशाल भुजा वाले, ये पुरुष श्रेष्ठ पाण्डव अनेक प्रतिज्ञा करके धृतराष्ट्र के पास पहुंचे ॥ ४६ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गत अनुद्यूतपर्व में पाण्डवों के प्रतिज्ञा करने का सतहत्तरवां अध्याय पूरा हुआ ।



अठत्तरवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच —

आमन्त्रयामि भरतानांस्थितं वृद्धं पितामहम् ।
राजानं सोमदत्तं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर कहने लगे—मैं भरतवंशी, वृद्धपितामह, राजा सोमदत्त, महाराज बाह्लिक, से आज्ञा लेता हूँ ॥ १ ॥

द्रोणं कृपं नृपांश्चान्यानश्वत्थामानमेव च ।
विदुरं धृतराष्ट्रं च धार्तराष्ट्रांश्च सर्वशः ॥ २ ॥
युयुत्सुं संजयं चैव तथैवाऽन्यान्सभासदः ।
सर्वानामन्त्र्य गच्छामि द्रष्टास्मि पुनरेत्य वः ॥ ३ ॥

द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, विदुर, धृतराष्ट्र और सारे धृतराष्ट्र के पुत्र, युयुत्सु, सञ्जय, तथा अन्य सारे नृप या सभासदों से आज्ञा लेकर जाता हूँ, फिर कभी आकर आप के दर्शन करूंगा ।

वैशम्पायन उवाच—

न ते किंचिदथोचुस्ते ह्रिया सन्ना युधिष्ठिरम् ।
मनोभिरेव कल्याणं दध्युस्ते तस्य धीमतः ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! लज्जा से झुके हुए इन सब नरश्रेष्ठों ने युधिष्ठिर से कुछ भी नहीं कहा। इन्होंने बुद्धिमान् युधिष्ठिर का अपने मन से कल्याण-चिन्तन किया ॥ ४ ॥

विदुर उवाच—

आर्या पृथा राजपुत्री नारण्यं गन्तुमर्हति ।
सुकुमारी च वृद्धा च नित्यं चैव सुखोचिता ॥ ५ ॥
इह वत्स्यति कल्याणी सत्कृता मम वेश्मनि ।
इति पार्था विजानीध्वमगदं वोऽस्तु सर्वशः ॥ ६ ॥

विदुर बोले—यह उत्तम व्यवहारवाली कुन्ती राजपुत्री, सुकुमारी और वृद्धा है। यह नित्य सुख भोगने के योग्य कल्याणी, सुख से सत्कार के साथ मेरे घर में—निवास करे। हे कुन्ती के पुत्रो! तुम को यह कह दिया है, अब तुम्हारा सब जगह कल्याण हो ॥ ५-६ ॥

पाण्डवा ऊचुः—

तथेत्युक्त्वाब्रुवन्सर्वे यथा नो वदसेऽनघ ।
त्वं पितृव्यः पितृसमो वयं च त्वत्परायणाः ॥ ७ ॥

पाण्डव बोले—हे महात्मन्! आप जो कहते हैं वह ठीक ही है, इसप्रकार सारे पाण्डवों ने कहा। तुम पितृव्य पिता के ही तुल्य हो, हम आपके दास हैं ॥ ७ ॥

यथाऽऽज्ञापयसे विद्वंस्त्वं हि नः परमो गुरुः ।
यच्चान्यदपि कर्तव्यं तद्ब्रूहि त्वं महामते ॥ ८ ॥

हे महामते ! विद्वन् ! जैसी आपकी आज्ञा होगी, हम वैसा ही करेंगे, तुम हमारे परमपूज्य हो । अब अन्य कुछ करना हो तो वह भी आज्ञा करो ॥ ८ ॥

विदुर उवाच—

युधिष्ठिर विजानीहि ममेदं भरतर्षभ ।
नाऽधर्मेण जितः कश्चिद् व्यथते वै पराजये ॥ ९ ॥

विदुर बोले—हे भरतवंशश्रेष्ठ ! युधिष्ठिर ! यह मेरा वचन समझ लो, कि अधर्म की हार को हार नहीं माननी चाहिए ॥९॥

त्वं वै धर्मं विजानीषे युद्धे जेता धनंजयः ।
हन्ताऽरीणां भीमसेनो नकुलस्त्वर्थसंग्रही ॥१०॥
संयन्ता सहदेवस्तु धौम्यो ब्रह्मविदुत्तमः ।
धर्मार्थकुशला चैव द्रौपदी धर्मचारिणी ॥११॥
अन्योन्यस्य प्रियाः सर्वे तथैव प्रियदर्शनाः ।
परैरभेद्याः संतुष्टाः को वो न स्पृहयेदिह ॥ १२ ॥

तू पूर्ण धर्म का ज्ञाता, युद्ध में विजयी अर्जुन, शत्रुनाशक भीमसेन, धन-संग्रही नकुल, नियमशील या सारथि सहदेव, ब्रह्मज्ञानी धौम्य, धर्म और अर्थ में कुशल, धर्मचारिणी द्रौपदी है । तुम सब एक दूसरे के प्रिय और सुन्दर हो । अन्यों से तुम में फूट नहीं डाली जा सकती है । तुम्हारी कौन चाह नहीं करता है ॥ १०-१२ ॥

एष वै सर्वकल्याणः समाधिस्तव भारत ।
नैनं शत्रुर्विषहते शक्रेणापि समोऽच्युत ॥१३॥

हे भारत ! यही तुम्हारा सब प्रकार से कल्याण है, जो तुम संगठन और शान्ति रखते हो। ऐसे शान्त पुरुष को इन्द्र के समान शत्रु भी नहीं सह सकता है ॥ १३ ॥

हिमवत्यनुशिष्टोऽसि मेरुसावर्णिना पुरा ।
द्वैपायनेन कृष्णेन नगरे वारणावते ॥१४॥
भृगुतुङ्गे च रामेण दृषद्वत्यां च शंभुना ।
अश्रौषीरसितस्यापि महर्षेरञ्जनं प्रति ॥१५॥
कल्माषीतीरसंस्थस्य गतस्त्वं शिष्यतां भृगोः ।
द्रष्टा सदा नारदस्ते धौम्यस्तेऽयं पुरोहितः ॥१६॥
मा हासीः साम्पराये त्वं बुद्धिं तामृषिपूजिताम् ।
पुरूरवसमैलं त्वं बुद्ध्या जयसि पाण्डव ॥१७॥

शक्त्या जयसि राज्ञोऽन्यानृषीन्धर्मोपसेवया ।
ऐन्द्रे जये धृतमना याम्ये कोपविधारणे ॥१८॥
तथा विसर्गे कौबेरे वारुणे चैव संयमे ।
आत्मप्रदानं सौम्यत्वमद्भयश्चैवोपजीवनम् ॥१९॥
भूमेः क्षमां च तेजश्च समग्रं सूर्यमण्डलात् ।
वायोर्बलं प्राप्नुहि त्वं भूतेभ्यश्चाऽऽत्मसंपदम् ॥२०॥
अगदं वोऽस्तु भद्रं वो द्रष्टास्मि पुनरागतान् ।

तुमने बल से राजाओं को, धर्म सेवन से ऋषियों को, मन के विजय से इन्द्र को, कोप के रोकने से यमराज को, दान से कुबेर को, संयम से वरुण को जीत लिया है। आत्म प्रदान (परोपकार) सौम्यता और जीवन-दान तुमने जल से सीखा है। पृथिवी से क्षमा और सूर्य मण्डल से तेज ग्रहण किया है। वायु से बल तथा अन्य महाभूतों से आत्मा की सम्पत्ति प्राप्त की है। आगे तुम नीरोग रहो और तुम्हारा कल्याण होवे। फिर कभी सुख से लौटे हुए तुमको देखेंगे ॥ १८-२० ॥

आपद्धर्मार्थकृच्छ्रेषु सर्वकार्येषु वा पुनः ॥२१॥
यथावत्प्रतिपद्येथाः काले काले युधिष्ठिर ।

हे युधिष्ठिर! आपत्ति, धर्म और अर्थ के संकट में या सब कार्यों में समय २ पर ठीक २ कर्तव्य का पालन करना ॥ २१ ॥

अपृष्टोऽसीह कौन्तेय स्वस्ति प्राप्नुहि भारत ॥२२
कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां द्रक्ष्यामः पुनरागतम् ।
न हि वो वृजिनं किंचिद्वेद कश्चित्पुरा कृतम् ॥२३

हे भरतवंशी युधिष्ठिर! तुम इजाजत ले चुके, अब तुम जाओ और कल्याण प्राप्त करो। जब तुम कृतार्थ और कल्याण से युक्त होकर वापिस आओगे, तब तुम को देख कर आनन्दित होंगे। तुम्हारा अवश्य कल्याण होगा, क्योंकि हम तुममें कुछ पाप नहीं देखते हैं ॥ २२-२३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा पाण्डवः सत्यविक्रमः ।
भीष्मद्रोणौ नमस्कृत्य प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः ॥२४॥[२६३४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वण्यनुद्यूतपर्वणि युधिष्ठिरवनप्रस्थानेऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥७८॥

वैशम्पायन बोले—इसप्रकार उनसे कहा हुआ, सत्यपराक्रमी राजा युधिष्ठिर, अच्छी बात है, यह कहकर चल दिया ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारत सभापर्वान्तर्गत अनुद्यूत पर्व में युधिष्ठिर के वन गमन का अठहत्तरवां अध्याय पूरा हुआ।



उन्नासीवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

तस्मिन्संप्रस्थिते कृष्णा पृथां प्राप्य यशस्विनीम्
अपृच्छद् भृशदुःखार्ता याश्चान्यास्तत्र योषितः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! युधिष्ठिर के वन को चल देने पर द्रौपदी, यशस्विनी कुन्ती के पास पहुंची और दुःखी होकर कुन्ती, तथा अन्य स्त्रियों से वन जाने के लिए विदा मांगने लगी॥ १ ॥

यथार्हं वन्दनाश्लेषान्कृत्वा गन्तुमियेष सा।
ततो निनादः सुमहान्पाण्डवान्तः पुरेऽभवत् ॥२॥

जिसको जैसा योग्य था, वैसी वन्दना या आलिङ्गन करके द्रौपदी चलने लगी। इस समय पाण्डवों के अन्तः पुर में महान् शोक (रोना चिह्लाना) छा रहा था॥ २ ॥

कुन्ती च भृशसंतप्ता द्रौपदीं प्रेक्ष्य गच्छतीम्।
शोकविह्वलया वाचा कृच्छ्राद्वचनमब्रवीत् ॥३॥

कुन्ती अत्यन्त दुःखी हो रही थी। वह द्रौपदी को जाती हुई देखकर शोक से विह्वल वाणी द्वारा कठिनाई से यह वचन बोली॥ ३ ॥

वत्से शोको न ते कार्यः प्राप्येदं व्यसनं महत्।
स्त्रीधर्माणामभिज्ञासि शीलाचारवती तथा ॥४॥

हे वत्से ! इस बड़ी भारी विपत्ति को पाकर भी तुम शोक न करना। तू स्त्रियों के धर्म को जानती है और शील तथा आचार वाली है ॥ ४ ॥

न त्वां संदेष्टुमर्हामि भर्तृन्प्रति शुचिस्मिते ।
साध्वी गुणसमापन्ना भूषितं ते कुलद्वयम् ॥ ५ ॥

हे सुन्दरि ! भर्ताओं के प्रति तेरा क्या कर्तव्य है। यह तुझे सिखाना व्यर्थ है। तू स्वयं साध्वी गुण से युक्त है और तूने दोनों कुलों को भूषित कर दिया है ॥ ५ ॥

सभाग्याः कुरवश्चेमे ये न दग्धास्त्वयाऽनघे ।
अरिष्टं व्रज पन्थानं मदनुध्यानबृंहिता ॥ ६ ॥

हे अनघे ! ये कौरव भाग्य वाले हैं, जिनको तूने दग्ध नहीं किया है। तुम्हारे मार्ग कल्याणकारी हों, मुझे स्मरण करते रहना ॥ ६ ॥

भाविन्यर्थे हि सत्स्त्रीणां वैकृतं नोपजायते ।
गुरुधर्माभिगुप्ता च श्रेयः क्षिप्रमवाप्स्यसि ॥ ७ ॥

अवश्य होने वाली घटनाओं में उत्तम स्त्री दुःखी नहीं होती है। तू महान् धर्म से सुरक्षित है, इसलिये शीघ्र ही कल्याण प्राप्त करेगी ॥ ७ ॥

सहदेवश्च मे पुत्रः सदाऽवेक्ष्यो वने वसन् ।
यथेदं व्यसनं प्राप्य नाऽयं सीदेन्महामतिः ॥ ८ ॥

इस मेरे पुत्र सहदेव का वन में रहते हुए सदा ध्यान रखना यह महामति इस विपत्ति में व्याकुल न हो जावे ॥ ८ ॥

तथेत्युक्त्वा तु सा देवी स्रवन्नेत्रजलाविला ।
शोणिताक्तैकवसना मुक्तकेशी विनिर्ययौ ॥ ९ ॥
तां क्रोशन्तीं पृथा दुःखादनुवव्राज गच्छतीम् ।

द्रौपदी ने कहा—अच्छी बात है। इस समय द्रौपदी के बाल खुले हुए थे, आंखों से जलधारा बह रही थी और उसका एक वस्त्र रक्त (रज) से भीग रहा था। वह इस दशा में ही वन को चल दी। इस रोती हुई द्रौपदी के पीछे २ दुःख से कुन्ती भी चली ॥ ९ ॥

अथाऽपश्यत्सुतान्सर्वान्हृताभरणवाससः ॥१०॥
रुरुचर्मावृततनून्ह्रिया किंचिदवाङ्मुखान् ।

कुन्ती ने अपने सारे पुत्रों को वस्त्र और आभूषणों से शून्य देखा। इन्होंने मृगचर्म धारण और लज्जा से मुख नीचा कर रखा था ॥ १० ॥

परैः परीतान्संहृष्टैः सुहृद्भिश्चाऽनुशोचितान् ॥११॥
तदवस्थान्सुतान्सर्वानुपसृत्याऽतिवत्सला ।
स्वजमानाऽवदच्छोकात्तत्तद्विलपती बहु ॥१२॥

विरोधियों से प्रसन्नता के साथ और मित्रों से शोक के साथ देखे हुए, विपत्ति की अवस्था में फंसे हुए अपने पुत्रों के पास

प्रेमवती कुन्ती पहुंची और बड़ा विलाप करके शोक से कहने लगी ॥ ११-१२ ॥

कुन्त्युवाच—

कथं सद्धर्मचारित्रान्वृत्तस्थितिविभूषितान् ।
अक्षुद्रान्दृढभक्तांश्च दैवतेज्यापरान्सदा ॥ १३॥
व्यसनं वः समभ्यागात्कोऽयं विधिविपर्ययः ।
कस्याऽपध्यानजं चेदमागः पश्यामि वो धिया ॥१४॥

कुन्ती बोली—उत्तम रीति में धर्म का आचरण करने वाले, मर्यादा से भूषित, उदार, दृढ़भक्त, देवताओं की पूजा में तत्पर, तुम लोगों को यह विपत्ति कैसे प्राप्त हो गई, यह क्या विधाता की उलटी बात है। किसके क्रोध से यह बुराई तुम्हें उत्पन्न हुई, यह मैं बुद्धि से विचारती हूँ ॥ १३-१४ ॥

स्यात्तु मद्भाग्यदोषोऽयं याऽहं युष्मानजीजनम् ।
दुःखायासभुजोऽत्यर्थं युक्तानप्युत्तमैर्गुणैः ॥ १५ ॥

यह तो मेरे ही भाग्य का दोष है, जो मुझ दुर्भाग्य ने तुमको ऐसा उत्पन्न किया। जो तुम उत्तम गुणों से युक्त होकर भी दुःख और क्लेशों को भोग रहे हो ॥ १५ ॥

कथं वत्स्यथ दुर्गेषु वने ऋद्धिविनाकृताः ।
वीर्यसत्त्वबलोत्साहतेजोभिरकृशाः कृशाः ॥१६॥

तुम वैभव से विहीन होकर भयानक वनों में कैसे वास करोगे। तुम वीर्य, सत्व, बल, उत्साह और तेज से युक्त होकर भी दुर्बल हो रहे हो ॥ १६ ॥

यद्येतदेवमज्ञास्यं वने वासो हि वो ध्रुवम्।
शतशृङ्गान्मृते पाण्डौ नागमिष्यं गजाह्वयम् ॥१७॥

यदि मैं यह जानती कि तुम्हारा बन मे वास अवश्य होगा, तो पाण्डु के मरने पर मैं तुमको शतशृङ्गपर्वत से इस हस्तिनापुर में लाती ही नहीं ॥ १७ ॥

धन्यं वः पितरं मन्ये तपोमेधान्वितं तथा ।
यः पुत्राधिमसंप्राप्य स्वर्गेच्छामकरोत्प्रियाम् ।१८॥

मैं तो तुम्हारे पिता को ही धन्य और तपो-युक्त मानती हूँ, जो तुम पुत्रों के दुःख को न देखकर स्वर्ग को चल दिये ॥१८॥

धन्यां चातीन्द्रियज्ञानामिमां प्राप्तां परां गतिम् ।
मन्ये तु माद्रीं धर्मज्ञां कल्याणीं सर्वथैव तु ॥१६॥
रत्या मत्या च गत्या च ययाऽहमभिसन्धिता ।
जीवितप्रियतां मह्यं धिङ्मां संक्लेशभागिनीम् ॥२०॥

मैं आगे को देख लेने वाली और उत्तम गति पा जाने वाली, धर्मचारिणी, कल्याणी माद्री को भी धन्य मानती हूँ, जिसने प्रेम, बुद्धि और उत्तम व्यवहार से मुझे सन्तुष्ट किया। क्लेश भोगने के लिए जीवन को प्रिय मानने वाली मुझे तो धिक्कार ही है। २०

पुत्रका न विहास्ये वः कृच्छ्रलब्धान्प्रियान्सतः ।
साहं यास्यामि हि वनं हा कृष्णे किं जहासि माम् ॥२१॥

विपत्ति में पड़े हुए, सदाचारी, प्रिय पुत्रों को मैं कभी नहीं छोड़ूंगी। मैं भी तुम्हारे ही साथ वन में चलूंगी। हाय ! द्रौपदी क्या तुम मुझे छोड़े जाती हो ? ॥ २१ ॥

अन्तवत्यसुधर्मेऽस्मिन्धात्रा किं नु प्रमादतः ।
ममाऽन्तो नैव विहितस्तेनाऽऽयुर्न जहातिमाम् ॥२२॥

इन प्राणों का धर्म अन्त वाला है, तो भी विधाता ने प्रमाद से मेरा अन्त नहीं रचा है। इसीसे आयु मुझे छोड़ती ही नहीं है ॥ २२ ॥

हा कृष्ण द्वारकावासिन्काऽसि संकर्पणानुज ।
कस्मान्न त्रायसे दुःखान्मां चेमांश्च नरोत्तमान् ॥२३॥

हे द्वारकावासी, बलराम के छोटे भाई, कृष्ण ! तुम कहां हो, तुम मुझे और नरश्रेष्ठ पाण्डवों की दुःख से क्यों नहीं रक्षा करते हो ? ॥ २३ ॥

अनादिनिधनं ये त्वामनुध्यायन्ति वै नराः ।
तांस्त्वं पासीत्ययं वादः स गतो व्यर्थतां कथम् ॥२४॥

"तुम्हारा आदि और अन्त नहीं है," इस प्रकार जो मनुष्य मानते हैं, उनको तू रक्षा करता रहता है, यह वायदा आज कैसे मिथ्या हो रहा है ? ॥ २४ ॥

इमे सद्धर्ममाहात्म्ययशोवीर्यानुवर्तिनः ।
नाऽर्हन्ति व्यसनं भोक्तुं नन्वेषां क्रियतां दया ॥२५॥

ये पाण्डव उत्तम धर्म, यश, पराक्रम से युक्त हैं। ये दुःख भोगने योग्य नहीं है, इन पर दया करो ? ॥ २५ ॥

सेयं नीत्यर्थविज्ञेषु भीष्मद्रोणकृपादिषु ।
स्थितेषु कुलनाथेषु कथमापदुपागता ॥२६॥

नीति के अर्थ के जानने वाले, कुल रक्षक भीष्म, द्रोण और कृप के रहते हुए भी यह विपत्ति कैसे आ गई ? ॥ २६ ॥

हा पाण्डो हा महाराज क्वासि किं समुपेक्षसे ।
पुत्रान्विवास्यतः साधूनरिभिर्द्यूतनिर्जितान् ॥२७॥

हे पाण्डु ! हे महाराज ! तुम कहां हो ? शत्रुओं से द्यूत में जीते हुए साधु पुत्र भी वन भेजे जा रहे हैं और तुम उनकी उपेक्षा कैसे कर रहे हो ? ॥ १७ ॥

सहदेव निवर्तस्व ननु त्वमसि मे प्रियः ।
शरीरादपि माद्रेय मां मा त्याक्षीः कुपुत्रवत् ॥२८॥

हे सहदेव ! तुम तो ठहर जावो, तुम मुझे बड़े प्रिय हो। हे माद्री सुत ! तुम अपने शरीर से कुपुत्र की भांति मेरा त्याग मत करो ? ॥ २८ ॥

व्रजन्तु भ्रातरस्तेऽमी यदि सत्याभिसन्धिनः ।
मत्परित्राणजं धर्ममिहैव त्वमवाप्नुहि ॥२९॥

यदि सत्य धर्म की रक्षा के कारण तेरे भाई वन में जाते हैं, तो जाने दे; मेरी रक्षा करने के धर्म को तू तो यहीं प्राप्त कर लेगा ? ॥ २६ ॥

एवं विलपतीं कुन्तीमभिवाद्य प्रणम्य च ।
पाण्डवा विगतानन्दा वनायैव प्रवव्रजुः ॥३०॥

वैशम्पायन बोले—इस प्रकार विलाप करती हुई कुन्ती को प्रणाम करके पाण्डव उदासीनता के साथ वन को चल दिये ॥३०

विदुरश्चापि तामार्तां कुन्तीमाश्वास्य हेतुभिः ।
प्रावेशयद्गृहं क्षत्ता स्वयमार्ततरः शनैः ॥३१॥

स्वयं महादुःखी विदुर, दुःखी कुन्ती को हेतुओं से समझा बुझा कर धीरे २ घर ले गया ॥ ३१ ॥

धार्तराष्ट्रस्त्रियस्ताश्च निखिलेनोपलभ्य तत् ।
गमनं परिकर्षं च कृष्णाया द्यूतमण्डले ॥३२॥
रुरुदुः सुस्वनं सर्वा विनिन्दन्त्यः कुरून्भृशम् ।
दध्युश्च सुचिरं कालं करासक्तमुखाम्बुजाः ॥३३॥

धृतराष्ट्र के पुत्रों की सारी स्त्रियां भी जुआ में द्रौपदी को खेंचना और वन जाने का दृश्य देखकर जोर से रोने और कौरवों की निन्दा करने लगी। वे अपने २ मुख कमलों को अपने हाथों से ढक कर बहुत देर तक चुप बैठी रहीं ॥ ३२-३३ ॥

राजा च धृतराष्ट्रस्तु पुत्राणामनयं तदा ।
ध्यायन्नुद्विग्नहृदयो न शान्तिमधिजग्मिवान् ॥३४॥

राजा धृतराष्ट्र भी अपने पुत्रों का यह अन्याय देख कर और सोच कर बड़ा उद्विग्न हो रहा था और किसी तरह भी शान्ति नहीं प्राप्त करता था ॥ ३४ ॥

स चिन्तयन्ननेकाग्रः शोकव्याकुलचेतनः ।
क्षत्तुः संप्रेषयामास शीघ्रमागम्यतामिति ॥३५॥

धृतराष्ट्र का चित्त शोक से व्याकुल हो रहा था और यह विकल होकर बार २ सोच रहा था। इसने विदुर के पास दूत भेजा कि जरा विदुर को जल्दी बुला लावो ॥ ३५ ॥

ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ।
तं पर्यपृच्छत्संविग्नो धृतराष्ट्रो जनाधिपः ॥३६॥ [२६७०]

इति श्रीमहाभारते श० वैयासिक्यां सभापर्वण्यनुद्यूतपर्वणि द्रौपदी कुन्तीसंवाद एकोनाशीतितमोऽध्यायः॥७६॥

विदुर, धृतराष्ट्र के भवन में पहुंचा। व्याकुल हुए राजा धृतराष्ट्र ने विदुर से यह पूछा ? ॥ ३६ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तर्गतऽनुद्यूतपर्व में द्रौपदी कुन्ती सम्वाद का उनासीवां अध्याय पूरा हुआ।

अस्सीवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

तमागतमथो राजा विदुरं दीर्घदर्शिनम् ।
साशङ्क इव पप्रच्छ धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! आये हुए, दीर्घदर्शी विदुर से अम्बिका सुत, राजा धृतराष्ट्र ने शंका के साथ पूछा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

कथं गच्छति कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनः सव्यसाची माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ २ ॥
धौम्यश्चैव कथं क्षत्तर्द्रौपदी च यशस्विनी ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं तेषां शंस विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

हे विदुर ! कुन्ती पुत्र धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव, धौम्य, तथा यशस्विनी द्रौपदी किस तरह वन गए और उनकी क्या २ चेष्टाएँ हुई, यह मैं सब कुछ सुनना चाहता हूँ ॥ २-३ ॥

विदुर उवाच—

वस्त्रेण संवृत्य मुखं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
बाहू विशालौ संपश्यन्भीमो गच्छति पाण्डवः ॥ ४ ॥
सिकता वपन्सव्यसाची राजानमनुगच्छति ।
माद्रीपुत्रः सहदेवो मुखमालिप्य गच्छति ॥ ५ ॥

पांसूपलिप्तसर्वाङ्गो नकुलश्चित्तविह्वलः ।
दर्शनीयतमो लोके राजानमनुगच्छति ॥ ६ ॥

विदुर बोले—कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर ने तो अपने मुख को वस्त्र से ढक लिया। पाण्डु पुत्र भीमसेन अपनी विशाल भुजाओं को देखने लगा। अर्जुन, बालु को डालते हुए राजा के पीछे २ चला। माद्री पुत्र सहदेव अपने मुख को तथा सर्वाङ्ग सुन्दर नकुल, मिट्टी से अपने सारे अङ्ग को लीपकर राजा के पीछे २ व्याकुल होकर चल दिया ॥ ४-६ ॥

कृष्णा तु केशैः प्रच्छाद्य मुखमायतलोचना ।
दर्शनीया प्ररुदती राजानमनुगच्छति ॥ ७ ॥

विशाल नेत्रों वाली सुन्दरी द्रौपदी भी केशों से अपने मुख को ढककर रोती हुई राजा के पीछे २ चल दी ॥ ७ ॥

धौम्यो रौद्राणि सामानि याम्यानि च विशांपते ।
गायन्गच्छति मार्गेषु कुशानादाय पाणिना ॥ ८ ॥

हे विशाम्पते ! धौम्य पुरोहित भी सामवेद के यम के सूक्तों का पाठ करता हुआ, कुशा हाथ में लेकर उनके साथ हो लिया।

धृतराष्ट्र उवाच—

विविधानीह रूपाणि कृत्वा गच्छंति पाण्डवाः ।
तन्ममाऽऽचक्ष्व विदुर कस्मादेवं व्रजन्ति ते ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र कहने लगा—हे विदुर ! पाण्डव इस तरह अनेक रूप धारण करके क्यों जा रहे थे, यह मुझे समझाओ ॥ ६ ॥

विदुर उवाच—।

निकृतस्यापि ते पुत्रैर्हृते राज्ये धनेषु च ।
न धर्माच्चलते बुद्धिर्धर्मराजस्य धीमतः ॥१०॥

विदुर ने कहा—तेरे पुत्रों से तिरस्कृत और राज्य तथा धन के अपहरण कर लेने पर भी बुद्धिमान् धर्मराज की बुद्धि धर्म से विचलित नहीं हुई ॥ १० ॥

योऽसौ राजा घृणी नित्यं धार्तराष्ट्रेषु भारत ।
निकृत्या भ्रंशितः क्रोधान्नोन्मीलयति लोचने ॥११॥

हे राजन्! यह राजा युधिष्ठिर, तेरे पुत्रों में घृणा रखता है। इससे और अपमान से दुःखी होकर क्रोध से आंखें नहीं खोलता है ॥ ११ ॥

नाऽहं जनं निर्दहेयं दृष्ट्वा घोरेण चक्षुषा ।
स पिधाय मुखं राजा तस्माद्गच्छति पाण्डवः ।
यथा च भीमो व्रजति तन्मे निगदतः शृणुः ॥१२॥
बाह्वोर्बले नास्ति समो ममेति भरतर्षभ ।
बाहू विशालौ कृत्वाऽसौ तेन भीमोऽपि गच्छति ॥१३॥

मेरी क्रोध युक्त तीक्ष्ण आंखों से कोई भस्म न हो जावे, इस से आंखें ढककर राजा युधिष्ठिर निकल गए हैं। अब भीम जैसे निकले, वह भी सुनो। हे भरतर्षभ! भुजाओं के बल में मेरे समान कोई भी नहीं है, इसी लिए भीम भुजाओं को देखता गया है ॥ १२-१३ ॥

बाहू विदर्शयन्राजन्बाहुद्रविणदर्पितः
चिकीर्षन्कर्म शत्रुभ्यो बाहुद्रव्यानुरूपतः ॥१४॥

हे राजन्! भुजाओं के बल का अभिमानी भीमसेन भुजाओं के बल के अनुरूप ही युद्ध में शत्रुओं के सम्मुख कार्य करके दिखाना चाहता है, इससे वह भुजाओं को देखता हुआ गया है ॥ १४ ॥

प्रदिशञ्छरसंपातान्कुन्तीपुत्रोऽर्जुनस्तदा ।
सिकता वपन्सव्यसाची राजानमनुगच्छति ॥१५॥
असक्ताः सिकतास्तस्य यथा संप्रति भारत ।
असक्तं शरवर्षाणि तथा मोक्ष्यति शत्रुषु ॥१६॥

कुन्ती पुत्र अर्जुन भी अपने बाणों के प्रहारों की सूचना देता हुआ, रज के कणों को बखेरता हुआ गया है। हे भारत! जिस प्रकार ये रेणु पृथक् २ उड़ रही है, इसी तरह यह युद्ध में असंख्य बाण, पृथक् २ छोड़ेगा ॥ १५-१६ ॥

न मे कश्चिद्विजानीयान्मुखमद्येति भारत ।
मुखमालिप्य तेनासौ सहदेवोऽपि गच्छति ॥१७॥

हे भारत! मेरे मुख को आज कोई भी न देखे अर्थात् युद्ध के अनन्तर उज्वल मुखको ही सब को दिखाऊंगा- इस लिए यह सहदेव मुख को मिट्टी से लीप कर निकल गया ॥ १७ ॥

नाऽहं मनांस्याददेयं मार्गे स्त्रीणामिति प्रभो ।
पांसूपलिप्तसर्वाङ्गो नकुलस्तेन गच्छति ॥१८॥

हे प्रभो! मैं मार्ग में किसी भी स्त्री के मन को वश में न करूं अर्थात युद्ध तक अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करूंगा इसी लिए नकुल अपने सारे शरीर को लीपकर गया है ॥ १८ ॥

एकवस्त्रा प्ररुदती मुक्तकेशी रजस्वला ।
शोणितेनाक्तवसना द्रौपदी वाक्यमब्रवीत्॥१६॥

एक वस्त्र पहने हुए खुले बालों को धारण करने वाली रजस्वला, रक्त से भीगे वस्त्र वाली, द्रौपदी ने रोते हुए यह वचन कहा है॥ १६॥

यत्कृतेऽहमिदं प्राप्ता तेषां वर्षे चतुर्दशे ।
हतपत्यो हतसुता हतबन्धुजनप्रियाः ॥२०॥
बहुशोणितदिग्धाङ्ग्यो मुक्तकेश्यो रजस्वलाः ।
एवं कृतोदका भार्याः प्रवेक्ष्यन्ति गजाह्वयम् ॥२१॥

जिन के कारण से मेरी यह दशा हुई है, उनकी स्त्रियां भी चौदहवें वर्ष में, पति, पुत्र और बन्धु-बान्धवों से रहित होकर रक्त से भीगी हुई, बाल खोले हुए, मिट्टी में सनी, अपने २ सम्बन्धियों का जल दान करके हस्तिनापुर में प्रवेश करेंगी।

कृत्वा तु नैर्ऋतान्दर्भान्धीरो धौम्यः पुरोहितः ।
सामानि गायन्याम्यानि पुरतो याति भारत ॥२२॥
हतेषु भरतेष्वाजौ कुरूणां गुरवस्तदा ।
एवं सामानि गास्यन्तीत्युक्त्वा धौम्योऽपि गच्छति ॥२३॥

हे भारत ! निर्ऋति (यम) देव के सम्बन्ध की कुशा करके धीर, धौम्य, पुरोहित ने जो यम सम्बन्धी साम का गान करके गमन किया; उसका प्रयोजन है, कि युद्ध में कौरवों के मारे जाने पर कौरवों के गुरु इसी प्रकार यम सम्बन्धी साम गान करते हुए आगे २ जावेंगे, इसी लिए धौम्य ने ऐसा किया है ॥२२-२३॥

हा हा गच्छंति नो नाथाः समवेक्षध्वमीदृशम् ।
अहो धिक्कुरुवृद्धानां बालानामिव चेष्टितम् ॥२४॥
राष्ट्रेभ्यः पाण्डुदायांल्लोभान्निर्वासयन्ति ये ।
अनाथाः स्म वयं सर्वे वियुक्ताः पाण्डुनन्दनैः ॥२५॥
दुर्विनीतेषु लुब्धेषु का प्रीतिः कौरवेषु नः ।
इति पौराः सुदुःखार्ताः क्रोशन्ति स्म पुनःपुनः ॥२६॥

हाय ? हमारे स्वामी वन को जा रहे हैं। इन कुरुवंश के वृद्धों को धिक्कार है, जिन की चेष्टाऐं मूर्खों के समान हैं। ये पाण्डु पुत्रों को लोभ के कारण अपने राष्ट्र से निकालते हैं। पांडवों से वियुक्त होकर आज हम अनाथ होगए हैं। ये कौरव बड़े उद्दण्ड और लोभी हैं; इन से हमारा प्रेम ही क्या हो सकता है। इस तरह पुरवासी दुःखी होकर बार २ चोल रहे हैं ॥२४-२६

एवमाकारलिङ्गैस्ते व्यवसायं मनोगतम् ।
मथयन्तश्च कौन्तेया वनं जग्मुर्मनस्विनः ॥२७॥

हे राजन् ! इस आकार के चिन्हों को धारण करके अपने मन के अभिप्राय को सूचित करते हुए मनस्वी पांडव वन को गए है ॥ २७ ॥

एवं तेषु नराग्र्येषु निर्यत्सु गजसाह्वयात्।
अनभ्रे विद्युतश्चाऽऽसन्भूमिश्च समकम्पत ॥२८॥

इस प्रकार इन नर-श्रेष्ठों के हस्तिनापुर से निकलने पर बिना बादलों के बिजली गिरी और भूमि कांपने लगी ॥ २८ ॥

राहुरग्रसदादित्यमपर्वणि विशांपते।
उल्का चाप्यपसव्येन पुरं कृत्वा व्यशीर्यत ॥२९॥

हे विशांपते ! बिना समय ही राहु ने सूर्य का ग्रसन किया और पुर के दाईं ओर से उल्कापात (तारे टूटना) हुआ ॥२९॥

प्रत्याहरन्ति क्रव्यादा गृध्रगोमायुवायसाः।
देवायतनचैत्येषु प्राकाराट्टालकेषु च ॥३०॥
एवमेते महोत्पाताः प्रादुरासन्दुरासदाः ।
भरतानामभावाय राजन्दुर्मन्त्रिते तव ॥३१॥

मांस-भोजी; गीध, गीदड़ और कव्वे, देवों के स्थान, चैत्य, (बगीचे) प्राकार (शहरपनाह) और अट्टालियों पर बोलने लगे। हे राजन् ! इस प्रकार के अनेक दुःखदायी उत्पात, तुम्हारी सम्मति के कारण से भरतवंश के विनाश के लिए हो रहे हैं।

वैशम्पायन उवाच—

एवं प्रवदतोरेव तयोस्तत्र विशांपते !।
धृतराष्ट्रस्य राज्ञश्च विदुरस्य च धीमतः ॥ ३२॥
नारदश्च सभामध्ये कुरूणामग्रतः स्थितः।
महर्षिभिः परिवृतो रौद्रं वाक्यमुवाच ह ॥३३॥

वैशम्पायन बोले—हे विशांपते ! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्र और बुद्धिमान् विदुर के बातचीत करने के समय महर्षियों, से युक्त होकर सभा के मध्य में नारद मुनि आए और भयानक वाक्य बोले ॥ ३३ ॥

इतश्चतुर्दशे वर्षे विनंक्ष्यन्तीह कौरवाः ।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥३४॥
इत्युक्त्वा दिवमाक्रम्य क्षिप्रमन्तरधीयत ।
ब्राह्मीं श्रियं सुविपुलां बिभ्रद्देवर्षिसत्तमः ॥३५॥

अब से चौदहवें वर्ष में दुर्योधन के अपराध और भीम तथा अर्जुन के बल से कौरव नष्ट होजायेंगे । ब्रह्मसंबन्धी विपुल शोभा को धारण करता हुआ देवर्षि नारद, यह कहकर आकाश को उड़ गया और अलक्षित होगया ॥ ३४-३५ ॥

ततो दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
द्रोणं द्वीपममन्यन्त राज्यं चास्मै न्यवेदयन् ॥३६॥

अब दुर्योधन, कर्ण, सुबल पुत्र शकुनि ने द्रोण को ही अपना आश्रय समझा और सारा राज्य इसको सौंप दिया ॥ ३६ ॥

अथाब्रवीत्ततो द्रोणो दुर्योधनममर्षणम् ।
दुःशासनं च कर्णं च सर्वानेव च भारतान् ॥३७॥
अवध्यान्पाण्डवान्प्राहुर्देवपुत्रान्द्विजातयः ।
अहं वै शरणं प्राप्तान्वर्तमानो यथाबलम् ॥३८॥

गन्ता सर्वात्मना भक्त्या धार्तराष्ट्रान्सराजकान् ।
नोत्सहेयं परित्यक्तुं दैवं हि बलवत्तरम् ॥३९॥

इसके अनन्तर द्रोणाचार्य ने असहनशील दुर्योधन, दुःशासन कर्ण तथा सारे भरतवंशी क्षत्रियों से कहा कि देवों के पुत्र, पाण्डवों को ब्राह्मण अवध्य कहते हैं। परन्तु हम तो शरण में आये हुए इन कौरवों की यथाशक्ति रक्षा करेंगे तथा सारे राजाओं के साथ इन धृतराष्ट्र पुत्रों का सब भांति से साथ देंगे। क्योंकि दैव का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है, वह अत्यन्त बलवान् है ॥ ३७-३९ ॥

धर्मतः पाण्डुपुत्रा वै वनं गच्छन्ति निर्जिताः ।
ते च द्वादश वर्षाणि वने वत्स्यन्ति पाण्डवाः ॥४०॥
चरितब्रह्मचर्याश्च क्रोधामर्षवशानुगाः ।
वैरं निर्यातयिष्यन्ति महद्दुःखाय पाण्डवाः ॥४१॥

ये जीते हुए पाण्डव, धर्मानुसार वन में जायेंगे और बारह वर्ष तक वनवास करेंगे। ये इन दिनों में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके। फिर क्रोध और आवेश के वश में होकर वैर निकालेंगे, जो बड़े दुःख का कारण होगा ॥ ४०-४१ ॥

मया च भ्रंशितो राजन्द्रुपदः सखिविग्रहे ।
पुत्रार्थमयजद्राजा वधाय मम भारत ॥४२॥

हे राजन्! मैं ने मित्रता के युद्ध में द्रुपद को जीता था, इस से उसने मेरे वध के योग्य पुत्र उत्पन्न होने के लिए यज्ञ किया था ॥ ४२ ॥

याजोपयाजतपसा पुत्रं लेभे स पावकात् ।
धृष्टद्युम्नं द्रौपदीं च वेदीमध्यात्सुमध्यमाम् ॥४३॥

याज और उपयाज नामक ऋषियों के तप से उसने अग्नि से धृष्टद्युम्न नामक पुत्र और सुन्दरी द्रौपदी वेदी के मध्य से प्राप्त की है ॥ ४३ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु पार्थानां श्यालः संबन्धतो मतः ।
पाण्डवानां प्रियरतस्तस्मान्मां भयमाविशत् ॥४४॥

यह धृष्टद्युम्न, सम्बन्ध में पाण्डवों का साला होता है। यह पाण्डवों के हित में तत्पर है, इससे मुझे कुछ भय होता है ॥४४

ज्वालावर्णो देवदत्तो धनुष्मान्कवची शरी ।
मर्त्यधर्मतया तस्मादद्य मे साध्वसो महान् ॥४५॥
गतो हि पक्षतां तेषां पार्षतः परवीरहा ।

इस का वर्ण अग्नि की ज्वाला के समान है। यह देवों का दिया हुआ, धनुष बाण और कवच का धारी ही उत्पन्न हुआ है। मैं भी मरण धर्म वाला हूँ, इससे मुझे महान् भय हो रहा है। यही शत्रु विजयी धृष्टद्युम्न पाण्डवों के पक्ष में हो रहा है ॥४५॥

रथातिरथसंख्यायां योऽग्रणीरर्जुनो युवा ॥४६॥
सृष्टप्राणो भृशतरं तेन चेत्संगमो मम ।
किमन्यद् दुःखमधिकं परमं भुवि कौरवाः ॥४७॥

हे कौरवों ! रथी और महारथियों में अग्रणी, युवा अर्जुन है उसके साथ यदि मेरा प्राणान्तक संग्राम होवे, तो इससे अधिक दुःखदायी बात संसार में क्या हो सकती है ॥ ४६-४७ ॥

धृष्टद्युम्नो द्रोणमृत्युरिति विप्रथितं वचः ।
मद्वधाय श्रुतोऽप्येष लोके चाप्यतिविश्रुतः ॥४८॥

धृष्टद्युम्न द्वारा द्रोण की मृत्यु होगी, यह बात जगत् में प्रसिद्ध हो चुकी है। मेरा वध करने वाला प्रसिद्ध होकर यह बल में भी अत्यन्त प्रसिद्ध है ॥ ४८ ॥

सोऽयं नूनमनुप्राप्तस्त्वत्कृते काल उत्तमः ।
त्वरितं कुरुत श्रेयो नैतदेतावता कृतम् ॥४६॥

अब यह अच्छी तरह तुम्हारा काल उपस्थित हुआ है। तुम अपने कल्याण का मार्ग शीघ्र निकालो। इन पाण्डवों के निर्वासन मात्र से तुम्हारा कल्याण नहीं हो सकता है ॥ ४६ ॥

मुहूर्तं सुखमेवैतत्तालच्छायेव हैमनी ।
यजध्वं च महायज्ञैर्भोगानश्नीत दत्त च ॥५०॥
इतश्चतुर्दशे वर्षे महत्प्राप्स्यथ वैशसम् ॥५१॥

हेमन्त ऋतु में होने वाली ताड़ वृक्ष की छाया की भांति यह तुम्हारा सुख है। अब तुम महा-यज्ञों से यजन करो, भोगों को भोगो और दान करो। अब से आगे चौदहवें वर्ष बड़ी मार काट होगी ॥ ५०-५१ ॥

द्रोणस्य वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ।
सम्यगाह गुरुः क्षत्तरुपावर्तय पाण्डवान् ॥५२॥

द्रोण के ये वचन सुनकर धृतराष्ट्र यह वचन बोला—हे विदुर यह द्रोणाचार्य ठीक कहते हैं, तुम पाण्डवों को लौटा लाओ ॥५२

यदि ते न निवर्तन्ते सत्कृता यान्तु पाण्डवाः ।
सशस्त्ररथपादाता भोगवन्तश्च पुत्रकाः ॥५३॥ [२७२३]

इति श्रीमहाभारते वैयासिक्यां सभापर्वण्यनुद्यूतपर्वणि विदुरधृतराष्ट्रोणवाक्य अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८०॥

यदि वे लौटें नहीं तो सत्कार के साथ पाण्डवों को पहुँचा आओ। सारे शस्त्र, रथ, पैदल और भोग की सामग्रियों से वे युक्त होकर सदा रहें ॥ ५३ ॥

इति श्री महाभारत सभापर्व में विदुर और धृतराष्ट्र के वाक्य का अस्सीवां अध्याय पूरा हुआ।

इक्यासीवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

वनं गतेषु पार्थेषु निर्जितेषु दुरोदरे ।
धृतराष्ट्रं महाराज तदा चिन्ता समाविशत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे महाराज ! जुआ मे जीते हुए पाण्डवों के वन चले जाने पर धृतराष्ट्र को बड़ी चिन्ता हुई ॥ १ ॥

तं चिन्तयानमासीनं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
निःश्वसन्तमनेकाग्रमिति होवाच संजयः ॥ २ ॥

चिन्ता करते हुए और श्वास भरते हुए, व्याकुल बैठे हुए, राजा धृतराष्ट्र से सञ्जय बोला—॥ २ ॥

संजय उवाच—

अवाप्य वसुसंपूर्णां वसुधां वसुधाधिप ।
प्रव्राज्य पाण्डवान्राज्याद्राजन्किमनुशोचसि ॥ ३ ॥

हे राजन्! धन से भरी हुई पृथिवी को पाकर और राज्य से ाण्डवों को निकाल कर भी अब आप क्या चिन्ता कर रहे हो ॥३

धृतराष्ट्र उवाच—

अशोच्यत्वं कुतस्तेषां येषां वैरं भविष्यति ।
पाण्डवैर्युद्धशौण्डैर्हि बलवद्भिर्महारथैः ॥४॥

धृतराष्ट्र बोले—युद्ध में कुशल, बलवान्, महारथी पाण्डवों के साथ जिसका वैर हो गया, वे चिन्ता रहित कैसे हो सकते हैं ॥४

संजय उवाच—

तवेदं सुकृतं राजन्महद्वैरमुपस्थितम् ।
विनाशो येन लोकस्य सानुबन्धो भविष्यति ॥५॥

सञ्जय बोला—हे राजन् ! यह महा-वैर आपके ही कर्मों का फल है, जिससे इस संसार का जड़ सहित विनाश होगा ॥ ५ ॥

वार्यमाणो हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ।
पाण्डवानां प्रियां भार्यां द्रौपदीं धर्मचारिणीम् ॥६॥

प्राहिणोदानयेहेति पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
सूतपुत्रं सुमन्दात्मा निर्लज्जः प्रातिकामिनम् ॥७॥

भीष्म, द्रोण, विदुर के रोकने पर भी तेरे निर्लज्ज पुत्र, मूर्ख दुर्योधन ने प्रातिकामी सूतपुत्र को भेजा, कि पाण्डवों की प्रिय पत्नी धर्मचारिणी द्रौपदी को सभा में ला ॥ ६-७ ॥

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽर्वाचीनानि पश्यति ॥८ ॥

जिस पुरुष के लिए देवता पराभव प्रदान करते हैं; उसकी बुद्धि का अपहरण कर लेते हैं, जिससे वह विपरीत ही देखता है

बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे समुपस्थिते ।
अनयो नयसङ्काशो हृदयान्नाऽपसर्पति ॥६॥

जब बुद्धि कलुषित हो जाती है और विनाश उपस्थित होता है, तब न्याय सा प्रतीत होने वाला अन्याय हृदय से नहीं हटता है ॥ ६ ॥

अनर्थाश्चाऽर्थरूपेण अर्थाश्चाऽनर्थरूपिणः ।
उत्तिष्ठन्ति विनाशाय नूनं तच्चास्य रोचते ॥१०॥

अर्थ रूप से अनर्थ और अनर्थ रूप से अर्थ, विनाशोन्मुख पुरुष के विनाशाय के लिए हो जाते हैं। इस पुरुष को यह रूप ही उत्तम जचता है ॥ १० ॥

न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित् ।
कालस्य बलमेतावद्विपरीतार्थदर्शनम् ॥११॥

काल, दण्ड उठा कर किसी का शिर नहीं काटता है। काल का तो बल ही यही है कि वह विपरीत बात सुझाता है ॥११॥

आसादितमिदं घोरं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
पाञ्चालीमपकर्षद्भिः सभामध्ये तपस्विनीम् ॥ १२ ॥
अयोनिजां रूपवतीं कुले जातां विभावसोः ।

यह बड़ा भारी लोमहर्षण दुष्कर्म हुआ है, जो अयोनिज रूपवती, अग्नि के कुल मे उत्पन्न विचारी द्रौपदी को सभा में खेंचा गया ॥ १२ ॥

को नु तां सर्वधर्मज्ञां परिभूय यशास्विनीम् ॥ १३ ॥
पर्यानयेत्सभामध्ये विना दुर्द्यूतदेविनम् ।

सब धर्मों के जानने वाली, यशस्विनी द्रौपदी को, बिना इन जुआरियों के कौन अपमानित करके सभा में ला सकता था ॥१३

स्त्रीधर्मिणी वरारोहा शोणितेन परिप्लुता ॥ १४ ॥
एकवस्त्राऽथ पाञ्चाली पाण्डवानभ्यवैक्षत ।
हृतस्वान्हृतराज्यांश्च हृतवस्त्रान्हृतश्रियः ॥ १५ ॥
विहीनान्सर्वकामेभ्यो दासभावमुपागतान् ।
धर्मपासपरिक्षिप्तानशक्तानिव विक्रमे ॥ १६ ॥

यह सुन्दरी द्रौपदी ऋतुमती होने से रक्त से भीग रही थी। एक वस्त्र धारण किये हुए इस द्रौपदी ने पाण्डवों की ओर देखा इन पाण्डवों का धन, राज्य, वस्त्र और लक्ष्मी छीन लिए गये थे। ये सब कामनाओं से रहित और दास बन चुके थे। धर्म की फांसी में बंधे होने से पराक्रम करने में असमर्थ से हो रहे थे ॥ १५-१६ ॥

क्रुद्धां चानर्हतीं कृष्णां दुःखितां कुरुसंसदि ।
दुर्योधनश्च कर्णश्च कटुकान्यभ्यभाषताम् ॥ १७ ॥
इति सर्वमिदं राजन्नाकुलं प्रतिभाति मे ।

कटुभाषण के अयोग्य, क्रुद्ध और दुःखी द्रौपदी को कौरवों की सभा में दुर्योधन और कर्ण ने कटु वचन कहे। हे राजन! यह सब मुझे बुरी बात प्रतीत होती है ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

तस्याः कृपणचक्षुर्भ्यां प्रदह्येतापि मेदिनी ॥ १८ ॥
अपि शेषं भवेदद्य पुत्राणां मम संजय ।

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय ! द्रौपदी के कातर नेत्रों से पृथिवी भी भस्म हो सकती है, तुम बताओ मेरे इन पुत्रों मे कोई शेष बचेगा या नहीं ? ॥ १८ ॥

भरतानां स्त्रियः सर्वा गान्धार्या सह सङ्गताः ॥ १९ ॥
प्राक्रोशन्भैरवं तत्र दृष्ट्वा कृष्णां सभागताम् ।
धर्मिष्ठां धर्मपत्नीं च रूपयौवनशालिनीम् ॥ २० ॥

भरतवंश की सारी स्त्रियां, गान्धारी के साथ २ सभा में आई और धर्म युक्त, रूप यौवन से सम्पन्न द्रौपदी को देखकर भयानक स्वर मे रोने लगी ॥ १९-२० ॥

प्रजाभिः सह संगम्य ह्यनुशोचन्ति नित्यशः ।
अग्निहोत्राणि सायाह्ने न चाऽहूयन्त सर्वशः ॥ २१ ॥

ये सारी स्त्रिया प्रजा की स्त्रियों के साथ में बैठकर नित्य चिन्ता क्रिया करती रहती हैं और सायकाल को कोई भी अग्निहोत्र नहीं करते हैं ॥ २१ ॥

ब्राह्मणाः कुपिताश्चाऽऽसन्द्रौपद्याः परिकर्षणे ।
आसीन्निष्ठानको घोरो निर्घातश्च महानभूत् ॥ २२

द्रौपदी के आकर्षण के समय ब्राह्मण बड़े कुपित हुए। घोर प्रलय की दुन्दुभि के समान शब्द हुआ और वज्र टूट पड़ने के तुल्य महा-ध्वनि हुई ॥ २२ ॥

दिव उल्काश्चाऽपतन्त राहुश्चाऽर्कमुपाग्रसत् ।
अपर्वणि महाघोरं प्रजानां जनयन्भयम् ॥ २३ ॥

दिन में ही उल्कापात (तारे टूटना) होने लगे, राहु ने विना पर्व ही सूर्य को ग्रस लिया और प्रजा को महाघोर भय उत्पन्न हुआ ॥ २३ ॥

तथैव रथशालासु प्रादुरासीद्धुताशनः ।
ध्वजाश्चापि व्यशीर्यन्त भरतानामभूतये ॥ २४ ॥

इसी तरह रथशाला में आग लग गई और भरत वंशियों के नाश के लिए ध्वजा भी कट कर गिर गई ॥ २४ ॥

दुर्योधनस्याऽग्निहोत्रे प्राक्रोशन्भैरवं शिवाः ।
तास्तदा प्रत्यभाषन्त रासभाः सर्वतो दिशः ॥ २५ ॥

जब दुर्योधन अग्निहोत्र करने लगा, तो गीदड़ियों ने भैरव शब्द किया। उसको सुनकर सब ओर से गधे रेंकने लगे ॥ २५ ॥

प्रातिष्ठत ततो भीष्मो द्रोणेन सह संजय ।
कृपश्च सोमदत्तश्च बाह्लीकश्च महामनाः ॥ २६ ॥

हे सञ्जय ! द्रोण के साथ भीष्म, कृप, सोमदत्त महामनस्वी बाह्लीक मेरे पास आए ॥ २६ ॥

ततोऽहमब्रुवं तत्र विदुरेण प्रचोदितः ।
वरं ददानि कृष्णायै कांक्षितं यद्यदिच्छति ॥ २७ ॥

विदुर के कहने पर मैंने उन से कहा, कि मैं द्रौपदी के लिए वर देता हूँ, जो यह चाहे मांग ले ॥ २७ ॥

अवृणोत्तत्र पाञ्चाली पाण्डवानामदासताम् ।
सरथान्सधनुष्कांश्चाऽप्यनुज्ञासिषमप्यहम् ॥ २८ ॥

पाञ्चाली ने पाण्डवों को दासता से मुक्त करना मांग लिया। मैंने भी धनुप और रथ के साथ उनको जाने की आज्ञा दे दी।२८

अथाऽब्रवीन्महाप्राज्ञो विदुरः सर्वधर्मवित् ।
एतदन्तास्तु भरता यद्वः कृष्णा सभां गता ॥ २९ ॥

सब धर्मों के जानने वाले महाबुद्धिमान् विदुर ने कहा, कि अब भरत वंशियों का अन्त होगा, जो यह द्रौपदी सभा में लाई गई है ॥ २९ ॥

यैषा पाञ्चालराजस्य सुता सा श्रीरनुत्तमा ।
पाञ्चाली पाण्डवानेतान्दैवसृष्टोपसर्पति ॥ ३० ॥

यह पाञ्चाल राज की पुत्री द्रौपदी सर्वोत्तम लक्ष्मी है। जो भाग्य के अनुसार पांडवों के पीछे फिर रही है ॥ ३० ॥

तस्याः पार्थाः परिक्लेशं न क्षंस्यन्ते ह्यमर्षणाः ।
वृष्णयो वा महेष्वासाः पाञ्चाला वा महारथाः ॥ ३१ ॥

असहनशील पांडव, धनुपधारी वृष्णि तथा महारथी पांचाल, इस द्रौपदी के क्लेश को नहीं सहेंगे ॥ ३१ ॥

तेन सत्याभिसन्धेन वासुदेवेन रक्षिताः ।
आगमिष्यति बीभत्सुः पञ्चालैः परिवारितः ॥ ३२ ॥

उस सत्य प्रतिज्ञ श्रीकृष्ण से सुरक्षित होकर पांचालों के साथ अर्जुन, चढ़ कर आवेगा ॥ ३२ ॥

तेषां मध्ये महेष्वासो भीमसेनो महाबलः ।
आगमिष्यति धुन्वानो गदां दण्डमिवान्तकः ॥ ३३ ॥

इनके बीच में धनुषधारी, महाबली भीमसेन, दण्ड को अन्तक के समान गदा को घुमाता हुआ आवेगा ॥ ३३ ॥

ततो गाण्डीवनिर्घोषं श्रुत्वा पार्थस्य धीमतः ।
गदावेगं च भीमस्य नालं सोढुं नराधिपाः ॥ ३४ ॥

उस समय श्रीमान् अर्जुन के गाण्डीव धनुष की-टंकार और भीम की गदा के वेग को कोई भी राजा सह नहीं सकेंगे ॥३४॥

तत्र मे रोचते नित्यं पार्थैः साम न विग्रहः ।
कुरुभ्यो हि सदा मन्ये पाण्डवान्बलवत्तरान् ॥ ३५

इस से पांडवों के साथ मुझे सन्धि ही उत्तम प्रतीत होती है, युद्ध नहीं । मैं कुरुओं से पांडवों को ही बलवान् मानता हूँ ।

तथा हि बलवान्राजा जरासन्धो महाद्युतिः ।
बाहुप्रहरणेनैव भीमेन निहतो युधि ॥ ३६ ॥

देखो अत्यन्त कान्तिमान् बलवान् राजा जरासन्ध को बाहु, युद्ध में भीम ने मार गिराया था ॥ ३६ ॥

तस्य ते शम एवास्तु पाण्डवैर्भरतर्षभ ।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं क्रियतामविशङ्कया ॥ ३७ ॥
एवं कृते महाराज परं श्रेयस्त्वमाप्स्यसि ॥३८॥

हे भरतर्षभ! इससे पांडवों के साथ सन्धि ही होनी चाहिये यह दोनों पक्ष को उत्तम है। तुम निःशंक होकर इसका उपाय करो। हे महाराज! ऐसा करने से तुमको बड़ा कल्याण प्राप्त होगा॥ ३७-३८॥

एवं गावल्गणे क्षत्ता धर्मार्थसहितं वचः।
उक्तवान्न गृहीतं वै मया पुत्रहितैषिणा॥ ३९॥ [२७६१

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वण्य-
नुद्यूतपर्वणि धृतराष्ट्रसंजयसंवादे एकाशीतितमोऽध्यायः॥८१॥
समाप्तं चानुद्यूतपर्व। इति सभापर्व समाप्तम् (११४७१)

हे सञ्जय! विदुर ने मुझे यह धर्म और अर्थ सहित वचन कहा था, परन्तु मैंने पुत्र के प्रेम से इसको नहीं सुना॥ ३९॥

इति श्री महाभारत सभापर्वान्तरगत अनुद्यूतपर्व में धृतराष्ट्र और सञ्जय से सम्वाद का इक्यासीवां अध्याय पूरा हुआ और यहीं पर सभा पर्व भी समाप्त हो गया।



महाभारत

वनपर्वारम्भ

महाभारत



अथ वनपर्व

पहिला अध्याय

(अथारण्यकपर्व)

नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

जनमेजय उवाच—

एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः ।
धार्त्तराष्ट्रैः सहामात्यैर्निकृत्या द्विजसत्तम ॥१॥

जनमेजय बोले—हे ब्रह्मन्! अपने मन्त्री कर्ण आदि के साथ, दुरात्मा धृतराष्ट्र के पुत्रों ने द्यूत (जुआ) से जीते हुए पाण्डवों को इसप्रकार कुपित कर दिया ॥ १ ॥

श्राविताः परुषा वाचः सृजद्भिर्वैरमुत्तमम् ।
किमकुर्वत कौरव्या मम पूर्वपितामहाः ॥२॥

अत्यन्त वैर को उत्पन्न करने वाले इन दुर्योधनादिकों ने बड़ी कटु वाणी सुनाई। हे ब्रह्मन्! इसके अनन्तर कुरु कुलोत्पन्न मेरे पितामहों ने क्या किया॥ २॥

कथञ्चैश्वर्य्यविभ्रष्टाः सहसा दुःखमीयुषः।
वने विजह्रिरे पार्थाः शक्रप्रतिमतेजसः ॥३॥

ये इन्द्र के तुल्य तेजस्वी, कुन्ती-पुत्र, ऐश्वर्य से भ्रष्ट होकर अचानक दुःख को प्राप्त हुए। इन्होंने वन में कैसे निर्वाह किया॥ ३॥

के वै तानन्ववर्त्तन्त प्राप्तान् व्यसनमुत्तमम्।
किमाचाराः किमाहाराः क च वासो महात्मनाम् ॥४॥

इस महा-विपत्ति में किन्होंने उनका साथ दिया। किस आचार से रहे, क्या आहार किया और कहां २ निवास किया॥४॥

कथञ्च द्वादश समा वने तेषां महामुने।
व्यतीयुर्ब्राह्मणश्रेष्ठ शूराणामरिघातिनाम् ॥५॥

हे महा-मुने! इन शत्रुघाती शूरवीरों के बारह वर्ष, उस वन में कैसे २ व्यतीत हुए॥ ५॥

कथञ्च राजपुत्री सा प्रवरा सर्वयोषिताम्।
पतिव्रता महाभागा सततं सत्यवादिनी ॥६॥
वनवासमदुःखार्हा दारुणं प्रत्यपद्यत।
एत दाचच मे सर्वं विस्तरेण तपोधन ॥७॥



द्रौपदी चीर हरण

हे तपोधन ! सब स्त्रियों में उत्तम, महानुभावा, सदा सत्यभाषण करने वाली, दुःख के अयोग्य, पतिव्रता द्रौपदी ने वनवास के दुःखों को किस तरह सहा ? यह सब मुझ से विस्तार से कहो ॥ ६-७ ॥

श्रोतुमिच्छामि चरितं भूरिद्रविणतेजसाम् ।
कथ्यमानं त्वया विप्र परं कौतूहलं हि मे ॥८॥

हे विप्र ! इन अत्यन्त तेजस्वी पाण्डवों का आपसे कहा हुआ चरित्र मैं सुनना चाहता हूँ, मुझे इसकी बड़ी ही उत्कण्ठा है ॥८॥

वैशम्पायन उवाच—

एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः ।
धार्त्तराष्ट्रैः सहामात्यैर्निर्ययुर्गजसाह्वयात् ॥९॥

वैशम्पायन बोले—इस प्रकार जुआ मे जीते हुए और मन्त्रियों के सहित दुरात्मा धृतराष्ट्र के पुत्रों से कुपित किए हुए पाण्डव हस्तिनापुर से चल दिए ॥ ९ ॥

वर्द्धमानपुरद्वारादभिनिष्क्रम्य पाण्डवाः ।
उदङ्मुखाः शस्त्रभृतः प्रययुः सह कृष्णया ॥१०॥

वर्द्धमानपुर के द्वार से निकल कर द्रौपदी के साथ २ शस्त्र धारण किए ये पाण्डव, उत्तर की ओर चल दिये ॥ १० ॥

इन्द्रसेनादयश्चैव भृत्याः परि चतुर्दश ।
रथैरनुपयुः शीघ्रैः स्त्रिय आदाय सर्वशः ॥११॥

इन्द्रसेन आदि चौदह या पन्द्रह भृत्य, सारी स्त्रियों को लेकर शीघ्रगामी रथों से इनके साथ २ चल दिये ॥ ११ ॥

गतानेतान् विदित्वा तु पौराः शोकाभिपीड़िताः ।
गर्हयन्तोऽसकृद्भीष्मविदुरद्रोणगौतमान् ।
ऊचुर्विगतसन्त्रासाः समागम्य परस्परम् ॥१२॥

इनको जाते हुए जानकर शोकाकुल पुरवासी, भीष्म, विदुर द्रोण, और कृप की निन्दा करने लगे और भयरहित होकर आपस में कहने लगे ॥ १२ ॥

पौरा ऊचुः—

नेदमस्ति कुलं सर्वं न वयं न च ते गृहाः ।
यत्र दुर्योधनः पापः सौबलेयेन पालितः ।
कर्णदुःशासनाभ्याश्च राज्यमेतच्चिकीर्षति ॥१३॥

पुरवासी बोले—न तो हमारा सारा कुल, न हम और न घर ही सुरक्षित है, जो पापी दुर्योधन, शकुनि से सम्मति करता है और कर्ण तथा दुःशासन की सम्मति से राज्य-शासन करना चाहता है ॥ १३ ॥

न तत् कुलं न चाचारो न धर्मोऽर्थः कुतः सुखम् ।
यत्र पापसहायोऽयं पापो राज्यञ्चिकीर्षति ॥१४॥

ऐसी जगह कुल, आचार और धर्म कुछ भी नहीं रहता है, धन और सुख की तो चर्चा ही क्या है, जहां पर पाप का अवलम्बन करने वाला पापी दुर्योधन राज्य कर रहा है ॥ १४ ॥

दुर्योधनो गुरुद्वेषी त्यक्ताचारसुहृज्जनः ।
अर्थलुब्धोऽभिमानी च नीचः प्रकृतिनिर्घृणः ॥१५॥

यह दुर्योधन पूज्यों से द्वेष और आचार तथा मित्र जनों का परित्याग करने वाला है। यह धन का लालची, अभिमानी, नीच और निर्दयी है ॥ १५ ॥

नेयमस्ति मही कृत्स्ना यत्र दुर्य्योधनो नृपः ।
साधु गच्छामहे सर्वे तत्र गच्छन्ति पाण्डवाः ॥१६॥

इस सारी भूमि पर सुख रह ही नहीं सकता है, जहां राजा दुर्योधन शासन करता है। अब हम भी वहीं जावेंगे, जहां पाण्डव गये हैं ॥ १६ ॥

सानुक्रोशा महात्मानो विजितेन्द्रियशत्रवः ।
ह्रीमन्तः कीर्त्तिमन्तश्च धर्माचारपरायणाः ॥१७॥

वे दया-शील, महात्मा, जितेन्द्रिय, शत्रुविजयी, लज्जायुक्त, कीर्तिमान् और धर्म तथा आचार में परायण हैं ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वानुजग्मुस्ते पाण्डवांस्तान् समेत्य च ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे कौन्तेयान्माद्रिनन्दनान् ॥१८॥

वैशम्पायन बोले—ये पुरवासी, इस प्रकार कहकर पाण्डवों के पास पहुंचे और हाथ जोड़कर कुन्ती तथा माद्री के पुत्र पाण्डवों से कहने लगे ॥ १८ ॥

क्व गमिष्यथ भद्रं वस्त्यक्त्वास्मान् दुःखभागिनः ।
वयमप्यनुयास्यामो यत्र यूयं गमिष्यथ ॥१९॥

हे महानुभावों ! हम दुखियों को छोड़कर तुम कहां चल दिए हो। जहां तुम जाओगे, हम तुम्हारे पीछे २ वहीं पर चलेंगे ॥ १६ ॥

अधर्मेण जितान् श्रुत्वा युष्मान्त्यक्तघृणैः परैः ।
उद्विग्नाः स्मो भृशं सर्वे नास्मान् हातुमिहार्हथ ॥२०॥

लज्जा-त्यागी विरोधी, धृतराष्ट्र के पुत्रों ने तुमको अधर्म से जीता है, यह सुनकर हम सब अत्यन्त व्याकुल हो गए हैं। तुम हम को छोड़कर न जाओ ॥ २० ॥

भक्तानुरक्तान् सुहृदः सदा प्रियहिते रतान् ।
कुराजाधिष्ठिते राज्ये न विनिश्येम सर्वशः ॥२१॥

हम सर्वथा तुम्हारे सत्य प्रेमी, मित्र और हित तथा प्रीति में तत्पर हैं। कुराजा से अनुशासित इस देश में हम सब तरह नष्ट हो जायेंगे ॥ २१ ॥

श्रूयताञ्चाभिधास्यामो गुणदोषान्नरर्षभाः ।
शुभाशुभाधिवासेन संसर्गः कुरुते यथा ॥२२॥

हे नरश्रेष्ठों ! हम गुण दोषों का विवेचन करते हैं, जिस तरह इनको शुभ और अशुभ के मेल से संसर्ग उत्पन्न करता है ॥ २२ ॥

वस्त्रमापस्तिलान् भूमिं गन्धो वासयते यथा ।
पुष्पाणामधिवासेन तथा संसर्गजा गुणाः ॥२३॥

वस्त्र, जल, तिल, तथा भूमि को जैसे गन्ध, पुष्पों की सुगन्ध से सुगन्धित कर देता है, ऐसे ही संसर्ग से गुण उत्पन्न होते हैं ॥२३॥

मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागमः ।
अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधुसमागमः ॥२४॥

मूढ़ों के साथ संगति मोहजाल की योनि है और साधुओं की संगति प्रति दिन धर्म का कारण है ॥ २४ ॥

तस्मात् प्राज्ञैश्च वृद्धैश्च सुस्वभावैस्तपस्विभिः ।
सद्भिश्च सह संसर्गः कार्यः शमपरायणैः ॥२५॥

इसलिए बुद्धिमान्, वृद्ध, सुन्दर स्वभाव वाले, तपस्वी, शान्त चित्त सज्जनों के साथ ही संसर्ग करना चाहिए ॥ २५ ॥

येषां त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च ।
तान् सेवेत्तैः समास्या हि शास्त्रेभ्यो हि गरीयसी ॥२६॥

जिनके विद्या, योनि और कर्म ये तीनों शुद्ध हैं, उनकी संगति करे। इनकी संगति मात्र से भी अधिक [illegible] है ॥२६॥

निरारम्भा ह्यपि वयं पुण्यशीलेषु साधुषु ।
पुण्यमेवाप्नुयामेह पापं पापोपसेवनात् ॥२७॥

[illegible] साधुओं के संग से [illegible] हम [illegible] पुण्य [illegible] करते हैं। पापी पुरुषों के सेवन से केवल पाप ही [illegible] है ॥ २७ ॥

असतां दर्शनात् स्पर्शात् सञ्जल्पाच्च सहासनात् ।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः ॥२८॥

असज्जनों के दर्शन, स्पर्शन, भाषण, साथ बैठने से धर्म के आचरण नष्ट हो जाते हैं और ऐसे मानवों की सिद्धि नहीं होती है ॥ २८ ॥

बुद्धिश्च हीयते पुंसां नीचैः सह समागमात् ।
मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठता याति चोत्तमैः ॥२९॥

नीचों की संगति से पुरुषों की बुद्धि नीच, मध्यों की संगति से मध्य और उत्तमों की संगति से उत्तम हो जाती है ॥ २९ ॥

अनीचैर्नाप्यविषयैर्नाधर्मिष्ठैर्विशेषतः ।
ये गुणाः कीर्तिता लोके धर्मकामार्थसम्भवाः ।
लोकाचारेषु सम्भूता वेदोक्ताः शिष्टसम्मताः ॥३०॥

उदार, शास्त्रों के ज्ञाता, धर्मशीलों ने धर्म, अर्थ और काम के उत्पन्न करने वाले, जो गुण कहे हैं, वे लोक के आचारों से ही प्राप्त होते हैं। वे गुण वेदोक्त और श्रेष्ठ पुरुषों को सम्मत हैं ॥ ३० ॥

ते युष्मासु समस्ताश्च व्यस्ताश्चैवेह सद्गुणाः ।
इच्छामो गुणवन्मध्ये वस्तुं श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः ॥३१॥

वे सद्गुण सारे या पृथक् २ तुम में विद्यमान हैं, इससे तुम गुणवानों के मध्य में ही हम रहना चाहते हैं, जिससे हमारा कल्याण होवे ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

धन्या वयं यदस्माकं स्नेहकारुण्ययन्त्रिताः ।
असतोऽपि गुणानाहुर्ब्राह्मणप्रमुखाः प्रजाः ॥३२॥

युधिष्ठिर ने कहा—आज हम धन्य हो गये हैं, जो ब्राह्मणों लेकर शूद्र पर्यन्त सारी प्रजा, हम में जो गुण नहीं हैं, उनको भी स्नेह और करुणा के कारण हम में बता रही है ॥ ३२ ॥

तदहं भ्रातृसहितः सर्वान् विज्ञापयामि वः ।
नान्यथा तद्धि कर्त्तव्यमस्मत्स्नेहानुकम्पया ॥३३॥

अब मैं अपने भाइयों के साथ तुमसे एक निवेदन करता हूँ, तुम स्नेह और दया करके उसको अन्यथा (उलटा) नहीं करना ।३३

भीष्मः पितामहो राजा विदुरो जननी च मे ।
सुहृज्जनश्च प्रायो मे नगरे नागसाह्वये ॥३४॥
ते त्वस्मद्धितकामार्थं पालनीयाः प्रयत्नतः ।
युष्माभिः सहिताः सर्वे शोकसन्तापविह्वलाः ॥३५॥

भीष्म पितामह, राजा धृतराष्ट्र, विदुर हमारी माता कुन्ती और हमारे सारे सुहृद्जन हस्तिनापुर में विद्यमान हैं । जो तुम हमारा हित करना चाहते हो, तो इनकी विशेषता से सेवा करो । ये भी तुम्हारे साथ २ शोक और सन्ताप से विह्वल हैं ॥३४-३५॥

निवर्त्ततागता दूरं समागमनशापिताः ।
स्वजने न्यासभूते मे कार्य्या स्नेहान्विता मतिः ॥३६॥

तुम बहुत दूर चले आये हो, जिससे बड़े क्लेशित हो रहे हो अब तुम लौट जाओ। ये मेरे स्वजन तुम्हारे पास धरोहर की भांति समझना। तुम इनसे यथा-शक्ति स्नेह करते रहना ॥३६॥

एतद्धि मम कार्य्याणां परमं हृदि संस्थितम्।

कृता तेन तु तुष्टिर्मे सत्कारश्च भविष्यति ॥३७॥

यही सबसे बड़ा कार्य है, जो मेरे हृदय में इस समय चक्कर लगा रहा है। इसको यदि पूरा कर दोगे, तो मेरा अत्यन्त सन्तोष और सत्कार होगा ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तथानुमन्त्रितास्तेन धर्मराजेन ताः प्रजाः।

चक्रुरार्त्तस्वरं घोरं हा राजन्निति संहताः ॥३८॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! जब धर्मराज ने प्रजा से इस प्रकार कहा, तो वह प्रजा हा! "राजन्" हा! राजन्" इस प्रकार घोर आर्तस्वर करने लगी ॥ ३८ ॥

गुणान् पार्थस्य संस्मृत्य दुःखार्त्ताः परमातुराः।

अकामाः संन्यवर्त्तन्त समागम्याथ पाण्डवान् ॥३९॥

युधिष्ठिर के गुणों का स्मरण करके दुःखी और व्याकुल प्रजा इच्छा के विपरीत भी पाण्डवों से मिलकर लौट चली ॥३९॥

निवृत्तेषु तु पौरेषु रथानास्थाय पाण्डवाः।

आजग्मुर्जाह्नवीतीरे प्रमाणाख्यं महावटम् ॥४०॥

पुरवासियों के लौट जाने पर पाण्डव रथों में बैठ कर गंगा तीरपर प्रमाण नामक महावट पर पहुंचे ॥ ४० ॥

ते तं दिवसशेषेण वटं गत्वा तु पाण्डवाः ।
ऊषुस्ता रजनीं वीराः संस्पृश्य सलिलं शुचि ॥४१॥

ये पाण्डव कुछ दिन शेष रहते २ उस बड़ के वृक्ष के पास पहुंचे और वहां उन्होंने पवित्र जल पीकर रात भर निवास किया ॥ ४१ ॥

उदकेनैव तां रात्रिमूषुस्ते दुःखकर्षिताः ।
अनुजग्मुश्च तत्रैतान् स्नेहात् केचिद् द्विजातयः ॥४२॥

इन दुःखी पाण्डवों ने वह रात जल पीकर ही गुजारी । इनके साथ २ स्नेह से कुछ ब्राह्मण गये थे ॥ ४२ ॥

साग्नयोऽनग्नयश्चैव सशिष्यगणबान्धवाः ।
सर्वैः परिवृतो राजा शुशुभे ब्रह्मवादिभिः ॥४३॥

इन ब्राह्मणों में कोई तो साग्नि और कोई निरग्नि था । इनके साथ शिष्य और अपने बान्धव थे । इन ब्रह्मवादी ब्राह्मणों से युक्त राजा युधिष्ठिर सुशोभित हो रहा था ॥ ४३ ॥

तेषां प्रादुष्कृताग्नीनां मुहूर्ते रम्यदारुणे ।
ब्रह्मघोषपुरस्कारः सञ्जल्पः समजायत ॥४४॥

उन ब्राह्मणों के अग्नि प्रदीप्त कर देने पर उस सुन्दर मुहूर्त में वेद-ध्वनि के साथ २ उनकी शास्त्र-चर्चा होने लगी ॥ ४४ ॥

राजानन्तु कुरुश्रेष्ठं ते हंसमधुरस्वराः ।
आश्वासयन्तो विप्राग्र्याः क्षपां सर्वां व्यनोदयन् ॥४५॥

इति श्रीमहाभारते० वनपर्वान्तर्गत आरण्यकपर्वणि
पौरप्रत्यागमने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार हंस के समान मधुर स्वर वाले ब्राह्मणों ने कुरुश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर को आश्वासन दिया और राजा की यह रात इसी तरह पूरी कर दी ॥ ४५ ॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत आरण्यकपर्व में पुरवासियों के प्रत्यागमन का पहला अध्याय पूरा हुआ ।



दूसरा अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

प्रभातायान्तु शर्वर्यां तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
वनं यियासतां विप्रास्तस्थुर्भिक्षाभुजोऽग्रतः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! जब प्रातःकाल हुआ, तो उन उत्तम कर्म करने वाले और वन में जाने को तय्यार हुए पाण्डवों के सामने भिक्षा-भोगी ब्राह्मण उपस्थित हुए ॥ १ ॥

तानुवाच ततो राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
वयं हि हृतसर्वस्वा हृतराज्या हृतश्रियः ॥ २ ॥

फलमूलामिषाहारो वनं गच्छाम दुःखिताः ।
वनश्च दोषबहुलं बहुव्यालसरीसृपम् ॥ ३ ॥
परिक्लेशश्च वो मन्ये ध्रुवं तत्र भविष्यति ।
ब्राह्मणानां परिक्लेशो दैवतान्यपि सादयेत् ।
किं पुनर्मामितो विप्रा निवर्त्तध्वं यथेष्टतः ॥ ४ ॥

इनसे-कुन्ती पुत्र राजा युधिष्ठिर बोले—हमारा सर्वस्व, राज्य और लक्ष्मी अपहरण की गई है। हम तो स्वयं फल फूल आमिष का भोजन करते हुए दुःख से वन मे जा रहे हैं। वन मे बड़े क्लेश तथा सर्प और अन्य जीव-जन्तुओं का भय रहता है। तुम लोगों को भी वहा बड़ा क्लेश होगा और ब्राह्मणों का क्लेश देवताओं को भी कष्ट देता है, फिर मेरी तो क्या गिनती है ;इस से तुम लोग मुझे त्याग अपनी इच्छानुसार लौट जाओ ॥२-४॥

ब्राह्मणा ऊचुः—

गतिर्या भवतां राजन् वयं हि गन्तुमुद्यताः ।
नार्हस्यस्मान् परित्यक्तुं भक्तान् सद्धर्मदर्शिनः ॥ ५ ॥

ब्राह्मण बोले—हे राजन्! जो गति तुम्हारी होगी, हम भी उसी क्लेश को भोगना चाहते हैं। हम धर्म के मार्ग पर चलने वाले तुम्हारे भक्त हैं, तुम हमारा परित्याग न करो ॥ ५ ॥

अनुकम्पा हि भक्तेषु देवता ह्यपि कुर्वते ।
विशेषतो ब्राह्मणेषु सदाचारावलम्बिषु ॥ ६ ॥

भक्तों पर देवता भी दया करते हैं और वे सदाचारी ब्राह्मणों पर तो विशेष रूप से दयालु होते हैं ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

ममापि परमा भक्तिर्ब्राह्मणेषु सदा द्विजाः ।
सहायविपरिभ्रंशस्त्वयं सादयतीव माम् ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे ब्राह्मणों ! मेरी भी ब्राह्मणों में अत्यन्त भक्ति रहती है, परन्तु सहायता की न्यूनता मुझे पीड़ित कर रही है ॥ ७ ॥

आहरेयुरिमे येऽपि फलमूलमृगांस्तथा ।
त इमे शोकजैर्दुःखैर्भ्रातरो मे विमोहिताः ॥८॥

ये मेरे भाई फल, मूल और मृगों को लाते हैं, परन्तु शोक और दुःख से ये भी अब मोहित से हो रहे हैं ॥ ८ ॥

द्रौपद्या विप्रकर्षेण राज्यापहरणेन च ।
दुःखार्दितानिमान् क्लेशैर्नाहं योक्तुमिहोत्सहे ॥९॥

द्रौपदी के आकर्षण और राज्य के अपहरण से दुःखी हुए इन भाइयों को मैं अधिक क्लेश में डालना नहीं चाहता हूँ ॥९॥

ब्राह्मणा ऊचुः—

अस्मत्पोषणजा चिन्ता माभूत्ते हृदि पार्थिव ।
स्वयमाहृत्य चान्नानि उपयोक्ष्यामहे वयम् ॥१०॥

ब्राह्मण बोले—हे राजन् ! हमारे भरण पोषण की चिन्ता आपको अपने हृदय में नहीं करनी चाहिए। हम तो स्वयं अपना भोजन लाकर निर्वाह कर लेंगे ॥ १० ॥

अनुध्यानेन जप्येन विधास्यामः शिवं तव ।
कथाभिश्चातिरम्याभिः सहरंस्यामहे वयम् ॥११॥

हम ध्यान और जप से तेरे कल्याण की कामना करते रहेंगे और सुन्दर २ कथाओं से तुमको प्रसन्न रखेंगे ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

एवमेतन्न सन्देहो रमेऽहं सततं द्विजैः ।
न्यूनभावात्तु पश्यामि प्रत्यादेशमिवात्मनः ॥१२॥

युधिष्ठिर ने कहा—यह ठीक है, कि मैं सदा ब्राह्मणों से प्रसन्न रहता हूँ, परन्तु अपने दरिद्र के कारण मैं अपने को धिक्कार सा दे रहा हूँ ॥ १२ ॥

कथं द्रक्ष्यामि वः सर्वान् स्वयमाहृत्य भोजिनः ।
मद्भक्त्या क्लिश्यतोऽनर्हान् धिक् पापान् धृतराष्ट्रजान् ॥१३॥

मैं यह कैसे देख सकता हूँ, कि तुम स्वयं अन्न लाकर भोजन करो। मेरे प्रेम के कारण क्लेश के अयोग्य भी आपको क्लेश हो रहा है, इस से उन पापी धृतराष्ट्र के पुत्रों को धिक्कार है।

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्त्वा स नृपः शोचन् निषसाद महीतले ।
तमध्यात्मरतो विद्वान् शौनको नाम वै द्विजः ।
योगे सांख्ये च कुशलो राजानमिदमब्रवीत् ॥१४॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! यह कहकर चिन्तातुर राजा युधिष्ठिर पृथिवी पर बैठ गया। इस समय आत्म ज्ञानी, विद्वान्

योग और सांख्य में कुशल शौनक नाम का द्विज राजा युधिष्ठिर से यह कहने लगा ॥ १४ ॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥१५॥

संसार में सहस्रों शोक के स्थान हैं, और सैंकड़ों भय के स्थान हैं, परन्तु ये प्रतिदिन मूर्ख को प्राप्त होते हैं, पण्डित को नहीं होते।

न हि ज्ञानविरुद्धेषु बहुदोषेषु कर्मसु ।
श्रेयघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥१६॥

ज्ञान के विरुद्ध, बहुत दोष वाले, कल्याण के विनाशी कर्मों में आपके सदृश बुद्धिमान् नहीं फंसते हैं ॥ १६ ॥

अष्टाङ्गां बुद्धिमाहुर्यां सर्वाश्रेयोऽभिघातिनीम् ।
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तां राजन् सा त्वय्यास्थिता ॥१७

हे राजन्! सारे अकल्याणों का नाश करने वाली, श्रुति और स्मृति के अर्थ से युक्त, जो अष्टांग योग-युक्त बुद्धि हैं, वह तुम में विद्यमान हैं ॥ १७ ॥

अर्थकृच्छ्रेषु दुर्गेषु व्यापत्सु स्वजनस्य च ।
शारीरमानसैर्दुःखैर्न सीदन्ति भवद्विधाः ॥१८॥

किसी अर्थ सम्बन्धी कठिनाई, क्लेश और स्वजनों के विपत्ति में फंस जाने पर भी आपके समान महात्मा मनुष्य, शरीर और मन के दुःख से क्लेशित नहीं होते हैं ॥ १८ ॥

श्रूयताञ्चाभिधास्यामि जनकेन यथा पुरा ।
आत्मव्यवस्थानपरा गीताः श्लोका महात्मना ॥१९॥

महात्मा जनक ने मन को शान्ति प्राप्त कराने वाले कुछ श्लोक कहे हैं, मैं तुमको वे सुनाता हूँ ॥ १६ ॥

मनोदेहसमुत्थाभ्यां दुःखाभ्यामर्दितं जगत् ।
तयोर्व्यासमासाभ्यां शमोपायमिमं शृणु ॥२०॥

मन और देह में उत्पन्न हुए दुःखों से यह सारा जगत् भरा पड़ा है; उनके शमन के उपाय विस्तार और संक्षेप से सुनो ॥२०॥

व्याधेरनिष्टसंस्पर्शात् श्रमादिष्टविवर्जनात् ।
दुःखं चतुर्भिः शारीरं कारणैः संप्रवर्त्तते ॥२१॥

रोग, अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति, श्रम, अन्नादि के अभाव इन चार कारणों से शरीर के दुःख उत्पन्न होते हैं ॥ २१ ॥

तदा तत् प्रतिकाराच्च सततं वा विचिन्तनात् ।
आधिव्याधिप्रशमनं क्रियायोगद्वयेन च ॥२२॥

तब उनकी चिकित्सा आदि करने तथा सदा उसका चिन्तन न करने से ही आधि और व्याधि का नाश होता है। ये ही इसके दो क्रिया योग हैं ॥ २२ ॥

मतिमन्तो ह्यतो वैद्याः शमं प्रागेव कुर्वते ।
मानसस्य प्रियाख्यानैः सम्भोगोपनयैर्नृणाम् ॥२३॥

ऐसे रोगी को बुद्धिमान् वैद्य, प्रथम मन की शान्ति का उपदेश तथा मन को प्रिय लगने वाली बात चीत और भोग विलास के सामान उपस्थित करते हैं ॥ २३ ॥

मानसेन हि दुःखेन शरीरमुपतप्यते ।
अयःपिण्डेन संतप्ते कुम्भसंस्थमिवोदकम् ॥२४

उत्तप्तलोह के पिण्ड से घड़े के जल के समान मानसिक दुःख से शरीर जलता रहता है ॥ २४ ॥

मानसं शमयेत्तस्माज्ज्ञानेनाग्निमिवाम्बुना ।
प्रशान्ते मानसे ह्यस्य शारीरमुपशाम्यति ॥२५॥

इसलिए ज्ञान से प्रथम मन के दुःखों को शान्त करो । मानसिक दुःख नष्ट होजायेंगे तो शारीरिक स्वयं शान्त हो जायेंगे।

मनसो दुःखमूलन्तु स्नेह इत्युपलभ्यते ।
स्नेहात्तु सज्जते जन्तुर्दुःखयोगमुपैति च ॥२६॥

मनके दुःख का मूल मोह है । मोह से प्राणी फंसता है और फिर उसको दुःख प्राप्त हो जाते हैं ॥ २६ ॥

स्नेहमूलानि दुःखानि स्नेहजानि भयानि च ।
शोकहर्षौ तथायासः सर्वं स्नेहात् प्रवर्त्तते ॥२७॥

स्नेह (मोह) से ही दुःख और भय उत्पन्न होते हैं। शोक हर्ष, क्लेश आदि स्नेह से ही होते हैं ॥ २७ ॥

स्नेहाद्भावोऽनुरागश्च प्रजज्ञे विषये तथा ।
अश्रेयस्कावुभावेतौ पूर्वस्तत्रगुरुः स्मृतः ॥२८॥

स्नेह से ही विषय में भाव (संकल्प) और राग उत्पन्न होता है । ये दोनों ही दुःखदायी हैं, परन्तु इसमें पूर्व भाव ही अधिक अकल्याणकारी है ॥ २८ ॥

कोटराग्निर्यथाशेषं समूलं पादपं दहेत् ।
धर्मार्थौ तु तथाल्पोऽपि रागदोषो विनाशयेत् ॥२९॥

कोटर में बची हुई चिनगारी जैसे सारे वृक्ष को भस्म कर देती है, इसी तरह स्वल्प भी राग, धर्म और अर्थ का नाश कर देता है ॥ २९ ॥

विप्रयोगे न तु त्यागी दोषदर्शी समागमे ।
विरागं भजते जन्तु र्निर्वैरो निरवग्रहः ॥३०॥

जब विषयों की स्वयं प्राप्ति नहीं है, तब त्यागी नहीं कहा सकता है । विषयों के मिलने पर ही जो विषयों के दोषों को देखता है, वही त्यागी है । ऐसा प्राणी वैराग्य प्राप्त करता है और वैर रहित तथा सब बन्धनों से मुक्त होता है ॥ ३० ॥

तस्मात् स्नेहं न लिप्सेत मित्रेभ्यो धनसञ्चयात् ।
स्वशरीरसमुत्थश्च ज्ञानेन विनिवर्त्तयेत् ॥३१॥

मित्र और धन की राशि पाकर भी उनसे स्नेह न करें । अपने शरीर में उत्पन्न हुए मोह को भी ज्ञान से निवृत्त कर दें ॥ ३१ ॥

ज्ञानान्वितेषु युक्तेषु शास्त्रज्ञेषु कृतात्मसु ।
न तेषु सज्जते स्नेहः पद्मपत्रेष्विवोदकम् ॥३२॥

ज्ञानी, योगी, शास्त्र के ज्ञाता और ध्यानियों को कमल के पत्र में जल के तुल्य स्नेह (मोह) नहीं लिपट सकता है ॥ ३२ ॥

रागाभिभूतः पुरुषः कामेन परिकृष्यते ।
इच्छा संजायते तस्य ततस्तृष्णा विवर्द्धते ॥३३॥

राग से युक्त हुए पुरुष की वासनाऐं जाग उठती हैं । फिर विषयों की प्राप्ति की इच्छा जागृत होती है, इससे तृष्णा बढ़ती है ॥ ३३ ॥

तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता ।
अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी ॥३४॥

तृष्णा सब पापों की जड़ और नित्य उद्वेग करने वाली है इसमें अधर्म की अधिकता है और यह घोर पाप से सम्बन्ध रखती है ॥ ३४ ॥

दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्य्यति जीर्य्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतःसुखम् ॥३५॥

दुर्मति पुरुष, इसको छोड़ नहीं सकते हैं और जीर्ण होने वाले पुरुष की भी यह तृष्णा जीर्ण नहीं होती है। यह तो प्राणान्तक रोग है इसको जो छोड़ देगा, वही सुखी होगा ॥४३॥

अनाद्यन्ता तु सा तृष्णा अन्तर्देहगता नृणाम् ।
विनाशयति भूतानि अयोनिज इवानलः ॥३६॥

यह तृष्णा अनादि और अनन्त है, मनुष्यों के शरीर के भीतर रहती है। यह अयोनिज (लोह पिण्ड की आग के समान) प्राणियों का नाश कर देती है ॥ ३६ ॥

यथैधः स्वसमुत्थेन वह्निना नाशमिच्छति ।
तथाकृतात्मा लोभेन सहजेन विनश्यति ॥३७॥

जिस तरह इन्धन अपनी आग से आप जल जाता है, इसी तरह दुष्ट बुद्धि पुरुष अपने शरीर में उत्पन्न हुए लोभ से आप ही नष्ट हो जाता है ॥ ३७ ॥

राजतः सलिलादग्नेश्चौरतः स्वजनादपि ।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ॥३८॥

प्राणियों को मौत के भय के सदृश, राजा, जल, अग्नि, चोर और अपने कुटुम्बियों से धनवानों को भय लगा ही रहता है ३८

यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि ।
भक्ष्यते सलिले मत्स्यैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥३९॥

जिस तरह मांस आकाश में पक्षियों से, भूमि पर जङ्गली जन्तुओं से, जल में मछलियों से, खाया जाता है, वैसे ही सब जगह धनवान् खाया जाता है ॥ ३९ ॥

अर्थ एव हि केषाञ्चिदनर्थं भजते नृणाम् ।
अर्थश्रेयसि चासक्तो न श्रेयो विन्दते नरः ॥४०॥

कई मनुष्यों को तो धन के कारण से ही विपत्ति प्राप्त होती है। धन से ही जो कल्याण की कामना करता है, वह कल्याण पा नहीं सकता है ॥ ४० ॥

तस्मादर्थागमाः सर्वे लोभमोहविवर्द्धनाः ।
कार्पण्यं दर्पमानौ च भयमुद्वेग एव च ॥४१॥

इसलिए धन की वृद्धि लोभ और मोह को बढ़ाने वाली है। इसी से कृपणता, घमण्ड, अभिमान, भय और उद्वेग बढ़ते हैं ॥ ४१ ॥

अर्थजानि विदुः प्राज्ञा दुःखान्येतानि देहिनाम् ।
अर्थस्योत्पादने चैव पालने च तथा क्षये ॥४२॥

प्राणियों को ये तथा अन्य अनेक दुःख, धन से ही प्राप्त होते हैं। धन के उपार्जन रक्षण और नाश होने में दुःख ही दुःख है ॥ ४२ ॥

सहन्ति च महद् दुःखं घ्नन्ति चैवार्थकारणात् ।
अर्था दुःखं परित्यक्तुं पालिताश्चैव शत्रवः ॥४३॥

इस तृष्णा का कोई अन्त नहीं है, सन्तोष में ही परम सुख है। इससे विद्वान् सन्तोष को श्रेष्ठ मानते हैं ॥ ४५ ॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं रत्नसञ्चयः ।
ऐश्वर्यं प्रियसंवासो गृध्येत्तत्र न पण्डितः ॥४६॥

यौवन, रूप, जीवन, रत्नों का सञ्चय, ऐश्वर्य, प्रिय का संवास ये सब अनित्य हैं, इससे इनमें अपना मन आसक्त न करे ॥४६

त्यजेत सञ्चयांस्तस्मात्तज्जान् क्लेशान् सहेत च ।
न हि सञ्चयवान् कश्चिद् दृश्यते निरुपद्रवः ।
अतश्च धार्मिकैपुम्भिरनीहार्थः प्रशस्यते ॥४७॥

या तो धन का इकट्ठा करना छोड़ दे, नहीं तो धन के इकट्ठे करने के क्लेश अवश्य उठाने पड़ेंगे। कोई धन के सञ्चय करने वाला उपद्रवों से खाली नहीं देखा। इसलिए धार्मिक पुरुष जो मिले उसीमें सन्तुष्ट रहने वाले पुरुष की ही प्रशंसा करते हैं ॥४७

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरन्तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य श्रेयो न स्पर्शनं नृणाम् ॥४८॥

धर्म करने के लिए धन इकट्ठा करने की जिसकी इच्छा है, उससे तो इच्छा नहीं करना ही उत्तम है। कीचड़ को लगा कर धोने की अपेक्षा नहीं छूना ही सुखदायी है ॥ ४८ ॥

युधिष्ठिरैवं सर्वेषु न स्पृहां कर्त्तुमर्हसि ।
धर्मेण यदि ते कार्यं विमुक्तेच्छो भवार्थतः ॥४९॥

हे युधिष्ठिर ! इसलिए इन पूर्वोक्त सब पदार्थों मे इच्छा को प्रवृत्त न कर। यदि तेरा धर्म से प्रयोजन है, तो धन की इच्छा से मुक्त होजा ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिर उवाच —

नार्थोपभोगलिप्सार्थमियमर्थेप्सुता मम ।
भरणार्थन्तु विप्राणां ब्रह्मन् कांक्षे न लोभतः ॥५०॥

युधिष्ठिर बोले—हे ब्रह्मन् ! यह धन की चाह विषय भोग के लिए मैं नहीं कर रहा हूँ। मैं तो ब्राह्मणों के भरण पोषण के लिए राज्य चाहता हूँ; लोभ से राज्य की इच्छा नहीं है ॥ ५० ॥

कथमस्मद्विधो ब्रह्मन् वर्त्तमानो गृहाश्रमे ।
भरणं पालनं वापि न कुर्य्यादनुयायिनाम् ॥५१॥

हे ब्रह्मन् ! यह कैसे हो सकता है कि हमारे सदृश मनुष्य, गृहस्थाश्रम मे रह कर अपने साथियों का भरण पोषण भी न कर सके ॥ ५१ ॥

सम्विभागो हि भूतानां सर्वेषामेव दृश्यते ।
तथैवापचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना ॥५२॥

गृहस्थी के लिए देव, पितृ, मनुष्यों के लिए विभाग करना भी शास्त्रोक्त है। इसी तरह यति और ब्रह्मचारी को भी देना गृहस्थी का कर्त्तव्य है; क्योंकि ये भोजन बना कर नहीं खाते हैं।

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥५३॥

तृण, (आसन) भूमि, जल, मधुरवाणी, ये चारों वस्तुऐं सज्जनों के घर से कभी नष्ट नहीं हो सकती है ॥ ५३ ॥

देयमार्त्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम् ।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम् ॥५४॥
चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद्वाचं दद्यात् सुभाषितम् ।
उत्थाय चासनं दद्यादेष धर्मः सनातनः ॥५५॥

आर्त के लिए शय्या, थके हुए के लिए आसन, प्यासे को पानी, भूखे को भोजन, प्रेममयी दृष्टि, शुद्धमन, मधुरवाणी और उठ कर आसन, अतिथि के लिए गृहस्थी को अर्पण करने चाहिए, यही सनातन धर्म है ॥ ५४-५५ ॥

प्रत्युत्थायाभिगमनं कुर्य्यान्नियमेन चार्च्चनम् ।
अग्निहोत्रमनड्वाश्च ज्ञातयोऽतिथिबान्धवाः ॥५६॥
पुत्रा दाराश्च भृत्याश्च निर्दहेयुरपूजिताः ।
आत्मने पाचयेन्नान्नं न वृथा घातयेत् पशून् ।
न च तत् स्वयमश्नीयाद्विधिवद्यन्न निर्वपेत् ॥५७॥

अतिथि के सम्मुख खड़ा होकर स्वागत तथा पूजा करें, अग्नि-होत्र, वृषभ, अतिथि, बान्धव, पुत्र, दारा, भृत्य ये सत्कार से रहित होने से भस्म कर देते हैं। केवल अपने खाने के लिए ही भोजन न बनावे तथा वृथा पशु वध न करे। जो विधि पूर्वक अतिथि आदि को अर्पण नहीं किया, उस अन्न को स्वयं भक्षण न करें ॥ ५६-५७ ॥

श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चावपेद्भुवि ।
वैश्वदेवं हि नामैतत् सायं प्रातश्च दीयते ॥५८॥

कुत्ते, चण्डाल, पक्षियों के लिए पृथिवी पर डाल दे। यह बलिवैश्वदेव कहाता है, जो प्रातःकाल और सायंकाल करना चाहिए ॥ ५८ ॥

विघसाशी भवेत्तस्मान्नित्यश्चामृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषन्तु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥५९॥

इस प्रकार वैश्वदेव करके जो भोजन करता है, वह विघसाशी और अमृताशी कहता है, देव या अतिथियों का शेष विघस और यज्ञ का शेष अमृत कहाता है ॥ ५९ ॥

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद्वाचं दद्याच्च सूनृताम् ।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥६०॥

अतिथि की सेवा मे शुद्ध नेत्र, मन और मधुरवाणी का प्रयोग करे। उसका उठ कर स्वागत तथा उपासना करे, तो यही पांच दक्षिणा वाला यज्ञ कहाता है ॥ ६० ॥

यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्त्तते ।
श्रान्तायादृष्टपूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत् ॥६१॥

जो मार्ग में गमन करने वाले अतिथि को कृपणता छोड़कर भोजन कराता है, तथा थके हुए अपरिचित को अन्न देता है, उसका पुण्य फल बहुत अधिक है ॥ ६१ ॥

एवं यो वर्त्तते वृत्तिं वर्त्तमानो गृहाश्रमे ।
तस्य धर्मं परं प्राहुः कथं वा विप्र मन्यसे ॥६२॥

गृहाश्रम में रहता हुआ पुरुष जो इसप्रकार व्यवहार करता है, उसका यह गृह-धर्म अत्यन्त महत्वशाली माना जाता है। हे विप्र! तुम्हारी इसमें क्या सम्मति है ॥ ६२ ॥

शौनक उवाच—

अहो बत महत्कष्टं विपरीतमिदं जगत्।
येनापत्रपते साधुरसाधुस्तेन तुष्यति ॥ ६३ ॥

शौनक कहने लगे—यह बड़े आश्चर्य की बात है, यह बड़ा कष्ट है। यह जगत् बड़ा विपरीत है, कि जिससे श्रेष्ठ पुरुष लज्जित होता है, उसी को करके दुष्ट जन प्रसन्न होता है ॥६३॥

शिश्नोदरकृतेऽप्राज्ञः करोति विघसं बहु।
मोहरागवशाक्रान्त इन्द्रियार्थवशानुगः ॥ ६४ ॥

जो मूर्ख शिश्न और उदर के लिए अन्न का प्रयोग करता है, वह मोह और राग के वश में माना जाता है, तथा इन्द्रियों का दास कहाता है ॥ ६४ ॥

ह्रियते बध्यमानोऽपि नरो हारिभिरिन्द्रियैः।
विमूढसंज्ञो दुष्टाश्वैरुद्भ्रान्तैरिव सारथिः ॥ ६५ ॥

मूर्ख मनुष्य खेंचने वाली इन्द्रियों से मरता २ भी खेंच लिया जाता है, जैसे दुष्ट और चौंके हुए अश्व, सारथि को खैंच ले जाते हैं ॥ ६५ ॥

षडिन्द्रियाणि विषयं समागच्छन्ति वै यदा।
तदा प्रादुर्भवत्येषां पूर्वसङ्कल्पजं मनः ॥ ६६ ॥

जब ये छःओं इन्द्रियां अपने २ विषयों को दौड़ती है, तब इन का पूर्व संकल्प से मन उत्पन्न होता है ॥ ६६ ॥

मनो यस्येन्द्रियस्येह विषयान् याति सेवितुम् ।
तस्यौत्सुक्यं सम्भवति प्रवृत्तिश्चोपजायते ॥ ६७ ॥

मन जिस इन्द्रिय के भोग भोगना चाहता है तब उसी की उत्कण्ठा तथा उस इन्द्रिय की ओर मन की प्रवृत्ति होती है ॥६७॥

ततः सङ्कल्पबीजेन कामेन विषयेषुभिः ।
विद्धः पतति लोभाग्नौ ज्योतिर्लोभात् पतङ्गवत् ॥ ६८ ॥

इस संकल्प से उत्पन्न कामना से विषय चाहने वाली इन्द्रियों से विंधकर यह प्राणी लोभ की अग्नि में गिरता है, जैसे दीपक पर प्रकाश के लोभ से पतंगे (कीट) पड़ती हैं ॥ ६८ ॥

ततो विहारैराहारैर्मोहितश्च यथेप्सया ।
महामोहे सुखे मग्नो नात्मानमवबुध्यते ॥ ६९ ॥

इसके अनन्तर भोगों की लालसा से आहार विहारों में मोहित हो जाता है। इस प्रकार महामोह से युक्त सुख मे मग्न हुआ प्राणी अपने को जान ही नहीं पाता है ॥ ६९ ॥

एवं पतति संसारे तासु तास्विह योनिषु ।
अविद्याकर्मतृष्णाभिर्भ्राम्यमाणोऽथ चक्रवत् ॥ ७० ॥

इस प्रकार अविद्या, कर्म, तृष्णा से घूमा हुआ प्राणी चक्र की भांति प्रत्येक योनि में घमता रहता है और संसार चक्र में फंसता है ॥ ७० ॥

ब्रह्मादिपुतृणान्तेपु भूतेपु परिवर्त्तते ।
जले भुवि तथाकाशे याजमानः पुनः पुनः ॥ ७२ ॥

यह जीव ब्रह्मादि से लेकर तृणपर्यन्त प्राणियों में घूमता है। जल, भूमि और आकाश में बार २ उत्पन्न होता है ॥ ७१ ॥

अबुधानां गतिस्त्वेषा बुधानामपि मे शृणु ।
ये धर्मे श्रेयसि रता विमोक्षरतयो जनाः ॥ ७२ ॥

यह तो मूर्खों की गति हुई, अब तुम ज्ञानियों की गति सुनो। जो कल्याणकारी धर्म में रत तथा मोक्ष में लगे रहते हैं ॥७२॥

तदिदं वेदवचनं कुरुकर्म्म त्यजेति च ।
तस्माद्धर्मानिमान् सर्वान्नाभिमानात् समाचरेत् ॥ ७३ ॥

इसलिए तू वेद वचनों को मान और सकाम कर्मों को छोड़ दे। इसी से सारे कर्तव्यों को अभिमान छोड़ कर कर ॥ ७३ ॥

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ ७४ ॥

यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, धन और अलोभ ये धर्म के आठ मार्ग बताए गए हैं ॥ ७४ ॥

अत्र पूर्वश्चतुर्वर्गः पितृयानपथे स्थितः ।
कर्त्तव्यमिति यत्कार्य्यं नाभिमानात् समाचरेत् ॥७५॥

इनमें से पूर्व के चार तो पितृयान मार्ग के लिए हैं, जो कर्तव्य समझकर किये गए तथा अहं बुद्धि से नहीं किए गए हैं ॥

उत्तरो देवयानस्तु सद्भिराचरित सदा ।
अष्टाङ्गेनैव मार्गेण विशुद्धात्मा समाचरेत् ॥ ७६ ॥

उत्तर के चारों का जब सज्जन आचरण करते हैं तो देवयान मार्ग की प्राप्ति होती है। इस मार्ग को अष्टाङ्ग योग की रीति से विशुद्ध आत्मा वाला पुरुष ही स्वीकार कर सकता है ॥ ७६ ॥

सम्यक् सङ्कल्पसम्बन्धात् सम्यक् चेन्द्रियनिग्रहात् ।
सम्यग्व्रतविशेषाच्च सम्यक् च गुरुसेवनात् ॥ ७७ ॥
सम्यगाहारयोगाच्च सम्यक् चाध्ययनागमात् ।
सम्यक् कर्मोपसंन्यासात् सम्यक् चित्तनिरोधनात् ॥७८॥
एवं कर्माणि कुर्वन्ति संसारविजिगीषवः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता ऐश्वर्यं देवता गताः ॥ ७९ ॥

सम्यक् संकल्प, सम्यक् इन्द्रिय निग्रह, सम्यक् अहिंसा व्रतों का व्यवहार, सम्यक् गुरु सेवन, सम्यक् आहार योग, सम्यक् अध्ययन, सम्यक् कर्मों का सन्यास, सम्यक् चित्तनिरोध यह अष्टाङ्ग मार्ग है। संसार के विजय की इच्छा वाले पुरुष, रागद्वेष से छूटकर देवयोनि प्राप्त करते हैं ॥ ७७-७९ ॥

रुद्राः साध्यास्तथादित्या वसवोऽथ तथाश्विनौ ।
योगैश्वर्येण संयुक्ता धारयन्ति प्रजा इमाः ॥ ८० ॥

रुद्र, साध्य, आदित्य, वसु, अश्विन ये भी इन ही योग के ऐश्वर्यों से युक्त होकर इस प्रजा का धारण करते हैं ॥ ८० ॥

तथा त्वमपि कौन्तेय शममास्थाय पुष्कलम् ।
तपसा सिद्धिमन्विच्छ योगसिद्धिश्च भारत ॥ ८१ ॥

हे कुन्ती-पुत्र ! युधिष्ठिर ! इसी प्रकार तू भी इस महान् मन के विजय को धारण कर । हे भारत ! तप से सिद्धि प्राप्त कर या योग से सिद्धि में तत्पर हो ॥ ८१ ॥

पितृमातृमयी सिद्धिः प्राप्ताः कर्ममयी च ते ।
तपसा सिद्धिमन्विच्छ द्विजानां भरणाय वै ॥ ८२ ॥

पिता और माता के समान लोक परलोक में हितकारी यह सिद्धि है, यह युद्धादि कर्मों से तुझे प्राप्त होगी । अब तू ब्राह्मणों के पालन पोषण के लिए तप से सिद्धि प्राप्त कर ॥ ८२ ॥

सिद्धा हि यद्यदिच्छन्ति कुर्वते तदनुग्रहात् ।
तस्मात्तपः समास्थाय कुरुष्वात्ममनोरथम् ॥ ८४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वान्तर्गत आरण्यकपर्वणि
पाण्डवानां प्रवजनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

सिद्ध लोग जिस २ बात को चाहते हैं, उसे तप से प्राप्त कर लेते हैं । इससे तप में मन लगाकर अपने मनोरथ को सिद्ध कर ॥ ८४ ॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत आरण्यक पर्व में
पाण्डवोंके वन में गमन का दूसरा अध्याय पूरा हुआ ।

—>>॥<—

तीसरा अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

शौनकेनैवमुक्तस्तु कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
पुरोहितमुपागम्य भ्रातृमध्येऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! शौनक के इतना कहने पर कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर, पुरोहित के पास जाकर भाइयों के बीच में यह वचन बोले ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

प्रस्थितं मानुयान्तीमे ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
न चास्मि पोषणे शक्तो बहुदुःखसमन्वितः ॥ २ ॥

ये वेदपाठी ब्राह्मण मेरे साथ चलना चाहते हैं और मैं अनेक दुःखों के कारण इनके भरण पोषण में समर्थ नहीं हूं ।

परित्यक्तुं न शक्तोऽस्मि दाने शक्तिश्च नास्ति मे ।
कथमत्र मया कार्य्यं प्रब्रूहि भगवन्मम ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! न तो मैं इन को छोड़ सकता हूं और न मुझ में आजकल दान शक्ति है । आप बताइये अब मुझे क्या करना चाहिये ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

मुहूर्तमिव स ध्यात्वा धर्मेणान्विष्य तां गतिम् ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं धौम्यो धर्मभृताम्वरः ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले—धर्मात्माओं में श्रेष्ठ, पुरोहित, धौम्य, थोड़ी देर सोचकर और इस में धर्म का मार्ग देखकर युधिष्ठिर से यह बोला ॥ ४ ॥

धौम्य उवाच—

पुरासृष्टानि भूतानि पीड्यन्ते क्षुधया भृशम् ।
ततोऽनुकम्पया तेषां सविता स्वपिता यथा ॥ ५ ॥
गत्वोत्तरायणं तेजो रसानुद्धृत्य रश्मिभिः ।
दक्षिणायनमावृत्तो महीं निविशते रविः ॥ ६ ॥

पूर्व काल में जब प्राणी रचे गये, तब वे भूख से अत्यन्त व्याकुल हो गये, तब दक्षिणायन से लौट कर सूर्य उत्तरायण हुआ और अपनी किरणों से रस खींच कर भूमि में प्रविष्ट हुआ ।५-६।

क्षेत्रभूते ततस्तस्मिन् ओषधीरोषधी पतिः ।
दिवस्तेजः समुद्धृत्यजनयामास वारिणा ॥ ७ ॥

चन्द्रमा, मेघों को उठाकर और उस में जल लेकर इस भूमि पर औषधियों को उत्पन्न करता है ॥ ७ ॥

निषिक्तश्चन्द्रतेजोभिः सूयोनो निर्गते रविः ।
ओषध्यः षड्रसा मेध्यास्तदन्नं प्राणिनां भुवि ॥ ८ ॥

चन्द्रमा की किरणों से युक्त होकर सूर्य अङ्कुरादि रूप से उत्पन्न होता है । इस से ही ये छःओं रस वाली औषधि उत्पन्न होती है, उन से भूमि पर प्राणियों का अन्न उत्पन्न होता है ।

एवं भानुमयं ह्यन्नं भूतानां प्राणधारणम् ।
पितैष सर्वभूतानां तस्मात्तं शरणं व्रज ॥ ९ ॥

प्राणों का धारक अन्न सूर्य रूप ही है। यही सब का पिता है, तुम इसकी शरण प्राप्त करो ॥ ६॥

राजानो हि महात्मानो योनिकर्मविशोधिताः ।
उद्धरन्ति प्रजाः सर्वास्तप आस्थाय पुष्कलम् ॥ १० ॥

अपने कुल और कर्म से विशुद्ध राजा ही अत्यन्त तप का आश्रय लेकर सारी प्रजा का उद्धार करते हैं ॥ १० ॥

भीमेन कार्त्तवीर्य्येण वैन्येन नहुषेण च ।
तपोयोगसमाधिस्थैरुद्धृता ह्यापदः प्रजाः ॥ ११ ॥

भीम, कार्त्तवीर्य, वेन के पुत्र और नहुष ने तप योग और समाधि से ही प्रजा का उद्धार किया ॥ ११ ॥

तथा त्वमपि धर्मात्मन् कर्म्मणा च विशोधितः ।
तप आस्थाय धर्मेण द्विजातीन् भर भारत ॥ १२ ॥

हे धर्मात्मन् ! इसी तरह कर्म से अपने को शुद्ध करके तप का आश्रय ले और द्विजातियों का भरण पोषण कर ॥ १२॥

जनमेजय उवाच—

कथं कुरुणामृषभः स तु राजा युधिष्ठिरः ।
विप्रार्थमाराधितवान् सूर्य्यमद्भुतदर्शनम् ॥ १३ ॥

जनमेजय ने कहा—कुरुवंश में श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों के कारण अद्भुत प्रकाश वाले सूर्य की किस तरह आराधना की ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

श्रृणुष्वावहितो राजन् शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
क्षणञ्च कुरु राजेन्द्र संप्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १४ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! पवित्र और सावधान होकर ध्यान से सुन। तुम कुछ धैर्य रखो, मैं सब कुछ सुनाता हूँ ।

धौम्येन तु यथापूर्वं पार्थाय सुमहात्मने ।
नामाष्टशतमाख्यातं तच्छृणुष्व महामते ॥ १५ ॥

हे महामते ! धौम्य पुरोहित ने महात्मा युधिष्ठिर को जो एक सौ आठ नाम सूर्य के बताये, वे तुम भी सुनो ॥ १५ ॥

धौम्य उवाच—

ओं सूर्योऽर्यमा भगस्त्वष्टा पूषार्कः सविता रविः ।
गभस्तिमानजः कालो मृत्युर्धाता प्रभाकरः ॥ १६ ॥
पृथिव्यापश्च तेजश्च खं वायुश्च परायणम् ।
सोमो बृहस्पतिः शुक्रो बुधोऽङ्गारक एव च ॥ १७॥
इन्द्रो विवस्वान् दीप्तांशुः शुचि : शौरिः शनैश्वरः ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च स्कन्दो वैश्रवणो यमः ॥१८॥
वैद्युतो जाठरश्चाग्निरैन्धनस्तेजसां पतिः ।
धर्मध्वजो वेदकर्त्ता वेदाङ्गो वेदवाहनः ॥१९॥
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिः सर्वमलाश्रयः ।

कला काष्ठा मुहूर्त्ताश्च चपा यामस्तथा च्रणः ॥२०॥
सम्वत्सरकरोऽश्वत्थः कालचक्रो विभावसुः ।
पुरुषः शाश्वतो योगी व्यक्ताव्यक्तः सनातनः ॥२१॥
कालाध्यचः प्रजाध्यचो विश्वकर्मा तमोनुदः ।
वरुणः सागरोंऽशश्च जीमूतो जीवनोऽरिहा ॥२२॥
भूताश्रयो भूतपतिः सर्वलोकनमस्कृतः ।
स्रष्टा सम्वर्त्तको वह्निः सर्वस्यादिरलोलुपः ॥२३॥
अनन्तः कपिलो भानुः कामदः सर्वतो मुखः ।
जयो विशालो वरदः सर्वधातुनिषेचिता ॥२४॥
मनः सुपर्णो भूतादिः शीघ्रगः प्राणधारणः ।
धन्वन्तरिर्धूमकेतुरादिदेवो दितेः सुतः ॥२५॥
द्वादशात्मारविन्दाचः पिता माता पितामहः ।
स्वर्गद्वारं प्रजाद्वारं मोचद्वारं त्रिविष्टपम् ॥२६॥
देहकर्त्ता प्रशान्तात्मा विश्वात्मा विश्वतोमुखः ।
चराचरात्मा सूच्मात्मा मैत्रेयः करुणान्वितः ॥२७॥
एतद्वै कीर्त्तनीयस्य सूर्यस्यामिततेजसः ।
नामाष्टशतकञ्चेदं प्रोक्तमेतत् स्वयम्भुवा ॥२८॥

धौम्य कहने लगे—सूर्य, अर्यमा, भग, त्वष्टा, पूषा, अर्क सविता, रवि, गभस्तिमान्, अज, काल, मृत्यु, धाता, प्रभाकर, पृथिवी, आप, तेज, आकाश, वायु, मूलकारण; सोम, बृहस्पति, शुक्र, बुध, मङ्गल, इन्द्र, विवस्वान्, दीप्तांशु, शुचि, शौरि,

शनैश्चर, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, स्कन्द, कुबेर, यम, वैद्युत और जाठर अग्नि, इन्धनका अग्नि, तेजका पति, धर्म-ध्वज, वेदकर्ता वेदाङ्ग, वेदवाहन, सत्युग, त्रेता, द्वापर, कलि, सब मलों का आश्रय, कला, काष्ठा, मुहूर्त, रात, पहर, क्षण, संवत्सरका करने वाला, अश्वत्थ, कालचक्र, विभावसु, पुरुष, शाश्वत, योगी व्यक्ताव्यक्त, सनातन, कालाध्यक्ष, प्रजाध्यक्ष, विश्वकर्मा, तमोनुद, वरुण, सागर, अंश, जीमूत, जीवन, अरिहा, भूताश्रय, भूतपति, सब लोकों के वन्दना के योग्य, स्रष्टा, संवर्तक, वह्नि, सब अन्नों का आदिकारण, अलोलुप, अनन्त, कपिलभानु, कामद, सर्वतो मुख, जय, विशाल, वरद, सब धातुओं का सेचक, मन, सुपर्ण भूतादि, शीघ्रगामी, प्राण धारण, धन्वन्तरि, धूम केतु, आदि देव, दिति सुत, द्वादशात्मा, अरविन्दाक्ष, पिता, माता, पितामह,, स्वर्ग द्वार, प्रजाद्वार, मोक्षद्वार, त्रिविष्टप, देह-कर्ता, प्रशान्तात्मा, विश्वात्मा, विश्वतो मुख, चराचरात्मा, सूक्ष्मात्मा, मैत्रेय, करुणान्वित, ये कीर्तनीय अमिततेजस्वी सूर्य के नाम हैं। ये एक सौ आठ नाम स्वयम्भू ने कहे हैं॥ १६-२८॥

सुरगणपितृयक्षसेवितं ह्यसुरनिशाचरसिद्धवन्दितम् ।
वरकनकहुताशनप्रभं प्रणिपतितोऽस्मि हिताय भास्करम्॥२६

देव, पितर और यक्ष से सेवित, असुर निशाचर सिद्धों से वन्दनीय, चमकते सोने और आग के समान देदीप्यमान, सूर्य को अपने हित के लिए नमस्कार करता हूं॥ २६॥

सूर्य्योदये यः सुसमाहितः पठेत् स पुत्रदारान् धनरत्नसञ्चयान् ।
लभेत जातिस्मरतां नरः सदा धृतिश्च मेधाश्च स विन्दते पुमान्

जो मनुष्य, सूर्य के उदय के समय सावधानी से पढ़ता है, वह पुत्र, स्त्री, धन रत्नों की राशि, जाति में प्रधानता, धैर्य, बुद्धि को प्राप्त करता है ॥ ३० ॥

इमं स्तवं देववरस्य मानवः प्रकीर्तयेच्छुचिसुमनाः समाहितः ।
विमुच्यते शोकदवाग्निसागराल्लभेत कामान्मनसा यथेप्सितान्

इस सूर्य के स्तोत्रको जो मनुष्य सावधान और शुद्ध मन से पढ़ता है, वह शोक की अग्नि को धारण करने वाले समुद्र से छुटकारा पाजाता है और अपने मनोरथों तथा कामनाओं को प्राप्त करता है ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तस्तु धौम्येन तत्कालसदृशं वचः ।
विप्रत्यागसमाधिस्थः संयतात्मा दृढव्रतः ॥३२॥
धर्मराजो विशुद्धात्मा तप आतिष्ठदुत्तमम् ।
पुष्पोपहारैर्बलिभिरर्चयित्वा दिवाकरम् ॥३३॥

वैशम्पायन बोले—धौम्य ने इस प्रकार उस समय के उपयोगी वचन कहे। ब्राह्मणों के लिए अन्नदान करने के लिए नियम धारण करने वाला, जितेन्द्रिय, दृढ़ प्रतिज्ञ, विशुद्ध आत्मा वाला, धर्मराज उत्तम प्रकार के तप करने लगा और पुष्पों की भेंट तथा बलि से सूर्य की पूजा में तत्पर हुआ ॥ ३२-३३ ॥

सोऽवगाह्य जलं राजा देवस्याभिमुखोऽभवत् ।
योगमास्थाय धर्मात्मा वायुभक्षो जितेन्द्रियः ॥३४॥
गाङ्गेयं वार्युपस्पृश्य प्राणायामेन तस्थिवान् ।
शुचिः प्रयतवाग्भूत्वा स्तोत्रमारब्धवांस्ततः ॥३५॥

इस राजा युधिष्ठिर ने जल मे स्नान करके सूर्य देव की पूजा की। इस धर्मात्मा ने तपो योग का आश्रय करके केवल वायु का आहार किया और जितेन्द्रिय रहकर तथा गङ्गा के जल का आचमन करके प्राणायाम किया। वह पवित्र और वाक् संयमी होकर स्तोत्र पाठ करने लगा॥ ३--३५॥

युधिष्ठिर उवाच—

त्वं भानो जगतश्चक्षुस्त्वमात्मा सर्वदेहिनाम् ।
त्वं योनिः सर्वभूतानां त्वमाचारः क्रियावताम् ॥३६॥
त्वं गतिः सर्वसाङ्ख्यानां योगिनां त्वं परायणम् ।
अनावृतार्गलद्वारं त्वं गतिस्त्वं मुमुक्षताम् ॥३७॥

युधिष्ठिर बोले—हे भानो! तू जगत् का चक्षु और सारे प्राणियों की आत्मा है। तू ही सब प्राणियों का कारण और तू ही क्रियाशीलों का आचार है। तू ही सब ज्ञानियों तथा योगियों की गति है। तू सबका मूल कारण है। तू ही बिना आगल का द्वार तथा मुमुक्षुओं की गति है॥ ३६-३७॥

त्वया सन्धार्यते लोकस्त्वया लोकः प्रकाश्यते ।
त्वया पवित्रीक्रियते निर्व्याजं पाल्यते त्वया ॥३८॥

त्वामुपस्थाय काले तु ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
स्वशाखाविहितैर्मन्त्रैरर्चन्त्यृषिगणार्चितम् ॥३९॥

तू ही लोकों का धारक और प्रकाशक है। तू ही सबको पवित्र करता है और निःस्वार्थ भाव से पालना करता है। वेद के पारङ्गत ब्राह्मण, प्रातःकाल ऋषियों से पूजित तुझ सूर्य का उपस्थान करके अपनी २ शाखा के मन्त्रों से पूजते रहते हैं ॥ ३८-३९ ॥

तव दिव्यं रथं यान्तमनुयान्ति वरार्थिनः ।
सिद्धचारणगन्धर्वा यक्षगुह्यकपन्नगाः ॥४०॥
त्रयस्त्रिंशच्च वै देवास्तथा वैमानिका गणाः ।
सोपेन्द्राः समहेन्द्राश्च त्वामिष्ट्वा सिद्धिमागताः ॥४१॥

तेरे दिव्य रथ के पीछे २ वरकी इच्छा वाले सिद्ध, चारण, गन्धर्व, यक्ष, गुह्यक, पन्नग पीछे २ चलते हैं तथा तेंतीस देवता और विमानों में चलने वाले देवों के गण, इन्द्र और महेन्द्र के साथ तेरी उपासना करके ही सब सिद्धि को प्राप्त हुए हैं ॥४०-४१॥

उपयान्त्यर्चयित्वा तु त्वां वै प्राप्तमनोरथाः ।
दिव्यमन्दारमालाभिस्तूर्णं विद्याधरोत्तमाः ॥४२॥

तेरी पूजा करके मनोरथ पाये हुए विद्याधर दिव्य मालाओं से भूषित होकर अपने २ लोकों को लौट जाते हैं ॥ ४२ ॥

गुह्याः पितृगणाः सप्त ये दिव्या ये च मानुषाः ।
ते पूजयित्वा त्वामेव गच्छन्त्याशु प्रधानताम् ॥४३॥

गुह्यक, सात पितृगण, जो दिव्य लोकों के वासी तथा मनुष्य तेरी पूजा करके ही प्रधान पद पाते हैं ॥ ४३ ॥

वसवो मरुतो रुद्रा ये च साध्या मरीचिपाः ।
वालखिल्यादयः सिद्धाः श्रेष्ठत्वं प्राणिनां गताः ॥४४

वसु, मरुत्, रुद्र, साध्य, किरणों के पीने वालेबालखिल्य, सिद्ध ये सब प्राणियों मे तेरे कारण ही सिद्धि को प्राप्त हुए हैं ॥४४॥

सब्रह्मकेषु लोकेषु सप्तस्वप्यखिलेषु च ।
न तदद्भुतमहं मन्ये यदर्कादतिरिच्यते ॥४५॥

ब्रह्मा सहित सातों लोक और सारे ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई अद्भुत बात नहीं मानता हूँ, जो सूर्य से बढ़कर हो ॥ ४५ ॥

सन्ति चान्यानि सत्त्वानि वीर्य्यवन्ति महान्ति च ।
न तु तेषां तथा दीप्तिः प्रभावो वा यथा तव ॥४६॥

हे भगवन् ! अन्य बहुत से जीव वीर्यशाली है, परन्तु तुम सूर्य के समान दीप्ति और प्रभाव किसी का नहीं है ॥ ४६ ॥

ज्योतींषि त्वयि सर्वाणि त्वं सर्वज्योतिषां पतिः ।
त्वयि सत्यश्च सत्त्वश्च सर्वे भावाश्च सात्त्विकाः ॥४७॥

सारी ज्योतियां तुमसे उत्पन्न होती हैं, तू सब ज्योतियों का पति है। तुझमें ही सत्य (बल) तथा सत्त्व है और सारे सात्विक भाव भी तुझ मे ही विद्यमान हैं ॥ ४७ ॥

त्वत्तेजसा कृतश्चक्रं सुनाभं विश्वकर्मणा ।
देवारीणां मदो येन नाशितः शार्ङ्गधन्वना ॥४८॥

विश्वकर्मा ने तेरे तेज से ही उत्तम नाभि वाला यह चक्र बनाया है, जिससे भगवान् विष्णु ने असुरों का मद नष्ट किया है ॥ ४८ ॥

त्वमादायांशुभिस्तेजो निदाघे सर्वदेहिनाम् ।
सर्वौषधिरसानाञ्च पुनर्वर्षासु मुञ्चसि ॥४९॥

हे भगवन् ! तू ग्रीष्म ऋतु में अपनी किरणों से सब प्राणियों के तेज को तथा सब औषधियों के रस को खींच लेता है और फिर वर्षा में छोड़ता है ॥ ४९ ॥

तपन्त्यन्ये दहन्त्यन्ये गर्जन्त्यन्ये तथा घनाः ।
विद्योतन्ते प्रवर्षन्ति तव प्रावृषि रश्मयः ॥५०॥

तेरी कुछ किरणें तपाती अर्थात् रस खेंचती हैं तथा कुछ जलाती हैं और कुछ मेघ के रूप में परिणत हो जाती हैं। बिजली के तुल्य चमकती तथा वर्षा में तेरी ही किरणें बरसती हैं ॥ ५० ॥

न तथा सुखयत्यग्निर्न प्रावारा न कम्बलाः ।
शीतवातार्दितं लोकं यथा तव मरीचयः ॥५१॥

शीत और वायु से पीड़ित मनुष्य को अग्नि, वस्त्र या कम्बल इतना सुख नहीं दे सकते हैं जितना तेरी किरणें देती हैं ॥ ५१॥

त्रयोदशद्वीपवतीं गोभिर्भासयसे महीम् ।
त्रयाणामपि लोकानां हितायैकः प्रवर्त्तसे ॥५२॥

तेरह द्वीपों वाली भूमि को तू अपनी किरणों से प्रकाशित करता है। तीनों लोकों के हित के लिए तू अकेला प्रवृत्त होता है ॥ ५२ ॥

तव यद्युदयो न स्यादन्धं जगदिदं भवेत् ।
न च धर्मार्थकामेषु प्रवर्त्तेरन्मनीषिणः ॥५३॥

यदि तेरा उदय न हो, तो यह सारा जगत् अन्धा हो जावे। जिससे मनीषी जन धर्म, अर्थ और काम की क्रियाओं में प्रवृत्त ही नहीं हो सकते हैं ॥ ५३ ॥

आधानपशुबन्धेष्टिमन्त्रयज्ञतपःक्रियाः ।
त्वत्प्रसादादवाप्यन्ते ब्रह्मक्षत्रविशां गणैः ॥५४॥

अग्नि का आधान, पशु बन्धेष्टि, मन्त्र, यज्ञ, तप, क्रियाएँ तेरी कृपा से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यों के गणों को प्राप्त होती हैं ॥ ५४ ॥

यदहो ब्रह्मणः प्रोक्तं सहस्रयुगसम्मितम् ।
तस्य त्वमादिरन्तश्च कालज्ञैः परिकीर्त्तितः ॥५६॥

काल के जानने वाले विद्वानों ने जो सहस्र युग के परिमाण का ब्रह्मा का दिन कहा है, उसका तू ही आदि और अन्त है ॥५६॥

मनूनां मनुपुत्राणां जगतो मानवस्य च ।
मन्वन्तराणां सर्वेषामीश्वराणां त्वमीश्वरः ॥५७॥

मनु, मनुपुत्र, जगत, मानव, सारे मन्वन्तरों का तथा ईश्वरों का भी तू ईश्वर है ॥ ५७ ॥

संहारकाले सम्प्राप्ते तव क्रोधविनिसृतः ।
सम्वर्तकाग्निस्त्रैलोक्यं भस्मीकृत्वावतिष्ठते ॥५८॥

प्रलय काल के प्राप्त होने पर तेरे क्रोध से निकली हुई संवर्तक अग्नि, त्रिलोकी को भस्म करके स्थित होती है ॥ ५८ ॥

त्वद्दीधितिसमुत्पन्ना नानावर्णा महाघनाः ।
सैरावताः साशनयः कुर्वन्त्याहूतसंप्लवम् ॥५६॥

तेरी किरणों से उत्पन्न हुए नाना वर्णों के मेघ, ऐरावत-संज्ञक ऊंचे मेघों तथा बिजली के साथ, प्राणि-समूह को आच्छादित कर देते हैं ॥ ५६ ॥

कृत्वा द्वादशधात्मानं द्वादशादित्यतां गतः ।
संहृत्यैकार्णवं सर्वं त्वं शोषयसि रश्मिभिः ॥६०॥

अपने को बारह मूर्तियों में विभक्त करके बारह आदित्य के रूपों को धारण करता है। सारे समुद्र को समेट कर तू अपनी किरणों से सुखाता रहता है ॥ ६० ॥

त्वामिन्द्रमाहुस्त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः ।
त्वमग्निस्त्वं मनः सूक्ष्मं प्रभुस्त्वं ब्रह्म शाश्वतम् ॥६१॥

त्वं हंसः सविता भानुरंशुमाली वृषाकपिः ।
विवस्वान्मिहिरः पूषा मित्रो धर्मस्तथैव च ॥६२॥

सहस्ररश्मिरादित्यस्तपनस्त्वं गवाम्पतिः ।
मार्त्तण्डोऽर्को रविः सूर्यः शरण्यो दिनकृत्तथा ॥६३॥

दिवाकरः सप्तसप्तिर्धामकेशी विरोचनः ।
आशुगामी तमोघ्नश्च हरिताश्वश्च कीर्त्त्यसे ॥६४॥

तू ही इन्द्र, विष्णु, रुद्र, प्रजापति, अग्नि, सूक्ष्म मन, प्रभु, सनातन ब्रह्म, हंस, सविता, भानु, अंशुमाली, वृषाकपि, विवस्वान, मिहिर, पूषा, मित्र, धर्म, सहस्र रश्मि, आदित्य, तपन, गोपति, मार्तण्ड, अर्क, रवि, सूर्य, शरण्य, दिनकृत, दिवाकर, सप्तसप्ति, धामकेशी, विरोचन, आशुगामी, तमोहन्ता; हरिताश्व कहाता है ॥ ६१-६४ ॥

सप्तम्यामथ वा षष्ठ्यां भक्त्या पूजां करोति यः ।
अनिर्विण्णोऽनहङ्कारी तं लक्ष्मीर्भजते नरम् ॥६५॥

जो सप्तमी या षष्ठी को भक्ति से तेरी पूजा आलस्य और अहंकार को छोड़कर करता है। उस मनुष्य को लक्ष्मी स्वयं सेवन करती है ॥ ६५ ॥

न तेषामापदः सन्ति नाधयो व्याधयस्तथा ।
ये तवानन्यमनसः कुर्वते ह्यभिवन्दनम् ॥६६

जो मनुष्य मन लगाकर तेरी वन्दना करता है, उसको आपत्ति तथा आधि-व्याधि कुछ भी नहीं रहती है ॥ ६६ ॥

सर्वरोगैर्विरहिताः सर्वपापविवर्जिता ।
त्वद्भावभक्ताः सुखिनो भवन्ति चिरजीविनः ॥६७॥

जो मनुष्य तेरी भाव-भक्ति में तत्पर रहते हैं, वे सब रोगों से मुक्त हो कर सब पापों से छूट जाते हैं और चिरंजीवी होकर सुखी होते हैं ॥ ६७ ॥

त्वं ममाप्यन्नकामस्य सर्वातिथ्यश्चिकीर्षतः ।
अन्नमन्नपते दातुमभितः श्रद्धयार्हसि ॥६८॥

मैं अन्न की कामना वाला हूँ और सारे अतिथियों का सत्कार करना चाहता हूँ । हे अन्नपते ! तुझे श्रद्धा के साथ मुझे अन्नदान करना चाहिए ॥ ६८ ॥

ये च तेऽनुचराः सर्वे पादोपान्तं समाश्रिताः ।
माठरारुणदण्डाद्यास्तांस्तान् वन्देऽशनिक्षुभान् ॥६९॥

जो अनुचर, माठर, अरुण, दण्ड आदि तेरे चरणों का आश्रय लिए रहते हैं, उन बिजली आदि के प्रवर्तकों को हम प्रणाम करते हैं ॥ ६९ ॥

क्षुभया सहिता मैत्री याश्चान्या भूतमातरः ।
ताश्च सर्वा नमस्यामि पान्तु मां शरणागतम् ॥७०॥

क्षुभा देवी के साथ मैत्री तथा अन्य गौरी पद्मा आदि देवियों को नमस्कार करता हूँ । वे मुझ शरणागत की रक्षा करें ॥ ७० ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततो दिवाकरः प्रीतो दर्शयामास पाण्डवम् ।
दीप्यमानः स्ववपुषा ज्वलन्निव हुताशनः ॥७१॥

वैशम्पायन बोले—अब सूर्य ने प्रसन्न होकर प्रचण्ड अग्नि के समान अपने शरीर से दीप्तिमान होकर युधिष्ठिर को दर्शन दिया ॥ ७१ ॥

विवस्वानुवाच—

यत्तेऽभिलषितं किञ्चित्तत्त्वं सर्वमवाप्स्यसि ।
अहमन्नं प्रदास्यामि सप्त पञ्च च ते समाः ॥७२॥

विवस्वान् बोला—हे युधिष्ठिर ! जो तुम चाहते हो, वह सब तुम्हें प्राप्त होगा । मैं बारह वर्ष तक तुमको अन्न पहुंचाता रहूंगा ।

गृह्णीष्व पिठरं ताम्रं मया दत्तं नराधिप ।
यावद्वर्त्स्यति पाञ्चाली पात्रेणानेन सुव्रत ॥७३॥
फलमूलामिषं शाकं संस्कृतं यन्महानसे ।
चतुर्विधं तदन्नाद्यमक्षय्यन्ते भविष्यति ।
इतश्चतुर्दशे वर्षे भूयो राज्यमवाप्स्यसि
एवमुक्त्वा तु भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥७४॥

हे नराधिप ! मैं तुमको यह तांबे की पिठर (देगची) प्रदान करता हूँ । हे सुव्रत ! जब तक द्रौपदी इस पात्र से काम करती रहेगी, तब तक फल, मूल, आमिष, शाक जो कुछ रसोई में चार प्रकार का अन्न बना होगा, वह अन्न अक्षय रहेगा । चौदहवें वर्ष में तो तुम अपने राज्य को प्राप्त कर ही लोगे । यह कह कर भगवान् सूर्य वहीं अन्तर्ध्यान हो गए ॥ ७४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इमं स्तवं प्रयतमना समाधिना पठेदिहान्योऽपि वरं समर्थयन् ।
तस्य दद्याच्च रविर्मनीषितं तदाप्नुयाद्यद्यपि तद् सुदुर्लभम् ७५

सावधान मन से ध्यान के साथ इस स्तोत्र को जो कोई भी पुरुष वरदान की अभिलाषा से पढ़ेगा, तो वह वर चाहे दुर्लभ भी है, तो भी उस मनोरथ को सूर्य अवश्य प्रदान करेगा ॥७५॥

यश्चेदं धारयेन्नित्यं शृणुयाद्वाप्यभीक्ष्णशः ।
पुत्रार्थी लभते पुत्रं धनार्थी लभते धनम् ॥७६॥
विद्यार्थी लभते विद्यां पुरुषोऽप्यथ वा स्त्रियः ।

जो इसको कण्ठ करेगा या नित्य सुनता रहेगा तो पुत्र की कामना वाला पुत्र और धन की कामना वाला धन प्राप्त करेगा, विद्यार्थी विद्या पा जावेगा, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री हो॥ ७६ ॥

उभे सन्ध्ये पठेन्नित्यं नारी वा पुरुषो यदि
आपदं प्राप्य मुच्येत बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥७७॥
एतद्ब्रह्मा ददौ पूर्वं शक्राय सुमहात्मने ॥७८॥
शक्राच्च नारदः प्राप्तो धौम्यस्तु तदनन्तरम् ।
धौम्याद्युधिष्ठिरः प्राप्य सर्वान् कामानवाप्तवान् ॥७६॥

दोनों सन्ध्याओं में जो नारी या पुरुष पढ़ेगा, वह आपत्ति से छुटकारा पा जावेगा और बद्ध (कैदी) बन्धन से छूट जावेगा। इसको प्रथम ब्रह्मा जी ने महात्मा इन्द्र को दिया। इन्द्र से नारद और नारद से धौम्य ऋषि को प्राप्त हुआ। धौम्य से राजा युधिष्ठिर ने पाकर सारी कामनाओं को पा लिया ॥७७-७६॥

संग्रामे च जयेन्नित्यं विपुलाश्चाप्नुयाद्वसु ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः सूर्यलोकं स गच्छति ॥८०॥

इसके पाठ करने वाला संग्राम मे विजयी होता है और बहुत सा द्रव्य प्राप्त करता है। अन्त मे सारे पापों से छूट कर सूर्य लोक को जाता है ॥ ७६-८० ॥

वैशम्पायन उवाच—

लब्ध्वा वरन्तु कौन्तयो जलादुत्तीर्य्य धर्मवित् ।
जग्राह पादौ धौम्यस्य भ्रातृंश्च परिषस्वजे ॥८१॥

वैशम्पायन बोले—इस प्रकार धर्मज्ञ राजा युधिष्ठिर वर पा कर जल से बाहर निकला और उसने धौम्य के चरणों का स्पर्श तथा अपने भाइयों का आलिङ्गन किया ॥ ८१ ॥

द्रौपद्या सह सङ्गम्य वन्द्यमानस्तया प्रभो ।
महानसे तदानीन्तु साधयामास पाण्डवः ॥८२॥

हे प्रभो ! फिर वह द्रौपदी से मिला। द्रौपदी ने उसका सत्कार किया। युधिष्ठिर ने उस पात्र को रसोई मे भेज कर उसमें अन्न बनवाया ॥ ८२ ॥

संस्कृतं प्रसवं पाति स्वल्पमन्नचतुर्विधम् ।
अक्षय्यं वर्द्धते चान्नं तेन भोजयते द्विजान् ॥८३॥

उसमे बनाया हुआ चारों (भक्ष्य, पेय, लेह्य, चोष्य) प्रकार का स्वल्प भोजन भी बढ़ कर अक्षय हो जाता था, जिससे वह ब्राह्मणों को जिमाता था ॥ ८३ ॥

भुक्तवत्सु च विप्रेषु भोजयित्वानुजानपि ।
शेषं विघससंज्ञन्तु पश्चाद्भुङ्क्ते युधिष्ठिरः ॥८४॥

ब्राह्मणों के भोजन कर लेने पर अपने भाइयों को भोजन खिलाता था। अन्त में शेष विघस संज्ञक भोजन को राजा युधिष्ठिर खाता था ॥ ८४ ॥ '

युधिष्ठिरं भोजयित्वा शेषमश्नाति पार्षती ।
द्रौपद्यां भुज्यमानायां तदन्नं क्षयमेति च ॥८५॥

युधिष्ठिर के भोजन कर लेने पर शेष का द्रौपदी भोजन करती थी। द्रौपदी के भोजन कर लेने के अनन्तर वह अन्न समाप्त होता था ॥ ८५ ॥

एवं दिवाकरात् प्राप्य दिवाकरसमप्रभः ।
कामान् मनोऽभिलषितान् ब्राह्मणेभ्योऽददात् प्रभुः ।८६॥
पुरोहितपुरोगाश्च तिथिनक्षत्रपर्वसु ।
यज्ञियार्थाः प्रवर्त्तन्ते विधिमन्त्रप्रमाणतः ॥८७॥

सूर्य के समान तेजस्वी, युधिष्ठिर ने इस प्रकार सूर्य से इस पात्र को पाकर ब्राह्मणों के मन की चाही हुई कामनाएँ पूरी की। पुरोहित आदि भी, तिथि, नक्षत्रों के पर्वों पर मन्त्रों की विधि के अनुसार यज्ञक्रिया का विस्तार भी इसी पात्र के आधार पर करते थे ॥ ८७ ॥

ततः कृतस्वस्त्ययना धौम्येन सह पाण्डवाः ।
द्विजसङ्घैः परिवृताः प्रययुः काम्यकं वनम् ॥८८॥

इति म० वनपर्वणि आरण्यकपर्वणि काम्यकवनप्रवेशे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इसके अनन्तर स्वस्तिवाचन कराके धौम्य के साथ पाण्डव, द्विज समूह के साथ २ काम्यक वन को चले गये ॥ ८७ ॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत आरण्यपर्व में काम्यकवन के प्रवेश का तीसरा अध्याय पूरा हुआ।

चौथा अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

वनं प्रविष्टेष्वथ पाण्डवेषु प्रज्ञाचक्षुस्तप्यमानोऽम्बिकेयः
धर्मात्मानं विदुरमगाधबुद्धिं सुखासीनो वाक्यमुवाच राजा

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! पाण्डवों के वन में चले जाने पर राजा धृतराष्ट्र बड़ा दुःखी हो रहा था। सुख से बैठे हुए धृतराष्ट्र ने एक बार अत्यन्त बुद्धिमान, धर्मात्मा विदुर से यह वाक्य कहा—॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

प्रज्ञा च ते भार्गवस्येव शुद्धा धर्मश्च त्वं परमं वेत्थ सूक्ष्मम्
समश्च त्वं सम्मतः कौरवाणां पथ्यञ्चैषां मम चैव ब्रवीहि २

हे विदुर! तेरी बुद्धि शुक्राचार्य के समान है और तू परम सूक्ष्म धर्म को जानता है। तू कौरवों में पक्षपात रहित माना गया है। अब तू जो हमारा हितकारी कर्म हो, उसका निर्देश कर ॥२॥

एवं गते विदुर यदद्य कार्य्यं पौराश्चेमे कथमस्मान् भजेरन्
ते चाप्यस्मान्नोद्धरेयुः समूलांस्तन्नं ब्रूयाः साधुकार्य्याणि वेत्सि

हे विदुर! इस दशा में जो कार्य करना हो, वह बताओ। ये पुरवासी हमारे अनुकूल कैसे हो सकते हैं। ये हमको मूल सहित न उखाड़ डालें, ऐसे कर्म तुम हमको अच्छी तरह बताओ। ॥३॥

विदुर उवाच—

त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलो नरेन्द्र राज्यञ्चेदं धर्म मूलं वदन्ति ।
धर्मे राजन् वर्त्तमानः स्वशक्तया पुत्रान् सर्वान्
पाहिपाण्डोः सुतांश्च ॥४॥

विदुर कहने लगे—हे राजन् ! धर्म, अर्थ और काम यह त्रिवर्ग है । इसमें धर्म मूल है और राज्य का भी मूल धर्म ही है। अपनी शक्ति के अनुसार धर्म मे वर्तमान होकर अपने और पांडु के सारे पुत्रों की पालना करो ॥ ४ ॥

स वै धर्मो विप्रलब्धः सभायां पापात्मभिः सौबलेयप्रधानैः
आहूय कुन्तीसुतमक्षवत्यां पराजैषीत् सत्यसन्धं सुतस्ते ।५।

उस धर्म की अवहेलना इस सभा मे शकुनि के साथी तेरे पुत्रों ने की है । जो सच्ची प्रतिज्ञा वाले कुन्ती सुत युधिष्ठिर को जुआ मे बुला कर तेरे पुत्र ने छल से जीता है ॥ ५ ॥

एतस्य ते दुष्प्रणीतस्य राजन् शेषस्याहं परिपश्याम्युपायम्।
यथा पुत्रस्तव कौरव्य पापान्मुक्तो लोके तिष्ठेत साधु ॥६॥

हे राजन् ! इस दुर्घटना का अब भी मैं उपाय जानता हूँ, जिससे तेरे पुत्र पाप से छूट जावें और लोक मे भली भांति प्रतिष्ठा पा सकें ॥ ६ ॥

तद्वै सर्वं पाण्डुपुत्रा लभन्तां यत्तद्राजन्नभिसृष्टं त्वयासीत्
एष धर्मः परमो यत् स्वकेन राजा तुष्येन्न परस्वेषु गृध्येत् ७

हे राजन्! जो पाण्डवों का धन तुमने छीन लिया है, वह सारा उनको प्रदान कर दो। यही सर्वोत्तम धर्म है कि राजा अपने धन से सन्तुष्ट रहे, अन्य के धन की अभिलाषा न करे ॥ ७ ॥

यशो न नश्येज्ज्ञातिभेदश्च न स्याद्धर्मो न स्यान्नैवं चैवं कृते त्वाम्
एतत् कार्यं तव सर्वप्रधानं तेषां तुष्टिः शकुनेश्चावमानः ।८।

ऐसा करने से यश नष्ट नहीं होगा। भाइयों में फूट नहीं फैलेगी और तुमको अधर्म नहीं लगेगा। यही तुम्हारा सबसे प्रधान कार्य है, जिससे पाण्डवों का सन्तोष और शकुनि का तिरस्कार हो जावेगा ॥ ८ ॥

एवं शेषं यदि पुत्रेषु ते स्यादेतद्राजंस्त्वरमाणः कुरुष्व ।
तथैतदेवं न करोषि राजन् ध्रुवं कुरूणां भविता विनाशः ।९।

हे राजन्! यह अभी शेष है, उसको तू शीघ्रता से कर डाल। जो तू इसको नहीं करेगा, तो निश्चय कौरवों का विनाश होगा ।९

न हि क्रुद्धो भीमसेनोऽर्जुनो वा शेषं कुर्यात् शात्रवाणामनीके
येषां योद्धा सव्यसाची कृतास्त्रो धनुर्येषां गाण्डिवं लोकसारम्

यदि ऐसा नहीं किया गया, तो शेष भाग को कुपित भीम और अर्जुन शत्रुओं की सेना के बीच में करके दिखावेंगे। उनका योद्धा शस्त्र विद्या में कुशल अर्जुन है, जिसके पास संसार में प्रधान गाण्डीव धनुष है ॥ १० ॥

येषां भीमो बाहुशाली च योद्धा तेषां लोके किन्नु नाप्राप्यमस्ति
उक्तं पूर्वं जातमात्रे सुते ते मया यत्ते हितमासीत्तदानीम् ११

जिनके पास भीमसेन जैसा विशाल भुजा वाला योद्धा है, उनको इस जगत में क्या दुर्लभ है। मैंने तो जो तेरा हित था, वह तेरे पुत्र के उत्पन्न होने के समय ही कह दिया था ॥११॥

पुत्रं त्यजेममहितं कुलस्य हितं परं न च तत्वं चकर्थ।
इदञ्च राजन् हितमुक्तं न चोचमेयं कर्त्ता परितप्तासि पश्चात्

हे राजन्! इस कुल के अहितकारी पुत्र का त्याग कर, परन्तु इस परम हित को तू ने किया नहीं। अब भी यह बात मैं तुमसे हित की कह रहा हूँ। यदि इसको भी नहीं करेगा, तो पीछे पछतावेगा ॥ १२ ॥

यद्येतदेवमनुमन्ता सुतस्ते संप्रीयमाणः पाण्डवैरेकराज्यम्।
तापो न ते भविता प्रीतियोगान्न चेन्निगृह्णीष्व सुतं सुखाय

यदि तेरा सुत पाण्डवों से प्रसन्न होकर राज्य को अर्पण कर दे, तो प्रेम के कारण तुम्हें कुछ भी ताप न होगा और यदि वह न माने तो सुख के लिए उसका निग्रह करो ॥ १३ ॥

दुर्य्योधनन्त्वहितं वै निगृह्य पाण्डोः पुत्रं प्रकुरुष्वाधिपत्ये।
अजातशत्रुर्हि विमुक्तरागो धर्मेणेमां पृथिवीं शास्तु राजन् १४

हे राजन्! इस अहितकारी दुर्योधन का निग्रह करो और युधिष्ठिर को राज्य सिंहासन पर बैठाओ। युधिष्ठिर राग द्वेष से मुक्त हैं, वह धर्म से पृथिवी का पालन करेगा ॥ १४ ॥

ततो राजन् पार्थिवाः सर्व एव वैश्या इवास्मानुपतिष्ठन्तु सद्यः।
दुर्योधनः शकुनिः सूतपुत्रः प्रीत्या राजन् पाण्डुपुत्रान् भजन्तु ॥

हे राजन्! सारे राजा वैश्यों की भांति हमारी आज्ञा में आकर उपस्थित हो जावेंगे। दुर्योधन, कर्ण और शकुनि भी प्रेम से पाण्डवों का साथ देवें ॥ १५ ॥

दुशासनो याचतु भीमसेनं सभामध्ये द्रुपदस्यात्मजाश्च ।
युधिष्ठिरं त्वं परिसान्त्वयस्व राज्ये चैनं स्थापयस्वाभिपूज्य ।
त्वया पृष्टः किमहमन्यद्वदेयमेतत् कृत्वा कृतकृत्योऽसि राजन्

सभा के बीच में दुःशासन, भीम और द्रौपदी से क्षमा मांगे। युधिष्ठिर को तुम आश्वासन दो और सत्कार के साथ उसको राज्य पर बैठा दो। तुमने मुझसे पूछा है, इससे मैं उलटा कैसे बता सकता हूँ। तुम यह करके ही कृतार्थ हो सकोगे ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

एतद्वाक्यं विदुर यत्ते सभायामिह
प्रोक्तं पाण्डवान् प्राप्य माञ्च ।
हितं तेषामहितं मामकाना
मेतत् सर्वं मम नावैति चेतः ॥१७॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर! तुमने यही वाक्य सभा में पाण्डवों के सम्मुख कहे और यही मुझसे कह रहे हो। यह तो पाण्डवों के हित और हमारे अहित की बात है। यह सब कुछ हमारी समझ में नहीं आती है ॥ १७ ॥

इदन्त्विदानीं कुत एव निश्चितं
तेषामर्थे पाण्डवानां यदात्थ ।

तेनाद्य मन्ये नासि हितो ममेति
कथं हि पुत्रं पाण्डवार्थे त्यजेयम् ॥१८॥

यह जो तू ने पाण्डवों के विषय मे कहा है, यह ऐसा ही होगा, इसका तुमने कैसे निश्चय कर लिया। अब आज से मैं ने माना कि तू हमारा हितकारी नहीं है। मैं पाण्डवों के लिए अपने पुत्रों को कैसे छोड़ सकता हूँ ॥ १८ ॥

असंशयं तेऽपि ममैव पुत्रा दुर्योधनस्तु मम देहात् प्रसूतः।
स्वं वै देहं परहेतोस्त्यजेति कोऽनु ब्रूयात् समतामन्ववेक्ष्य १९

इसमें सन्देह नहीं कि पाण्डव भी मेरे ही पुत्र हैं, परन्तु दुर्योधन तो मेरी देह से ही उत्पन्न हुआ है। पर के कारण अपनी देह से उत्पन्न पुत्र को छोड़ दो, इस तारतम्य को जानने वाला मनुष्य इस बात को कैसे कह सकता है ॥ १९ ॥

स मां जिह्मं विदुर सर्वं ब्रवीपि
मानञ्च तेऽहमधिकं धारयामि।
यथेच्छकं गच्छ वा तिष्ठ वा त्वं
सुसान्त्वमाना ह्यसती स्त्री जहाति ॥२०॥

हे विदुर! तू हमको सदा उलटी ही पट्टी पढ़ाता रहता है और हम तेरा अत्यन्त मान करते हैं। अब तेरी इच्छा है, कि तू ठहर या तेरी इच्छा के अनुसार जा। अच्छी तरह सुख से रखी हुई भी असती स्त्री पति को छोड़ जाती है, वही तेरी दशा है ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतावदुक्त्वा धृतराष्ट्रोऽन्वपद्यदन्तर्वेश्म सहसोत्थाय राजन् ।
नेदमस्तीत्यथो विदुरो भाषमाणः सम्प्राद्रवद्यत्र पार्था बभूवुः

इति म० वनपर्वणि आरण्यकपर्वणि विदुरवाक्ये चतुर्थोऽध्यायः॥४॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! इतना कह कर धृतराष्ट्र खड़ा हो गया और घर के भीतर चला गया। विदुर भी "यह कुल नहीं बचेगा" यह कह कर जहां पाण्डव थे, वहां चला गया॥ २१॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत आरण्यक पर्व में
विदुर वाक्य का चौथा अध्याय पूरा हुआ।



पाँचवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

पाण्डवास्तु वने वासमुद्दिश्य भरतर्षभाः ।
प्रययुर्जाह्नवीकूलात् कुरुक्षेत्रं सहानुगाः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—भरतवंश-श्रेष्ठ पाण्डवों ने वनवास को लक्ष्य करके अपने अनुचरों के साथ गङ्गा तीर से कुरुक्षेत्र को चल दिये॥ १॥

सरस्वतीदृषद्वत्यौ यमुनाञ्च निषेव्य ते ।
ययुर्वनेनैव वनं सततं पश्चिमां दिशम् ॥ २ ॥

सरस्वती, दृषद्वती और यमुना नदियों के तटों पर वास करके एक वन से दूसरे वन का अति क्रमण करते हुए पश्चिम दिशा को चल दिए ॥ २ ॥

ततः सरस्वतीकूले समेषु मरुधन्वसु ।
काम्यकं नाम ददृशुर्वनं मुनिजनप्रियम् ॥ ३ ॥

इन्होंने सरस्वती नदी के तट पर निर्जल और जाङ्गल प्रदेशों में मुनि जनों के प्रिय, काम्यक नामक वन को देखा ॥ ३ ॥

तत्र ते न्यवसन् वीरा वने बहुमृगद्विजे ।
अन्वास्यमाना मुनिभिः सान्त्वयमानाश्च भारत ॥४॥

हे भारत ! मृग और पक्षियों से युक्त काम्यक वन में इन वीर पाण्डवों ने निवास किया। मुनि जनों से इनका स्वागत किया गया और उन्होंने इन्हें बड़ा आश्वासन दिया ॥ ४ ॥

विदुरस्त्वपि पाण्डूनां सदा दर्शनलालसः ।
जगामैकरथेनैव काम्यकं वनमृद्धिमत् ॥ ५ ॥

विदुर तो पाण्डवों के दर्शन का बड़ा ही इच्छुक था। इस लिए अपने रथ से वैभवशाली काम्यक वन को वेग से चल दिया ॥ ५ ॥

ततो गत्वा विदुरः काम्यकंत
च्छीघ्रैरश्वैर्वाहिना स्यन्दनेन
ददर्शासीनं धर्मात्मानं विविक्ते
सार्द्धं द्रौपद्या भ्रातृभिर्ब्राह्मणैश्च ॥६॥

शीघ्रगामी घोड़ों से युक्त रथ से विदुर, काम्यक वन में पहुंचा। वहां उसने द्रौपदी, अपने भाई और ब्राह्मणों के साथ एकान्त में बैठे हुए धर्मात्मा युधिष्ठिर को देखा ॥ ६ ॥

ततोऽपश्यद्विदुरं तूर्णमारादभ्यायान्तं सत्यसन्धः स राजा ।
अथाब्रवीद्भ्रातरं भीमसेनं किं नु क्षत्ता वक्ष्यति नः समेत्य

सत्यवादी राजा ने शीघ्र २ आते हुए विदुर को दूर से ही देखा। युधिष्ठिर, भीमसेन से बोले—विदुर आ रहे हैं, वे आकर न जाने क्या कहेंगे ॥ ७ ॥

कच्चिन्नायं वचनात् सौबलस्य समाह्वाता देवनायोपयातः ।
कच्चित् क्षुद्रः शकुनिर्नायुधानि जेष्यत्यस्मान् पुनरेवाक्षवत्याम्

क्या ? यह फिर जुआ खेलने के लिए शकुनि का भेजा हुआ आ रहा है। क्या ? नीच शकुनि अब जुआ मे हमारे शस्त्र भी जीतना चाहता है ॥ ८ ॥

समाहूतः केनचिदाद्रवेति नाहं शक्तो भीमसेनापयातुम् ।
गाण्डीवे च संशयिते कथं नु राज्यप्राप्तिः संशयिता भवेन्नः

यदि जुआ के लिए आह्वान किया तो मैं फिर निषेध नहीं कर सकूंगा। जब गाण्डीव धनुष ही छीन लिया जावेगा, तब तो हमारी राज्य-प्राप्ति स्वयं सन्देह में पड़ जावेगी ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तत उत्थाय विदुरं पाण्डवेयाः
प्रत्यगृह्णन्नृपते सर्व एव ।

तैः सत्कृतः स च तानाजमीढो
यथोचितं पाण्डुपुत्रान् समेयात् ॥१०॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! इसके बाद सारे पाण्डवों ने उठकर विदुर का स्वागत किया। पाण्डवों से सत्कार पाए हुए अजमीढ वंशी विदुर, यथोचित सत्कार के साथ पाण्डु-पुत्रों से मिला ॥ १० ॥

समाश्वस्तं विदुरं ते नरर्षभा-
स्ततोऽपृच्छन्नागमनाय हेतुम् ।
स चापि तेभ्यो विस्तरतः शशंस
यथावृत्तो धृतराष्ट्रोऽम्बिकेयः ॥११॥

श्रम निवृत्त हो जाने के अनन्तर उन नर-श्रेष्ठ, पाण्डवों ने विदुर से आगमन का कारण पूछा। उसने अम्बिकासुत धृतराष्ट्र का जो व्यवहार था, ज्यों का त्यों उनको सुनाया ॥ ११ ॥

विदुर उवाच—

अवोचन्मा धृतराष्ट्रोऽनुगुप्तमजातशत्रो परिगृह्याभिपूज्य ।
एवं गते समतामभ्युपेत्य पथ्यन्तेषां मम चैव ब्रवीहि १२

विदुर कहने लगे—हे युधिष्ठिर! धृतराष्ट्र ने मेरा आदर सत्कार करके गुप्तरूप से मुझ से कहा, कि इस दशा मे पाण्डव और हमारे हित की बात बताओ ॥ १२ ॥

मयाप्युक्तं यत् क्षमं कौरवाणां हितं पथ्यं धृतराष्ट्रस्य चैव
तद्वै तस्मै न रुचामभ्युपैति ततश्चाहं क्षममन्यन्न मन्ये ॥

मैंने भी कौरव और धृतराष्ट्र के हितकारी और सुखदायी बात बताई। वह उसको रुचिकर प्रतीत नहीं हुई और मुझे अन्य कुछ उत्तम प्रतीत नहीं हुआ ॥ १३ ॥

परं श्रेयः पाण्डवेया मयोक्तं न मे तच्च श्रुतवानाम्बिकेयः।
यथातुरस्येव हि पथ्यमन्नं न रोचतेस्मास्य तदुच्यमानम्॥

हे पाण्डवों! जो परम कल्याणकारी बात मैंने कही, वह धृतराष्ट्र को उत्तम प्रतीत नहीं हुई। रोगी को पथ्य अन्न जैसे अच्छा नहीं लगता—उसी तरह धृतराष्ट्र को मेरा कहा अच्छा नहीं जचा ॥ १४ ॥

न श्रेयसे नीयतेऽजातशत्रो
स्त्री श्रोत्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा।
ध्रुवं न रोचेद्भरतर्षभस्य
पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ॥१५॥

हे अजातशत्रो! वेदपाठी के घर की बिगड़ी हुई स्त्री को जैसे कल्याण मार्ग में नहीं लगाया जा सकता है, और कुमारी कन्या को साठ वर्ष का पति जैसे प्रिय नहीं लगता, वैसे ही धृतराष्ट्र को मेरी बात नहीं जंची ॥ १५ ॥

ध्रुवं विनाशो नृप कौरवाणां
न वै श्रेयो धृतराष्ट्रः परैति।
यथा न पर्णे पुष्करस्यावसिक्तं
जलं न तिष्ठेत् पथ्यमुक्तं तथास्मिन् ॥१६॥

हे राजन्! कौरवों का विनाश अवश्य होना है, जो धृतराष्ट्र भी कल्याण की बात को नहीं मानता है। जैसे कमल के पत्त पर जल नहीं ठहरता है, उसी तरह इसको कल्याणकारी कथन उत्तम नहीं जचता है ॥ १६ ॥

ततः क्रुद्धो धृतराष्ट्रोऽब्रवीन्मां
यस्मिन् श्रद्धा भारत तत्र याहि ।
नाहं भूयः कामये त्वां सहायं
महीमिमां पालयितुं पुरं वा ॥१७॥

हे भारत! तब धृतराष्ट्र ने कुपित होकर कहा, कि जिनमें तेरी श्रद्धा है; तू वहीं जा। अब आगे इस पृथिवी या पुर के पालन में तेरी सहायता की हमें आवश्यकता नहीं है ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

सोऽहं त्यक्तो धृतराष्ट्रेण राज्ञा
प्रशासितुं त्वामुपयातो नरेन्द्र ।
तद्वै सर्वं यन्मयोक्तं सभायां
तद्धार्य्यतां तत् प्रवक्ष्यामि भूयः ॥१८॥

हे नरेन्द्र! राजा धृतराष्ट्र ने मेरा परित्याग कर दिया है। इस से मैं तुमको शिक्षा देने को आया हूँ। जो मैंने सभा में कहा था, उसको अपने चित्त में धारण कर ले उस को मैं फिर समझा देता हूँ ॥ १८ ॥

क्लेशैस्तीव्रैर्युज्यमानः सपत्नैः
क्षमांकुर्वन् कालमुपासते यः ।

संवर्द्धयंस्तोक्रमिनाग्निमात्मवान्
स वै भुङ्क्ते पृथिवीमेक एव ॥१९॥

शत्रुओं द्वारा तीव्र क्लेश में डाला हुआ भी क्षमा के साथ जो समय को निकाल देता है, वह मनस्वी आग की चिनगारी की तरह फैल जाता है और अकेला ही सारी पृथिवी के भोगने में समर्थ होजाता है ॥ १९ ॥

यस्याविभक्तं वसु राजन् सहायै
स्तस्य दुःखेप्यंशभाजः सहायाः ।
सहायानमेप संग्रहणेऽभ्युपायः
सहायाप्तौ पृथिवीप्राप्तिमाहुः ॥२०॥

हे राजन् ! जिस राजा का धन, सहायों से भिन्न नहीं है, उसके सहायक दुःख में भी साथ दुःख भोगने वाले होते हैं। सहायकों को बनाए रखने का यही उपाय है। जिसको सहायकों की प्राप्ति हो गई, उस को मानो पृथिवी का राज्य ही प्राप्त होगया ॥ २० ॥

सत्यं श्रेयः पाण्डव विप्रलापं
तुल्यश्चान्नं सह भोज्यं सहायैः ।
आत्मा चैषामग्रतो न स्म पूज्य
एवंवृत्तिर्वर्द्धते भूमिपालः ॥२१॥

हे पाण्डव ! अनर्थक प्रलाप से रहित, सत्य ही कल्याणकारी है। सहायकों के साथ समानता से भोजन करना चाहिये। इन

के आगे अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये, । इस प्रकार व्यव-हार करने वाला राजा वृद्धि को प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

एवं करिष्यामि यथा ब्रवीषि परां बुद्धिमुपगम्याप्रमत्तः ।
यच्चाप्यन्यद्देशकालोपपन्नं तद्वै वाच्यं तत् करिष्यामि कृत्स्नम् ॥२२॥

इति म० वनपर्वणि आरण्यकपर्वणि विदुरनिर्वासे पञ्चमोऽध्यायः ५

युधिष्ठिर बोले—मैं अपनी बुद्धि में धारण करके बड़ी साव-धानी से वही करूँगा, जो आप कह रहे हैं । इसके सिवा अन्य जो कुछ भी देश काल के उपयोगी हो, वह कहो मैं सब का पालन करूंगा ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत आरण्यकपर्व में विदुर निर्वासन का पांचवां अध्याय समाप्त हुआ ।



छठा अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

गते तु विदुरे राजन्नाश्रमं पाण्डवान् प्रति ।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः पर्यतप्यत भारत ॥१॥
विदुरस्य प्रभावश्च सन्धिविग्रहकारितम् ।
विवृद्धिश्च परां मत्वा पाण्डवानां भविष्यति ॥२॥

वैशम्पायन बोले—हे भारत ! वन में पाण्डवों के पास विदुर के चले जाने पर सन्धि और विग्रह में विदुर के प्रभाव को और पाण्डवों की भविष्य में वृद्धि को जान कर महा बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र, बड़ी चिन्ता करने लगा ॥ १-२ ॥

स सभाद्वारमागम्य विदुरस्मारमोहितः ।
समक्षं पार्थिवेन्द्राणां पपाताविष्टचेतनः ॥३॥

वह सभा मे आकर विदुर की याद से मोहित होकर सारे राजाओं के सम्मुख मूर्च्छित होकर गिर पड़ा ॥ ३ ॥

स तु लब्ध्वा पुनः संज्ञां समुत्थाय महीतलात् ।
समीपोपस्थितं राजा सञ्जयं वाक्यमब्रवीत् ॥४॥

धृतराष्ट्र को जब चेत हुआ तो वह भूमि से उठकर पास में उपस्थित सञ्जय से कहने लगा ॥ ४ ॥

भ्राता मम सुहृच्चैव साक्षाद्धर्म इवापरः ।
तस्य स्मृत्वाद्य सुभृशं हृदयं दीर्यतीव मे ॥५॥

विदुर मेरा भाई, सुहृदय, धर्म की साक्षात् दूसरी मूर्ति था। उसको स्मरण कर के आज मेरा हृदय फट सा रहा है ॥ ५ ॥

तमानयस्व धर्मज्ञं मम भ्रातरमाशु वै ।
इति ब्रुवन् स नृपतिः कृपणं पर्य्यदेवयत् ॥६॥

उस धर्मज्ञ मेरे भाई को कोई जाकर शीघ्र लाओ, यह कहकर राजा धृतराष्ट्र दीनता से रोने लगा ॥ ६ ॥

पश्चात्तापाभिसन्तप्तो विदुरस्मारमोहितः ।
भ्रातृस्नेहादिदं राजा सञ्जयं वाक्यमब्रवीत् ॥७॥

अपने कर्तव्य पर पाश्चात्ताप करता हुआ विदुर के स्मरण से मोहित राजा धृतराष्ट्र, अपने भाई के स्नेह के कारण सञ्जय से यह वाक्य कहने लगा ॥ ७ ॥

गच्छ सञ्जय जानीहि भ्रातरं विदुरं मम ।
यदि जीवति रोषेण मया पापेन निर्द्धुतः ॥८॥
न हि तेन मम भ्राता सुसूक्ष्ममपि किञ्चन ।
व्यलीकं कृतपूर्वं वै प्राज्ञेनामितबुद्धिना ॥९॥
स व्यलीकं परं प्राप्तो मत्तः परमबुद्धिमान् ।
त्यक्ष्यामि जीवितं प्राज्ञ तं गच्छानय सञ्जय ॥१०॥

हे सञ्जय ! तू जा और मेरे भाई विदुर का पता लगा। यदि मुझ पापी से निर्वासित किया हुआ, वह कहीं रोष से जीवित है, तो उसको ले आ। इस महा बुद्धिमान्, विद्वान् भाई ने

कभी मेरा सूक्ष्म भी अप्रिय नहीं किया, उसी का आज मैंने बड़ा अप्रिय किया है। या तो तू उस को शीघ्र ला, नहीं तो मैं प्राण छोड़ता हूं॥ ८-१०॥

वैशम्पायन उवाच—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राज्ञस्तमनुमान्य च।
सञ्जयो बाढमित्युक्त्वा प्राद्रवत् काम्यकं प्रति ॥११॥

वैशम्पायन बोले—राजा धृतराष्ट्र के वचन सुन कर और बड़ी अच्छी बात है, इस प्रकार अनुमोदन करके सञ्जय काम्यक वन की ओर चल दिया॥ ११॥

सोऽचिरेण समासाद्य तद्वनं यत्र पाण्डवाः।
रौरवाजिनसंवीतं ददर्शाथ युधिष्ठिरम् ॥१२॥

यह शीघ्र ही उस वन में पहुंच गया, जहां पाण्डव थे। इस ने मृगचर्म धारण किये हुए राजा युधिष्ठिर को देखा॥ १२॥

विदुरेण सहासीनं ब्राह्मणैश्च सहस्रशः।
भ्रातृभिश्चाभिसंगुप्तं देवैरिव पुरन्दरम् ॥१३॥

यह राजा युधिष्ठिर विदुर और सहस्रों ब्राह्मणों के साथ बैठा था और देवों से इन्द्र की भांति अपने भाइयों से सुरक्षित था १३

युधिष्ठिरमुपागम्य पूजयामास सञ्जयः।
भीमार्जुनयमांश्चापि तद्युक्तं प्रतिपेदिरे ॥१४॥

युधिष्ठिर के पास पहुंच कर सञ्जय ने वन्दना की और भीम, अर्जुन तथा नकुल, सहदेव का भी यथायोग्य सत्कार किया॥ १४॥

राज्ञा पृष्टः स कुशलं सुखासीनश्च सञ्जयः ।
शशंसागमने हेतुमिदञ्चैवाब्रवीद्वचः ॥१५॥

सुख पूर्वक सञ्जय के बैठ जाने पर राजा ने उससे कुशल पूछी। सञ्जय ने अपने आने का कारण सुनाया और यह वचन कहा—॥ १५ ॥

सञ्जय उवाच—

राजा स्मरति ते क्षत्तर्धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
तं पश्य गत्वा त्वं क्षिप्रं संजीवय च पार्थिवम् ॥१६॥

हे विदुर ! तुमको अम्बिका सुत राजा धृतराष्ट्र याद कर रहे हैं। तुम शीघ्र चल कर उनको दर्शन दो और उनके जीवन की रक्षा करो ?॥ १६ ॥

सोऽनुमान्य नरश्रेष्ठान् पाण्डवान् कुरुनन्दन ।
नियोगाद्राजसिंहस्य गन्तुमर्हसि सत्तम ॥१७॥

हे कुरुनन्दन ! नरश्रेष्ठ पाण्डवों ने इसका अनुमोदन किया और कहा—हे महानुभाव ! आपको राजा की आज्ञा के अनुसार लौट जाना चाहिये ? ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तस्तु विदुरो धीमान् स्वजनवत्सलः ।
युधिष्ठिरस्यानुमते पुनरायाद्गजाह्वयम् ॥१८॥

वैशम्पायन बोले—बुद्धिमान्, स्वजन-वत्सल, विदुर, सञ्जय के इतना कहने पर युधिष्ठिर की सम्मति के अनुसार फिर हस्तिनापुर लौट आया॥ १८ ॥

तमब्रवीन्महातेजा धृतराष्ट्रः प्रतापवान् ।
दिष्ट्या प्राप्तोऽसि धर्मज्ञ दिष्ट्या स्मरसि मेऽनघ ॥१६॥

इससे प्रतापी, महातेजस्वी, राजा धृतराष्ट्र बोला—हे धर्मात्मन् आज बड़े आनन्द का समय है, जो तुमने मुझे याद रखा हैं ॥१६

अद्य चाहं दिवारात्रौ त्वत्कृते भरतर्षभ ।
प्रजागरे प्रपश्यामि विचित्रं देहमात्मनः ॥२०॥

हे भरतर्षभ ! आज मैं रात दिन तेरे लिए जाग कर इतना कृश हो गया हूँ कि अपनी देह को विचित्र सो देख रहा हूँ या लक्ष्मी रहित देखता हूँ ॥ २० ॥

सोऽङ्कमानीय विदुरं मूर्द्ध्न्याघ्राय चैव ह ।
चम्यतामिति चोवाच यदुक्तोऽसि मयानघ ॥२१॥

राजा धृतराष्ट्र विदुर को गोदी में लेकर और उसके मस्तक को सूंघ कर बोला—हे विदुर! मैं ने जो तुमसे अनुचित कहा, उस को क्षमा करो ? ॥ २१ ॥

विदुर उवाच—

चान्तमेव मया राजन् गुरुर्मे परमो भवान् ।
एषोऽहमागतः शीघ्रं त्वद्दर्शनपरायणः ॥२२॥

विदुर बोले—हे राजन्! मैं ने तो प्रथम ही क्षमा कर रखी है, क्यों कि आप मेरे पूज्य हैं। इसीसे मैं तुम्हारे दर्शन की लालसा से ही शीघ्र आया ॥ २२ ॥

भवन्ति हि नरव्याघ्र पुरुषा धर्मचेतसः ।
दीनाभिपातिनो राजन्नात्र कार्य्या विचारणा ॥२३॥

हे नरव्याघ्र ! ऐसे भी बहुत पुरुष हैं, जो दीनों के पक्षपाती होते हैं और इसको वे धर्म मानते हैं । इसमे आपको कुछ विचार (बुरा मानना) करना नहीं चाहिये ॥ २३ ॥

पाण्डोः सुता यादृशा मे तादृशास्तव भारत ।
दीना इतीव मे बुद्धिरभिपन्नाद्य तान् प्रति ॥२४॥

हे भारत ! जैसे तेरे पुत्र, वैसे ही पाण्डु के पुत्र भी मुझे प्रिय हैं । वे आज कल दीन दशा में हैं, इससे उनसे मिलने की मेरी इच्छा हो गई ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

अन्योन्यमनुनीयैवं भ्रातरौ द्वौ महाद्युती ।
विदुरो धृतराष्ट्रश्च लेभाते परमां मुदम् ॥२५॥

इति महाभारते वनपर्वणि आरण्यकपर्वणि विदुरप्रत्यागमनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इस तरह महातेजस्वी दोनों भाइयों ने एक दूसरे की प्रार्थना की । इस प्रकार विदुर और धृतराष्ट्र ने बड़ा आनन्द प्राप्त किया ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत आरण्यकपर्व में विदुर के प्रत्यागमन का छठा अध्याय पूरा हुआ ।

सातवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

श्रुत्वा च विदुरं प्राप्तं राज्ञा च परिसान्त्वितम् ।
धृतराष्ट्रात्मजो राजा पर्य्यतप्यत दुर्मतिः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे भारत! विदुर को आया हुआ और धृतराष्ट्र द्वारा सन्तुष्ट किया हुआ सुन कर दुर्मति धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन बड़ा दुःखी हुआ ॥ १ ॥

स सौबलेयमानाय्य कर्णदुःशासनौ तथा ।
अब्रवीद्वचनं राजा प्रविश्याबुद्धिजं तमः ॥२॥

उसने मूर्खता से उत्पन्न हुए अन्धकार में प्रविष्ट होकर शकुनि, कर्ण और दुःशासन को बुला कर कहा—॥ २ ॥

एष प्रत्यागतो मन्त्री धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
विदुरः पाण्डुपुत्राणां सुहृद्विद्वान् हिते रतः ॥३॥

बुद्धिमान धृतराष्ट्र का मन्त्री, पाण्डवों का सुहृद्, हित करने वाला, विद्वान् विदुर, फिर लौट आया है ॥ ३ ॥

यावदस्य पुनर्बुद्धिं विदुरो नापकर्षति ।
पाण्डवानयने तावन्मन्त्रयध्वं हितं मम ॥४॥

यह राजा धृतराष्ट्र की बुद्धि को पाण्डवों के वापिस बुलाने के लिए जब तक अपनी ओर न खैंच लें, तब तक कोई हितकारी सम्मति विचार लो ॥ ४ ॥

अथ पश्याम्यहं पार्थान् प्राप्तानिह कथञ्चन ।
पुनः शोषं गमिष्यामि निरम्बुर्निरवग्रहः ॥५॥

किसी तरह यदि पाण्डव यहां लौट आये, तो मैं मृत्यु पर्यन्त जल पान न करके अपने को सुखा डालूंगा ॥ ५ ॥

विषमुद्बन्धनं चैव शस्त्रमग्निप्रवेशनम् ।
करिष्ये न हि तानृद्धान् पुनर्द्रष्टुमिहोत्सहे ॥६॥

विष, फासी, शस्त्र या अग्नि में प्रवेश कर लूंगा, परन्तु मैं वभव शाली पाण्डवों को नहीं देख सकता हूँ ॥ ६ ॥

शकुनिरुवाच—

किं बालिशमतिं राजन्नास्थितोऽसि विशाम्पते ।
गतास्ते समयं कृत्वा नैतदेवं भविष्यति ॥७॥

शकुनि बोला—हे विशापते ! तुम क्यों बच्चों की सी बुद्धि के फेर में पड़े हो, वे प्रतिज्ञा करके गये हैं, अब आ ही नहीं सकते हैं ॥

सत्यवाक्ये स्थिताः सर्वे पाण्डवा भरतर्षभ ।
पितुस्ते वचनं तात न ग्रहीष्यन्ति कर्हिचित् ॥८॥

हे भरतर्षभ ! पाण्डव सत्य में दृढ़ हैं, इससे वे लौट आने के तुम्हारे पिता के वचनों को भी कभी नहीं मानेंगे ॥ ८ ॥

अथवा ते ग्रहीष्यन्ति पुनरेष्यन्ति वा पुरम् ।
निरस्य समयं सर्वे पणोऽस्माकं भविष्यति ॥९॥

यदि वे धृतराष्ट्र के वचनों को मान कर अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ कर वापिस भी आ जावें, तो फिर हम जुआ खेलेंगे ॥ ९ ॥

सर्वे भवामो मध्यस्था राज्ञश्छन्दानुवर्त्तिनः ।
छिद्रं बहु प्रपश्यन्तः पाण्डवानां सुसंवृताः ॥१०॥

राजा की इच्छा के अनुसार हम सब मध्यस्थ से बन जावेंगे, परन्तु चुप चाप पाण्डवों की कमी देखते रहेंगे ॥ १० ॥

दुःशासन उवाच—

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि मातुल
नित्यं हि मे कथयतस्तव बुद्धिर्हि रोचते ॥११॥

दुःशासन ने कहा—हे महाप्राज्ञ ! जो यह मामा जी कह रहे हैं, वह सब कुछ ठीक है। मैं यही कहता रहता हूँ और तुम्हारी बुद्धि में भी यह बात बैठ जाती है ॥ ११ ॥

कर्ण उवाच—

काममीक्षामहे सर्वे दुर्योधन तवेप्सितम् ।
ऐकमत्यं हि नो राजन् सर्वेषामेव लक्षये ॥१२॥

कर्ण बोला—हे दुर्योधन ! हम तो तेरे मनोरथ ही सब तरह पूर्ण हुआ देख रहे हैं, क्योंकि अब सारे राजाओं का तुम्हारे लिए एक मत होता जा रहा है ॥ १२ ॥

नागमिष्यन्ति ते धीरा अकृत्वा कालसंविदम् ।
आगमिष्यन्ति चेन्मोहात् पुनर्द्यूतेन तान् जय ॥१३॥

वे धीर पाण्डव बिना समय पूरा किये लौट नहीं सकते हैं। यदि किसी तरह आ गये, तो फिर जुआ से जीत लेंगे ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा ।
नातिहृष्टमनाः क्षिप्रमभवत् स पराङ्मुखः ॥१४॥

वैशम्पायन बोले—कर्ण के इतना कहने पर राजा दुर्योधन अत्यन्त प्रसन्न नहीं हुआ और उसने मुंह फेर लिया ॥ १४ ॥

उपलभ्य ततः कर्णो विवृत्य नयने शुभे ।
रोषाद् दुःशासनञ्चैव सौबलञ्च तमेव च ॥१५॥
उवाच परमक्रुद्ध उद्यम्यात्मानमात्मना ।
अथो मम मतं यत्तु तन्निबोधत भूमिपाः ॥१६॥

कर्ण ने जब दुर्योधन को असन्तोष युक्त देखा, तो क्रोध से अपनी आंखें बदल डाली और क्रोध के साथ अपने आप को उठाकर दुःशासन तथा शकुनि से कहा, हे राजाओं! इस विषय में मेरा जो मत है, वह सुनो ॥ १५-१६ ॥

प्रियं सर्वे करिष्यामो राज्ञः किङ्करपाणयः ।
न चास्य शक्नुमः स्थातुं प्रिये सर्वे ह्यतन्त्रिताः ॥१७॥

हम सारे, राजा के हाथों के समान सेवक हैं, परन्तु धृतराष्ट्र के रोकने से इनका ठीक हित नहीं कर सकते हैं, केवल हित करना चाहते ही रहते हैं ॥ १७ ॥

वयन्तु शस्त्राण्यादाय रथानास्थाय दंशिताः।
गच्छामः सहिता हन्तुं पाण्डवान् वनगोचराः ॥ १८ ॥

हम सब तय्यारी के साथ शस्त्र लेकर और रथों में बैठकर वन में वास करने वाले पाण्डवों को मारने के लिये इकट्ठे होकर चलें ॥ १८ ॥

तेषु सर्वेषु शान्तेषु गतेष्वविदितां गतिम् ।
निर्विवादा भविष्यन्ति धार्त्तराष्ट्रास्तथा वयम् ॥१९॥

जब ये सब नष्ट हो जावेंगे और इस बात का किसी को भी पता नहीं चलेगा तो हम और दुर्योधनादि सब निश्चिन्त हो जावेंगे ॥ १९ ॥

यावदेव परिद्यूना यावच्छोकपरायणाः ।
यावन्मित्रविहीनाश्च तावच्छक्या मतं मम ॥२०॥

जब तक ये खिन्न और शोक परायण तथा मित्रों से हीन हैं, तभी तक ये जीते जा सकते हैं ॥ २० ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा पूजयन्तः पुनः पुनः ।
बाढमित्येव ते सर्वे प्रत्यूचुः सूतजं तदा ॥२१॥

कर्ण के ये वचन सुनकर और बार २ अनुमोदन करके सबने कर्ण से कहा—कि, बस ठीक है ॥ २१ ॥

एवमुक्त्वा सुसंरब्धा रथैः सर्वे पृथक् पृथक् ।
निर्ययुः पाण्डवान् हन्तुं सहिताः कृतनिश्चयाः ॥२२॥

इस प्रकार कहकर सब बड़े वेग से अलग २ तय्यार हो गए और निश्चय करके पाण्डवों के मारने को चल दिए ॥ २२ ॥

तान् प्रस्थितान् परिज्ञाय कृष्णद्वैपायनः प्रभुः ।
आजगाम विशुद्धात्मा दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा ॥२३॥

पाण्डवों के मारने के लिए वन को जाते हुए दुर्योधनादि को दिव्य चक्षु से देखकर सब तरह समर्थ विशुद्ध आत्मा वाले, वेदव्यास, वहां आये ॥ २३ ॥

प्रतिषिध्याथ तान् सर्वान् भगवान् लोकपूजितः ।
प्रज्ञाचक्षुषमासीनमुवाचाभ्येत्य सत्वरम् ॥२४॥

इति श्रीम० आरण्यपर्वणि आरण्यकपर्वणि व्यासागमने सप्तमोऽध्यायः

लोकों में पूजित भगवान् व्यास ने सबको रोक दिया और शीघ्र आकर सिंहासन पर बैठे हुए राजा धृतराष्ट्र से कहा ॥२४॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत आरण्यक पर्व में व्यास के आगमन का सातवां अध्याय समाप्त हुआ।



आठवां अध्याय

व्यास उवाच—

धृतराष्ट्र महाप्राज्ञ निबोध वचनं मम ।
वक्ष्यामि त्वां कौरवाणां सर्वेषां हितमुत्तमम् ॥१॥

व्यासजी बोले—हे महाप्राज्ञ! धृतराष्ट्र! तुम मेरे वचन सुनो। मैं सारे कौरवों के हित की बात कहता हूँ॥ १॥

न मे प्रियं महाबाहो यद्गताः पाण्डवा वनम् ।
निकृत्या निर्जिताश्चैव दुर्योधनपुरोगमैः ॥ २ ॥

हे महाबाहो! मुझे यह बात अच्छी प्रतीत नहीं हुई, जो पाण्डव वन में चले गए और दुर्योधनादि तेरे पुत्रों ने उन्हें छल जीत लिया॥ २॥

ते स्मरन्तः परिक्लेशान् वर्षे पूर्णे त्रयोदशे ।
विमोक्ष्यन्ति विषं क्रुद्धाः कौरवेयेषु भारत ॥३॥

हे भारत ! तेरह वर्ष बीतने पर अपने क्लेशों का स्मरण करके कौरवों पर क्रुद्ध हुए पाण्डव विष उगलेंगे ॥ ३ ॥

तदयं किन्तु पापात्मा तव पुत्रः सुमन्दधीः ।
पाण्डवान्नित्यसंक्रुद्धो राज्यहेतोर्जिघांसति ॥४॥

तेरा पापी और मूर्ख पुत्र दुर्योधन, राज्य के कारण क्रुद्ध होकर नित्य पाण्डवों के मारने की चिन्ता में रहता है ॥ ४ ॥

वार्य्यतां साध्ययं मूढः शर्म गच्छतु ते सुतः ।
वनस्थांस्तानयं हन्तुमिच्छन् प्राणान् विमोक्ष्यति ॥५॥

इसको अच्छी तरह से कहो, यह मूढ़ चुप हो जावे, तो ही अच्छा है । वनवासी पाण्डवों के मारने में तत्पर यह कहीं स्वयं न मारा जावे ॥ ५ ॥

यथा हि विदुरः प्राज्ञो यथा भीष्मो यथा वयम् ।
यथा कृपश्च द्रोणश्च तथा साधुर्भवानपि ॥६॥

जैसे शुद्ध विचार के बुद्धिमान् विदुर, भीष्म या हम लोग तथा कृप, द्रोण हैं, वैसे आप भी साधु पुरुष हैं ॥ ६ ॥

विग्रहो हि महाप्राज्ञ स्वजनेन विगर्हितः ।
अधर्म्यमयशस्यञ्च मा राजन् प्रतिपद्यथाः ॥७॥

हे राजन् ! स्वजनों से झगड़ा करना महानिन्दित कर्म है । यह अधर्म और अपयश करने वाला है । इसको तुम अच्छा मत समझो ॥ ७ ॥

समीक्षा यादृशी ह्यस्य पाण्डवान् प्रति भारत ।
उपेक्ष्यमाणा सा राजन् महान्तमनयं स्पृशेत् ॥८॥

हे भारत! इसका जो पाण्डवों के प्रति व्यवहार है, यदि उसकी उपेक्षा की गई तो, तो बड़ा भारी अनर्थ खड़ा हो जावेगा ॥ ८ ॥

अथ चायं सुमन्दात्मा वनं गच्छतु ते सुतः ।
पाण्डवैः सहितो राजन्नेक एवासहायवान् ॥९॥
ततः संसर्गजः स्नेहः पुत्रस्य तव पाण्डवैः ।
यदि स्यात् कृतकार्य्योऽद्य भवेस्त्वं मनुजेश्वर ॥१०॥

हे राजन्! अथवा यह महामूर्ख तेरा सुत उन पाण्डवों के साथ ही अकेला वन को चला जावे, तो तेरे पुत्र का शायद साथ रहने से कुछ पाण्डवों के साथ प्रेम हो जावे। यदि ऐसा हो गया तो तू अपने काम में सफल हो गया ॥ ९-१० ॥

अथ वा जायमानस्य यच्छीलमनुजायते ।
श्रूयते तन्महाराज नामृतस्यापसर्पति ॥११॥

हे महाराज! मनुष्य का उत्पत्ति के समय जो स्वभाव बन जाता है, वह फिर बिना मरे नहीं जाता है, यह प्रसिद्ध है ॥११॥

कथं वा मन्यते भीष्मो द्रोणोऽथ विदुरोऽपि वा ।
भवान् वात्र क्षमं कार्य्यं पुरा वोऽर्थो निवर्त्तते ॥१२॥

इति श्रीम० आरण्यपर्वणि आरण्यकपर्वणि व्यासवाक्ये अष्टमोऽध्यायः

अथवा भीष्म, द्रोण, विदुर या आप क्या मानते हैं। यदि मैं कहता हूँ, जो शीघ्र नहीं किया तो तुम्हारा कार्य नष्ट हो जावेगा ॥ १२ ॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत आरण्यकपर्व में व्यास वाक्य का आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ।



नवां अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच—

भगवन्नाहमप्येतद्रोचये द्यूतसम्भवम् ।
मन्ये तद्विधिनाकृष्य कारितोऽस्मीति वै मुने ॥१॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे भगवन ! मुझे स्वय यह जुए का झगड़ा पसद नहीं था। विधाता ने अपनी प्रेरणा से मुझे खेंच कर यह सब कुछ कराया है ॥ १ ॥

नैतद्रोचयते भीष्मो न द्रोणो विदुरो न च ।
गान्धारी नेच्छति द्यूत तत्र मोहात् प्रवर्त्तितम् ॥२॥

इस द्यूत को भीष्म, द्रोण, विदुर कोई भी पसन्द नहीं करता था। यहा तक कि गान्धारी भी इस म असहमत थी, तो भी किसी भूल से यह हो ही गया ॥ २ ॥

परित्यक्तं न शक्नोमि दुर्योधनमचेतनम् ।
पुत्रस्नेहेन भगवन् जानन्नपि प्रियव्रत ॥३॥

मैं इस मूर्ख दुर्योधन को भी पुत्र स्नेह के कारण छोड नहीं सकता हूँ, यद्यपि मैं यह सब कुछ जानता हू ॥ ३ ॥

व्यास उवाच—

वैचित्रवीर्य नृपते सत्यमाह यथा भवान् ।
दृढं विद्मः परं पुत्रं परं पुत्रान्न विद्यते ॥४॥

व्यास जी कहने लगे—हे विचित्रवीर्य के पुत्र, राजन ! तुम जो कह रहे हो, वह सत्य है। यह मैं अच्छी तरह

जानता हूं, कि तुम पुत्र को सर्वोत्कृष्ट मानते हो और तुम्हें पुत्र से अधिक कुछ नहीं है ॥ ४ ॥

इन्द्रोऽप्यश्रुनिपातेन सुरभ्या प्रतिबोधितः ।
अन्यैः समृद्धैरप्यर्थैर्न सुतान्मन्यते परम् ॥५॥

सुरभि गौ ने अपने अश्रुओं से इन्द्र को जता दिया था, जिस से वह इन्द्र अन्य वस्तुओं से उस उत्तम स्थान की प्राप्ति नहीं मानता है, जिसकी पुत्र से प्राप्ति हो जाती है ॥ ५ ॥

अत्र ते वर्त्तयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम् ।
सुरभ्याश्चैव संवादमिन्द्रस्य च विशाम्पते ॥६॥

हे विशाम्पते ! मैं तुम से इन्द्र और सुरभि का एक उत्तम उपाख्यान कहता हूं ॥ ६ ॥

त्रिविष्टपगता राजन् सुरभी प्रारुदत् किल ।
गवां माता पुरा तात तामिन्द्रोऽन्वकृपायत ॥७॥

एक बार स्वर्ग में गौओं की माता सुरभी गो रोने लगी, जिस पर इन्द्र को बड़ी करुणा हुई ॥ ७ ॥

इन्द्र उवाच—

किमिदं रोदिषि शुभे कच्चित् क्षेमं दिवौकसाम् ।
मनुष्येष्वथ नागेषु नैतदल्पं भविष्यति ॥८॥

इन्द्र कहने लगा—हे सुरभे ! तू क्यों ? रोती है । देवों की कुशल तो है । इससे तो मनुष्य लोक या नागलोक में कुछ उत्पात होना प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

सुरभिरुवाच—

निनिपातो न ते कच्चिद् दृश्यते त्रिदशाधिप ।
अहं तु पुत्रं शोचामि तेन रोदिमि कौशिक ।।९।।

सुरभी कहने लगी । हे इन्द्र ! तेरी कोई अवनति नहीं होने वाली है । हे कौशिक, मैं तो अपने पुत्र का शोक कर रही हूं, जिस से रोती हूं ॥ ९ ॥

पश्यैनं कर्षकं क्षुद्रं दुर्बलं मम पुत्रकम् ।
प्रतोदेनाभिनिघ्नन्तं लाङ्गलेन च पीड़ितम् ॥१०॥

मेरे हल खैंचने वाले इस दुर्बल पुत्र को देखो, जिस को किसान सांटे से पीट रहा है और जो हल से बड़ा दुःखी हो रहा है ॥ १० ॥

निषीदमानं सोत्कण्ठं वध्यमानं सुराधिप ।
कृपाविष्टास्मि देवेन्द्र मनश्चोद्विजते मम ॥११॥

हे इन्द्र ! यह तो बड़ी उत्कंठा से बैठता है और किसान इसको मारने लगता है मुझे इस की बड़ी दया आरही है और मेरा मन पीड़ित हो रहा है ॥ ११ ॥

एकस्तत्र बलोपेतो धुरमुद्वहतेऽधिकाम् ।
अपरोऽप्यबलप्राणः कृशो धमनिसन्ततः ॥१२॥
कृच्छ्रादुद्वहते भारं तं वै शोचामि वासव ।
वध्यमानः प्रतोदेन तुद्यमानः पुनः पुनः ॥१३॥

हे इन्द्र ! किसी गाड़ी मे एक तो बलवान् पुत्र जुड़ा है, जो भारी धुर को उठा सकता है और दूसरा बड़ा निर्बल है, जिसकी नस नस दिखाई दे रही है। यह उस भार को बड़ी पीड़ा से उठा रहा है और बार २ पैनी या साटों स पिटने से पीड़ित हो रहा है ॥ १२-१३ ॥

नैव शक्नोति तं भारमुद्वोढुं पश्य वासव ।
ततोऽहं तस्य शोकार्त्ता विरौमि भृशदुःखिता ।
अश्रूण्यावर्त्तयन्ती च नेत्राभ्यां करुणायती ॥१४॥

हे इन्द्र ! तू स्वय देख ले। यह इस बोझे के उठाने मे बिल्कुल समर्थ नहीं है, इसी लिए मैं अत्यन्त दु खी और शोकातुर होकर रो रही हूँ। करुणा के वश मे मेरी आखें आसुओं से भर रही हैं ॥ १४ ॥

शक्र उवाच—

तव पुत्रसहस्रेषु पीड्यमानेषु शोभने ।
किं कृपायितमस्त्यत्र पुत्रएकत्रहन्यति ॥१५॥

इन्द्र बोला—हे शोभने ! तेरे तो सहस्रों पुत्र हैं, और उन में भी अनेक पीडा भोग रहे हैं। फिर एक पुत्र के दु खसे तू इतनी कातर क्यों हो रही है ॥ १५ ॥

सुरभिरुवाच—

यदि पुत्रसहस्राणि सर्वत्र समतैव मे ।
दीनस्य तु सतः शक्र पुत्रस्याभ्यधिका कृपा ॥१६॥

सुरभि बोली—यद्यपि मेरे पुत्र सहस्रों की संख्या में हैं और उन सब में समान दुःख सुख का अनुभव करती हूँ, परन्तु दीन और सज्जन पुत्र पर मेरी अधिक कृपा रहती है ॥१६॥

व्यास उवाच—

तदिन्द्रः सुरभीवाक्यं निशम्य भृशविस्मितः ।
जीवितेनापि कौरव्य मेनेऽभ्यधिकमात्मजम् ॥१७॥

व्यास जी बोले—हे कौरव्य सुरभी के वचन सुनकर इन्द्र बड़ा विस्मित हुआ और वह भी अपने प्राणों से अधिक पुत्र मानने लगा ॥ १७ ॥

प्रववर्ष च तत्रैव सहसा तोयमुल्बणम् ।
कर्षकस्याचरन् विघ्नं भगवान् पाकशासनः ॥१८॥

अब उस स्थान में किसान का विघ्न करने के लिए भगवान् इन्द्र अचानक मूसलाधार वर्षा से जल बरसाने लगा ॥ १७ ॥

तद्यथा सुरभिः प्राह सममेवास्तु ते तथा ।
सुतेषु राजन् सर्वेषु दीनेष्वभ्यधिका कृपा ॥१६॥

हे राजन् ! जैसा सुरभि ने कहा, वैसे ही तुम्हारी भी पुत्रों पर समान ही प्रीति होनी चाहिये किन्तु दीनों पर अधिक कृपा करनी उचित है ॥ १६ ॥

यादृशो मे सुतः पाण्डुस्तादृशो मेऽसि पुत्रक ।
विदुरश्च महाप्राज्ञः स्नेहादेतद्ब्रवीम्यहम् ॥२०॥

हे पुत्र ! जैसा मेरा पुत्र पाण्डु है, वैसा ही तू और विदुर हैं। मैं स्नेह से एक बात कहता हूँ ॥ २० ॥

चिराय तव पुत्राणां शतमेकश्च भारत ।
पाण्डोः पञ्चैव लक्ष्यन्ते तेऽपि मन्दाः सुदुःखिताः ॥२१

हे भारत ! चिरकाल से तेरे एक सौ एक पुत्र हैं और पांडु के पांच ही हैं, जो भी दीन और दुःखी हैं ॥ २१ ॥

कथं जीवेयुरत्यन्तं कथं वर्द्धेयुरित्यपि ।
इति दीनेषु पार्थेषु मनो मे परि तप्यते ॥२२॥

वे किस प्रकार जीवित रहें और किस प्रकार अपनी उन्नति करें। इस तरह दीन पांडवों के लिये मेरा मन जलता रहता है ॥

यदि पार्थिव कौरव्यान् जीवमानानिहेच्छसि ।
दुर्य्योधनस्तव सुतः शमं गच्छतु पाण्डवैः ॥२३॥

इति महाभारते वनपर्वणि आरण्यकपर्वणि सुरभ्युपाख्याने नवमोऽध्यायः ॥६॥

हे राजन् ! यदि तू कौरवों को जीवित रखना चाहता है, तो तेरा पुत्र दुर्योधन, पांडवों के साथ सन्धि कर ले । बस ? इसी में अच्छा है ॥ २३ ॥

इति श्री महाभारत आरण्यक पर्व मे सुरभि उपाख्यान का नवां अध्याय पूरा हुआ ।



दशवाँ अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच—

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि नो मुने ।
अहञ्चैव विजानामि सर्वे चेमे नराधिपाः ॥ १ ॥
भवांश्च मन्यते साधु यत् कुरूणां महोदयम् ।
तदेव विदुरोऽप्याह भीष्मो द्रोणश्च मां मुने ॥ २ ॥
यदि त्वहमनुग्राह्यः कौरव्येषु दया यदि ।
अनुशाधि दुरात्मानं पुत्रं दुर्योधनं मम ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र कहने लगे—हे महाप्राज्ञ, मुने! जो तुम कह रहे हो, वह सत्य है। मैं तथा ये सारे राजा इस बात को जानते हैं। आप भी यह अच्छी तरह जानते हैं, जिसमें कौरवों का हित है। यही बात विदुर, भीष्म और द्रोण कहते रहते हैं। यदि तुम मेरे ऊपर कृपा रखते हो और कौरवों पर दया करना चाहते हो, तो मेरे दुरात्मा पुत्र दुर्योधन को समझाओ ॥ १-३ ॥

व्यास उवाच—

अयमायाति वै राजन् मैत्रेयो भगवानृषिः ।
अन्विष्य पाण्डवान् भ्रातॄनिहैवास्मद्दिदृक्षया ॥ ४ ॥

व्यास जी बोले—हे राजन्! यह मैत्रेय नामक ऋषि हैं, जो बड़े तेजस्वी हैं। ये पांचों भाइयों से मिल कर हमसे मिलने को आये हैं ॥ ४ ॥

एष दुर्य्योधनं पुत्रं तव राजन् महानृषिः ।
अनुशास्ता यथान्यायं शमायास्य कुलस्य च ॥ ५ ॥

हे राजन्! यह महर्षि, तुम्हारे कुल की रक्षा के लिए तुम्हारे पुत्र दुर्योधन को समझावेंगे ॥ ५ ॥

ब्रूयाद्यदेष कौरव्य तत्कार्य्यमविशङ्कया ।
अक्रियायान्तु कार्य्यस्य पुत्रं शप्स्यते रुषा ॥ ६ ॥

हे कुरुवंश श्रेष्ठ ! यह जो कुछ कहे, उसको शङ्का रहित होकर करना। यदि तेरे पुत्रों ने इनकी आज्ञा न मानी, तो यह क्रोध से शाप दे देंगे ॥६॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा ययौ व्यासो मैत्रेयः प्रत्यदृश्यत ।
पूजया प्रतिजग्राह सपुत्रस्तं नराधिपः ॥ ७ ॥

वैशम्पायन बोले—यह कह कर व्यास जी तो चले गये और भगवान् मैत्रेय पधारे। राजा धृतराष्ट्र ने पुत्र के साथ पूजा करके उनका सत्कार किया ॥ ७ ॥

अर्घाद्याभिः क्रियाभिर्वै विश्रान्तं मुनिसत्तमम् ।
प्रश्रयेणाब्रवीद्राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ ८ ॥

अर्घ आदि क्रिया कर देने के अनन्तर मुनि ने विश्राम किया। इस समय अम्बिका पुत्र धृतराष्ट्र ने विनय-पूर्वक मुनि से कहा ॥८

सुखेनागमनं कच्चिद्भगवन् कुरुजाङ्गलात् ।
कच्चित् कुशलिनो वीरा भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ॥ ९ ॥

हे भगवन्! कुरुजाङ्गल प्रदेश से आप सुख से तो आये हो। वहां हमारे पांचों वीर भाई पाण्डव कुशल से तो हैं ॥ ६ ॥

समये स्थातुमिच्छन्ति कच्चिच्च भरतर्षभाः।
कच्चित् कुरूणां सौभ्रात्रमव्युच्छिन्नं भविष्यति ॥१०॥

वे भरतवंश श्रेष्ठ, पाण्डव क्या अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ हैं? कौरवों के साथ उनका भाईपन बना तो रहेगा? ॥ १० ॥

मैत्रेय उवाच—

तीर्थयात्रामनुक्रामन् प्राप्तोऽस्मि कुरुजाङ्गलान्।
यदृच्छया धर्मराजं दृष्टवान् काम्यके वने ॥११॥

मैत्रेय कहने लगे—मैं तीर्थ यात्रा करता हुआ, कुरु-जाङ्गल प्रदेश में पहुंच गया। वहां काम्यक वन में अचानक धर्मराज से भेंट हो गई ॥ ११ ॥

तं जटाजिनसंवीतं तपोधननिवासिनम्।
समाजग्मुर्महात्मानं द्रष्टुं मुनिगणाः प्रभो ॥१२॥

हे राजन्! जटा, मृगचर्मधारी तपस्वियों की भांति रहने वाले महात्मा युधिष्ठिर को देखने के लिए मुनि लोग आये ॥ १२ ॥

तत्राश्रौषं महाराज पुत्राणां तव विभ्रमम्।
अनयं द्यूतरूपेण महाभयमुपस्थितम् ॥१३॥

हे महाराज! मैं ने वहां तुम्हारे पुत्रों की लीला सुनी और द्यूत रूप से किये गये अन्याय और उसके कारण उपस्थित हुए महाभय को भी सुना ॥ १३ ॥

ततोऽहं त्वामनुप्राप्तः कौरवाणामवेक्षया ।
सदा ह्यभ्यधिकः स्नेहः प्रीतिश्च त्वयि मे प्रभो ॥१४॥

हे राजन्! इसीसे मैं कौरवों से मिलने के लिए तेरे पास आया हूँ। तुमसे मेरा अत्यन्त स्नेह और प्रीति है॥ १४॥

नैतदौपयिकं राजंस्त्वयि भीष्मे च जीवति ।
यदन्योऽन्येन ते पुत्रा विरोध्यन्ते कथञ्चन ॥१५॥

हे राजन्! तेरे और भीष्म के जीवित रहने पर ऐसा होना उचित नहीं है, जो एक दूसरे से आपस में तेरी सन्तान विरोध करती है॥ १५॥

मेधीभूतः स्वयं राजन्निग्रहप्रग्रहे भवान् ।
किमर्थमनयं घोरमुत्पद्यन्तमुपेक्षसे ॥१६॥

हे राजन्! तुम किसी के भी निग्रह (सजा) और अनुग्रह करने में प्रधान स्तम्भ हो। इस घोर उत्पात को देखकर भी तुम क्यों चुप हो रहे हो॥ १६॥

दस्यूनामिव यद्वृत्तं सभायां कुरुनन्दन ।
तेन न भ्राजसे राजंस्तापसानां समागमे ॥१७॥

हे कुरुनन्दन! सभा में जो दस्युओं (चोर लुटेरों) की भांति आचरण किया गया, वह तपस्वियों के समाज में शोभित नहीं होता है॥ १७॥

वैशम्पायन उवाच—

ततो व्यावृत्य राजानं दुर्योधनममर्षणम् ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा मैत्रेयो भगवानृषिः ॥१८॥

वैशम्पायन बोले—इसके अनन्तर असहनशील राजा दुर्योधन की ओर देखकर भगवान् महर्षि मैत्रेय, स्पष्टवाणी से कहने लगे १८

मैत्रेय उवाच—

दुर्योधन महाबाहो निबोध वदताम्वर ।
वचनं मे महाभाग ब्रुवतो यद्धितं तव ॥१९॥
माद्रुहः पाण्डवान्राजन् कुरुष्व प्रियमात्मनः ।
पाण्डवानां कुरूणाञ्च लोकस्य च नरर्षभ ॥२०॥

हे बोलने वालों में श्रेष्ठ, महाभाग, महाबाहो, दुर्योधन! मैं जो तुमसे हितकारी वचन कहता हूँ, उसको सुनो ? हे नरर्षभ! तुम पाण्डवों से वैर मत करो, प्रत्युत अपना, पाण्डव, कुरुवंश तथा लोक को जो प्रिय हितकारी हो, वही करो ॥ १९-२० ॥

ते हि सर्वे नरव्याघ्राः शूरा विक्रान्तयोधिनः ।
सर्वे नागायुतप्राणा वज्रसंहनना दृढाः ॥२१॥
सत्यव्रतधराः सर्वे सर्वे पुरुषमानिनः ।
हन्तारो देवशत्रूणां रक्षसां कामरूपिणाम् ॥२२॥

वे सब मनुष्यों में श्रेष्ठ, शूर-वीर, पराक्रमी, दश हजार हाथियों के बल वाले, वज्र के तुल्य शरीरधारी, सत्य-प्रतिज्ञा करने वाले, मनस्वी पुरुष हैं। वे कामरूपी देवों के शत्रु हिडिम्ब बक तथा किर्मीर आदि राक्षसों के मारने वाले हैं ॥ २१-२२ ॥

हिडिम्बबकमुख्यानां किर्मीरस्य च रक्षसः ।
इतः प्रद्रवतां रात्रौ यः स तेषां महात्मनाम् ॥२३॥

यहां से रात में भागते हुए इन महात्मा पाण्डवों के मार्ग को रोक कर यह भीषण रूपधारी किर्मीर राक्षस पर्वत की भांति बीच में ही खड़ा हो गया ॥ २३ ॥

आवृत्य मार्गं रौद्रात्मा तस्थौ गिरिरिवाचलः ।
तं भीमः समरश्लाघी बलेन बलिनाम्वरः ॥२४॥

युद्ध में प्रशंसा पाने वाला, महाबली भीम ने अपने बल से क्षुद्र मृगों को सिंहों की तरह पशु मारने की भांति मार डाला ।२४

जघान पशुमारेण व्याघ्रः क्षुद्रमृगं यथा ।
पश्य दिग्विजये राजन् यथा भीमेन पातितः ॥२५॥

हे राजन् ! देख ? हजारों हाथियों के बल वाले, धनुषधारी जरासन्ध को मल्ल युद्ध में भीम ने मार गिराया था॥ २५ ॥

जरासन्धो महेष्वासो नागायुतबलो युधि ।
सम्बन्धी वासुदेवश्च श्यालाः सर्वे च पार्षताः ॥२६॥

जिनका मित्र वसुदेव पुत्र कृष्ण और सारे पर्वत वंशी जिस के श्वसुर साले हैं। उनके साथ यह जरा और मरणशील मनुष्य क्या विरोध कर सकता है ॥ २६ ॥

कस्तान् युधि समासीत जरामरणवान्नरः ।
तस्य ते शम एवास्तु पाण्डवैर्भरतर्षभ ।
कुरु मे वचनं राजन् मा मन्युवशमन्वगाः ॥२७॥

हे भरतर्षभ ! उन पाण्डवों के साथ तुम्हारी संधि हो जाना ही श्रेष्ठ है। तुम मेरा कहना मानो और क्रोध के वश में मत होओ ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवन्तु ब्रुवतस्तस्य मैत्रेयस्य विशाम्पते ।
ऊरुं गजकराकारं करेणाभिजघान सः ।
दुर्योधनः स्मितं कृत्वा चरणेनोल्लिखन्महीम् ॥२८॥

वैशम्पायन बोले—हे विशांपते ! मैत्रेय के इस प्रकार कहने पर मूर्ख दुर्योधन ने हाथी के सूंड के तुल्य जङ्घा को अपनी भुजा से फटकारा और हंस कर कुछ नहीं कहा और नीचे को मुख करके खड़ा रहा तथा अपने चरण से भूमि को, कुरेदने लगा ॥ २८ ॥

न किञ्चिदुक्त्वा दुर्मेधास्तस्थौ किञ्चिदवाङ्मुखः ।
तमशुश्रूषमाणन्तु विलिखन्तं वसुन्धराम् ॥२९॥

हे राजन्! मैत्रेय के कथन के सुनने से पराङ्मुख भूमि को कुरेदते हुए दुर्योधन को देख कर मुनि-श्रेष्ठ मैत्रेय, क्रोध में भर गया ॥ २९ ॥

दृष्ट्वा दुर्योधनं राजन्मैत्रेयं कोप आविशत् ।
स कोपवशमापन्नो मैत्रेयो मुनिसत्तमः ॥३०॥

इस समय महर्षि मैत्रेय कोप के वश में हो रहा था, इससे विधाता की प्रेरणा के वश में होकर शाप देने को तय्यार हो गया ॥ ३० ॥

विधिना सम्प्रयुक्तश्च शापायास्य मनो दधे ।
ततः सवार्युपस्पृश्य कोपसंरक्तलोचनः ॥३१॥
मैत्रेयो धार्तराष्ट्रं तमशपद्दुष्टचेतसम् ।

इस मैत्रेय मुनि की आंखें क्रोध से लाल हो रही थी। यह जल का आचमन करके दुरात्मा दुर्योधन को शाप देने लगा ॥३१॥

यस्मात्त्वं मामनादृत्य नेमां वाचं चिकीर्षसि ।
तस्मादस्याभिमानस्य सद्यः फलमवाप्नुहि ॥३२॥

जो तू मेरे वचनों का अनादर करके इस वाणी को नहीं सुनता है, इससे इस अभिमानका शीघ्र ही फल प्राप्त करेगा। ३२

त्वदभिद्रोहसंयुक्तं युद्धमुत्पत्स्यते महत् ।
तत्र भीमो गदाघातैस्तवोरुं भेत्स्यते बली ॥३३॥

तेरे इस द्रोह के कारण ही महायुद्ध की रचना होगी इस युद्ध में महाबली भीम तेरी जंघाओं को अपनी गदा की चोटों से तोड़ेगा ॥ ३३ ॥

इत्येवमुक्ते वचने धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
प्रसादयामास मुनिर्नैतदेवं भविष्यति ॥३४॥

यह वचन कहने पर राजा धृतराष्ट्र ने मुनि को प्रसन्न किया और कहा—हे भगवन्! ऐसा किसी प्रकार न हो ॥ ३४ ॥

म्पायन उवाच—

शमं यास्यति चेत् पुत्रस्तव राजन् यदा तदा ।
शापो न भविता तात विपरीते भविष्यति ॥३५॥

मैत्रेय बोले—हे राजन् यदि तेरे पुत्रों ने पाण्डवों से सन्धि करली, तो मेरा शाप नहीं होगा, नहीं तो अवश्य होगा ॥ ३५ ॥

मैत्रय उवाच—

विलक्षयंस्तु राजेन्द्रो दुर्योधनपिता तदा ।
मैत्रेयं प्राह किर्मीरः कथं भीमेन पातितः ॥३६॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन्! इस समय दुर्योधन का पिता राजा धृतराष्ट्र लज्जित सा हो गया और मैत्रेय से बोला, कि भीम ने किर्मीर को किस प्रकार मारा ॥ ३६ ॥

मैत्रेय उवाच—

नाहं वक्ष्यामि ते भूयो न ते शुश्रूषते सुतः ।
एष ते विदुरः सर्वमाख्यास्यति गते मयि ॥३७॥

मैत्रेय बोला— मैं तुम से अब कुछ नहीं कहूँगा, क्योंकि तेरा पुत्र कुछ भी नहीं सुनना चाहता है। जब मैं चला जाउंगा, तब तुमको यह सब कुछ विदुर सुना देगा ॥ ३७ ॥

इत्येवमुक्त्वा मैत्रेयः प्रातिष्ठत यथागतम् ।
किर्मीरवधसम्विग्नो बहिर्दुर्योधनो ययौ ॥३८॥

इति श्री म० आरण्यपर्वणि आरण्यकपर्वणि मैत्रेयवाक्ये दशमोऽध्यायः समाप्तश्चारण्यकपर्व ॥ १० ॥

यह कह कर मैत्रेय तो जैसे आया था वैसे ही चलता बना और किर्मीर के वध से उदासीन दुर्योधन घरपर चला गया ॥३८॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत आरण्यक पर्व मे मैत्रेय वाक्य का दशवां अध्याय पूरा हुआ और यहीं पर आरण्यक पर्व भी समाप्त हो गया ॥



ग्यारहवां अध्याय

अथ किर्मीरवधपर्व

धृतराष्ट्र उवाच—

किर्मीरस्य वधं चत्तः श्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ।
रक्षसा भीमसेनस्य कथमासीत् समागमः ॥१॥

धृतराष्ट्र बोले—हे विदुर! मैं किर्मीर राक्षस के वध को सुनना चाहता हूँ, तुम कहो। इस राक्षस का भीमसेन से कैसे समागम हुआ ॥ १ ॥

विदुर उवाच—

शृणु भीमस्य कर्मेदमतिमानुषकर्म्मणः ।
श्रुतपूर्वं मया तेषां कथान्तेषु पुनः पुनः ॥२॥

विदुर बोले—मनुष्यों का उलङ्घन करके कर्म करने वाले भीम के इस कर्म को सुनो, जो मैंने उन पाण्डवों की कथा के अन्त में वार २ सुना है ॥ २ ॥

इतः प्रयाता राजेन्द्र पाण्डवा द्यूतनिर्जिताः ।
जग्मुस्त्रिभिरहोरात्रैः काम्यकं नामतद्वनम् ॥३॥

हे राजेन्द्र! जब द्यूत मे पराजित हुए पाण्डव जा रहे थे, तो तीन रात दिन में वे काम्यक नाम वन में पहुंचे ॥ ३ ॥

रात्रौ निशीथे स्वाभीले गतेऽर्द्धसमये नृप ।
प्रचारे पुरुषादानां रक्षसां घोरकर्मणाम् ॥४॥

तद्वनं तापसा नित्यं गोपाश्च वनचारिणः ।
दूरात् परिहरन्ति स्म पुरुषादभयात् किल ॥५॥

हे नृप ! उस भयानक आधी रात में लोगों के आधी नींद में डूब जाने पर पुरुष-भक्षक घोर कर्म करने वाले राक्षसों के प्रचार का समय आया। उस वन से तपस्वी और वन में विचरने वाले गोप, राक्षसों के भय से दूर ही भाग जाते थे ॥ ४-५ ॥

तेषां प्रविशतां तत्रमार्गमावृत्य भारत ।
दीप्ताक्षं भीषणं रक्षः सोल्मुकं प्रत्यपद्यत ॥६॥

हे भारत ! उन पाण्डवों के वन में प्रवेश करते ही चमकती आंखों वाला, भीषण राक्षस, जलती लकड़ी लेकर आया और इन का मार्ग रोक कर खड़ा हो गया ॥ ६ ॥

बाहू महान्तौ कृत्वा च तथास्यञ्च भयानकम् ।
स्थितमावृत्य पन्थानं येन यान्ति कुरुद्वहाः ॥७॥

इसने अपनी भुजायें फैला ली और भयानक मुंह फाड़ लिया। यह मार्ग रोक कर उधर खड़ा हो गया, जिधर से कुरुवंश-श्रेष्ठ पाण्डव जा रहे थे ॥ ७ ॥

स्पष्टाष्टदंष्ट्रं ताम्राक्षं प्रदीप्तोर्ध्वशिरोरुहम् ।
सार्करश्मितडित्चक्रं सबलाकमिवाम्बुदम् ॥८॥

इसकी आठों दंष्ट्राएँ चमक रही थीं, लालमुख और खड़े शिर के बाल प्रदीप्त हो रहे थे। जो सूर्य की किरणों के साथ बिजली

के समूह या बगुलों की पंक्तियों के साथ बादलों के समान प्रतीत होता था ॥ ८ ॥

सृजन्तं राक्षसीं मायां महानादनिनादितम् ॥
मुञ्चन्तं विपुलान्नादान् सतोयमिव तोयदम् ॥९॥

यह राक्षसी माया फैला रहा था और घोर गर्जना तथा जल से भरे बादल के सदृश घोर शब्द कर रहा था ॥ ९ ॥

तस्य नादेन सन्त्रस्ताः पक्षिणः सर्वतो दिशम् ।
विमुक्तनादाः सम्पेतुः स्थलजा जलजैः सह ॥१०॥

इसके शब्द से उड़कर स्थल के पक्षी शब्द करके जलचर पक्षियों के साथ उड़ गए ॥ १० ॥

सम्प्रद्रुतमृगद्वीपिमहिषर्क्षसमाकुलम् ।
तद्वनं तस्य नादेन सम्प्रस्थितमिवाभवत् ॥११॥

भागे हुए मृग, चीते, भैंसे, रीछ से व्याप्त हुआ वह वन, उस के घोर चीत्कार से डांवा-डोल हो गया ॥ ११ ॥

तस्योरुवाताभिहतास्ताम्रपल्लवबाहवः ।
विदूरजाताश्च लताः समाश्लिष्यन्ति पादपान् ॥१२॥

उसके उरुओं की वायु से हिलती हुई, लाल पत्तों की भुजा वाली दूर स्थित लता भी वृक्षों से लिपटने लगी ॥ १२ ॥

तस्मिन् क्षणेऽथ प्रववौ मारुतो भृशदारुणः ।
रजसा संवृतं तेन नष्टज्योतिरभून्नभः ॥१३॥

इस समय अत्यन्त दारुण वायु चलने लगा, जिससे आकाश वायु से भर गया और आकाश की सारी ज्योतियां मन्द पड़ गईं ॥ १३ ॥

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणामविज्ञातो महारिपुः ।
पञ्चानामिन्द्रियार्थानां शोकावेश इवातुलः ॥१४॥

यह पांचों पांडवों का अज्ञात महा शत्रु निकल पड़ा। जैसे पांचों इन्द्रियों के विषयों का अतुल शोकावेश शत्रु है ॥ १४ ॥

स दृष्ट्वा पाण्डवान् दूरात् कृष्णाजिनसमावृतान् ।
आवृणोद्वनद्वारे मैनाक इव पर्वतः ॥ ॥१५॥

यह राक्षस दूर से ही कृष्ण-मृग-चर्म-धारी पाण्डवों को देख कर मैनाक पर्वत की भांति वन के द्वार को रोककर खड़ा हो गया ॥ १५ ॥

तं समासाद्य वित्रस्ता कृष्णा कमललोचना ।
अदृष्टपूर्वं संत्रासान्न्यमीलयत लोचने ॥१६॥

उसको देखकर कमल के तुल्य नेत्रों वाली द्रौपदी, डर गई। इसने कभी पहिले डर देखा ही नहीं था, इससे इसकी आंखें मिच गई ॥ १६ ॥

दुःशासनकरोत्सृष्टविप्रकीर्णशिरोरुहा ।
पञ्चपर्वतमध्यस्था नदीवाकुलतां गता ॥१७॥

दुःशासन के हाथों से बिखरे बालों वाली; द्रौपदी पाण्डव रूपी पांच पर्वतों के मध्य में नदी के समान व्याकुल हो गई ।

मोमुह्यमाना तां तत्र जगृहुः पञ्च पाण्डवाः ।
इन्द्रियाणि प्रसक्तानि विषयेषु यथा रतिम् ।

पांचों पाण्डवों ने मूर्छित सी हुई द्रौपदी को विषयों में आसक्त इन्द्रियों द्वारा रति की भांति पकड़ लिया ॥ १८ ॥

अथ तां राक्षसीं मायामुत्थितां घोरदर्शनाम् ।
रक्षोघ्नैर्विविधैर्मन्त्रैर्धौम्यः सम्यक् प्रयोजितैः ॥१९॥
पश्यतां पाण्डुपुत्राणां नाशयामास वीर्य्यवान् ।

इसके बाद प्रयुक्त की हुई, भयानक राक्षसी माया को राक्षसों के नाशक, अनेक भली प्रकार प्रयुक्त किए हुए मन्त्रों, से पाण्डवों के सम्मुख ही शक्तिशाली धौम्य ने नष्ट कर दिया ॥ १९ ॥

स नष्टमायोऽतिबलः क्रोधविस्फारितेक्षणः ॥२०॥
काममूर्त्तिधरः क्रूरः कालकल्पो व्यदृश्यत ।

जब इसकी माया का बल नष्ट हो गया तो यह क्रूर क्रोध से आंखें फाड़ कर और अपनी इच्छानुसार मूर्ति धारण करके काल के सदृश दिखाई पड़ा ॥ २० ॥

तमुवाच ततो राजा दीर्घप्रज्ञो युधिष्ठिरः ॥२१॥
को भवान् कस्य वा किं ते क्रियतां कार्य्यमुच्यताम् ।

इससे दीर्घ दर्शी राजा युधिष्ठिर बोले—आप कौन हैं, किस के पुत्र या सम्बन्धी हैं। कहिए हम तुम्हारा क्या कार्य करें ॥२१॥

प्रत्युवाचाथ तद्रक्षो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥२२॥
अहं बकस्य वै भ्राता किर्मीर इतिविश्रुतः ।
वनेऽस्मिन् काम्यके शून्ये निवसामि गतज्वरः ॥२३॥

यह राक्षस धर्मराज युधिष्ठिर से बोला—मैं बक राक्षस का भाई हूँ और किर्मीर मेरा नाम है। मैं इस शून्य काम्यक वन में निश्चिन्त रहता हूँ ॥ २२-२३ ॥

युधि निर्जित्य पुरुषानाहारं नित्यमाचरन् ।
के यूयमभिसंप्राप्ता भक्ष्यभूता ममान्तिकम् ।
युधि निर्जित्य वः सर्वान् भक्षयिष्ये गतज्वरः ॥२४॥

मैं युद्ध में जीते हुए पुरुषों का नित्य आहार करता हूँ। तुम कौन हो, जो मेरे भक्ष्य बनकर मेरे पास आए हो। अब मैं युद्ध में जीत कर निश्चिन्तता से तुमको खाऊगा ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य दुरात्मनः ।
आचचक्षे ततः सर्वं गोत्रनामादि भारत ॥२५॥

वैशम्पायन बोले—हे भारत! युधिष्ठिर ने उसके वचन सुनकर अपना गोत्र और नाम बताया ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

पाण्डवो धर्मराजोऽहं यदि ते श्रोत्रमागतः ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैर्भीमसेनार्जुनादिभिः ॥२६॥
हृतराज्यो वने वासं वस्तुं कृतमतिस्ततः ।
वनमभ्यागतो घोरमिदं तव परिग्रहम् ॥२७॥

युधिष्ठिर ने कहा—मैं पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर हूँ। सम्भव है, कभी तू ने मेरा नाम सुना भी होगा। मैं अपने भाई भीमसेन,

अर्जुन आदि के साथ वन में वास करने का विचार है। मेरा राज्य छीना गया है, इससे तेरे आश्रयभूत इस वन में आया हूं ॥ २६-२७ ॥

विदुर उवाच—

किर्मीरस्त्वब्रवीदेनं दिष्ट्या देवैरिदं मम ।
उपपादितमद्येह चिरकालान्मनोगतम् ।
भीमसेनवधार्थं हि नित्यमभ्युद्यतायुधः ॥२८॥

विदुर बोले—किर्मीर ने युधिष्ठिर से कहा—आज बड़ा अच्छा हुआ। यह तो दैव ने बहुत दिन में मेरा मनोरथ पूरा किया है।

चरामि पृथिवीं कृत्स्नां नैनमासादयाम्यहम् ।
सोऽयमासादितो दिष्ट्या भ्रातृहा कांक्षितश्चिरम् ॥२९॥

मैं ने भीमसेन के मारने के लिए बहुत दिन से शस्त्र उठा रखे हैं। मैं सारी पृथिवी पर घूम लिया, परन्तु यह नहीं मिला। आज मेरे भाई बक का मारने वाला भीम, दैव वश मिल गया है, जिसकी मैं बहुत दिन से प्रतीक्षा कर रहा था ॥ २९ ॥

अनेन हि मम भ्राता बको विनिहतः प्रियः ।
वेत्रकीयवने राजन् ब्राह्मणच्छद्मरूपिणा ॥३०॥
विद्याबलमुपाश्रित्य न ह्यस्त्यस्यौरसं बलम् ।

हे राजन! छल से ब्राह्मण रूपधारी इस भीम ने एक चक्रा नगरी में मेरे प्रिय भाई बक को विद्या के बल से मार डाला। इसमें कोई छाती का बल नहीं है ॥ ३० ॥

हिडिम्बश्च सखा मह्यं दयितो वनगोचरः ॥३१॥
हतोदुरात्मनानेन स्वसा चास्य हृता पुरा ।
सोऽयमभ्यागतो मूढ़ो ममेदं गहनं वनम् ॥३२॥
प्रचारसमयेऽस्माकमर्द्धरात्रे स्थिते समे ।

हिडिम्ब राक्षस मेरा प्यारा मित्र था, जो वन में रहता था। इस दुष्ट ने उसको भी मारा है और उसकी बहन को उड़ा लिया है। वही यह मूर्ख, आज मेरे इस गहन वन में आधी रात के समय आ गया है, जो कि हम राक्षसों के विचरने का समय है ।३१-३२

अद्यास्य पातयिष्यामि तद्वैरं चिरसम्भृतम् ॥३३॥
तर्पयिष्यामि च बकं रुधिरेणास्य भूरिणा ।

आज मैं चिरकाल से प्रवृत्त हुए वैर को निकालूंगा और इस के बहुत से रक्त से बक को तृप्त करूंगा ॥ ३३ ॥

अद्याहमनृणो भूत्वा भ्रातुः सख्युस्तथैव च ॥३४॥
शान्तिं लब्धास्मि परमां हत्वा राक्षसकण्टकम् ।

आज मैं भाई और अपने मित्र के ऋण से मुक्त होऊंगा और इस राक्षसों के शत्रु भीम को मार कर शान्ति प्राप्त करूंगा ॥३४॥

यदि तेन पुरामुक्तो भीमसेनो बकेन वै ॥३५॥
अद्यैनं भक्षयिष्यामि पश्यतस्ते युधिष्ठिर ।

हे युधिष्ठिर ! यदि यह भीम पहिले बक से बच गया, तो आज तेरे देखते २ मैं इसका भक्षण कर जाऊंगा ॥ ३५ ॥

एवं हि विपुलप्राणमद्य हत्वा वृकोदरम् ॥३६॥
संभक्ष्य जरयिष्यामि यथागस्त्यो महासुरम् ।

आज इस विशाल काय भीम को मार कर खा जाऊंगा और महासुर को अगस्त्य के सदृश इसको पचा लूंगा ॥ ३६ ॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा सत्यसन्धो युधिष्ठिरः ॥३७॥
नैतदस्तीति संक्रुद्धो भर्त्सयामास राक्षसम् ।

इस प्रकार किर्मीर के कहने पर सत्य प्रतिज्ञ, युधिष्ठिर बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसको फटकारने लगा, कि यह नहीं हो सकता ।

ततो भीमो महाबाहुरारुज्य तरसा द्रुमम् ॥३८॥
दशव्याममथोद्विद्धं निष्पत्रमकरोत्तदा ।

महाबाहु भीम ने एक दश व्याम लम्बा वृक्ष उखाड़ा, जो बड़ा विशाल था । उसने इसे पत्तों से रहित कर लिया ॥ ३८ ॥

चकार सज्यं गाण्डीवं वज्रनिष्पेषगौरवम् ॥३९॥
निमेषान्तरमात्रेण तथैव विजयोऽर्जुनः ।

वज्र के चूर्ण से बने हुए के समान गाण्डीव धनुष को भी विजयी, अर्जुन ने क्षण मात्र में चढ़ा लिया ॥ ३९ ॥

निवार्य्य भीमो जिष्णुं तं तद्रक्षो मेघनिस्वनम् ॥४०॥
अभिद्रुत्याब्रवीद्वाक्यं तिष्ठतिष्ठेति भारत ।

हे भारत ! भीमसेन ने अर्जुन को रोक दिया और मेघ समान गर्जना करता हुआ उस राक्षस की ओर दौड़ा और कहा—ठहरो, ठहरो ॥ ४० ॥

इत्युक्त्वेनमभिक्रुद्धः कक्षमुत्पीड्य पाण्डवः ॥४१॥
निष्पिष्य पाणिना पाणिं संदष्टौष्ठपुटो बली ।
तमभ्यधावद्वेगेन भीमो वृक्षायुधस्तदा ॥४२॥

यह कह कर क्रुद्ध हुआ भीमसेन, अपने कक्ष संज्ञक वस्त्र को दृढ़ करके वृक्ष का शस्त्र बना, उस राक्षस पर झपटा। भीम, क्रोध से अपने हाथों को मल रहा था और दाँतों को चबा रहा था ।४२।

यमदण्डप्रतीकाशं ततस्तं तस्य मूर्द्धनि ।
पातयामास वेगेन कुलिशं मघवानिव ॥४३॥

यम के दण्ड के सदृश उस वृक्ष को इन्द्र के वज्र की तरह उसके मस्तक पर वेग से मारा ॥ ४३ ॥

असम्भ्रान्तन्तु तद्रक्षः समरे प्रत्यदृश्यत ।
चिक्षेप चोल्मुकं दीप्तमशनिं ज्वलितामिव ॥४४॥

यह राक्षस युद्ध में बिलकुल नहीं घबराया और उसने जलते हुए लकड़ को प्रदीप्त वज्र की भाँति भीम पर फेंका ॥ ४४ ॥

तदुदस्तमलातन्तु भीमः प्रहरतां वरः ।
पदा सव्येन चिक्षेप तद्रक्षः पुनराव्रजत् ॥४५॥

वीर भीम ने उस फेंके हुए जलते लकड़ के अपने बांये पैर की ठोकर मारी, जिससे वह उलटा ही उस राक्षस पर पड़ा ।।४५।

किर्मीरश्चापि सहसा वृक्षमुत्पाट्य पाण्डवम् ।
दण्डपाणिरिव क्रुद्धः समरे प्रत्यधावत ॥४६॥
तद्‌वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम् ।

अब किर्मीर ने भी शीघ्रता से वृक्ष उखाड़ लिया और यम की भांति क्रुद्ध होकर युद्ध मे भीम पर झपटा । यह वृक्षों का युद्ध वृक्षों के विनाश का कारण बन गया ॥ ४६ ॥

वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोर्यथा स्त्रीकांक्षिणोः पुरा ॥४७॥
शीर्षयोः पतिता वृक्षा विभिदुर्नैकधा तयोः ।

पूर्वकाल में स्त्री पर झगड़ने वाले वालि, सुग्रीव का सा यह युद्ध था । उनके शिरों पर पड़े हुए वृक्ष भी अनेक प्रकार से खण्ड २ हो जाते थे ॥ ४७ ॥

यथैवोत्पलमालानि मत्तयोर्द्विपयोस्तथा ॥४८॥
मुञ्जवज्जर्जरी भूता बहवस्तत्र पादपाः ।
चीराणीव व्युदस्तानि रेजुस्तत्र महावने ॥४९॥

जैसे कमल के वन को दो मस्त हाथी जीर्ण शीर्ण कर डालते हैं, वैसे ही उस वन में वृक्ष, कुटी मूँज की भांति चूर २ हो गये । उस महावन में उस समय वल्कल वस्त्र बिखरे से प्रतीत होते थे ॥ ४८-४९ ॥

तद्‌वृक्षयुद्धमभवन्मुहूर्तं भरतर्षभ ।
राक्षसानाञ्च मुख्यस्य नराणामुत्तमस्य च॥५०॥

हे भरतर्षभ! यह वृक्षों का युद्ध, राक्षस श्रेष्ठ किर्मीर और नरश्रेष्ठ भीम में थोड़ी देर तक हुआ ॥ ५० ॥

ततः शिलां समुत्क्षिप्य भीमस्य युधि तिष्ठतः ।
प्राहिणोद्राक्षसः क्रुद्धो भीमश्च न चचाल ह ॥५१॥

युद्ध में लड़ते हुए भीम पर अब कुपित राक्षस ने शिला उठा कर फेंकी, परन्तु भीम उससे बिल्कुल नहीं डिगा ॥ ५१ ॥

तं शिलाताडनजडं पर्य्यधावत राक्षसः ।
बाहुविक्षिप्तकिरणः स्वर्भानुरिव भास्करम् ॥५२॥

शिला की चोट से कुछ जड़ से हुए भीम की ओर बाहु उठा कर राक्षस, अपनी किरणें उठाए हुए राहु के सदृश दौड़ा ॥५२॥

तावन्योऽन्यं समाश्लिष्य प्रकर्षन्तौ परस्परम् ।
उभावपि चकाशेते प्रवृद्धौ वृषभाविव ॥५३॥

अब ये एक दूसरे से लिपट गये और एक दूसरे को खैंचने लगे। इस समय ये दोनो विशाल सांडों की भांति प्रतीत होते थे ॥ ५३ ॥

तयोरासीत् सुतुमुलः संप्रहारः सुदारुणः ।
नखदंष्ट्रायुधवतोर्व्याघ्रयोरिव दृप्तयोः ॥५४॥

इन दोनों का भयानक, घमसान युद्ध, नख और दंष्ट्राओं के शस्त्र-धारी सिंहों के समान हो रहा था ॥ ५४ ॥

दुर्योधननिकाराच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः ।
कृष्णाकटाक्षदृष्टश्च व्यवर्द्धत वृकोदरः ॥५५॥

दुर्योधन के तिरस्कार और बाहुबल के कारण भीम बड़ा उद्दण्ड हो रहा था। द्रौपदी की कातर दृष्टि से तो भीम और भी भयानक हो गया ॥ ५५ ॥

अभिपद्य च बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णादमर्षितः ।
मातङ्गमिव मातङ्गः प्रभिन्नकरटामुखम् ॥५६॥

क्रोध से भरे हुए भीम ने मद से भरे हुए कपोलधारी हाथी को हाथी के समान अपनी भुजाओं से उस राक्षस को पकड़ लिया ॥ ५६ ॥

स चाप्येनं ततो रक्षः प्रतिजग्राह वीर्य्यवान् ।
तमाक्षिपद्भीमसेनो बलेन बलिनाम्वरः ॥५७॥

वीर्यशाली राक्षस ने इस भीम को पकड़ा। बलवानों में महाबली भीम ने इसको अपने बल से दूर फेंक दिया ॥ ५७ ॥

तयोर्भुजविनिष्पेषादुभयोर्बलिनोस्तदा ।
शब्दः समभवद्घोरो वेणुस्फोटसमो युधि ॥५८॥

इस युद्ध में उन दोनों बलवानों की भुजा के संघर्ष से बिजली फटने के समान घोर शब्द हो रहा था ॥ ५८ ॥

अथैनमाक्षिप्य बलाद्गृह्य मध्ये वृकोदरः ।
धूनयामास वेगेन वायुश्चण्ड इव द्रुमम् ॥५९॥

इसके अनन्तर भीमसेन ने बीच से राक्षस को उठाकर वृक्ष को प्रचण्ड वायु के समान इस को वेग से घुमाया ॥ ५९ ॥

स भीमेन परामृष्टो दुर्बलो बलिना रणे ।
व्यस्पन्दत यथाप्राणं विचकर्ष च पाण्डवम् ॥६०॥

इस रण मे बलवान् भीम से यह दुर्बल राक्षस बुरी तरह रगड डाला गया और जितने प्राण शेष थे, उसके अनुसार तड़फने लगा तथा भीम को खेंचने की चेष्टा करने लगा ॥ ६० ॥

तत एनं परिश्रान्तमुपलक्ष्य वृकोदरः ।
योजयामास बाहुभ्यां पशुं रशनया यथा ॥६१॥

भीम ने जब इसको थका हुआ देखा, तो रस्सी से पशु के समान इस को अपनी भुजाओं मे कस लिया ॥ ६१ ॥

विनदन्तं महानाद भिन्नभेरीस्वनं बली ।
भ्रामयामास सुचिरं विस्फुरन्तमचेतनम् ॥६२॥

फूटे नगारे के समान महा शब्द करते हुए, मूर्छित भयानक इस राक्षस को देर तक भीम ने घुमाया ॥ ६२ ॥

तं विषीदन्तमाज्ञाय राक्षसं पाण्डुनन्दनः ।
प्रगृह्य तरसा दोर्भ्यां पशुमारममारयत् ॥६३॥

पाण्डुनन्दन भीम ने राक्षस को दुःखी देखकर भुजाओं से बल के साथ दबाया और पशुओं की भांति मार डाला ॥ ६३ ॥

आक्रम्य च कटीदेशे जानुना राक्षसाधमम् ।
पीड़यामास पाणिभ्यां तस्य कण्ठं वृकोदरः ॥६४॥

अपनी जांघों से उस नीच राक्षस की कमर को दाबकर भीम ने उसके कण्ठ को दोनों हाथों से भींच डाला ॥ ६४ ॥

अथ जर्जरसर्वाङ्गं व्याविद्धनयनाम्बरम् ।
भूतले भ्रामयामास वाक्यञ्चेदमुवाच ह ॥६५॥

इस समय इस राक्षस का सारा शरीर जर्जर हो गया था और आंखें फट गई थी। भीम ने इसको भूमि पर फैंक दिया और कहा॥ ६५॥

हिडिम्बबकयोः पाप न त्वमश्रुप्रमार्जनम्।
करिष्यसि गतश्चापि यमस्य सदनं प्रति ॥६६॥

अरे पापी! तू हिडिम्ब और बक के तो आंसू नहीं पोंछ सका, किन्तु स्वयं यमलोक को चल बसा॥ ६६॥

इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीरस्तं राक्षसं क्रोधपरीतचेताः।
विस्रस्तवस्त्राभरणं स्फुरन्तमुद्भ्रान्तचित्तं व्यसुमुत्ससर्ज ।६७॥

पुरुषों में महाबली, क्रोध से भरे हुए भीम ने, यह कह कर वस्त्र आभूषण बिखरे हुए, भयानक, तड़फते हुए मृततुल्य राक्षस को दूर फेंक दिया॥ ६७॥

तस्मिन् हते तोयदतुल्यरूपे कृष्णां पुरस्कृत्य नरेन्द्रपुत्राः।
भीमं प्रशस्याथ गुणैरनेकैर्हृष्टास्ततो द्वैतवनाय जग्मुः ॥६८॥

मेघ के समान काले कल्दे राक्षस को मार देने के अनन्तर द्रौपदी को साथ लेकर ये राजपुत्र, अनेक गुणों को गाकर भीम और फिर प्रसन्नता के साथ द्वैत वन को चल दिए॥ ६८॥

विदुर उवाच—

एवं विनिहतः संख्ये किर्मीरो मनुजाधिप।
भीमेन वचनात्तस्य धर्म्मराजस्य कौरव॥६९॥

विदुर बोले—हे राजन् इस प्रकार धर्मराज की आज्ञा से भीम ने युद्ध में किर्मीर राक्षस को मार डाला॥ ६६ ॥

ततो निष्कण्टकं कृत्वा वनं तदपराजितः ।
द्रौपद्या सह धर्मज्ञो वसतिं तामुवास ह ॥७०॥

किसी से भी पराजित नहीं होने वाला, धर्मराज युधिष्ठिर ने वन को निष्कण्टक करके द्रौपदी के साथ वहां निवास किया ७०

समाश्वस्य च ते सर्वे द्रौपदीं भरतर्षभाः ।
प्रहृष्टमनसः प्रीत्या प्रशशंसुर्वृकोदरम् ॥७१॥

भरतवंश-श्रेष्ठ पाण्डवों ने द्रौपदी को तसल्ली दी और अब ये सारे प्रसन्न होकर भीम की प्रशंसा करने लगे ॥ ७१ ॥

भीमबाहुबलोत्पिष्टे विनष्टे राक्षसे ततः ।
विविशुस्ते वनं वीराः क्षेमं निहतकण्टकम् ॥७२॥

भीम के बाहुओं के बल से पिसे हुए राक्षस के नष्ट हो जाने पर, वे वीर पाण्डव, उस सुखदायी निष्कण्टक वन में प्रविष्ट हुए ॥ ७२ ॥

स मया गच्छता मार्गे विनिकीर्णो भयावहः ।
वने महति दुष्टात्मा दृष्टो भीमबलाद्धतः ॥७३॥

जब मैं मार्ग में जा रहा था, तब मैंने भी उस महावन में भयानक रूप में पड़े हुए, भीमसेन से मारे हुए उस राक्षस को देखा है ॥ ७३ ॥

तत्राश्रौषमहञ्चैतत् कर्म्म भीमस्य भारत ।
ब्राह्मणानां कथयतां ये तत्रासन् समागताः ॥७४

हे भारत ! मैंने भी उनके साथ रहने वाले उन ब्राह्मणों के मुख से भीमसेन के इस महान् अद्‌भुत कर्म को सुना है ॥७४॥

वैशम्पायन उवाच—

एवं विनिहतं संख्ये किर्मीरं रक्षसां वरम् ।
श्रुत्वा ध्यानपरो राजा निशश्वासार्त्तवत्तदा ॥७५॥

इति श्री म० आरण्यपर्वणि किर्मीरधवपर्वणि विदुरवाक्ये एकादशोऽध्यायः । समाप्तञ्च किर्मीरवधपर्व ॥११॥

वैशम्पायन बोले—इस प्रकार युद्ध में राक्षसों में वीर किर्मीर के वध को सुनकर राजा धृतराष्ट्र चुप हो गया और दुःखी की भांति श्वास लेने लगा ॥ ७५ ॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत किर्मीर वधपर्व में विदुर वाक्य का ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ और यहीं पर किर्मीरवधपर्व भी समाप्त होगया



अथार्जुनाभिगमनपर्व

बारहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

भोजाः प्रव्रजितान् श्रुत्वा वृष्ण्यश्चान्धकैः सह ।
पाण्डवान् दुःखसन्तप्तान् समाजग्मुर्महावने ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! दुःख से सन्तप्त पांडवों को गहन वन मे गये हुए सुनकर भोजवंशी तथा अन्धकों के साथ वृष्णि वंश के क्षत्रिय वन मे उन के पास पहुंचे ॥ १ ॥

पाञ्चालस्य च दायादा धृष्टकेतुश्च चेदिपः ।
कैकेयाश्च महावीर्य्या भ्रातरो लोकविश्रुताः ॥२॥
वने द्रष्टुं ययुः पार्थान् क्रोधामर्षसमन्विताः ।
गर्हयन्तो धार्त्तराष्ट्रान् किं कुर्म इति चाब्रुवन् ॥३॥

पांचाल वंशी क्षत्रिय, चेदिदेश पालक धृष्टकेतु, महावीर्यशाली कैकय वंशी लोक, प्रसिद्ध भ्राता, ये सब क्रोध में भरे हुए दुर्योधनादि की निन्दा करते हुए पांडवों के पास वन में पहुंचे और कहने लगे कि अब हमको क्या करना चाहिये ॥ २-३ ॥

वासुदेवं पुरस्कृत्य सर्वे ते क्षत्रियर्षभाः ।
परिवार्य्योपविविशुर्द्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
अभिवाद्य कुरुश्रेष्ठं विषण्णः केशवोऽब्रवीत् ॥४॥

ये सारे क्षत्रिय श्रेष्ठ, श्रीकृष्ण को आगे करके धर्मराज युधिष्ठिर को घेरकर बैठ गए और कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर को प्रणाम करके दुःख के साथ श्रीकृष्ण कहने लगे ॥ ४ ॥

वासुदेव उवाच—

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥५॥

हे राजन् ! दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनि और चौथे दुःशासन का रक्त भूमि पान करेगी, ऐसा मालूम होता है ॥५॥

एतान्निहत्य समये ये च तेषां पदानुगाः ।
तांश्च सर्वान् विनिर्जित्य सहितान् सनराधिपान् ॥६॥
ततः सर्वेऽभिषिञ्चामो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
निकृत्योपचरन् वध्य एष धर्मः सनातनः ॥७॥

इन और इनके साथियों को युद्ध में मारकर तथा इकट्ठे हुए सारे राजाओं को रण में जीतकर धर्मराज युधिष्ठिर को राज्य सिंहासन पर अभिषिक्त करेंगे । जो छल से व्यवहार करता है, उसका मार देना ही सनातन धर्म है ॥ ६-७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

पार्थानामभिषङ्गेण तथा क्रुद्धं जनार्दनम् ।
अर्जुनः शमयामास दिधक्षन्तमिव प्रजाः ॥८॥

वैशम्पायन बोले—पांडवों के तिरस्कार से क्रुद्ध हुए तथा जगत् को संहार करते हुए से प्रतीत होने वाले, जनार्दन, श्रीकृष्ण को अर्जुन ने शान्त किया ॥ ८ ॥

संक्रुद्धं केशवं दृष्ट्वा पूर्वदेहेषु फाल्गुनः ।
कीर्त्तयामास कर्माणि सत्यकीर्त्तेर्महात्मनः ॥९॥
पुरुषस्याप्रमेयस्य सत्यस्यामिततेजसः ।
प्रजापतिपतेर्विष्णोर्लोकनाथस्य धीमतः ॥१०॥

क्रुद्ध हुए श्रीकृष्ण को देख कर अर्जुन, सत्यकीर्त्ति, महात्मा, अचिन्तनीय महापुरुष, सत्य स्वरूप, अत्यन्त तेजस्वी, प्रजापतियों के भी पति, बुद्धिमान् लोकनाथ, सर्वव्यापक भगवान् श्रीकृष्ण के पूर्व देह के कर्मों का वर्णन करने लगा ॥ ९-१० ॥

अर्जुन उवाच—

दशवर्ष सहस्राणि यत्रसायंगृहो मुनिः ।
व्यचरस्त्वं पुरा कृष्ण पर्वते गन्धमादने ॥११॥

हे कृष्ण ! दश हजार वर्ष तक गन्ध मादन पर्वत पर मुनि रूप से जहां सायँकाल हो गया वहीं तुम ठहरते थे ॥ ११ ॥

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
पुष्करेष्ववसः कृष्ण त्वमपो भक्षयन् पुरा ॥१२॥

हे कृष्ण ! ग्यारह हजार वर्ष तक जल का आहार करते हुए तुमने पुष्कर क्षेत्र में निवास किया ॥ १२ ॥

ऊर्ध्वबाहुर्विशालायां बदर्यां मधुसूदन ।
अतिष्ठ एकपादेन वायुभक्षः शतं समाः ॥१३॥

हे मधुसूदन ! ऊपर को भुजा उठाकर विशाल बदरी के वृक्ष के नीचे वायु का भक्षण करके तुमने एक पाद से तपस्या की है ।१३

अवकृष्टोत्तरासङ्गः कृशो धमनिसन्ततः ।
आसीः कृष्ण सरस्वत्यां सत्रे द्वादशवार्षिके ॥१४॥

हे कृष्ण ! शिथिल वस्त्रों सहित, दुर्बल, शिराओं से व्याप्त, आपने सरस्वती नदी के तट पर बारह वर्ष तक यज्ञ किया था।

प्रभासमप्यथासाद्य तीर्थं पुण्यजनोचितम् ।
तथा कृष्ण महातेजा दिव्यं वर्षसहस्रकम् ।
अतिष्ठस्त्वं यथैकेन पादेन नियमस्थितः ॥१५॥
लोकप्रवृत्तिहेतोस्त्वमिति व्यासो ममाब्रवीत् ।

हे कृष्ण ! पुण्यात्मा जनों के उचित प्रभास क्षेत्र तीर्थ में जाकर, महातेजस्वी आपने, नियमों में स्थित होकर एक हजार दिव्य वर्षों तक एक पाद से तप किया। यह सब आपने लोक की प्रवृत्ति के लिए किया था, यह मुझ से भगवान् व्यास ने कहा है॥ १५ ॥

क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामादिरन्तश्च केशव ॥१६॥
निधानं तपसां कृष्ण यज्ञस्त्वञ्च सनातनः ।

हे केशव ! आप महाभूत रूप पंच कोशात्मक क्षेत्र के ज्ञाता, सबके आदि और अन्त हो तथा तप के विधान, यज्ञ रूप और सनातन हो ॥ १६ ॥

निहत्य नरकं भीममाहृत्य मणिकुण्डले ।
प्रथमोत्पादितं कृष्ण मेध्यमश्वमवासृजः ॥१७॥

भयानक नरकासुर को मारकर आपने उस के मणि कुण्डल ले लिए और सर्व प्रथम उत्पन्न किये हुए पवित्र अश्व को छोड़ा।

कृत्वा तत् कर्म्म लोकानामृषभः सर्वलोकजित् ।
अवधीस्त्वं रणे सर्वान् समेतान् दैत्यदानवान् ॥१८॥

इस अस्त्र को छोड़ने के कर्म को करके सब लोकों के जीतने वाले, सर्व श्रेष्ठ आपने रण में सारे दैत्य और दानवों को मार डाला ॥ १८ ॥

ततः सर्वेश्वरत्वञ्च सम्प्रदाय शचीपतेः ।
मामपेषु महाबाहो प्रादुर्भूतोऽसि केशव ॥१९॥
स त्वं नारायणो भूत्वा हरिरासीः परन्तप ।

हे महाबाहो ! आपने मनुष्यों मे इन्द्र को सर्वेश्वर पद प्रदान करके अपने को प्रकट किया। हे परन्तप ! तुम स्थूल सूक्ष्म कारणों में निवास करने वाले नारायण होकर हरि रूप से वर्तमान हो।

ब्रह्मा सोमश्च सूर्यश्च धर्मो धाता यमोऽनलः ॥२०॥
वायुर्वैश्रवणो रुद्रः कालः खं पृथिवी दिशः ।
अजश्चराचरगुरुः स्रष्टा त्वं पुरुषोत्तम ॥२१॥

हे पुरुषोत्तम ! ब्रह्मा, सोम, सूर्य, धर्म, धाता, यम, अनल, वायु, कुवेर, रुद्र, काल, आकाश, पृथिवी, दिशा, चर और अचर में पूज्य, अजन्मा, और जगत् के रचने वाले तुम ही हो २०-२१

परायणं देवमूर्द्ध क्रतुभिर्मधुसूदन ।
अयजो भूरितेजा वै कृष्ण चैत्ररथे वने ॥२२॥
शतं शतसहस्राणि सुवर्णस्य जनार्दन ।
एकैकस्मिंस्तदा यज्ञ परिपूर्णानि भागशः ॥२३॥

हे मधुसूदन ! आप सत्र में श्रेष्ठ, देवों में उत्तम तथा यज्ञों से यजन में नहीं आने वाले, अत्यन्त तेजस्वी हो। हे कृष्ण ! तुमने चैत्ररथ नामक वन में एक लाख सुवर्ण-मुद्राओं का प्रत्येक यज्ञ में दान किया है ॥ २३ ॥

अदितेरपि पुत्रत्वमेत्य यादवनन्दन ।
त्वं विष्णुरितिविख्यात इन्द्रादवरजो विभुः ॥२४॥

हे यादवनन्दन ! तुमने अदिति का पुत्र होकर अवतार लिया और इन्द्र से छोटे उपेन्द्र या विष्णु कहलाये ॥ २४ ॥

शिशुर्भूत्वा दिवं खञ्च पृथिवीञ्च परन्तप ।
त्रिभिर्विक्रमणैः कृष्णः क्रान्तवानसि तेजसा ॥२५॥

हे परन्तप, कृष्ण ! शिशु के तुल्य रूपधारण करके द्युलोक, आकाश और पृथिवी को तीन चरणों द्वारा तुमने अपने तेज से उल्लंघन किया ॥ २५ ॥

संप्राप्य दिवमाकाशमादित्यसदने स्थितः ।
अत्यरोचश्च भूतात्मन् भास्करं स्वेन तेजसा ॥२६॥

हे भूतात्मन् ! द्युलोक और आकाश को व्याप्त करके आदित्य में तेरा चरण ठहरा। वहां अपने तेज से सूर्य को भी चमका दिया ॥ २६ ॥

प्रादुर्भावसहस्रेषु तेषु तेषु त्वया विभो ।
अधर्मरुचयः कृष्ण निहताः शतशोऽसुराः ॥२७॥

हे कृष्ण ! इन सहस्रों अवतार में तुमने अधर्म में रुचि रखने वाले अनेक असुरों को सैंकड़ों बार मारा है ॥ २७ ॥

सादिता मौरवाः पाशा निसुन्दनरकौ हतौ ।
कृतः क्षेम पुन पन्थाः पुरं प्राग्ज्योतिषं प्रति ॥२८॥

तुमने मुर राक्षस की आंतों की पाशों को काट डाला तथा निसुन्द और नरक को मारा एवं प्राग्ज्योतिषपुर के मार्ग को सुखदायी बनाया ॥ २८ ॥

जारुथ्यामाहुतिः क्राथः शिशुपालो जनैः सह ।
जरासन्धश्च शैब्यश्च शतधन्वा च निर्जितः ॥२९॥

हे भगवन्! जारुथी नाम नगरी में आपने आहुति, क्राथ, अपने साथियों के सहित शिशुपाल, जरासन्ध, शैब्य और शतधन्वा को जीता ॥ २९ ॥

तथा पर्जन्यघोषेण रथेनादित्यवर्चसा ।
अवाप्सीर्महिषीं भोज्यां रणे निर्जित्य रुक्मिणम् ॥३०॥

तुमने मेघ के तुल्य शब्द करने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी, रथ से रण में रुक्मी को जीत कर भोजवंशोत्पन्न रुक्मिणी को भार्या रूप से प्राप्त किया ॥ ३०॥

इन्द्रद्युम्नो हतः कोपाद्यवनश्च कसेरुमान् ।
हतः सौभपतिः शाल्वस्त्वया सौभश्च पातितम् ॥३१॥

हे कृष्ण! आपने इन्द्रद्युम्न और यवनराज कसेरुमान्, सौभपति शाल्व को मारा और सौभनगर को नष्ट-भ्रष्ट किया ॥३१॥

इरावत्यां हतो भोजः कार्तवीर्यसमो युधि ।
गोपतिस्तालकेतुश्च त्वया विनिहतावुभौ ॥३२॥

युद्ध में कार्तवीर्य के समान भोज को इरावती नगरी में मारा गोपति और तालकेतु, इन दोनों को भी तूने मारा है ॥३२॥

ताञ्च भोगवतीं पुण्यामृषिकांतां जनार्दन ।
द्वारकामात्मसात् कृत्वा समुद्रं गमयिष्यसि ॥३३॥

हे जनार्दन! भोग-विलासों से युक्त, पवित्र, ऋषियों से सुन्दर, द्वारका को अपने आधीन करके अन्त में समुद्र मे लीन कर दोगे ॥ ३३ ॥

न क्रोधो न च मात्सर्य्यं नानृतं मधुसूदन ।
त्वयि तिष्ठति दाशार्ह न नृशंस्यं कुतोऽनृजुः ॥३४॥

हे मधुसूदन ! तुममें न तो क्रोध, न मात्सर्य और न अनृत है । इसी तरह न किसी प्रकार की क्षुद्रता है, फिर अविनय कैसे हो सकता है ॥ ३४ ॥

आसीनं चैत्यमध्ये त्वां दीप्यमानं स्वतेजसा ।
आगम्य ऋषयः सर्वेऽयाचन्ताभयमच्युत ॥३५॥

हे अच्युत ! उपवन मे बैठे हुए, अपने तेज से देदीप्यमान आप से ऋषि लोग आकर अभय मांगते रहते हैं ॥ ३५ ॥

युगान्ते सर्वभूतानि संक्षिप्य मधुसूदन ।
आत्मनैवात्मसात् कृत्वा जगदासीः परन्तप ॥३६॥

हे मधुसूदन ! तुम युग के अन्त मे सारे प्राणियों को तथा जगत् को संक्षिप्त करके अपने उदर मे प्रविष्ट कर लेते हो और आत्म रूप से स्थित हो जाते हो ॥ ३६ ॥

युगादौ तव वार्ष्णेय नाभिपद्मादजायत ।
ब्रह्मा चराचरगुरुर्यस्येदं सकलं जगत् ॥३७॥

हे वृष्णिवंशोद्भव ! युग की आदि में तेरे नाभि कमल से चर-अचर का गुरु ब्रह्मा उत्पन्न होता है, जिसने इस जगत् को रचा है ॥ ३७ ॥

तं हन्तुमुद्यतौ घोरौ दानवौ मधुकैटभौ ।
तयोर्व्यतिक्रमं दृष्ट्वा क्रुद्धस्य भवतो हरे ॥३८॥
ललाटज्जातवान् शम्भुः शूलपाणिस्त्रिलोचनः ।
इत्थं तावपि देवेशौ त्वच्छरीरसमुद्भवौ ॥३९॥
त्वन्नियोगकरावेताविति मे नारदोऽब्रवीत् ।

हे हरे ! उस ब्रह्मा को दो घोर दानव मधु और कै मारना चाहा । इनकी इस उलटी चेष्टा को देखकर क्रुद्ध हुए आप के ललाट से शूलपाणि, त्रिलोचन, शम्भु का जन्म हुआ । इस प्रकार ये दोनों देवेश तेरे ही शरीर से उत्पन्न हुए हैं । ये दोनों तेरी आज्ञा के वशवर्ती हैं, यह नारद ने कहा है ॥३८-३९॥

तथा नरायण पुरा क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥४०॥
इष्टवांस्त्वं महासत्रं कृष्ण चैत्ररथे वने ।
नैवं पूर्वे नापरे वा करिष्यन्ति कृतानि वा ४१॥
यानि कर्माणि देव त्वं बाल एव महाबलः ।
कृतवान् पुण्डरीकाक्ष बलदेवसहायवान् ।
कैलासभवने चापि ब्राह्मणैर्न्यवसः सह ॥४२॥

हे नारायण ! पूर्वकाल में आपने बड़ी २ दक्षिणा वाले यज्ञों से चैत्ररथ वन में यजन किया है, जिन कर्मों को न तो पूर्वजों ने किये और न आगे कोई कर सकेगा। हे पुण्डरीकाक्ष ! उन कर्मों को महाबली तुमने बलदेव की सहायता से बालपन में ही कर डाला और कैलाश पर्वत पर भी तुमने ब्राह्मणों के साथ निवास किया है ॥ ४०-४२ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा महात्मानमात्मा कृष्णस्य पाण्डवः ।
तूष्णीमासीत्ततः पार्थमित्युवाच जनार्दनः ॥४३॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! कृष्ण का दूसरा प्राण अर्जुन महात्मा कृष्ण से इतना कहने पर चुप हो गया। तब श्रीकृष्ण अर्जुन से बोले—॥ ४३ ॥

ममैव त्वं तवैवाह ये मदीयास्तवैव ते ।
यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु ॥४४॥

तू मेरा है और मैं तेरा हूं तथा मेरे मित्र भी तेरे मित्र हैं। जो तेरा वैरी है, वह मेरा भी शत्रु है और जो तेरा साथी है, वही मेरा साथी है ॥ ४४ ॥

नरस्त्वमसि दुर्द्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम् ।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥४५॥

हे महावीर ! अर्जुन ! तू तो नर का अवतार है और मैं नारायण हरि हूँ। इस समय हम दोनों नर नरायण ऋषि इस लोक को प्राप्त हुए हैं ॥ ४५ ॥

अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वचश्चाहं तथैव च।
नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ ॥४६॥

हे भरतर्षभ! अर्जुन! मुझसे तू भिन्न नहीं है और न मैं तुम से पृथक् हूँ। हम दोनों के अन्तर (फर्क) को कोई देख नहीं सकता है ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्ते तु वचने केशवेन महात्मना।
तस्मिन् वीरसमावाये संरब्धेष्वथ राजसु।
धृष्टद्युम्नमुखैर्वीरैर्भ्रातृभिः परिवारिता ॥४७॥
पाञ्चाली पुण्डरीकाक्षमासीनं भ्रातृभि सह।
अभिगम्याब्रवीत् क्रुद्धा शरण्यं शरणैषिणी ॥४८॥

वैशम्पायन फिर बोले—हे राजन्! इस प्रकार महात्मा श्रीकृष्ण के कहने पर राजाओं से युक्त उस वीर समाज में धृष्टद्युम्न आदि वीर भाइयों से रोकी भी गई, शरण चाहने वाली द्रौपदी, भाई बन्धुओं के साथ बैठे हुए शरणागत वत्सल कृष्ण के पास पहुंचकर यह वचन बोली ॥ ४७–४८ ॥

द्रौपद्युवाच—

पूर्वे प्रजाभिसर्गे त्वामाहुरेकं प्रजापतिम्।
स्रष्टारं सर्वलोकानमसितो देवलोऽब्रवीत् ॥४९॥

हे भगवन्! जब सृष्टि की रचना होती है, तब तुमही एक जगत् के रचने वाले कहाते हो-ऐसा देवल मुनि ने कहा है।

हे नारायण ! पूर्वकाल में आपने बड़ी २ दक्षिणा वाले यज्ञों से चैत्ररथ वन में यजन किया है, जिन कर्मों को न तो पूर्वजों ने किये और न आगे कोई कर सकेगा। हे पुण्डरीकाक्ष ! उन कर्मों को महाबली तुमने बलदेव की सहायता से बालपन में ही कर डाला और कैलाश पर्वत पर भी तुमने ब्राह्मणों के साथ निवास किया है ॥ ४०-४२ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा महात्मानमात्मा कृष्णस्य पाण्डवः ।
तूष्णीमासीत्ततः पार्थमित्युवाच जनार्दनः ॥४३॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! कृष्ण का दूसरा प्राण अर्जुन महात्मा कृष्ण से इतना कहने पर चुप हो गया। तब श्रीकृष्ण अर्जुन से बोले—॥ ४३ ॥

ममैव त्वं तवैवाह ये मदीयास्तवैव ते ।
यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु ॥४४॥

तू मेरा है और मैं तेरा हूं तथा मेरे मित्र भी तेरे मित्र हैं। जो तेरा वैरी है, वह मेरा भी शत्रु है और जो तेरा साथी है, वही मेरा साथी है ॥ ४४ ॥

नरस्त्वमसि दुर्द्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम् ।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥४५॥

हे महावीर ! अर्जुन ! तू तो नर का अवतार है और मैं नारायण हरि हूँ। इस समय हम दोनों नर नरायण ऋषि इस लोक को प्राप्त हुए हैं ॥ ४५ ॥

अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च।
नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ ॥४६॥

हे भरतर्षभ! अर्जुन! मुझसे तू भिन्न नहीं है और न मैं तुम से पृथक् हूँ। हम दोनों के अन्तर (फर्क) को कोई देख नहीं सकता है ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्ते तु वचने केशवेन महात्मना।
तस्मिन् वीरसमावाये संरब्धेष्वथ राजसु।
धृष्टद्युम्नमुखैर्वीरैर्भ्रातृभिः परिवारिता ॥४७॥
पाञ्चाली पुण्डरीकाक्षमासीनं भ्रातृभि सह।
अभिगम्याब्रवीत् क्रुद्धा शरण्यं शरणैषिणी ॥४८॥

वैशम्पायन फिर बोले—हे राजन्! इस प्रकार महात्मा श्रीकृष्ण के कहने पर राजाओं से युक्त उस वीर समाज में धृष्टद्युम्न आदि वीर भाइयों से रोकी भी गई, शरण चाहने वाली द्रौपदी, भाई बन्धुओं के साथ बैठे हुए शरणागत वत्सल कृष्ण के पास पहुंचकर यह वचन बोली ॥ ४७–४८ ॥

द्रौपद्युवाच—

पूर्वे प्रजाभिसर्गे त्वामाहुरेकं प्रजापतिम्।
स्रष्टारं सर्वलोकानमसितो देवलोऽब्रवीत् ॥४९॥

हे भगवन्! जब सृष्टि की रचना होती है, तब तुमही एक जगत् के रचने वाले कहाते हो-ऐसा देवल मुनि ने कहा है।

हे नारायण ! पूर्वकाल मे आपने बड़ी २ दक्षिणा वाले यज्ञों से चैत्ररथ वन में यजन किया है, जिन कर्मों को न तो पूर्वजों ने किये और न आगे कोई कर सकेगा। हे पुण्डरीकाक्ष! उन कर्मों को महाबली तुमने बलदेव की सहायता से बालपन मे ही कर डाला और कैलाश पर्वत पर भी तुमने ब्राह्मणों के साथ निवास किया है ॥ ४०-४२ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा महात्मानमात्मा कृष्णस्य पाण्डवः ।
तूष्णीमासीत्ततः पार्थमित्युवाच जनार्दनः ॥४३॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! कृष्ण का दूसरा प्राण अर्जुन महात्मा कृष्ण से इतना कहने पर चुप हो गया। तब श्रीकृष्ण अर्जुन से बोले—॥ ४३ ॥

ममैव त्वं तवैवाह ये मदीयास्तवैव ते ।
यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु ॥४४॥

तू मेरा है और मैं तेरा हूं तथा मेरे मित्र भी तेरे मित्र हैं। जो तेरा वैरी है, वह मेरा भी शत्रु है और जो तेरा साथी है, वही मेरा साथी है ॥ ४४ ॥

नरस्त्वमसि दुर्द्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम् ।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥४५॥

हे महावीर ! अर्जुन ! तू तो नर का अवतार है और मैं नारायण हरि हूँ। इस समय हम दोनों नर नारायण ऋषि इस लोक को प्राप्त हुए हैं ॥ ४५ ॥

हे प्रभो ! तेरे शिर से अन्तरिक्ष लोक और पैरों से पृथिवी तथा पेट में मध्यलोक व्याप्त हो रहा है। तू सचमुच सनातन पुरुष है ॥ ५४ ॥

विद्यातपोऽभितप्तानां तपसा भावितात्मनाम् ।
आत्मदर्शनतृप्तानां ऋषीणामसि सत्तमः ॥५५॥

विद्या और तप से युक्त, तप से आत्मा के दर्शन करने वाले तथा आत्मा के दर्शन से ही सन्तुष्ट ऋषियों में तू सर्वोत्तम ऋषि है ॥ ५५ ॥

राजर्षीणापुण्यकृतामाहवेष्वनिवर्त्तिनाम् ।
सर्वधर्मोपपन्नानां त्वं गतिः पुरुषर्षभ ।
त्वं प्रभुस्त्वं विभुश्च त्वं भूतात्मा त्वं विचेष्टसे ॥५६॥

हे पुरुषर्षभ ! पुण्यात्मा, युद्ध से मुख नहीं मोड़ने वाले, सर्व धर्मों के आचरण करने में तत्पर क्षत्रियों की तू ही गति है। तू ही प्रभु विभु और भूतों की आत्मा होकर चेष्टा कर रहा है ॥५६॥

लोकपालाश्च लोकाश्च नक्षत्राणि दिशो दश ।
नभश्चन्द्रश्च सूर्यश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥५७॥

हे महाबाहो ! लोकपाल, लोक, नक्षत्र, दशों दिशायें, आकाश, चन्द्र और सूर्य सब तुम में स्थित हो रहे हैं ॥ ५७ ॥

मर्त्यता चैव भूतानाममरत्वं दिवौकसाम् ।
त्वयि सर्वं महाबाहो लोककार्यं प्रतिष्ठितम् ॥५८॥

विष्णुस्त्वमसि दुर्द्धर्ष त्वं यज्ञो मधुसूदन ।
यष्टा त्वमसि यष्टव्यो जामदग्न्यो यथाब्रवीत् ॥५०॥

हे मधुसूदन ! शक्तिशाली ! कृष्ण ! तू ही विष्णु और यज्ञ है। तू याजक और तू ही भजन करने योग्य है ऐसा परशुराम ने कहा है ॥ ५० ॥

ऋषयस्त्वां क्षमामाहुः सत्यश्च पुरुषोत्तम
सत्ययज्ञोऽसि संभूतः कश्यपस्त्वां यथाब्रवीत् ॥५१॥

हे पुरुषोत्तम ! ऋषिगण, तुमको क्षमा और सत्य की मूर्ति कहते हैं। सत्य से ही यज्ञ रूप होकर तुम उत्पन्न हुए हो, ऐसा कश्यप मुनि ने कहा है ॥ ५१ ॥

साध्यानामपि देवानां शिवानामीश्वरेश्वर ।
भूतभावन भूतेश यथा त्वां नारदोऽब्रवीत् ॥५२॥

हे भूतेश ! तू साध्य तथा देवों एवं रुद्रों का भी परमेश्वर है। हे भूत भावन ! इस प्रकार तुमको नारद मुनि ने कहा है।

ब्रह्मशङ्करशक्राद्यैर्देववृन्दैः पुनः पुनः ।
क्रीडसे त्वं नरव्याघ्र बालः क्रीडनकैरिव ॥५३॥

हे नर-श्रेष्ठ ! ब्रह्म, शङ्कर, इन्द्रादि देवों के समूहों से खिलौनों से बच्चों के समान आप खेलते रहते हो ॥ ५३ ॥

द्यौश्च ते शिरसा व्याप्ता पद्भ्याञ्च पृथिवी प्रभो ।
जठरं ते इमे लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥५४॥

हे प्रभो ! तेरे शिर से अन्तरिक्ष लोक और पैरों से पृथिवी तथा पेट में मध्यलोक व्याप्त हो रहा है। तू सचमुच सनातन पुरुष है ॥ ५४ ॥

विद्यातपोऽभितप्तानां तपसा भावितात्मनाम् ।
आत्मदर्शनतृप्तानां ऋषीणामसि सत्तमः ॥५५॥

विद्या और तप से युक्त, तप से आत्मा के दर्शन करने वाले तथा आत्मा के दर्शन से ही सन्तुष्ट ऋषियों में तू सर्वोत्तम ऋषि है ॥ ५५ ॥

राजर्षीणां पुण्यकृतामाहवेष्वनिवर्त्तिनाम् ।
सर्वधर्मोपपन्नानां त्वं गतिः पुरुषर्षभ ।
त्वं प्रभुस्त्वं विभुश्च त्वं भूतात्मा त्वं विचेष्टसे ॥५६॥

हे पुरुषर्षभ ! पुण्यात्मा, युद्ध से मुख नहीं मोड़ने वाले, सर्वधर्मों के आचरण करने में तत्पर क्षत्रियों की तू ही गति है। तू ही प्रभु विभु और भूतों की आत्मा होकर चेष्टा कर रहा है ॥५६॥

लोकपालाश्च लोकाश्च नक्षत्राणि दिशो दश ।
नभश्चन्द्रश्च सूर्यश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥५७॥

हे महाबाहो ! लोकपाल, लोक, नक्षत्र, दशों दिशाएँ, आकाश, चन्द्र और सूर्य सब तुम में स्थित हो रहे हैं ॥ ५७ ॥

मर्त्यता चैव भूतानाममरत्वं दिवौकसाम् ।
त्वयि सर्वं महाबाहो लोककार्य्यं प्रतिष्ठितम् ॥५८॥

हे महाबाहो ! मरण शीलता प्राणियों में तथा अमरपन देवों में इस प्रकार के सारे कर्मों का समूह सब तुम में स्थित है ॥५८॥

सा तेऽहं दुःखमाख्यास्ये प्रणयान्मधुसूदन ।
ईशस्त्वं सर्वभूतानां ये दिव्या ये च मानुषाः ॥५९॥

हे मधुसूदन ! मैं प्रेम के कारण अपने सारे दुःख का तुमसे वर्णन करती हूँ। तुम सारे देव और मनुष्यों के स्वामी हो ॥५९॥

कथं नु भार्य्या पार्थानां तव कृष्ण सखी विभो ।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी सभां कृष्येत मादृशी ॥६०॥

हे कृष्ण ! इन पाण्डवों की भार्या और तेरी प्रिय सखी तथा धृष्टद्युम्न की बहन होकर भी मुझ जैसी को उन दुष्टों ने सभा में खैंचा है॥ ६०॥

स्त्रीधर्मिणी वेपमाना शोणितेन समुक्षिता ।
एकवस्त्रा विकृष्टास्मि दुःखिता कुरुसंसदि ॥६१॥

उस समय मैं ऋतुधर्म से युक्त रक्त से भीग रही थी। उन दुष्टों ने इस दशा में भी कांपती हुई एक वस्त्र धारण करने वाली, मुझ-दुःखिया को कौरवों की सभा में खैंचा ॥ ६१ ॥

राज्ञां मध्ये सभायान्तु रजसाभिपरिप्लुता ।
दृष्ट्वा च मां धार्त्तराष्ट्राः प्राहसन् पापचेतसः ॥६२॥

मैं सभा में राजाओं के बीच में रज से भीगी हुई थी। इस दशा में मुझको देखकर पापी धृतराष्ट्र पुत्र हंसने लगे ॥ ६२ ॥

दासीभावेन मां भोक्तुमीषुस्ते मधुसूदन ।
जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चालेषु च वृष्णिषु ॥६३॥

हे मधुसूदन ! पाण्डु पुत्र, पाञ्चाल और वृष्णियों के जीवित रहने पर भी इन दुष्टों ने मुझे दासी रूप में भोगना चाहा ॥६३॥

नन्वहं कृष्ण भीमस्य धृतराष्ट्रस्य चोभयोः ।
स्नुषा भवामि धर्मेण साहं दासीकृता बलात् ॥६४॥

हे कृष्ण ! यद्यपि मैं भीष्म और धृतराष्ट्र इन दोनों की धर्मानुसार पुत्र वधू हूँ, तो भी दुष्टों ने मुझे दासी बनाना चाहा ॥६४॥

गर्हये पाण्डवांस्त्वेव युधि श्रेष्ठान्महाबलान् ।
यत् क्लिश्यमानां प्रेक्षन्ते धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ॥६५॥

मैं तो युद्ध में श्रेष्ठ, महाबली, पाण्डवों की ही निन्दा करती हूँ, जो क्लेश पाती हुई, यशस्विनी, धर्मराज की पत्नी को इस प्रकार देखते रहे ॥ ६५ ॥

धिग्बलं भीमसेनस्य धिक् पार्थस्य च गाण्डिवम् ।
यौ मां विप्रकृतां क्षुद्रैर्मर्षयेतां जनार्दन ॥६६॥

हे जनार्दन ! भीमसेन के बल को और अर्जुन के गाण्डीव धनुष को धिक्कार है, जो उन क्षुद्रों से मेरा तिरस्कार कर लेने पर भी ये सहते रहे ॥ ६६ ॥

शाश्वतोऽयं धर्म्मपथः सद्भिराचरितः सदा ।
यद्भार्य्यां परिरक्षन्ति भर्त्तारोऽल्पबला अपि ॥६७॥

यह सनातन धर्म मार्ग सज्जनों से सेवित है, जो स्वल्प बल वाले भर्ता भी अपनी २ भार्याओं की रक्षा करते हैं ॥ ६७ ॥

भार्य्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ।
प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः ॥६८॥

भार्या की रक्षा कर लेने से प्रजा की रक्षा भी हो सकती है। जब प्रजा रक्षित हुई तभी अपने को सुरक्षित मानना चाहिये ।६८।

आत्मा हि जायते तस्यां तस्मात् जाया भवत्युत ।
भर्त्ता च भार्य्यया रक्ष्यः कथं जायान्ममोदरे ॥६९॥

स्त्री मे स्वयं पति, पुत्र रूप से उत्पन्न होता है, इसीसे भार्या को जाया कहते हैं। जब पति की रक्षा ही भार्या करेगी, तो फिर वह उदर मे उत्तम रूप से कैसे उत्पन्न हो सकता है ॥६९॥

नन्विमे शरणं प्राप्तं न त्यजन्ति कदाचन ।
ते मां शरणमापन्नां नान्वपद्यन्त पाण्डवाः ॥७०॥

जब कोई उन पाण्डवों की शरण में आ जाता था, तो उसको ये कभी नही छोड़ते थे। आज मैं इनकी शरण मे आई हुई हूँ, तोभी ये मेरी रक्षा नहीं करते हैं ॥ ७० ॥

पञ्चभिः पतिभिर्जाताः कुमारा मे महौजसः ।
एतेषामप्यवेक्षार्थं त्रातव्यास्मि जनार्दन ॥७१॥

हे जनार्दन ! इन पाच पतियों मे मेरे महा ओजस्वी, पाच कुमार उत्पन्न हो चुके हैं। इन के पालन के लिए भी मेरी रक्षा करनी उचित है ॥ ७१ ॥

प्रतिविन्ध्यो युधिष्ठिरात् सुतसोमो वृकोदरात् ।
अर्जुनात् श्रुतकीर्त्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः ॥७२॥
कनिष्ठात् श्रुतकर्मा च सर्वे सत्यपराक्रमाः ।
प्रद्युम्नो यादृशः कृष्ण तादृशास्ते महारथाः ॥७३॥

युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीम से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकीर्ति नकुल से शतानीक, सहदेव से श्रुतकर्मा नामक पुत्र हुए हैं। ये सारे सत्य पराक्रमधारी हैं। हे कृष्ण! जैसा गुणवान् प्रद्युम्न है, वैसे ही ये महारथी हैं॥ ७३॥

नन्विमे धनुषि श्रेष्ठा अजेया युधि शात्रवैः ।
किमर्थं धार्त्तराष्ट्राणां सहन्ते दुर्बलीयसाम् ॥७४॥

ये सब धनुषधारियों में श्रेष्ठ और युद्ध में अजेय हैं। फिर दुर्बल धृतराष्ट्र, दुर्योधनादि की क्यों उपेक्षा कर रहे हैं॥७४॥

अधर्मेण हृतं राज्यं सर्वे दासाः कृतास्तथा ।
सभायां परिकृष्टाहमेकवस्त्रा रजस्वला ॥७५॥

अधर्म से राज्य जीत लिया और सारे दास बना लिए। इसके सिवा एक वस्त्रधारण किये हुए मुझ रजस्वला को सभा में बुरी तरह खींचा गया॥ ७५॥

नाधिज्यमपि यत् शक्यं कर्त्तुमन्येन गाण्डिवम् ।
अन्यत्रार्जुनभीमाभ्यां त्वया वा मधुसूदन ॥७६॥

हे मधुसूदन! जिस गाण्डीव धनुष को अर्जुन, भीम और आपके सिवा कोई चढ़ा भी नहीं सकता है॥ ७६॥

धिग्बलं भीमसेनस्य धिक् पार्थस्य च पौरुषम् ।
यत्र दुर्योधनः कृष्ण मुहूर्त्तमपि जीवति ॥७७॥

हे कृष्ण ! भीमसेन के बल और गाण्डीव धारी अर्जुन के पुरुषार्थ को धिक्कार है, जो दुर्योधन क्षण भर भी जीवित है॥७७॥

य एतानाक्षिपद्राष्ट्रात् सह मात्रा विहिंसकान् ।
अधीयानान् पुरा बालान् व्रतस्थान्मधुसूदन ॥७८॥

हे मधुसूदन! इन्होंने इन द्वेषरहित पाण्डवों को अपनी माता के साथ बाल्य अवस्था में ब्रह्मचर्य पूर्वक अध्ययन करने के समय में ही राष्ट्र से निकाल दिया था ॥ ७८ ॥

भोजने भीमसेनस्य पापः प्राक्षेपयद्विषम् ।
कालकूटं नवन्तीक्ष्णं सम्भृतं लोमहर्षणम् ॥७९॥

इन्हीं पापियों ने भीमसेन के भोजन में नया, तीक्ष्ण, परिमाण में अधिक, लोम खड़ा कर देने वाला भीषण विष डाल दिया ७९

तज्जीर्णमविकारेण सहान्नेन जनार्दन ।
सशेषत्वान्महाबाहो भीमस्य पुरुषोत्तम ॥८०॥

हे जनार्दन ! महाबाहो ! अन्न के साथ ही आयु शेष होने के कारण भीम ने उसी तीक्ष्ण विष को भी पचा लिया। वह विष कुछ भी विकार नहीं कर सका ॥ ८० ॥

प्रमाणकोट्यां विश्वस्तं तथा सुप्तं वृकोदरम् ।
बद्ध्वैनं कृष्ण गङ्गायां प्रक्षिप्य पुनराव्रजत् ॥८१॥

हे कृष्ण ! प्रमाण कोटी नामक गङ्गातीर के एक वट के वृक्ष के नीचे विश्वास के साथ सोते हुए भीम को इन दुरात्माओं ने बांधकर गङ्गा में डाल दिया और ये सब अपने स्थान को लौट आये ॥ ८१ ॥

यदा विबुद्धः कौन्तेयस्तदा सञ्छिद्य बन्धनम् ।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ॥८२॥

जब इस कुन्ती पुत्र भीम को चेत हुआ, तब यह महाबाहु और महाबली भीम, बन्धन तोड़कर बाहर निकला ॥ ८२ ॥

आशीविषैः कृष्ण सर्पैर्भीमसेनमदंशयत् ।
सर्वेष्वेवाङ्गदेशेषु न ममार च शत्रुहा ॥८३॥

अपने दांतों में विष धारण करने वाले काले सांपों ने पाताल में भीमसेन के सारे अङ्गों में काटा, परन्तु यह शत्रु नाशक नहीं मरा ॥ ८३ ॥

प्रतिबुद्धस्तु कौन्तेयः सर्वान् सर्पानपोथयत् ।
सारथिश्चास्य दयितमपहस्तेन जघ्निवान् ॥८४॥

जब भीम को अच्छी तरह चेत होगया, तो इसने सारे सर्पों को कुचल डाला और इस सर्प-राज के सारथि के उल्टे हाथ का थप्पड़ मारा ॥ ८४ ॥

पुनः सुप्तानुपाधाक्षीद्बालकान् वारणावते ।
शयानानार्यया सार्द्धं को नु तत् कर्तुमर्हति ॥८५॥

वारणावत नगर में आर्या कुन्ती के साथ सोते हुए बालक पांडवों को इन दुष्टों ने जलाना चाहा; बताओ-ऐसा अनुचित कर्म कौन कर सकता है ॥ ८५ ॥

यत्रार्य्या रुदती भीता पाण्डवानिदमब्रवीत् ।
महद्व्यसनमापन्ना शिखिना परिवारिता ॥८६॥
हा हतास्मि कुतो न्वद्य भवेच्छान्तिरिहानलात् ।
अनाथा विनशिष्ययामि बालकैः पुत्रकैः सह ॥८७॥

उस समय रोती हुई आर्या कुन्ती, पांडवों से यह बोली। हम बड़ी विपत्ति मे फँस गए हैं और आग ने घेर लिए है। हाय ? आज मैं मारी गई। इस आग से कैसे प्राण बचें। आज मैं अनाथ की भांति अपने पुत्रों के साथ नष्ट होजाऊंगी ।८६-८७।

तत्र भीमो महाबाहुर्वायुवेगपराक्रमः ।
आर्य्यामाश्वासयामास भ्रातॄंश्चापि वृकोदरः ॥८८॥
वैनतेयो यथा पक्षी गरुत्मान् पततांवरः ।
तथैवाभिपतिष्यामि भयं वो नेह विद्यते ॥८९॥

वहां भी वायु के तुल्य वेग वाले, महाबाहु, भीमसेन ने आर्या कुन्ती और अपने भाइयों को आश्वासन दिया। विनता का पुत्र गरुड़ पक्षी जैसे उड़ता है; वैसे ही मैं तुम को लेकर उड़ जाऊंगा, तुम कुछ भय मत करो ॥ ८८-८९ ॥

आर्यामंकेन वामेन राजानं दक्षिणेन च ।
अंसयोश्च यमौ कृत्वा पृष्ठे बीभत्सुमेव च ॥६०॥
सहसोत्पत्य वेगेन सर्वानादाय वीर्यवान् ।
भ्रातॄनार्याश्च बलवान् मोचयामास पावकात् ॥६१॥

आर्या कुन्ती को बाईं और राजा युधिष्ठिर को दाईं गोदी में लेकर तथा कन्धों पर नकुल, सहदेव और अर्जुन को करके इन सबको लेकर वीर्यवान् भीम, बड़े वेग से भाग चला और इस प्रकार इस बलवान ने अपनी माता कुन्ती और भाइयों को बचाया ॥ ६०-६१ ॥

ते रात्रौ प्रस्थिताः सर्वे सह मात्रा यशस्विनः ।
अभ्यगच्छन्महारण्यं हिडिम्बवनमन्तिकात् ॥६२॥

ये यशस्वी पाण्डव रात में ही चल दिये और बहुत दूर चल कर हिडिम्ब राक्षस के महा भयानक वन में पहुँचे ॥ ६२ ॥

श्रान्ताः प्रसुप्तास्तत्रेमे मात्रा सह सुदुःखिताः ।
सुप्तां स्तानभ्यगच्छद् हिडिम्बा नाम राक्षसी ॥६३॥

वहां ये थके हुए दुःखी पाण्डव, माता के साथ सो रहे थे। इन सोते हुए पाण्डवों के समीप हिडिम्बा नाम राक्षसी आई ॥ ६३ ॥

सा दृष्ट्वा पाण्डवांस्तत्र सुप्तान्मात्रा सह क्षितौ ।
हृच्छयेनाभिभूतात्मा भीमसेनमकामयत् ॥६४॥

माता के साथ भूमि पर सोते हुए पाण्डवों को देखकर हिडिम्बा कामातुर हो गई और भीमसेन को चाहने लगी ॥९४॥

भीमस्य पादौ कृत्वा तु स्व उत्सङ्गे ततोऽबला ।
पर्य्यमर्दत संहृष्टा कल्याणी मृदुपाणिना ॥९५॥

इस अबला हिडिम्बा ने भीम के चरण अपनी गोदी में रख लिए और प्रसन्नता पूर्वक यह कल्याणी, कोमल हाथों से उनको दाबने लगी ॥ ९५ ॥

तामबुध्यदमेयात्मा बलवान् सत्यविक्रमः ।
पर्य्यपृच्छत तां भीमः किमिहेच्छस्यनिन्दिते ॥९६॥

बलवान्, सत्य-पराक्रमी, महात्मा भीम ने उस स्त्री को देखा और पूछा—हे अनिन्दिते ! तुम कौन हो ॥ ९६ ॥

एवमुक्त्वा तु भीमेन राक्षसी कामरूपिणी ।
भीमसेनं महात्मानमाह चैवमनिन्दिता ॥९७॥

भीम के इतना कहने पर कामना के अनुसार रूप धारण करने वाली, सुन्दरी, हिडिम्बा राक्षसी ने महात्मा भीम से कहा—॥ ९७ ॥

पलायध्वमितः क्षिप्रं मम भ्रातैष वीर्य्यवान् ।
आगमिष्यति वो हन्तुं तस्माद्गच्छत मा चिरम् ॥९८॥

हे महानुभावों ! तुम यहां शीघ्र से भाग जावो। यह मेरा भाई बड़ा बलवान् है। यह तुम्हारे मारने को आता है, इससे शीघ्र भागो। देर मत करो ॥ ९८ ॥

अथ भीमोऽभ्युवाचैनां साभिमानमिदं वचः ।
नोद्विजेयमहं तस्मान्निहनिष्येऽहमागतम् ॥९९॥

अब भीम हिडिम्बा से यह वचन कहने लगा—हे अबले मैं उस से डरता नहीं हूँ। यदि वह आ जायेगा, तो मैं उसको मार डालूंगा ॥ ९९ ॥

तयोः श्रुत्वा तु संजल्पमागच्छद्राक्षसाधमः ।
भीमरूपो महानादान् विसृजन् भीमदर्शनः ॥१००॥

ये इस प्रकार बातें ही कर रहे थे, कि वह नीच राक्षस आ गया। जिस का रूप और दर्शन बड़ा भयानक था और वह घोर गर्जना कर रहा था ॥ १०० ॥

राक्षस उवाच—

केन सार्द्धं कथयसि आनयैनं ममान्तिकम् ।
हिडिम्बे भक्षयिष्यामो न चिरं कर्त्तुमर्हसि ॥१०१॥

राक्षस ने कहा—हे हिडिम्बे! तू किसके साथ बातें बना रही है, इसको मेरे पास ला। मैं इसको शीघ्र ही खाना चाहता हूँ। देर न कर ॥ १०१ ॥

सा कृपासंगृहीतेन हृदयेन मनस्विनी ।
नैनमैच्छत्तदाख्यातुमनुक्रोशादनिन्दिता ॥१०२॥

उस सुन्दरी, मनस्विनी हिडिम्बा ने स्नेहयुक्त हृदय से यह करना नहीं चाहा उसने दया से उन्हें बताना भी उचित नहीं समझा ॥ १०२ ॥

स नादान् विनदन् घोरान् राक्षसः पुरुषादकः ।
अभ्यद्रवत वेगेन भीमसेनं तदा किल ॥१०३॥

यह मनुष्यों का भक्षण करने वाला राक्षस, घोर चीत्कार करता हुआ भीमसेन की ओर झपटा ॥ १०३ ॥

तमभिद्रुत्य संक्रुद्धो वेगेन महता बली ।
अगृह्णात् पाणिना पाणिं भीमसेनस्य राक्षसः ॥१०४॥

यह महाबली राक्षस, क्रुद्ध होकर बड़े वेग से दौड़ा और इसने भीमसेन का हाथ अपने हाथ से पकड़ लिया ॥ १०४ ॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शं वज्रसंहननं दृढम् ।
संहृत्य भीमसेनाय व्याक्षिपत् सहसा करम् ॥१०५॥

इन्द्र के वज्र के समान इसका स्पर्श और वज्र के समान ही दृढ़ शरीर था। इसने भीमसेन से टक्कर मार कर उसके हाथ को जोर से झटका दिया ॥ १०५

गृहीतं पाणिना पाणिं भीमसेनस्य रक्षसा ।
नामृष्यत महाबाहुस्तत्राक्रुध्यद् वृकोदरः ॥१०६॥

जब राक्षस ने भीम का हाथ पकड़ा तो इस महाबाहु भीम ने भी सहन नहीं किया और उस पर बड़ा क्रोध किया ॥१०६॥

तदासीत्तुमुलं युद्धं भीमसेनहिडिम्बयोः ।
सर्वास्त्रविदुषोर्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥१०७॥

उस समय भीम और हिडिम्ब का, इन्द्र और वृत्रासुर के युद्ध के तुल्य घमासान युद्ध हुआ। ये दोनों सब अस्त्रों के जानने वाले थे ॥ १०७ ॥

विक्रीडय सुचिरं भीमो राक्षसेन सहानघ ।
निजघान महावीर्य्यस्तं तदा निर्बलं बली ॥१०८॥

हे महाभाग ! महाबाहु और बली भीम ने बहुत काल तक खेल करके इस निर्बल राक्षस को मार डाला ॥ १०८ ॥

हत्वा हिडिम्बं भीमोऽथ प्रस्थितो भ्रातृभिः सह ।
हिडिम्बामग्रतः कृत्वा यस्यां जातो घटोत्कचः ॥१०९॥

हिडिम्ब को मारकर हिडिम्बा को लेकर भीम, भाइयों के साथ चल दिया। इसी हिडिम्बा से घटोत्कच की उत्पत्ति हुई ॥ १०९ ॥

ततः संप्राद्रवन् सर्वे सह मात्रा परन्तपाः ।
एकचक्रामभिमुखाः संवृता ब्राह्मणव्रजैः ॥११०॥

ये परन्तप पाण्डव, अपनी माता के साथ ब्राह्मणों के सहित एकचक्रा नगरी की ओर भागे जाते थे ॥ ११० ॥

प्रस्थाने व्यास एवाऽस्य मन्त्री प्रियहिते रतः ।
ततोऽगच्छन्नेकचक्रां पाण्डवाः शंसितव्रताः ॥१११॥

इनके इस प्रस्थान की सम्मति देने वाले व्यास मुनि थे, जो सदा इनके प्रिय और हित में लगे हुए थे इसके बाद ये व्रतशील पाण्डव एकचक्रा नगरी को चल दिए ॥ १११ ॥

तत्राप्यासादयामासुर्वकं नाम महाबलम् ।
पुरुषादं प्रतिभयं हिडिम्बेनैव सम्मितम् ॥११२॥

वहां भी उन्होंने महाबली बक नामक महा असुर को मारा, जो हिडिम्ब के ही समान भयानक था ॥ ११२ ॥

तञ्चापि विनिहत्योग्रं भीमः प्रहरताम्वरः ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैर्द्रुपदस्य पुरं ययौ ॥११३॥

प्रहार करने वालों में श्रेष्ठ, भीमने उस उग्र राक्षस को मार कर अपने सारे भाइयों के साथ द्रुपद के पुर को प्रस्थान किया ॥ ११३ ॥

लब्धाहमपि तत्रैव वसता सव्यसाचिना ।
यथा त्वया जिता कृष्ण रुक्मिणी भीष्मकात्मजा ११४

हे कृष्ण ! वहां निवास करते हुए अर्जुन ने मुझे वैसे ही प्राप्त किया, जैसे तुमने भीष्मक की पुत्री रुक्मणी को जीता ॥ ११४ ॥

एवं सुयुद्धे पार्थेन जिताहं मधुसूदन ।
स्वयम्वरे महत् कर्म कृत्वा न सुकरं परैः ॥११५॥

हे मधुसूदन ! इस मत्स्यवेध के युद्ध में अर्जुन ने स्वयंवर में महान् कर्म करके मुझे जीता है, जो कर्म अन्य कोई नहीं कर सकता है ॥ ११५ ॥

एवं क्लेशैः सुबहुभिः क्लिश्यमाना सुदुःखिता ।
निवसाम्यार्य्यया हीना कृष्ण धौम्यपुरःसरा ॥११६॥

हे कृष्ण ! इस प्रकार अनेक क्लेशों से क्लेशित और दुःखी हुई, आर्या कुन्ती से विहीन, धौम्य पुरोहित के साथ में इस वन में रहती हूँ ॥ ११६ ॥

त इमे सिंह विक्रान्ता वीर्य्येणाभ्यधिकाः परैः ।
निहीनैः परिक्लिश्यन्तीं समुपेक्षन्ति मां कथम् ॥११७॥

ये पाण्डव, विकराल सिंह के समान और विरोधियों से अधिक बलवान् हैं। फिर भी क्षुद्रों से क्लेशित की हुई मेरी ये कैसे उपेक्षा कर रहे हैं ॥ ११७ ॥

एतादृशानि दुःखानि सहन्ती दुर्बलीयसाम् ।
दीर्घकालं प्रदीप्तास्मि पापानां पापकर्मणाम् ॥११८॥

मैं इन पापी, पापकर्म करने वाले, कायर धार्तराष्ट्रों के दुखों को झेलती हुई दीर्घकाल से जल रही हूँ ॥ ११८ ॥

कुले महति जातास्मि दिव्येन विधिना किल ।
पाण्डवानां प्रिया भार्य्या स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः ११९

यज्ञ विधि के द्वारा मैं बड़े कुल में पैदा हुई हूं और पाण्डवों की प्रिय पत्नी तथा पाण्डु की पुत्रवधू हूं ॥ ११९ ॥

कचग्रहमनुप्राप्ता सास्मि कृष्ण वरा सती ।
पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां प्रेक्षतां मधुसूदन ॥१२०॥

हे मधुसूदन, कृष्ण ! उत्तम आचरण वाली, पतिव्रताओं के नियमों को पालने वाली, मुझ द्रोपदी के पांचों पाण्डवों के देखते २ बाल पकड़ कर खींचे गये हैं ॥ १२० ॥

इत्युक्त्वा प्रारुदत् कृष्णा मुखं प्रच्छाद्य पाणिना ।
पद्मकोशप्रकाशेन मृदुना मृदुभाषिणी ॥१२१॥

यह कह कर और मुँह को कमल के समान कोमल हाथों से ढक कर कोमल बोलने वाली द्रौपदी रोने लगी ॥ १२१ ॥

स्तनावपतितौ पीनौ सुजातौ शुभलक्षणौ ।
अभ्यवर्षत पाञ्चाली दुःखजैरश्रुविन्दुभिः ॥१२२॥

ऊंचे, पुष्ट, जुडे हुए से, अच्छे लक्षण वाले स्तनों को द्रौपदी अपने दु ख के आंसुओं से सींचने लगी ॥ १२२ ॥

चक्षुषी परिमार्जन्ती निश्वसन्ती पुनः पुनः ।
वाष्पपूर्णेन कण्ठेन क्रुद्धा वचनमब्रवीत् ॥१२३॥

द्रौपदी आखों को मसलती हुई और बार २ श्वास लेती हुई, आसुओं से भरे कण्ठ से गद्गद होकर क्रोध के साथ कहने लगी॥

नैव मे पतयः सन्ति न पुत्रा न च बान्धवाः ।
न भ्रातरो न च पिता नैव त्वं मधुसूदन ॥१२४॥
ये मां विप्रकृतां क्षुद्रैरुपेक्षध्वं विशोकवत् ।
न च मे शाम्यते दुःखं कर्णो यत् प्राहसत्तदा ॥१२५॥

हे मधुसूदन ! न तो मेरे पति हैं, न पुत्र और न कोई बाधव हैं । न भाई न पिता और न तुम ही मेरे अब कुछ रहे हो, जो तुम सब नीचों से मेरे तिरस्कार होने पर भी शोकरहित के समान चुप हो रहे हो । जो कर्ण ने उपहास किया, यह दु ख तो मेरा शान्त ही नहीं होता है ॥ १२४-१२५ ॥

चतुर्भिः कारणैः कृष्ण त्वया रक्ष्यास्मि नित्यशः ।
सम्बन्धाद्गौरवात् सख्यात् प्रभुत्वेनैव केशव ॥१२६॥

हे *कृष्ण! एक तो सम्बन्ध, दूसरे अपने गौरव, तीसरे मित्रता* और चौथे शक्ति-शाली, होने से तुम्हें मेरी नित्य रक्षा करनी चाहिये ॥ १२६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

अथ तामब्रवीत् कृष्णस्तस्मिन् वीरसमागमे ॥१२७॥

वासुदेव उवाच—

रोदिष्यन्ति स्त्रियो ह्येवं येषां क्रुद्धासि भाविनि ।
बीभत्सुशरसंच्छन्नान् शोणितौघपरिप्लुतान् ।
निहितान् वल्लभान् वीक्ष्य शयानान् वसुधातले ॥ १२८

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! श्रीकृष्ण ने उस वीर समाज में द्रौपदी से कहा—हे महानुभावे! जिस पर तू क्रुद्ध हुई है, उनकी स्त्रिया ही आगे चल कर अर्जुन के बाणों से छिन्न-भिन्न, रक्त से भीगे हुए और भूमि मे पड़े हुए अपने मरे पतियों को देखकर रोवेंगी ॥ १२७-१२८ ॥

यत् समर्थं पाण्डवानां तत् करिष्यामि मा शुचि ।
सत्यं ते प्रतिजानामि राज्ञां राज्ञी भविष्यसि ॥१२९॥

जो पाण्डवों का हित है, मैं वही करूंगा, तू चिन्ता न कर। मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, कि ये पाण्डव राजा होंगे और तू रानी होगी ॥ १६२ ॥

पतेद्द्यौर्हिमवान् शीर्य्येत् पृथिवी शकलीभवेत् ।
शुष्येत्तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत् ॥१३०॥

हे कृष्णे ! आकाश गिर जावे, पृथिवी के टुकड़े २ हो जावें, समुद्र सूख जावे, परन्तु मेरा वचन वृथा नहीं जावेगा ॥ १३० ॥

तच्छ्रुत्वा द्रौपदी वाक्यं प्रतिवाक्यमथाच्युतात् ।
साचीकृत मवैक्षत सा पाञ्चाली मध्यमं पतिम् ॥१३१॥

द्रौपदी इस प्रकार श्रीकृष्ण के उत्तर रूप वाक्यों को सुन कर तीखी दृष्टि से अपने मध्यम पति अर्जुन की ओर देखने लगी १३१

आवभाषे महाराज द्रौपदीमर्जुनस्तदा ।
मा रोदीः शुभताम्राक्षि यथाह मधुसूदनः ।
तथा तद्भविता देवि नान्यथा वरवर्णिनि ॥ १३२ ॥

हे महाराज ! इस समय अर्जुन, द्रौपदी से बोला—सुन्दर लाल नेत्रों वाली ! तू रो नहीं। हे सुन्दरि ! जैसा श्रीकृष्ण ने कहा है, वैसा ही होगा, इसमे सन्देह नहीं है ॥ १३२ ॥

धृष्टद्युम्न उवाच—

अहं द्रोणं हनिष्यामि शिखण्डी तु पितामहम् ।
दुर्योधनं भीमसेनः कर्णं हन्ता धनञ्जयः ॥१३३॥

धृष्टद्युम्न कहने लगा—मैं तो द्रोण को मारूंगा और शिखंडी भीष्म को, भीमसेन दुर्योधन को और अर्जुन कर्ण को मारेंगे ।१३३

रामकृष्णौ व्यपाश्रित्य अजेयाः स्मरणे स्वसः ।
अपि वृत्रहणा युद्धे किं पुनर्धृतराष्ट्रजैः ॥१३४॥

हे वहन ! बलराम और कृष्ण के आश्रय से हम युद्ध में इन्द्र से भी पराजित नहीं हो सकते हैं। फिर धृतराष्ट्र के पुत्रों की तो क्या चलती है॥ १३४॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्तेऽभिमुखा वीरा वासुदेवमुपस्थिताः ।
तेषां मध्ये महावाहुः केशवो वाक्यमब्रवीत् ॥१३५॥

इति म० वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपद्याश्वासने द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

वैशम्पायन बोले— इतना कह कर वीर लोग श्रीकृष्ण की ओर मुख करके बैठ गये। उनके बीच में महाबाहु श्रीकृष्ण इस प्रकार कहने लगे—॥ १३५॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्व में द्रौपदी के आश्वासन का बारहवां अध्याय पूरा हुआ।



तेरहवां अध्याय

वासुदेव उवाच—

नैतत् कृच्छ्रमनुप्राप्तो भवान् स्याद्वसुधाधिप ।
यद्यहं द्वारकायां स्यां राजन् सन्निहितः पुरा ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण बोले—हे युधिष्ठिर ! यदि मैं उस समय द्वारका में होता, तो तुम इस विपत्ति में कभी नहीं फंसते ॥ १ ॥

आगच्छेयमहं द्यूतमनाहूतोऽपि कौरवैः ।
आम्बिकेयेन दुर्द्धर्ष राज्ञा दुर्योधनेन च ॥ २ ॥

हे महावीर ! मैं उस द्यूत में कौरव, धृतराष्ट्र और राजा दुर्योधन के नहीं बुलाने पर भी अवश्य आता ॥ २ ॥

वारयेयमहं द्यूतं बहून दोषान् प्रदर्शयन् ।
भीष्मद्रोणौ समानाय्य कृपं बाह्लीकमेव च ॥ ३ ॥

मैं अनेक दोषों को दिखाकर और भीष्म, द्रोण, कृप और बाल्हीक को बुला कर इस जुआ को ही रोक देता ॥ ३ ॥

वैचित्रवीर्य्यं राजानमलं द्यूतेन कौरव ।
पुत्राणां तव राजेन्द्र त्वन्निमित्तमिति प्रभो ॥ ४ ॥

विचित्रवीर्य के पुत्र राजा धृतराष्ट्र से कहता—हे कौरव ! जुआ को रहने दो, जो तेरे पुत्रों में तेरी आज्ञा से होने वाला है ॥४॥

तत्राचक्षमहं दोषान् यैर्भवान् व्यतिरोपितः ।
वीरसेनसुतो यैस्तु राज्यात् प्रभ्रंशितः पुरा ॥ ५ ॥

जिन कारणों से तुमको जुआ मे लगाया, मैं उनको ही दोष रूप से दिखा देता। इस जुआ ने पूर्वकाल मे वीरसेन के पुत्र नल को भी राज्य से नष्ट कर दिया था ॥ ५ ॥

अतर्कितविनाशश्च देवनेन विशाम्पते।
सातत्यञ्च प्रसङ्गस्य वर्णयेयं यथातथम् ॥ ६ ॥

हे विशाम्पते! इस जुआ के खेलने से बहुत अधिक विनाश की सम्भावना है। मैं इस द्यूत के लगातार खेलने के दोषों को ठीक २ बताता हूँ ॥ ६ ॥

स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमेतत् कामसमुत्थितम्।
दुःखं चतुष्टयं प्रोक्तं यैर्नरो भ्रश्यते श्रियः ॥७॥

व्यभिचार, जुआ, शिकार और सुरापान ये वासना से उत्पन्न होते हैं। ये चारों दुःखद हैं, जिनसे मनुष्य ऐश्वर्य से नष्ट होता है ॥७॥

तत्र सर्वत्र वक्तव्यं मन्यन्ते शास्त्रकोविदाः।
विशेषतश्च वक्तव्यं द्यूते पश्यन्ति तद्विदः ॥ ८ ॥

इन चारों के ही निषेध में शास्त्रों के ज्ञाता कथन करते रहते हैं, परन्तु जुआ को तो विद्वान् बड़ा ही दोष मानते हैं ॥८॥

एकाहाद् द्रव्यनाशोऽत्र ध्रुवं व्यसनमेव च।
अभुक्तनाशश्चार्थानां वाक्पारुष्यञ्च केवलम् ॥ ९ ॥

इसमें एक ही दिन में सारे धन का नाश हो जाता है। जब धन का नाश हो गया, तो विपत्ति अवश्य आती है। धर्म, अर्थ और काम का बिना भोग ही नाश होता है और केवल वाणी की कठोरता ही प्राप्त होती है ॥ ९ ॥

एतच्चान्यच्च कौरव्य प्रसङ्गिकटुकोदयम् ।
द्यूते ब्रूयां महाबाहो समासाद्याम्बिकासुतम् ॥१० ॥

हे कौरव्य ! यह तथा इसी प्रकार की अन्य बुरी बातें इस जुए के खेलने से उत्पन्न होती हैं । महाबाहो ! मैं अम्बिका सुत धृतराष्ट्र के पास जाकर यह अवश्य कहता ॥ १० ॥

एवमुक्तो यदि मया गृह्णीयाद्वचनं मम ।
अनामयं स्याद्धर्मश्च कुरूणां कुरुवर्द्धन ॥ ११ ॥

हे कुरुवर्द्धन ! मेरे इतना कहने पर यदि धृतराष्ट्र मेरे वचन को मान लेता, तो धर्म की रक्षा और कौरवों का कल्याण हो जाता ११ ॥

न चेत् स मम राजेन्द्र गृह्णीयान्मधुरं वचः ।
पथ्यञ्च भरतश्रेष्ठ निगृह्णीयां बलेन तम् ॥१२॥

हे राजेन्द्र ! यदि वह मेरे इस मधुर और हितकारी वचन को नहीं मानता, तो मैं बल पूर्वक उसको रोक देता ॥ १२ ॥

अथैनमपनीतेन सुहृदो नाम दुर्हृदः ।
सभासदोऽनुवर्त्तेरंस्तांश्च हन्यां दुरोदरान् ॥१३॥

यदि अन्याय से दुरात्मा, उसके मित्र और कोई सभासद् उसका साथ देते, तो मैं उन छली जुआरियों को भी मारे विना नहीं छोड़ता ॥ १३ ॥

असान्निध्यन्तु कौरव्य ममानर्त्तेष्वभूत्तदा ।
येनेदं व्यसनं प्राप्ता भवन्तो द्यूतकारितम् ॥१४॥

हे कौरव्य ! उस समय मैं आनर्त देश में नहीं था, इससे ही तुमको यह जुए द्वारा उत्पन्न हुई आपत्ति प्राप्त हुई है ॥ १४ ॥

सोऽहमेत्य कुरुश्रेष्ठ द्वारकां पांडुनन्दन ।
अश्रौषं त्वां व्यसनिनं युयुधानाद्यथायथम् ॥ १५ ॥

हे कुरुवंश-श्रेष्ठ, पाण्डुनन्दन ! जब मैं लौट कर द्वारका में आया, तो युयुधान से ये तुम्हारी सारी विपत्ति की कथा सुनी ।१५

श्रुत्वैव चाहं राजेन्द्र परमोद्विग्नमानसः ।
तूर्णमभ्यागतोऽस्मि त्वां द्रष्टु कामो विशाम्पते ॥१६॥

हे राजेन्द्र ! इस कथा के सुनते ही मेरा मन बड़ा उद्विग्न हुआ, जिससे शीघ्र तुमसे मिलने के लिए यहां आया हूँ ॥ १६ ॥

अहो कृच्छ्रमनुप्राप्ताः सर्वे स्म भरतर्षभ ।
योऽहं त्वां व्यसने मग्नं पश्यामि सह सोदरैः ॥१७॥

इति म० वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि वासुदेववाक्ये त्रयोदशोऽध्यायः ।

हे भरतर्षभ ! आज हम सब को बड़ा ही क्लेश हो रहा है । जो तुमको भाइयों के साथ इस आपत्ति मे फंसे देख रहे हैं ॥१७

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्व में वासुदेव वाक्य का तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ।



चौदहवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

असान्निध्यं कथं कृष्ण तवासीद् वृष्णिनन्दन ।
क्व चासीद्विप्रवासस्ते किञ्चाकार्षीः प्रवासतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे कृष्ण! उस समय द्वारका में तुम्हारी स्थिति क्यों नहीं थी, कहा गए थे तथा इस प्रवास मे तुमने क्या २ किया ॥ १ ॥

कृष्ण उवाच—

शाल्वस्य नगरं सौभं गतोऽहं भरतर्षभ ।
निहन्तुं कौरवश्रेष्ठ तत्र मे शृणु कारणम् ॥२॥

कृष्ण कहने लगे—हे भरतर्षभ! मैं शाल्व के शोभनगर को नष्ट करने गया था, तू उसका कारण सुन ॥ २ ॥

महातेजा महाबाहुर्यः स राजा महायशाः ।
दमघोषात्मजो वीरः शिशुपालो मया हतः ॥ ३ ॥

बड़ा तेजस्वी, महायशस्वी और अत्यन्त बलवान् दमघोष का पुत्र, वीर, राजा शिशुपाल मैंने तुम्हारे यज्ञ मे मारा था ॥३॥

यज्ञे ते भरतश्रेष्ठ राजसूयेऽर्हणां प्रति ।
स रोषवशमापन्नो नामृष्यत दुरात्मवान् ॥ ४ ॥

हे भरत श्रेष्ठ! यह दुरात्मा शिशुपाल तुम्हारे राजसूय यज्ञ में क्रोध के वश मे होकर मेरी पूजा को सहन नहीं कर सका था ॥ ४ ॥

श्रुत्वा तं निहतं शाल्वस्ती त्ररोपसमन्वितः ।
उपायाद्द्वारकां शून्यामिहस्थे मयि भारत ॥ ५ ॥

हे भारत ! शाल्व, शिशुपाल को मरा हुआ सुनकर तीव्र रोष से भरा हुआ शून्य द्वारका पर चढ़ आया। उस समय मैं यहीं तुम्हारे पास था ॥ ५ ॥

स तत्र योधितो राजन् कुमारैर्वृष्णिपुङ्गवैः ।
आगतः कामगं सौभमाहत्यैव नृशंसवत् ॥ ६ ॥

हे राजन्! वहां उसने वृष्णिकुमारों से युद्ध किया। यह निर्दयी की भांति कामना के अनुसार उड़ने वाले सौभनगर को लेकर वहां आया ॥ ६ ॥

ततो वृष्णिप्रवीरांस्तान् बालान् हत्वा बहूंस्तदा ।
पुरोद्यानानि सर्वाणि भेदयामासदुर्मतिः ॥ ७ ॥

इसके बाद उस दुष्ट ने अनेक वृष्णि वंश के वीरों को मार कर नगर और बगीचों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया ॥ ७ ॥

उक्तवांश्च महाबाहो क्वासौ वृष्णिकुलाधमः ।
वासुदेवः स मन्दात्मा वसुदेवसुतो गतः ॥ ८ ॥

हे महाबाहो! वह पुकार २ कर कहने लगा—कि वह मूर्ख वृष्णि कुलका कलङ्क, वसुदेव का पुत्र कृष्ण, कहां गया है ॥८॥

तस्य युद्धार्थिनो दर्पं युद्धे नाशयितास्म्यहम् ।
आनर्त्ताः सत्यमाख्यात तत्र गन्तास्मि यत्र सः ॥९॥

उस लड़ाकू का घमण्ड मैं आज चूर २ करूंगा। हे आनर्त देशवासियों! तुम सत्य कहो, वह कहां है, मैं वहीं जाऊंगा ॥९॥

तं हत्वा विनिवर्तिष्ये कंसकेशिनिसूदनम् ।
अहत्वा न निवर्त्तिष्ये सत्येनायुधमालभे ॥१०॥

उस कंस और केशी के मारने वाले कृष्ण को मैं मारकर ही लौटूंगा। उसको बिना मारे मैं नहीं लौटूंगा यह मैं शस्त्र छूकर सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ ॥ १० ॥

क्वासौ क्वासाविति पुनस्तत्र तत्र प्रधावति ।
मया किल रणे योद्धुं कांक्षमाणः स सौभराट् ॥११॥

वह सौभनगर का राजा, मेरे साथ युद्ध करने की इच्छा से "कृष्ण कहां है, कृष्ण कहां है" यह कह कर रणभूमि मे घूमने लगा ॥ ११ ॥

अद्य तं पापकर्माणं क्षुद्रं विश्वासघातिनम् ।
शिशुपालवधामर्षाद्गमयिष्ये यमक्षयम् ॥ १२ ॥

आज उस पापी, विश्वासघाती, नीच कृष्ण को शिशुपाल के मारने के क्रोध के कारण यमराज का अतिथि बनाऊंगा ॥१२॥

मम पापस्वभावेन भ्राता येन निपातितः ।
शिशुपालो महीपालस्तं वधिष्ये महीतले ॥ १३ ॥

जिस पाप स्वभाव वाले कृष्ण ने मेरे भाई राजा शिशुपाल को मारा है, उसको मैं अवश्य मारूंगा, चाहे वह पृथ्वी पर कहीं होवे ॥ १३ ॥

भ्राता बालश्च राजा च न च संग्राममूर्द्धनि ।
प्रमत्तश्च हतो वीरस्तं हनिष्ये जनार्दनम् ॥ १४ ॥

मेरे वे सखर बालक भाई, वीर राजा शिशुपाल को जिस कृष्ण ने बिना युद्धभूमि के धोखे से मारा है, उसे मैं अवश्य मारूंगा १४

एवमादि महाराज विलप्य दिवमास्थितः ।
कामगेन स सौभेन क्षिप्त्वा मां कुरुनन्दन ॥ १५ ॥

हे कुरुनन्दन ! महाराज ! इसप्रकार बक कर और मुझे दुर्वचन कह कर वह शाल्व, इच्छानुसार गमन करने वाले सौभनगर से आकाश में उड़ गया ॥ १५ ॥

तमश्रौषमहं गत्वा यथावृत्तः स दुर्मतिः ।
मयि कौरव्य दुष्टात्मा मार्त्तिकावतको नृपः ॥ १६ ॥

हे कौरव्य ! वहां पहुंचकर मैंने यह सारा वृत्तान्त सुना । वह मार्तिकावतक देश का राजा दुष्ट शाल्व, मुझमें इसप्रकार दुष्टभाव प्रकट कर लौट गया था ॥ १६ ॥

ततोऽहमपि कौरव्य रोषव्याकुलमानसः ।
निश्चित्य मनसा राजन् वधायास्य मनो दधे ॥ १७ ॥
आनर्त्तेषु विमर्दञ्च क्षेपश्चात्मनि कौरव ।
प्रवृद्धमवलेपञ्च तस्य दुष्कृतकर्मणः ॥ १८ ॥

हे कौरव्य ! इसके अनन्तर मेरा मन भी रोष से व्याकुल हो गया । फिर अपने मनमें निश्चय करके तथा आनर्त्त देश की मारकाट, अपना अपमान, उस दुष्ट का बढ़ा हुआ घमण्ड जान कर इसके मारने का मन में विचार किया ॥ १७-१८ ॥

ततः सौभवधायाहं प्रतस्थे पृथिवीपते ।
स मया सागरावर्त्ते दृष्ट आसीत् परीप्सता ॥ १६ ॥

हे पृथ्वी पते ! मैं सौभपति शाल्व को मारने के लिये चल दिया और खोजते २ उसको मैंने समुद्र के द्वीप में पाया ॥१६॥

ततः प्रध्माप्य जलजं पाञ्चजन्य महं नृप ।
आहूय शाल्वं समरे युद्धाय समवस्थितः ॥ २० ॥

हे नृप मैंने ! तब पाञ्चजन्य नामक शंख बजाया और शाल्व को युद्ध के लिए आह्वान करके मैं रणभूमि में खड़ा हो गया ॥ २० ॥

तन्मुहूर्तमभूद्युद्धं तत्र मे दानवैः सह ।
वशीभूताश्च मे सर्वे भूतले च निपातिताः ॥ २१ ॥

वहां उन दुष्टों से थोड़ी देर तक मेरा युद्ध हुआ, वे सब मेरे वश में हो गए और कुछ धराशायी हुए ॥ २१ ॥

एतत् कार्य्यं महाबाहो येनाहं नागमं तदा ।
श्रुत्वैव हास्तिनपुरं द्यूतञ्चाविनयोत्थितम् ।
द्रुतमागतवान् युष्मान् द्रष्टु कामः सुदुःखितान् ॥ २२ ॥

इति म० आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने चतुर्दशोऽध्यायः

हे महाबाहो ! यही कार्य था, जिससे मैं जुआ के समय हस्तिनापुर में नहीं था । इस प्रकार अन्याय से खेले हुए जुए को सुनकर तुम दुःखियों से मिलने के लिए मैं हस्तिनापुर आया हूँ ।२२

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्व में सौभ वध उपाख्यान का चौदहवां अध्याय पूरा हुआ ।



पन्द्रहवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

वासुदेव महाबाहो विस्तरेण महामते ।
सौभस्य वधमाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथ्यतः ॥१॥

युधिष्ठिर बोले—हे महामते, महाबाहो, कृष्ण ! मुझसे सौभ का वध विस्तार के साथ कहो, मैं सुनता हुआ तृप्त नहीं होता हूँ ।१

वासुदेव उवाच—

हतं श्रुत्वा महाबाहो मया श्रौतश्रवं नृप ।
उपायाद्भरतश्रेष्ठ शाल्वो द्वारवतीं पुरीम् ॥२॥

वासुदेव बोले—हे महाबाहो, भरतवंश श्रेष्ठ, राजन् ! मुझसे श्रुतश्रवा के पुत्र शिशुपाल के मारे जाने का समाचार सुन कर राजा शाल्व द्वारकापुरी पर चढ़ आया ॥ २ ॥

अरुन्धत्तां सुदुष्टात्मा सर्वतः पाण्डुनन्दन ।
शाल्वो वैहायसश्चापि तत् पुरं व्यूह्य धिष्ठितः ॥३॥

हे पाण्डुनन्दन ! उस दुष्टात्मा शाल्व ने सब ओर से पुरी को घेर लिया और वह अपने आकाशचारी पुर का व्यूह बना कर खड़ा हो गया ॥ ३ ॥

तत्रस्थोऽथ महीपालो योधयामास तां पुरीम् ।
अभिसारेण सर्वेण तत्र युद्धमवर्त्तत ॥४॥

आकाश में स्थित होकर इस महीपाल शाल्व ने उस पुरी पर बाणों की चारों ओर से झड़ी सी लगा दी। इस प्रकार इस युद्ध का आरम्भ हुआ ॥ ४ ॥

पुरी समन्ताद्विहिता सपताका सतोरणा ।
सचक्रा सहुड़ा चैव सयन्त्रखनका तथा ॥५॥

यह पुरी सब ओर से पताका और तोरणों से सजी हुई, सैनिक और प्राकारों (बुर्ज) से सुशोभित, यन्त्रों (मशीनों) से युक्त, सुरङ्ग बनाने वालों से भूषित थी ॥ ५ ॥

सोपशल्यप्रतोलीका साट्टाट्टालकगोपुरा ।
सचक्रग्रहणी चैव सोल्कालातावपोथिका ॥६॥

इसके गलियों के मार्गों में कीलें गड़ी हुई थी और इसमें अन्न से भरी हुई अटारी और द्वार देश थे। इसमें शत्रु की सेना के रोकने के मोर्चे बने हुए थे और प्रज्वलित अग्नि के अलात चक्र तथा यन्त्रों में पत्थर के गोले रखे हुए थे ॥ ६ ॥

सोष्ट्रिका भरतश्रेष्ठ सभेरीपणवानका ।
सतोमराङ्कुशा राजन् सशतघ्नीकलाङ्गला ॥७॥

हे भरतवंश-श्रेष्ठ ! यह पुरी ऊंट की चर्म के बने पात्र, भेरी, पणव, आनक आदि बाजों से सहित, तोमर और अंकुशों से सजी हुई और तोप तथा लाङ्गल (हल) से युक्त थी ॥ ७ ॥

सभुशुण्डयश्मगुड़का सायुधा सपरश्वधा ।
लोहचर्मवती चापि साग्निः सगुडशृङ्गिका ॥८॥

कङ्कड़ और पत्थर के गोलों से नादित, आयुध और परशु (फरसों) से समन्वित, लोह और चमड़े की ढालों से युक्त, आग सहित गोले फेंकने वाली तोपों से अलंकृत थी ॥ ८ ॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना संयुक्ता भरतर्षभ ।
रथैरनेकैर्विविधैर्गदसाम्बोद्धवादिभिः ॥९॥
पुरुषैः कुरुशार्दूल समर्थैः प्रतिवारणे ।
अभिख्यातकुलैर्वीरैर्दृष्टवीर्यैश्च संयुगे ॥१०॥

हे भरतर्षभ! यह शास्त्र की विधि के अनुसार रची गई थी और नाना प्रकार के अनेक रथ तथा गद, साम्ब और उद्धव आदि प्रतिवारण (मुकाबिला) करने में समर्थ, प्रसिद्ध कुल वाले, वीर पराक्रमी पुरुषों से भरी हुई थी ॥ ९-१० ॥

मध्यमेन च गुल्मेन रक्षिता सा सुरक्षिता ।
उत्क्षिप्तगुल्मैश्च तथा हयैश्च सपताकिभिः ॥११॥

बीच के गुल्म (चारों ओर प्रहार करने का स्थान) और रक्षकों से यह पुरी सुरक्षित थी। अन्त के गुल्म स्थानों को छिन्न-भिन्न कर देने वाले गुल्म तथा ध्वजा वाले हयों से भूषित थी ।११

आघोषितं च नगरे न पातव्या सुरेति वै ।
प्रमादं परिरक्षद्भिरुग्रसेनोद्धवादिभिः ॥१२॥

प्रमाद से रक्षा करने वाले उग्रसेन और उद्धव आदि ने घोषणा कर रखी थी कि नगर में कोई सुरा पान नहीं करना ॥ १२ ॥

प्रमत्तेष्वभिघातं हि कुर्य्याच्छाल्वो नराधिपः ।
इति कृत्वा प्रमत्तास्ते सर्वे वृष्ण्यन्धकाः स्थिताः ॥१३॥

यदि वृष्णि प्रमत्त होंगे, तो यह राजा शाल्व प्रहार कर पावेगा इसीलिए सारे वृष्णि और अन्धक सावधान हो रहे थे ॥ १३ ॥

आनर्त्ताश्च तथा सर्वे नटनर्त्तकगायनाः ।
बहिर्निर्वासिताः क्षिप्रं रक्षद्भिर्वित्तसञ्चयम् ॥१४॥

धन के समूह की रक्षा करने वाले, यादवों ने आनर्त देश के नट, नतक और गाने वालों को देश से निकाल दिया था ॥१४॥

संक्रमा भेदिताः सर्वे नावश्च प्रतिषेधिताः ।
परिखाश्चापि कौरव्य कीलैः सुनिचिताः कृताः ॥१५॥

सारे पुल तोड़ दिये गये और नावों का निषेध कर दिया गया। हे कौरव! सारी खाइयां भी कीलें गाड़ कर दुर्गम बना दी।

उदपानाः कुरुश्रेष्ठ तथैवाप्यम्बरीपकाः ।
समन्तात् कोशमात्रञ्च कारिता विषमा च भूः ॥१६॥

इस द्वारका के चारों ओर कोश भर तक वृष्णि वीरों ने कुए खोद डाले और सुरङ्गों में गुप्त अग्नि प्रज्वलित कर दी, जिससे सारी भूमि विषम हो गई ॥ १६ ॥

प्रकृत्या विषमं दुर्गं प्रकृत्या च सुरक्षितम् ।
प्रकृत्या चायुधोपेतं विशेषेण तदानघ ॥१७॥

हे अनघ! यह द्वारका का दुर्ग स्वभाव से विषम और सुरक्षित है और सदा विशेष २ शस्त्रों से सुरक्षित रहता है ॥१७॥

सुरक्षितं सुगुप्तञ्च सर्वायुधसमन्वितम् ।
तत् पुरं भरतश्रेष्ठ यथेन्द्रभवनं तथा ॥१८॥

हे भरतश्रेष्ठ ! इन्द्रभवन के समान सुरक्षित, उत्तम रीति से पालित और शस्त्रों से सुमण्डित यह नगर था ॥ १८ ॥

न चामुद्रोऽभिनिर्याति न चामुद्रः प्रवेश्यते ।
वृष्ण्यन्धकपुरे राजंस्तदा सौभसमागमे ॥१९॥

हे राजन् ! सौभ के चढ़ाई के समय इस वृष्णि और अन्धकों के पुर मे कोई भी मुहर लगे पत्र के विना न तो निकल सकता था और न भीतर ही घुस सकता था ॥ १९ ॥

अनुरथ्यासु सर्वासु चत्वरेषु च कौरव ।
बलं बभूव राजेन्द्र प्रभूतगजवाजिमत् ॥२०॥

हे कौरव ! सारे बाजार और चौराहों पर हाथी, घोड़ों से सजी हुई सेना के पड़ाव पड़े रहते थे ॥ २० ॥

दत्तवेतनभक्तञ्च दत्तायुधपरिच्छदम् ।
कृतोपधानञ्च तदा बलमासीन्महाभुज ॥२१॥

हे महाभुज ! सारी सेना को तनखा और भत्ता (रासन) बांटा जा चुका था। शस्त्र और वस्त्र भी दे दिये गये थे। उस समय सेना विशेष रूप से सजी हुई तय्यार रहती थी ॥ २१ ॥

न कुप्यवेतनी कश्चिन्न चातिक्रान्तवेतनी ।
नानुग्रहभृतः कश्चिन्न चादृष्टपराक्रमः ॥२२॥

उस सेना में न तो कोई थोड़ी तनख्वाह का सैनिक था और न किसी की तनख्वाह चढ़ी हुई थी, न कोई नया नौकर था और न कोई ऐसा वीर था, जिसका पराक्रम पहले देख न लिया गया ॥ २२ ॥

एवं सुविदिता राजन् द्वारका भूरिदक्षिणा ।
आहुकेन सुगुप्ता च राज्ञा राजीवलोचन ॥२३॥

इति म० आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

हे कमल लोचन ! बड़े भारी व्यय के साथ इस तरह प्रसिद्ध द्वारकापुरी राजा आहुक से सुरक्षित थी ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत आरण्यक पर्व में सौभ वधोपाख्यान का पन्द्रहवां अध्याय पूरा हुआ ।



सोलहवां अध्याय

कृष्ण उवाच—

तां तूपयातो राजेन्द्र शाल्वः सौभपतिस्तदा ।
प्रभूतनरनागेन बलेनोपविवेश ह ॥ १ ॥

कृष्ण बोले—हे राजेन्द्र ! इस द्वारका नगरी पर बहुत से हाथी और मनुष्यों की सेना के साथ सौभ-पति शाल्व चढ़ आया ॥१॥

समे निविष्टा सा सेना प्रभूतसलिलाशये ।
चतुरङ्गबलोपेता शाल्वराजाभिपालिता ॥ २ ॥

बहुत जल भरे हुए तालाबों के पास समप्रदेश में शाल्व से पालित चतुरङ्गिणी सेना ने अपना पड़ाव डाला ॥ २ ॥

वर्जयित्वा श्मशानानि देवतायतनानि च ।
वल्मीकांश्चैत्यवृक्षांश्च तन्निविष्टमभूद्बलम् ॥३॥

श्मशान, देव-मन्दिर, वल्मीक प्रदेश और चैत्य वृक्षों (देवों के बगीचों) को छोड़ कर सब स्थानों पर यह विशाल सेना छा गई ॥ ३ ॥

अनीकानां विभागेन पन्थानः संवृता भवन् ।
प्रावणानि च नैवासन् शाल्वस्य शिविरे नृप ॥४॥

हे नृप ! सेना के विभाग से सारे मार्ग रुक गये । इस शाल्व के शिविर (पड़ाव) में छुप कर जाने को भी कोई मार्ग नहीं रह गया था ॥ ४ ॥

सर्वायुधसमोपेतं सर्वशस्त्रविशारदम् ।
रथनागाश्वकलिलं पदातिध्वजसंकुलम् ॥५॥
तुष्टपुष्टबलोपेतं वीरलक्षणलक्षितम् ।
विचित्रध्वजसन्नाहं विचित्ररथकार्मुकम् ॥६॥
सन्निवेश्य च कौरव्य द्वारकायां नरर्षभ ।
अभिसारयामास तदा वेगेन पतगेन्द्रवत् ॥७॥

यह सेना सारे शस्त्रों से भरी हुई थी । इसमें शस्त्र विद्या के जानने वाले सैनिक थे । यह हाथी और घोड़ों से व्याप्त, पैदल और ध्वजाओं से परिपूर्ण, वीर लक्षणों वाले वीरों से सुमण्डित,

अद्भुत ध्वजा और कवचधारी योद्धाओं से युक्त, प्रसन्न और पुष्ट सैनिकों वाली, अद्भुत २ रथ और धनुष-धारी वीरों से सुशोभित थी। हे नरर्षभ! इस सेना को द्वारका के समीप डाल कर शाल्वराज गरुड़ के समान वेग से इस पर वाणों की वर्षा करने लगा॥ ५-७॥

तदापतन्तं संदृश्य बलं शाल्वपतेस्तदा ।
निर्याय योधयामासुः कुमारा वृष्णिनन्दनाः ॥८॥

शाल्व-पति की इस सेना को देखकर वृष्णिवंश के वीर निकले और युद्ध करने लगे॥ ८॥

असहन्तोऽभियानं तत् शाल्वराजस्य कौरव ।
चारुदेष्णश्च साम्बश्च प्रद्युम्नश्च महारथः॥९॥
ते रथैर्दंशिताः सर्वे विचित्राभरणध्वजाः ।
संसक्ताः शाल्वराजस्य बहुभिर्योधपुङ्गवैः ॥१०॥

हे कौरव! शाल्वराज की इस चढ़ाई को चारुदेष्ण, साम्ब और प्रद्युम्न सहन नहीं कर सके। वे रथों से सज कर और विचित्र२ आभूषण और ध्वजा धारण करके शाल्वराज के अनेक श्रेष्ठ २ योद्धाओं से भिड़ गये॥ ९-१०॥

गृहीत्वा कार्मुकं साम्बः शाल्वस्य सचिवं रणे ।
योधयामास संहृष्टः क्षेमवृद्धिश्चमूपतिम् ॥११॥

साम्बधनुष लेकर रणभूमि में शाल्व के मन्त्री और क्षेमवृद्धि सेनापति से युद्ध करने लगा॥ ११॥

तस्य बाणमयं वर्षं जाम्बवत्याः सुतो महत् ।
मुमच भरतश्रेष्ठ यथा वर्षं सहस्रदृक् ॥१२॥

हे भरत श्रेष्ठ ! जाम्बवती के पुत्र साम्ब ने इन्द्र की वर्षा के सदृश उन पर बाणों की झड़ी लगा दी ॥ १२ ॥

तद्बाणवर्षं तुमुलं विषेहे स चमूपतिः ।
क्षेमवृद्धिर्महाराज हिमवानिव निश्चलः ॥१३॥

हे महाराज ! हिमालय के सदृश निश्चल उस क्षेमवृद्धि सेनापति ने उस सारी बाणों की वर्षा को सह लिया ॥ १३॥

ततः साम्बाय राजेन्द्र क्षेमवृद्धिरपि स्वयम् ।
मुमोच मायाविहितं शरजालं महत्तरम् ॥१४॥

हे राजेन्द्र ! अब क्षेमवृद्धि ने भी माया से बहुत से शर समूह को छोड़ा ॥ १४ ॥

ततो मायामयं जालं माययैव विदीर्य सः ।
साम्बः शरसहस्रेण रथमस्याभ्यवर्षत ॥१५॥

साम्ब ने इसके माया-मय शर समूह की वर्षा को माया से ही बाण वर्षा कर छिन्न-भिन्न कर दिया और उसके रथ पर बाणों की झड़ी लगाई ॥ १५ ॥

ततः स विद्धः साम्बेन क्षेमवृद्धिश्चमूपतिः ।
अपायाज्जवनैरश्वैः साम्बबाणप्रपीडितः ॥१६॥

अब साम्ब के बाणों से बिंधा हुआ और पीड़ित, क्षेमवृद्धि सेनापति वेग वाले अश्वों से भाग निकला ॥ १६ ॥

तस्मिन् विप्रद्रुते क्रूरे शाल्वस्याथ चमूपतौ ।
वेगवान्नाम दैतेयः सुतं मेऽभ्यद्रवद्‌बली ॥१७॥

इस शाल्व के सेनापति के भाग जाने पर मेरे पुत्र साम्ब पर वेगवान् नामक कोई बली दैत्य वेग से झपटा ॥ १७ ॥

अभिपन्नस्तु राजेन्द्र साम्बो वृष्णिकुलोद्वहः ।
वेगंवेगवतो राजंस्तस्थौ वीरो विधारयन् ॥१८॥

हे राजेन्द्र ! इसने वृष्णि कुल के नेता साम्ब को सामने से रोका । हे राजन् ! इस वेगवान् के वेग को भी वीर साम्ब ने सहन किया ॥ १८ ॥

स वेगवति कौन्तेय साम्बो वेगवतीं गदाम् ।
चिक्षेप तरसा वीरो व्याविध्य सत्यविक्रमः ॥१९॥

हे कुन्ती पुत्र ! इस वीर सत्यपराक्रमी साम्ब ने वेगवती गदा को घुमा कर उस वेगवान् दैत्य पर वेग से फेंकी ॥ १९ ॥

तया त्वभिहतो राजन् वेगवान् न्यपतद्भुवि ।
वातरुग्णा इव क्षुण्णो जीर्णमूलो वनस्पतिः ॥२०॥

हे राजन्! इस गदा की चोट से वेगवान् दैत्य, वायु से जीर्ण-मूल वाले वृक्ष की भांति नष्ट होकर पृथिवी पर गिर गया ॥२०॥

तस्मिन् विनिहते वीरे गदानुन्ने महासुरे ।
प्रविश्य महतीं सेनां योधयामास मे सुतः ॥२१॥

गदा की चोट से उस महा असुर के मारे जाने पर बड़ी भारी सेना में घुस कर साम्ब, युद्ध करने लगा ॥ २१ ॥

चारुदेष्णेन संसक्तो विविन्ध्यो नाम दानवः ।
महारथः समाज्ञातो महाराज महाधनुः ॥२२॥

हे महाराज ! चारुदेष्ण से विविन्ध्य नाम का दानव युद्ध कर रहा था। यह दानव महारथी और बड़े भारी धनुष को धारण किये हुए था ॥ २२ ॥

ततः सुतुमुलं युद्धं चारुदेष्णविविन्ध्ययोः ।
वृत्रवासवयो राजन् यथा पूर्वं तथाभवत् ॥२३॥

हे राजन्! चारुदेष्ण और विविन्ध्य नामक दानव का युद्ध भी वैसा ही घोर युद्ध हुआ, जैसा कभी वृत्रासुर और इन्द्र का हुआ था २३ ॥

अन्योऽन्यस्याभिसंक्रुद्धावन्योऽन्यं जघ्नतुः शरैः ।
विनदन्तौ महारावान् सिंहाविव महाबलौ ॥२४॥

ये दोनों वीर एक दूसरे को बाणों से मार रहे थे एवं बड़े शक्ति-शाली सिंह के सदृश अत्यन्त गर्जना कर रहे थे ॥ २४ ॥

रौक्मिणेयस्ततो बाणमग्न्यर्कोपमवर्चसम् ।
अभिमन्त्र्य महास्त्रेण सन्दधे शत्रुनाशनम् ॥२५॥

इसके बाद रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न ने अग्नि और सूर्य के सदृश देदीप्यमान बाण को मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके बड़े भारी धनुष पर चढ़ाया ॥ २५ ॥

तं विविन्ध्याय सक्रोधः समाहूय महारथः ।
चिक्षेप मे सुतो राजन् स गतासुरथापतत् ॥२६॥

हे राजन्! मेरे पुत्र महारथी प्रद्युम्न ने विविन्ध्य को ललकार कर क्रोध-पूर्वक उस पर बाण छोड़ा, जिससे वह मृत्यु पाकर भूमि पर गिर पड़ा ॥ २६ ॥

विविन्ध्यं निहतं दृष्ट्वा ताश्च विक्षोभितां चमूम् ।
कामगेन स सौभेन शाल्वः पुनरुपागमत् ॥२७॥

विविन्ध्य को मरा हुआ और उसकी सेना को घबराई हुई देखकर कामना के अनुसार गमन करने वाले अपने सौभ नगर (विमान) से शाल्व इधर को आया ॥ २७ ॥

ततो व्याकुलितं सर्वं द्वारकावासि तद्बलम् ।
दृष्ट्वा शाल्वं महाबाहो सौभस्थं नृपते तदा ॥२८॥

हे महाबाहो, राजन्! इस तरह सौभ नगर (विमान) में बैठे हुए शाल्व को देखकर सारी द्वारका की सेना बड़ी व्याकुल हुई २८

ततो निर्याय कौरव्य अवस्थाप्य च तद्बलम् ।
आनर्त्तानां महाराज प्रद्युम्नो वाक्यमब्रवीत् ॥२९॥

हे महाराज! सेना से बाहर निकल कर प्रद्युम्न ने आनर्तों की सेना को बड़े साहस से वहीं रोक कर कहा—॥ २९ ॥

सर्वे भवन्तस्तिष्ठन्तु सर्वे पश्यन्तु मां युधि ।
निवारयन्तं संग्रामे बलात् सौभं सराजकम् ॥३०॥

मैं संग्राम में राजाओं के सहित सौभ पति को बल-पूर्वक दूर हटाता हूँ। तुम सब मेरे इस कर्म को इस युद्ध में ठहर कर देखो॥ ३० ॥

अयं सौभपते सेनामायसैर्भुजगैरिव ।
धनुर्भुजनिनिर्मुक्तैर्नाशयाम्यद्य यादवाः ॥३१॥

हे यादवों ! मैं अभी सर्पों के समान, बाके धनुष से छोड़े हुए, बाणों से, इस शाल्व की सेना का नाश किये देता हूँ ॥३१॥

आश्वसध्वं न भीः कार्य्या सौभराडद्य नश्यति ।
मयाभिपन्नो दुष्टात्मा ससौभो विनशिष्यति ॥३२॥

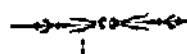
शान्ति ग्रहण करो, डरो मत, सौभराज अभी नष्ट हुआ जाता है। मुझ से युद्ध करके यह दुष्ट अपने सौभनगर के साथ नष्ट होगा॥ ३२ ॥

एवं ब्रुवति संहृष्टे प्रद्युम्ने पाण्डुनन्दन ।
धिष्ठितं तद्बलं वीर युयुधे च यथासुखम् ॥३३॥

इति श्री महाभा० आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि
सौभवधोपाख्याने षोडशोऽध्याय ॥ १६ ॥

हे पाण्डुनन्दन ! प्रसन्नता से प्रद्युम्न के इतना कहने पर सारी सेना ज्यों की त्यों खड़ी रह गई और सुख पूर्वक युद्ध करने लगी ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमे
सौभवधके उपाख्यानका सोलहवा अध्याय पूरा हुआ।



सत्रहवां अध्याय

वासुदेव उवाच—

एवमुक्त्वा रौक्मिणेयो यादवान् भरतर्षभ ।
दंशितैर्हरिभिर्युक्तं रथमास्थाय काञ्चनम् ॥ १ ॥
उच्छ्रित्य मकरं केतुं व्यात्ताननमिवान्तकम् ।
उत्पतद्भिरिवाकाशं तैर्हयैरन्वयात् परान् ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण बोले—हे भरतर्षभ ! रुक्मिणीपुत्र, प्रद्युम्न, यादवों से इतना कहकर सब भांति से तय्यार घोड़ों से युक्त रथ में सवार हो गया। इसने मकर चिन्ह से अङ्कित ध्वजा को उठाया, जो खुले मुख वाले काल के समान आकार वाली थी। आकाश में उड़ते हुए से उन्हीं अश्वों से प्रद्युम्न ने शत्रुओं पर आक्रमण किया॥ १-२ ॥

विक्षिपन्नादयंश्चापि धनुः श्रेष्ठं महाबलैः ।
तूणखड्गधरः शूरो बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ॥ ३ ॥
स विद्युच्छुरितश्चापं विहरन् वै तलात्तलम् ।
मोहयामास दैतेयान् सर्वान् सौभनिवासिनः ॥ ४ ॥

तूणीर और खड्गधारी, गोधा के चर्म के अंगुलित्राण पहने हुए, शूरवीर प्रद्युम्न ने शत्रुओं को ललकार देकर धनुश्रेष्ठ को शब्दायमान किया। यह अश्वों के साथ दायें बायें हाथों से बिजली चमकने की भांति धनुष को चमकाने लगा। इस तरह इसने नगर के निवासियों को व्याकुल कर दिया॥ ३-४ ॥

तस्य विक्षिपतश्चापं सन्दधानस्य चासकृत् ।
नान्तरं ददृशे कश्चिन्निघ्नतः शाल्ववाहिनीम् ॥ ५ ॥

प्रद्युम्न के धनुष चलाने और बार २ बाण चढ़ाने में कुछ भी अन्तर दिखाई नहीं देता था। इसने इस तरह रणभूमि में बहुत शत्रुओं को मार २ कर गिरा दिया ॥ ५ ॥

मुखस्य वर्णो न विकल्पतेऽस्य चेलुश्च गात्राणि न चापि तस्य
सिंहोन्नतं चाप्यभिगर्जतोऽस्य शुश्राव लोकोऽद्भुतवीर्यमग्र्यम्

इस समय इसके मुख का रङ्ग कुछ नहीं बदलता था और न शरीर ही इधर उधर होता था। सिंह के समान उन्नत, सर्व-श्रेष्ठ, इस गर्जने वाले प्रद्युम्न के उत्तम पराक्रम को लोगों ने सुना ॥ ६ ॥

जलेचरः काञ्चनयष्टिसंस्थो व्यात्ताननः सर्वतिमिप्रमाथी ।
वित्रासयन्राजति वाहमुख्ये शाल्वस्य सेनाप्रमुखे ध्वजाग्र्यः ७

सोने के दण्ड में लगा हुआ, मुख खोले हुए, सारे जल जन्तुओं में विशाल, मकराकार ध्वजोत्तम, शत्रुओं को भय-भीत करता हुआ, शाल्व की सेना के मुख पर रथ में सुशोभित हो रहा था ॥ ७ ॥

ततस्तूर्णं विनिष्पत्य प्रद्युम्नः शत्रुकर्षणः ।
शाल्वमेवाभिदुद्राव विधित्सुः कलहं नृप ॥ ८ ॥

हे नृप ! इसके बाद शत्रुविजयी; प्रद्युम्न, झपट कर शाल्व से युद्ध करने के लिए उसकी ओर दौड़ा ॥ ८ ॥

अभियानन्तु वीरेण प्रद्युम्नेन महारणे ।
नामर्षयत संक्रुद्धः शाल्वः कुरुकुलोद्वह ॥ ९ ॥

हे कुरुकुलोद्वह ! इस महायुद्ध मे वीर प्रद्युम्न का आक्रमण क्रुद्ध हुए शाल्व से नहीं सहा गया ॥ ९ ॥

स रोषमदमत्तो वै कामगादवरुह्य च ।
प्रद्युम्नं योधयामास शाल्वः परपुरञ्जयः ॥१०॥

शत्रुओं के नगरों का विजयी शाल्व, रोष और अभिमान में लिप्त होकर अपने कामनानुसार गमन करने वाले सौभ विमान से नीचे उतरा और प्रद्युम्न से युद्ध करने लगा ॥ १० ॥

तयोः सुतुमुलं युद्धं शाल्ववृष्णिप्रवीरयोः ।
समेता ददृशुर्लोका बलिवासवयोरिव ॥११॥

वृष्णि प्रवीर प्रद्युम्न और शाल्व के इस युद्ध को बलि और इन्द्र के युद्ध के सदृश, लोग इकट्ठे होकर देखने लगे ॥११॥

तस्य मायामयो वीर रथो हेमपरिष्कृतः ।
सपताकः सध्वजश्च सानुकर्षः स तूणवान् ॥१२॥

हे वीर ! इसका माया-मय रथ, सुवर्ण से निर्मित, ध्वजा पताकाओं से परिपूर्ण, रथ के नीचे के दृढ़काष्ठ से युक्त और तूणीर सहित था ॥ १२ ॥

स तं रथवरं श्रीमान् समारुह्य किल प्रभो ।
मुमोच बाणान् कौरव्य प्रद्युम्नाय महाबल ॥१३॥

हे प्रभो ! यह श्रीमान् महाबली, शाल्व उस रथ पर चढ़कर प्रद्युम्न के ऊपर बाण-वर्षा करने लगा ॥ १३ ॥

ततो बाणमयं वर्षं व्यसृजत्तरसा रणे ।
प्रद्युम्नो भुजवेगेन शाल्वं सम्मोहयन्निव ॥१४॥

अब प्रद्युम्न भी रण में शाल्व को मोहित सा करके भुजाओं के वेग से बड़ी शीघ्रता से बाणों की वर्षा करने लगा ॥ १४ ॥

स तैरभिहतः सङ्ख्ये नामर्षयत सौभराट् ।
शरान्दीप्ताग्निसङ्काशान् मुमोच तनये मम ॥१५॥

सौभराज शाल्व भी उन बाणों से युद्ध में मारे जाने पर कुपित हो उठा और दीप्त अग्नि के सदृश बाणों को मेरे पुत्र प्रद्युम्न पर छोड़ने लगा ॥ १५ ॥

तानापततो बाणौघान् सञ्चिच्छेद महाबलः ।
ततश्चान्यान् शरान् दीप्तान् प्रचिक्षेप सुते मम ॥१६॥

उन बाणों को आता देखकर महाबली प्रद्युम्न ने बीच में ही काट गिराया। उसने प्रद्युम्न पर फिर अन्य प्रदीप्त बाण छोड़े।१६।

स शाल्वबाणै राजेन्द्र विद्धो रुक्मिणिनन्दनः ।
मुमोच बाणं त्वरितो मर्मभेदिनमाहवे ॥१७॥

हे राजेन्द्र ! प्रद्युम्न, शाल्व के बाणों से बिंध गया, परन्तु फिर भी उसने युद्ध में बड़ी शीघ्रता से एक मर्म-भेदी बाण फेंका ॥ १७ ॥

तस्य वर्म विभिद्याशु स बाणो मत्सुतेरितः ।
विव्याध हृदयं पत्री स मुमोह पपात च ॥१८॥

इस प्रद्युम्न के चलाये बाण ने शाल्व का कवच बींधकर हृदय जा बींधा। जिससे वह मूर्छित होकर गिर गया॥ १८॥

तस्मिन्निपतिते वीरे शाल्वराजे विचेतसि।
संप्राद्रवन् दानवेन्द्रा दारयन्तो वसुन्धराम् ॥१९॥

शाल्वराज के अचेत होकर गिर जाने पर सारे दानव, पृथिवी रोंदते हुए भाग निकले॥ १९॥

हाहाकृतमभूत् सैन्यं शाल्वस्य पृथिवीपते।
नष्टसंज्ञे निपतिते तदा सौभपतौ नृपे ॥२०॥

जब मूर्छित होकर सौभराज गिर गया, हे पृथिवी पते! उस समय शाल्व की सेना मे हाहाकार मच गया॥ २०॥

तत उत्थाय कौरव्य प्रतिलभ्य च चेतनाम्।
मुमोच बाणान् सहसा प्रद्युम्नाय महाबलः ॥२१॥

हे कौरव्य! फिर सचेत होकर महाबली सौभराज उठा और प्रद्युम्न पर बाणों की वर्षा करने लगा॥ २१॥

तैः स विद्धो महाबाहुः प्रद्युम्नः समरे स्थितः।
जत्रुदेशे भृशं वीरो व्यवासीदद्रथे तदा ॥२२॥

बड़ी २ भुजा वाला, युद्ध मे स्थित, प्रद्युम्न इन बाणों से कंठ के मूल मे बींधा गया, जिससे वह रथ मे ही मूर्छित सा हो गया॥ २२॥

तं स विद्ध्वा महाराज शाल्वो रुक्मिणिनन्दनम्।
ननाद सिंहनादं वै नादेनापूरयन्महीम् ॥२३॥

हे महाराज ! प्रद्युम्न को बींधकर शाल्वराज अपनी गर्जना से पृथ्वी को भरता हुआ सिंहनाद करने लगा ॥ २३ ॥

ततो मोहं समापन्ने तनये मम भारत ।
मुमोच बाणांस्त्वरितः पुनरन्यान् दुरासदान् ॥२४॥

हे भारत ! जब मेरा सुत प्रद्युम्न, मूर्छित हो गया, तब भी इस दुष्ट ने शीघ्रता से अन्य अनेक क्लेशकारी बाण छोड़े ॥२४॥

स तैरभिहतो बाणैर्बहुभिस्तेन मोहितः ।
निश्चेष्टः कौरवश्रेष्ठ प्रद्युम्नोऽभूद्रणाजिरे ॥२५॥

इति म० आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

हे कौरवश्रेष्ठ ! इन बहुत से बाणों से घायल होकर प्रद्युम्न, रणभूमि में निश्चेष्ट होकर गिर गया ॥ २५ ॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभि-
गमन पर्व में सौभवध के उपाख्यान का
सत्रहवां अध्याय पूरा हुआ ॥



अट्ठारहवाँ अध्याय

वासुदेव उवाच—

शाल्वबाणार्दिते तस्मिन् प्रद्युम्ने बलिनाम्वरे ।
वृष्णयो भग्नसङ्कल्पा विव्यथुः पृतनागताः ॥१॥

श्रीकृष्ण बोले—हे राजन् ! शाल्व के बाणों से पीडित, बलवानों मे श्रेष्ठ, प्रद्युम्न के मूर्छित हो जाने पर सारे वृष्णियों के उत्साह नष्ट हो गये और वे सेना सहित बड़े व्याकुल हुए ॥ १॥

हाहाकृतमभूत् सर्वं वृष्ण्यन्धकबलं ततः ।
प्रद्युम्ने मोहिते राजन् परे च मुदिता भृशम् ॥२॥

हे राजन् ! प्रद्युम्न के मोहित होजाने पर वृष्णि और अन्धक की सेनाओं मे हा हा कार मच गया और शत्रु बड़े प्रसन्न हुए ॥ २ ॥

तं तथा मोहितं दृष्ट्वा सारथिर्जवनैर्हयैः ।
रणादपाहरत्तूर्णं शिक्षितो दारुकिस्तदा ॥३॥

प्रद्युम्न को मोहित देखकर रथ विद्या मे निपुण, दारुकि सारथि, अपने वेग शील घोड़ों से मूर्च्छित अवस्था मे ही प्रद्युम्न को लेकर शीघ्र रण भूमि से निकल गया ॥ ३ ३

नातिदूरापयाते तु रथे रथवरप्रणुत् ।
धनुर्गृहीत्वा यन्तारं लब्धसंज्ञोऽब्रवीदिदम् ॥४॥

महारथियों को पराजित करने वाला, प्रद्युम्न, रथ के थोड़ी दूर जाने पर चेत मे आया और धनुष उठाकर सारथि से कहने लगा ॥ ४ ॥

सौते किन्ते व्यवसितं कस्माद्यासि पराङ्मुखः ।
नैष वृष्णिप्रवीराणामाहवे धर्म उच्यते ॥५॥

हे सारथे ! यह तूने क्या किया, युद्ध से कैसे मुंह मोड़कर भाग निकला । वृष्णि वीरों का युद्ध में भागना कहीं नहीं देखा गया है ॥ ५ ॥

कच्चित् सौते न ते मोहः शाल्वं दृष्ट्वा महाहवे ।
विषादो वा रणं दृष्ट्वा ब्रूहि मे त्वं यथातथम् ॥६॥

हे सारथि ! क्या इस महायुद्ध में शाल्व को देखकर तू घबरा गया या इस घोर रणको देखकर भयभीत होगया । यह सब मुझे ठीक २ बताओ ॥ ६ ॥

सौतिरुवाच—

जानार्दने न मे मोहो नापि मां भयमाविशत् ।
अतिभारन्तु ते मन्ये शाल्वं केशवनन्दन ॥७॥

सारथि ने कहा—हे जनार्दन पुत्र ! न तो मैं घबराया और न मुझे भय हुआ । मुझे शाल्व बड़ा भारी बोझ प्रतीत हुआ, जिसे तुम नहीं उठा सकते हो ॥ ७ ॥

सोऽपयामि शनैर्वीर बलवानेष पापकृत् ।
मोहितश्च रणे शूरो रक्ष्यः सारथिना रथी ॥८॥

हे वीर ! इसी से मैं धीरे २ युद्ध से निकल आया । यह पापी बड़ा बलवान् है मोहित हुए रथी की रक्षा सारथि को करनी ही चाहिये ॥ ८ ॥

आयुष्मंस्त्वं मया नित्यं रक्षितव्यस्त्वयाप्यहम् ।
रक्षितव्यो रथी नित्यमिति कृत्वापयाम्यहम् ॥९॥

हे आयुष्मन्! मुझे तुम्हारी और तुमको मेरी रक्षा करनी उचित है। सारथि को रथी की नित्य रक्षा करनी है, इसी से मैं तुम को रण से निकाल लाया ॥ ६ ॥

एकश्चासि महाबाहो बहवश्चापि दानवाः ।
न समं रौक्मिणेयाहं रणं मत्वापयामि वै ॥१०

हे महाबाहो! तुम अकेले थे और दानव अधिक संख्या में थे। हे प्रद्युम्न, कुमार! मैं इस युद्ध को समान युद्ध न देखकर तुमको युद्ध से लौटा लाया ॥ १० ॥

वासुदेव उवाच—

एवं ब्रुवति सूते तु तदा मकरकेतुमान् ।
उवाच सूतं कौरव्य निवर्त्तय रथं पुनः ॥११॥

श्रीकृष्ण बोले—हे कौरव्य! सारथि के इतना कहने पर मकर की ध्वजा वाले प्रद्युम्न ने सारथि से कहा, कि तुम अब फिर शीघ्र रथ को लौटाओ ॥ ११ ॥

प्रद्युम्न उवाच—

दारुकात्मज मैवं त्वं पुनः कार्षीः कथञ्चन ।
व्यपयानं रणात् सौते जीवतो मम कर्हिचित् ॥१२॥

हे दारुकात्मज! अब तुम मेरे जीवित रहते, कभी किसी रण से रथ को बाहर न लाना ॥ १२ ॥

न स वृष्णिकुले जातो यो वै त्यजति सङ्गरम् ।
यो वा निपतितं हन्ति तवास्मीति च वादिनम् ॥१३॥

वृष्णिकुल मे कोई भी रण से भागने वाला, गिरे हुए को मारने वाला, युद्ध मे दीन वचन कहने वाला, हुआ ही नहीं है।

तथा स्त्रियश्च यो हन्ति बालं वृद्धं तथैव च।
विरथं विप्रकीर्णश्च भग्नशस्त्रायुधं तथा ॥१४॥

स्त्री बाल और वृद्ध, रथ रहित, घायल, शस्त्र हीन पर वृष्णि-वंश के वीर आक्रमण नहीं करते है ॥ १४ ॥

त्वञ्च सूतकुले जातो विनीतः सूतकर्मणि।
धर्मज्ञश्चासि वृष्णीनामाहवेष्वपि दारुके ॥१५॥

हे दारुके! तू सूतकुल मे उत्पन्न हुआ है और सूत कर्म (रथ चलाने आदि) में अच्छी तरह शिक्षित है तथा वृष्णियों के युद्ध के धर्मों का जानने वाला है ॥ १५ ॥

स जानंश्चरितं कृत्स्नं वृष्णीनां पृतनामुखे।
अपयानं पुनः सौते मैव कार्षीः कथञ्चन ॥१६

हे सूत-पुत्र! सेना के सम्मुख व्यवहार करने योग्य वृष्णियों के सारे आचरणों का तू जानने वाला है। अब आगे कभी रणभूमि से न भागना ॥ १६ ॥

अपयातं हतं पृष्ठे भ्रान्तं रणपलायितम्।
गदाग्रजो दुराधर्षः किं मां वक्ष्यति माधवः ॥१७॥

भागे हुए, पीठ पर चोट खाये हुए घबड़ाये हुए तथा युद्ध से पीठ मोड़े हुए समझकर महाबली गद के अग्रज श्रीकृष्ण क्या कहेंगे ॥ १७ ॥

केशवस्याग्रजो वापि नीलवासा मदोत्कटः
किं वक्ष्यति महाबाहुर्बलदेवः समागतः ॥१८॥

मदोन्मत्त, नीलाम्बरधारी, केशवका अग्रज, महाबाहु, बलराम आकर मुझे क्या कहेंगे ? ॥ १८ ॥

किं वक्ष्यति शिनेर्नप्ता नरसिंहो महाधनुः ।
अपयातं रणात् सूत साम्बश्च समितिञ्जयः ॥१९॥

हे सूत ! नरों में सिंह, महाधनुषधारी, सात्यकि, तथा युद्ध का जीतने वाला साम्ब, रण से भागे हुए जानकर मुझे क्या-२ कहेंगे ॥ १९ ॥

चारुदेष्णश्च दुर्द्धर्षस्तथैव गदसारणौ ।
अक्रूरश्च महाबाहुः किं मां वक्ष्यति सारथे ॥२०॥

हे सारथे ! दुर्धर्ष चारुदेष्ण, तथा गद और सारण एवं महाबाहु अक्रूर, मुझे क्या कहेंगे ॥ २० ॥

शूरं सम्भावितं शान्तं नित्यं पुरुषमानिनम् ।
स्त्रियश्च वृष्णिवीराणां किं मां वक्ष्यन्ति संहताः ॥२१॥

संसार में शूर, शान्त और प्रतिष्ठित माने हुए तथा अपने को पुरुष मानने वाले मुझ कायर को इकट्ठी हुई वृष्णियों की स्त्रियां क्या २ कहेंगी ॥ २१ ॥

प्रद्युम्नोऽयमुपायाति भीतस्त्यक्त्वा महाहवम् ।
धिगेनमिति वक्ष्यन्ति न तु वक्ष्यन्ति साध्विति ॥२२॥

महा युद्ध को छोड़कर भय से यह प्रद्युम्न आरहा है. इस को धिक्कार है, इस प्रकार सारी स्त्रियां कहेंगी, कोई भी यह नहीं कहेंगी, कि इस ने ठीक किया ॥ २२॥

धिग्वाचापरि हासोऽपि मम वा मद्विधस्य वा ।
मृत्युनाभ्यधिकः सौते स त्वं मा व्यपयाः पुनः ॥२३॥

हे सारथे ! उपहास में धिक्कार की वाणी मुझे या मुझ जैसे मानी पुरुष को मौत से भी अधिक क्लेशदायी है, इससे तू मुझे फिर युद्ध भूमि में ले चल ॥ २३ ॥

भारं हि मयि संन्यस्य यातो मधुनिहा हरिः ।
यज्ञं भारतसिंहस्य न हि शक्योऽद्य मर्षितुम् ॥२४॥

मुझ पर ही द्वारका का भार छोड़कर मधु के मारने वाले श्रीकृष्ण, भारत सम्राट्-युधिष्ठिर के यज्ञ में गए हैं, वे इस घटना को कैसे सहेंगे ॥ २४ ॥

कृतवर्मा मया वीरो निर्यास्यन्नेव वारितः ।
शाल्वं निवारयिष्येऽहं तिष्ठ त्वमिति सूतज ॥२५॥

स च सम्भावयन्मां वै निवृत्तो हृदिकात्मजः ।
तं समेत्य रणं त्यक्त्वा किं वक्ष्यामि महारथम् ॥२६॥

हे सूतज ! कृतवर्मा शाल्व से युद्ध करने आरहा था, मैंने उसे रोक दिया, कि तुम ठहरो, शाल्व को तो मैं ही भगा आऊंगा। हृदिक के पुत्र कृतवर्मा ने यह सब कुछ सम्भव समझा, इस से लौट गया। अब मैं रणभूमि से भागकर जब उससे मिलूंगा, तो क्या कहूँगा ॥ २६ ॥

उपयान्तं दुराधर्षं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
पुरुषं पुण्डरीकाक्षं किं वक्ष्यामि महाभुजम् ॥२७॥

किसी से भी नहीं दबने वाले, शङ्ख चक्र-गदा धारी, कमल के सदश लोचन वाले, महाभुजधारी श्रीकृष्ण, जब लौटकर आवेंगे; तब में उनसे क्या कहूँगा ॥ २७ ॥

सात्यकिं बलदेवञ्च ये चान्येऽन्धकवृष्णयः ।
मया स्पर्द्धन्ति सततं किं नु वक्ष्यामि तानहम् ॥२८॥

हे सूत ! सात्यकि बलदेव, तथा मुझ से स्पर्धा रखने वाले, अन्य वृष्णि और अन्धकों से भी मैं क्या कहूँगा ॥ २८ ॥

त्यक्त्वा रणमिमं सौते पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः ।
त्वयापनीतो विवशो न जीवेयं कथञ्चन ॥२६॥

हे सूत-पुत्र ! इस रण भूमि को छोड़कर और शरों से पीठ पर चोट खाकर अब मैं कभी जीवित नहीं रहूंगा । तू मूर्छा में पड़े हुए मुझ परवश को व्यर्थ भगा लाया ॥ २६ ॥

सन्निवर्त्त रथेनाशु पुनर्दारुकनन्दन ।
न चैतदेवं कर्त्तव्यमथापत्सु कथञ्चन ॥३०॥

हे दारुकनन्दन ! अब तू फिर रथ से लौटकर चल। आगे प्राणों के संकट में पड़ जाने पर भी ऐसा कभी न करना ॥३०॥

न जीवितमहं सौते बहु मन्ये कथञ्चन ।
अपयातो रणाद्भीतः पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः स३१॥

हे सूत-सुत ! भय के कारण से भागकर या पीठ में बाण खाकर मैं कभी जीना नहीं चाहता हूं ॥ ३१ ॥

कदा च सूतपुत्र त्वं जानीषे मां भयार्दितम् ।
अपयातं रणं हित्वा यथा कापुरुषं तथा ॥३२॥

हे सूत-पुत्र ! तूने मुझे डरपोक कैसे समझ लिया । क्या कभी तूने, कायर पुरुष की भांति मुझे रण में भागा हुआ देखा है ? ॥ ३२ ॥

न युक्तं भवता त्यक्तुं सङ्ग्रामं दारुकात्मज ।
मयि युद्धार्थिनि भृशं स त्वं याहि यतो रणम् ॥३३॥

इति श्री म० आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

हे दारुकात्मज ! तुम्हें कभी संग्राम का त्याग नहीं करना चाहिये । मैं तो सदा युद्ध का अभिलाषी रहता हूं, अब तू शीघ्र रण भूमि को चल ॥ ३३ ॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्व में सौभवध के उपाख्यान का अट्ठारहवां अध्याय समाप्त हुआ।

उन्नीसवाँ अध्याय

वासुदेव उवाच —

एवमुक्तस्तु कौन्तेय सूतपुत्रस्ततोऽब्रवीत् ।
प्रद्युम्नं बलिनां श्रेष्ठं मधुरं श्लक्ष्णमञ्जसा ॥१॥

श्रीकृष्ण कहने लगे—हे कौन्तेय ! प्रद्युम्न के इतना कहने पर सूत-पुत्र दारुकि, बलवानों में श्रेष्ठ प्रद्युम्न से शीघ्र स्पष्ट और मधुर वचन इस तरह कहने लगा ॥ १ ॥

न मे भयं रौक्मिणेय सङ्ग्रामे यच्छतो हयान् ।
युद्धज्ञश्चास्मि वृष्णीनां नात्र किञ्चिदतोऽन्यथा ॥२॥

हे रुक्मिणि पुत्र ! संग्राम में अश्वों को चलाते समय मुझे कुछ भी भय नहीं रहता है। मैं वृष्णियों के युद्ध प्रकार को भी जानता हूं, इस मे तुम ने कुछ बढ़ाकर नहीं कहा है ॥ २ ॥

आयुष्मन्नुपदेशस्तु सारथ्ये वर्त्ततां स्मृतः ।
सर्वार्थेषु रथी रक्ष्यस्त्वञ्चापि भृशपीड़ितः ॥३॥

हे आयुष्मन् ! सारथि के कर्म करने वाले को यह उपदेश कहा गया है, कि वह सर्वथा अपने रथी की रक्षा करे और तुम अत्यन्त घायल हो चुके थे ॥ ३ ॥

त्वं हि शाल्वप्रयुक्तेन शरेणाभिहतो भृशम् ।
कश्मलाभिहतो वीर ततोऽहमपयातवान् ॥४॥

हे वीर ! तुम शाल्व के मारे हुए बाण से अत्यन्त पीडित हो चुके थे और अचेत से हो गये थे, इसीसे मैं तुमको रण से बाहर ले आया ॥ ४ ॥

स त्वं सात्वतमुख्याद्य लब्धसंज्ञो यदृच्छया ।
पश्य मे हयसंयाने शिक्षां केशवनन्दन ॥५॥

हे यदुवंश श्रेष्ठ, केशव नन्दन ! अब तुम अपने आप सचेत हो चुके हो; इसलिए अश्वों के हांकने की मेरी शिक्षा का अवलोकन करो ॥ ५ ॥

दारुकेणाहमुत्पन्नो यथावच्चैव शिक्षितः ।
वीतभीः प्रविशाम्येतां शाल्वस्य प्रथितां चमूम् ॥६॥

दारुक ने मुझे उत्पन्न करके रथ हांकने में अच्छी तरह कुशल बना दिया है। अब निर्भय होकर तुमको शाल्व की इस प्रसिद्ध सेना में ले चलता हूँ ॥ ६ ॥

वासुदेव उवाच—

एवमुक्त्वा ततो वीर हयान् सञ्चोद्य सङ्गरे ।
रश्मिभिस्तु समुद्यम्य जवेनाभ्यपतत्तदा ॥७॥

श्रीकृष्ण बोले—हे वीर! यह कह कर सारथि ने अश्वों को युद्ध भूमि की ओर मोड़ा। उसने रासों को खैंचा और वह वेग से रणभूमि को लौटा॥७॥

मण्डलानि विचित्राणि यमकानीतराणि च ।
सव्यानि च विचित्राणि दक्षिणानि च सर्वशः ॥८॥

हे राजन्! इस समय उसने समान और असमान तथा बायें और दायें मण्डलों से अश्वों को चलाया॥ ८ ॥

प्रतोदेनाहता राजन्रश्मिभिश्च समुद्यताः ।
उत्पतन्त इवाकाशं व्यचरंस्ते हयोत्तमाः ॥९॥

प्रतोद (हण्टर) से मारे हुए और रासों के खैंचने से ऊपर को उठे हुए अश्व, आकाश में उड़ते से दिखाई दे रहे थे॥ ९॥

ते हस्तलाघवोपेतं विज्ञाय नृप दारुकिम् ।
दह्यमाना इव तदा नास्पृशंश्चरणैर्महीम् ॥१०॥

हे नृप! अश्व, दारुकि सारथि को बड़ा फुर्तीला जानकर जल से गये और वे इतने वेग से भागे कि उन्होंने चरणों से पृथिवी का भी स्पर्श नहीं किया॥ १० ॥

सोऽपसव्यां चमूं तस्य शाल्वस्य भरतर्षभ ।
चकार नायियत्नेन तदद्भुतमिवाभवत् ॥११॥

हे भरतर्षभ ! अब प्रद्युम्न ने युद्ध में पहुंच कर शाल्व की सेना को थोड़े ही प्रयत्न द्वारा बांयी ओर से छिन्न-भिन्न कर दिया । यह एक बड़ा ही चमत्कार सा हुआ ॥ ११ ॥

अमृष्यमाणोऽपसव्यं प्रद्युम्नेन स सौभराट् ।
यन्तारमस्य सहसा त्रिभिर्बाणैः समार्दयत् ॥१२॥

प्रद्युम्न के द्वारा इस प्रकार बांयी ओर से छिन्न-भिन्न की हुई अपनी सेना को देख कर सौभराज शाल्व कुपित हो उठा और उसने तीन बाणों से सारथि पर प्रहार किया ॥ १२ ॥

दारुकस्य सुतस्तत्र बाणवेगमचिन्तयन् ।
भूय एव महाबाहो प्रययावपसव्यतः ॥१३॥

हे महाबाहो ! दारुक पुत्र सारथि ने उस बाण के वेग को कुछ नहीं समझा और वह बांयी ओर से फिर आगे सेना में घुसा ही चला गया ॥ १३ ॥

ततो बाणान् बहुविधान् पुनरेव स सौभराट् ।
मुमोच तनये वीर मम रुक्मिणिनन्दने ॥१४॥

हे वीर ! अब फिर सौभराट् शाल्व ने अनेक प्रकार के बाण रुक्मिणी के नन्दन प्रद्युम्न पर छोड़े ॥ १४ ॥

तान् प्राप्तान् शितैर्बाणैश्चिच्छेद परवीरहा ।
रौक्मिणेयः स्मितं कृत्वा दर्शयन् हस्तलाघवम् ॥१५॥

इस समय अपने हस्तलाघव (फुर्ती) को दिखाकर शत्रुविजयी प्रद्युम्न ने हंसते २ उन बाणों को अपने पैने बाणों से काट गिराया ॥ १५ ॥

छिन्नान् दृष्ट्वा तु तान् बाणान् प्रद्युम्नेन स सौभराट् ।
आसुरीं दारुणीं मायामास्थाय व्यसृजत् शरान् ॥१६॥

प्रद्युम्न के द्वारा अपने कटे हुए बाणों को देखकर सौभराज शाल्व ने दारुण आसुरी माया का अवलम्बन किया और उससे तीखे बाण छोड़े ॥ १६ ॥

प्रयुज्यमानमाज्ञाय दैतेयास्त्रं महाबलम् ।
ब्रह्मास्त्रेणान्तरा छित्त्वा मुमोचान्यान् पतत्रिणः ॥१७॥

महा-शक्ति-शाली दैत्य के अस्त्र को आता हुआ देखकर प्रद्युम्न ने बीच में ही ब्रह्मास्त्र से उसको छिन्न-भिन्न कर दिया और शाल्व पर अन्य बाणों की झड़ी लगा दी ॥ १७ ॥

ते तदस्त्रं विधूयाशु विव्यधूरुधिराशनाः ।
शिरस्युरसि वक्त्रे च स मुमोह पपात च ॥१८॥

दानवों ने उस अस्त्र को फैंक दिया वे शिर, छाती और मुख में उन बाणों से बिंधते चले गये और शाल्व तो मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा ॥ १८ ॥

तस्मिन्निपतिते क्षुद्रे शाल्वे बाणप्रपीडिते ।
रौक्मिणेयोऽपरं बाणं सन्दधे शत्रुनाशनम् ॥१९॥

बाणों से पीडित होकर उस क्षुद्र शाल्व के गिर जाने पर प्रद्युम्न ने फिर दूसरा [illegible]-नाशक बाण, धनुष पर चढ़ाया ॥१९॥

तमर्चितं सर्वदशार्हपूगैराशीविषाग्निज्वलनप्रकाशम् ।
दृष्ट्वा शरं ज्यामभिनीयमानं बभूव हाहाकृतमन्तरीक्षम् २०

सारे यादवों के समूह से पूजित, सब ओर अग्नि के तुल्य देदीप्यमान बाण को धनुष की डोरी पर चढ़ा देखकर आकाश में देवता हा हा कार करने लगे ॥ २० ॥

ततो देवगणाः सर्वे सेन्द्राः सह धनेश्वराः ।
नारदं प्रेषयामासुः श्वसनश्च मनोजवम् ॥२१॥

अब इन्द्र और कुवेर आदि देवों के सहित सारे देवों के गणों ने नारद और मन के तुल्य वेग वाले वायु को भेजा ॥२१॥

तौ रौक्मिणेयमागम्य वचोऽब्रूतां दिवौकसाम् ।
नैष वध्यस्त्वया वीर शाल्वराजः कथश्चन ॥२२॥

उन दोनों ने आकर प्रद्युम्न को देवों का वचन सुनाया। हे वीर ! यह शाल्वराज, तुम से कभी नहीं मारा जावेगा ॥ २२ ॥

संहरस्व पुनर्बाणमवध्योऽयं त्वया रणे ।
एतस्य हि शरस्याजौ नावध्योऽस्ति पुमान् क्वचित् ॥२३॥

तू अपने बाण को धनुष से उतार ले, यह रण में तुमसे अवध्य है। इस बाण से युद्ध में कोई अवध्य रह नहीं सकता है ॥ २३ ॥

मृत्युरस्य महाबाहो रणे देवकिनन्दनः ।
कृष्णः सङ्कल्पितो धात्रा तन्न मिथ्या भवेदिति ॥२४॥

हे महाबाहो ! विधाता ने इसकी मृत्यु, रण में श्रीकृष्ण ही नियत किये हैं। यह मिथ्या नहीं हो सकता है ॥ २४ ॥

ततः परमसंहृष्टः प्रद्युम्नः शरमुत्तमम् ।
सञ्जहार धनुःश्रेष्ठात्तूणे चैव न्यवेशयत् ॥२५॥

प्रद्युम्न यह सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ और उसने अपने धनुष से झट ही उस बाण को उतार लिया और तरकस में रख लिया ॥ २५ ॥

तत उत्थाय राजेन्द्र शाल्वः परमदुर्मनाः ।
व्यपायात् सबलस्तूर्णं प्रद्युम्नशरपीड़ितः ॥२६॥

हे राजेन्द्र ! अत्यन्त दुःखी मन से शाल्व उठा और प्रद्युम्न के बाण की पीड़ा सहित अपनी सेना को लेकर वापिस लौट गया ॥ २६ ॥

स द्वारकां परित्यज्य क्रूरो वृष्णिभिरर्दितः ।
सौभमास्थाय राजेन्द्र दिवमाचक्रमे तदा ॥२७॥

इति श्रीमहा० आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि
सौभवधोपाख्याने ऊनविंशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

वृष्णियों से इस प्रकार पराजित होकर उस क्रूर शाल्व ने द्वारका को छोड़ दिया और सौभ में बैठ कर आकाश को उड़ गया ॥ २७ ॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्व में सौभ वध के उपाख्यान का उन्नीसवां अध्याय पूरा हुआ ।



बीसवाँ अध्याय

वासुदेव उवाच—

आनर्त्तनगरं मुक्तं ततोऽहमगमं तदा ।
महाक्रतौ राजसूये निवृत्ते नृपते तव ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे राजन् ! तुम्हारे राजसूय महा यज्ञ के पूर्ण हो जाने पर मैं शाल्व से युक्त द्वारकापुरी में पहुँचा ॥ १ ॥

अपश्यं द्वारकाश्चाहं महाराज हतत्विषम् ।
निःस्वाध्यायवषट्कारां निर्भूषणवरस्त्रियम् ॥ २॥

हे महाराज ! मैं ने जाकर द्वारका को बिल्कुल नष्ट-भ्रष्ट देखा। उसकी सारी शोभा नष्ट हो चुकी थी। उसमें इस समय न तो कहीं वेद पढ़े जारहे थे और न कहीं यज्ञ हो रहे थे। उत्तम २ स्त्रियों ने आभूषणों को त्याग दिया था ॥ २ ॥

अनभिज्ञेयरूपाणि द्वारकोपवनानि च ।
दृष्ट्वा शङ्कोपपन्नोऽहमपृच्छं हृदिकात्मजम् ॥ ३ ॥

द्वारका के बाग-बगीचे पहचाने नहीं जाते थे। यह देखकर मैं ने शङ्का के साथ कृतवर्मा से पूछा ॥ ३ ॥

अस्वस्थनरनारीकमिदं वृष्णिकुलं भृशम् ।
किमिदं नरशार्दूल श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ४ ॥

हे नरशार्दूल ! यह वृष्णियों के घरों के सारे नर-नारी, कैसे अत्यन्त दुःखी दिखाई दे रहे हैं, मैं यह सब ठीक २ जानना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

एवमुक्तः स तु मया विस्तरेणेदमब्रवीत् ।
रोधं मोचञ्च शाल्वेन हार्दिक्यो राजसत्तम ॥ ५ ॥

हे राजसत्तम ! जब मैं ने यह कहा तो कृतवर्मा ने विस्तार से शाल्व के घेरे और छोड़ जाने का सारा वृत्तान्त सुनाया ॥५॥

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ श्रुत्वा सर्वमशेषतः ।
विनाशे शाल्वराजस्य तदैवाकरवं मतिम् ॥ ६ ॥

हे भरत-वंश श्रेष्ठ ! मैंने इस सारे वृतान्त को सुनकर शाल्व के नष्ट करने का उसी समय निश्चित विचार कर लिया ॥ ६ ॥

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ समाश्वास्य पुरे जनम् ।
राजानमाहुकञ्चैव तथैवानकदुन्दुभिम् ॥ ७ ॥
सर्वान् वृष्णिप्रवीरांश्च हर्षयन्नब्रुवं तदा ।
अप्रमादः सदा कार्यो नगरे यादवर्षभाः ॥ ८ ॥
शाल्वराजविनाशाय प्रयातं मा निबोधत ।
नाहत्वा तं निवर्त्तिष्ये पुरीं द्वारवतीं प्रति ॥९॥

हे भरतश्रेष्ठ ! मैंने राजा आहुक तथा वसुदेव को आश्वासन देकर एवं सारे वृष्णिवीरों को हर्षयुक्त करके यह कहा । हे यादवों ! तुम नगर में सावधानी से रहना । मैं शाल्वराज को मारने के लिए जा रहा हूँ । उसको बिना मारे मैं द्वारका को नहीं लौटूंगा ॥ ७ ६ ॥

सशाल्वं सौभनगरं हत्वा द्रष्टास्मि वः पुनः ।
त्रिःसमा हन्यतामेषा दुन्दुभिः शत्रुभीषणा ॥१०॥

शाल्व के सहित सौभनगर को नष्ट करके मैं तुम से आकर मिलूंगा। तुम शत्रु को भयभीत करने वाली इस दुन्दुभि को तीनों स्वर में तीन बार बजाते रहना ॥ १० ॥

ते मयाश्वासिता वीरा यथावद्भरतर्षभ ।
सर्वे मामब्रुवन् हृष्टाः प्रयाहि जहि शात्रवान् ॥११॥

हे भरतर्षभ ! जब मैंने उन सारे वीरों को ठीक २ सान्त्वना दे दी तो उन्होंने कहा—तुम शीघ्र जावो और शत्रुओं का नाश करो ॥ ११ ॥

तैः प्रहृष्टात्मभिर्वीरैराशीर्भिरभिनन्दितः ।
वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठान् प्रणम्य शिरसा भवम् ॥१२॥
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेन नादयन् दिशः ।
प्रध्माय शङ्खप्रवरं पाञ्चजन्यमहं नृपः ॥१३॥
प्रयातोऽस्मि नरव्याघ्र बलेन महता वृतः ।
क्लृप्तेन चतुरङ्गेण यत्तेन जितकाशिना ॥१४॥

हे नर-व्याघ्र ! राजन् ! उन प्रसन्न वीरों के आशीर्वादों से उत्साहित, ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन पढ़वा कर, शिव को शिर झुकाकर प्रणाम किया। शैब्य और सुग्रीव नामक अश्वों को रथ में जोड़ा। इस रथ के शब्द से सारी दिशाएँ गूंज उठी। मैं पाञ्चजन्य नामक उत्तम शंख को बजाकर बड़ी भारी विजयी, शक्तिशाली आज्ञा वर्तिनी, चतुरङ्गिणी सेना के साथ चल दिया ॥ १२-१४ ॥

समतीत्य बहून् देशान् गिरींश्च बहुपादपान् ।
सरांसि सरितश्चैव मार्तिकावतमासदम् ॥१५॥

मैं अनेक देश, पर्वत, वृक्ष-समूह, सर और नदियों का अतिक्रमण करके मार्तिकावत नामक देश में पहुंचा ॥ १५ ॥

तत्राश्रौषं नरव्याघ्र शाल्वं सागरमन्तिकात् ।
प्रयान्तं सौभमास्थाय तमहं पृष्ठतोऽन्वियाम् ॥१६॥

हे नर-व्याघ्र ! वहां मैंने सुना, कि शाल्व सौभनगर में बैठकर समुद्र के समीप गया है, मैं भी उसी के पीछे २ चल दिया ॥ १६ ॥

ततः सागरमासाद्य कुक्षौ तस्य महोर्मिणः ।
समुद्रनाभ्यां शाल्वोऽभूत् सौभमास्थाय शत्रुहन् ॥१७॥

हे शत्रुनाशक ! मैं भी समुद्र पर पहुंचा । उस समुद्र के किसी द्वीप में समुद्र के बीच में सौभनगर में स्थित होकर शाल्व रह रहा था ॥ १७ ॥

स समालोक्य दूरान्मां स्मयन्निव युधिष्ठिर ।
आह्वयामास दुष्टात्मा युद्धायैव मुहुर्मुहुः ॥१८॥

हे युधिष्ठिर ! मुझे दूर से ही देखकर हंसते हुए उस दुष्ट ने बार बार युद्ध के लिए मेरा आह्वान किया ॥ १८ ॥

तस्य शार्ङ्गविनिर्मुक्तैर्बहुभिर्मर्मभेदिभिः ।
पुरं नासाद्यत शरैस्ततो मां रोष आविशत् ॥१९॥

इसके अनन्तर शार्ङ्ग नामक धनुष से छोड़े हुए अनेक मर्मभेदी बाण, जब उसके पुर तक नहीं पहुंच सके, तो मैं अत्यन्त कुपित हुआ ॥ १९ ॥

स चापि पापप्रकृतिर्दैतेयापसदो नृप ।
मय्यवर्षत दुर्द्धर्षः शरधाराः सहस्रशः ॥२०॥

हे नृप ! उस पापी, नीच, उद्दण्ड, दैत्य ने भी मेरे ऊपर सहस्रों प्रकार से बाणों की झड़ी लगाई ॥ २० ॥

सैनिकान्मम सूतञ्च हयांश्च समवाकिरत् ।
अचिन्तयन्तस्तु शरान् वयं युध्याम भारत ॥२१॥

हे भारत ! उसने मेरे सैनिक, सारथि और अश्वों को बाणों से व्याप्त कर दिया, परन्तु हम उन बाणों की परवाह न करके युद्ध करते ही रहे ॥ २१ ॥

ततः शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ।
चिक्षिपुः समरे वीरा मयि शाल्वपदानुगाः ॥२२॥

इस प्रकार सैकड़ों हजारों सुद्धग्रंथि वाले बाण, शाल्व के साथ चलने वाले वीरों ने रण में मेरी ओर फेंके ॥ २२ ॥

ते हयांश्च रथञ्चैव तदा दारुकमेव च ।
छादयामासुरसुरास्तैर्बाणैर्मर्मभेदिभिः ॥२३॥

उन असुरों ने मर्म-भेदी बाणों से घोड़े, रथ और दारुक सारथि को आच्छादित कर लिया ॥ २३ ॥

न हया न रथो वीर न यन्ता मम दारुकः ।
अदृश्यन्त शरैश्छन्नास्तथाहं सैनिकाश्च मे ॥ २४ ॥

हे वीर ! इस समय घोड़े, रथ, मेरा दारुक सारथि, मैं और सैनिक कोई भी दिखाई नहीं दे रहा था, सब बाणों से ढके हुए थे ॥ २४ ॥

ततोऽहमपि कौन्तेय शराणामयुतान् बहून् ।
आमन्त्रितानां धनुषा दिव्येन विधिनाक्षिपम् ॥ २५ ॥

हे कौन्तेय ! मैं ने कई हजार बाण, आमन्त्रित करके दिव्य-विधि से अपने धनुष द्वारा फेंके ॥ २५ ॥

न तत्र विषयस्त्वासीन्मम सैन्यस्य भारत ।
खे विषक्तं हि तत् सौभं क्रोशमात्र इवाभवत् ॥२६॥

हे भारत ! वह सौभनगर तो मेरी सेना के दृष्टिगोचर ही नहीं हो रहा था, क्योंकि वह सौभनगर तो आकाश में एक कोस की दूरी पर था ॥ २६ ॥

ततस्ते प्रेक्षकाः सर्वे रङ्गवाट इव स्थिताः ।
हर्षयामासुरुच्चैर्मां सिंहनादतलस्वनैः ॥ २७ ॥

अब सारे दर्शक, रङ्गस्थली की भांति चुपचाप खड़े देख रहे थे । उन्होंने इस समय सिंह के समान शब्द तथा ताली बजाकर मुझे हर्षित किया ॥ २७ ॥

मत्कराग्रविनिर्मुक्ता दानवानां शरास्तथा ।
अङ्गेषु रुचिरापाङ्गा विविशुः शलभा इव ॥ २८ ॥

मेरे हाथ से छूटे हुए, चित्र विचित्र मूल वाले, बाण, शलभ पक्षी की भांति उड़कर दानवों के अङ्गों में प्रविष्ट हो गए हैं ॥२८॥

ततो हलहलाशब्दः सौभमध्ये व्यवर्द्धत ।
वध्यतां विशिखैस्तीक्ष्णैः पततां च महार्णवे ॥ २९ ॥

इस समय सौभनगर के बीच में तीक्ष्ण बाणों से बिंधते हुए मनुष्यों का चीत्कार बढ़ता जा रहा था ॥ २९ ॥

ते निकृत्तभुजस्कन्धाः कबन्धाकृतिदर्शनाः ।
नदन्तो भैरवान्नादान्निपतन्ति स्म दानवाः ॥ ३० ॥

भुजा और स्कन्धों से रहित, कबन्ध की आकृति वाले, दानव भयानक शब्द करके भूमि में गिर रहे थे ॥ ३० ॥

पतितास्तेऽपि भक्ष्यन्ते समुद्राम्भोनिवासिभिः ।
ततो गोक्षीरकुन्देन्दुमृणालरजतप्रभम् ॥ ३१ ॥
जलजं पाञ्चजन्यं वै प्राणेनाहमपूरयम् ।

समुद्र में गिरते ही उन दानवों को समुद्र के जल जन्तु खा जाते थे । इस समय मैंने गौ के दुग्ध चमेली, चांद मृणाल और चांदी के समान श्वेत, पाञ्चजन्य शंख को अपने प्राणवायु से भरा ॥ ३१ ॥

तान् दृष्ट्वा पतितांस्तत्र शाल्वः सौभपतिस्ततः ।३२।
मायायुद्धेन महता योधयामास मां युधि ।

उन गिरते हुए दानवों को सौभपति शाल्व देखकर बड़ी भारी मायाकरके उस युद्ध में मुझ से लड़ने लगा ॥ ३२ ॥

ततो गदा हलाः प्रासाः शूलशक्तिपरश्वधाः ॥ ३३ ॥
असयः शक्तिकुलिशपाशर्ष्टिकनपाः शराः ।
पट्टिशाश्च भुशुण्ड्यश्च प्रापतन्त्यनिशं मयि ॥ ३४ ॥

इसके अनन्तर, गदा, हल, प्रास, शूल, शक्ति और परशु, खड्ग, शक्ति, कुलिश, पाश, दण्ड के समान कान्तिधारी बाण, पट्टिश, भुशुण्डी, ये सारे शस्त्र, एक बार ही मेरे ऊपर पड़ने लगे ॥ ३३-३४ ॥

तामहं मायैवाशु प्रतिगृह्य व्यनाशयम् ।
तस्यां हतायां मायायां गिरिशृङ्गैरयोधयत् ॥ ३५ ॥

उस माया को मैंने भी अपनी माया से पकड़ कर नष्ट किया। जब वह माया नष्ट हो गई तो पर्वतों की चोटियों से युद्ध होने लगा ॥ ३५ ॥

ततोऽभवत्तम इव प्रकाश इव चाभवत् ।
दुर्दिनं सुदिनञ्चैव शीतमुष्णञ्च भारत ॥ ३६ ॥

हे भारत ! इसके बाद कभी तो अन्धेरा, कभी प्रकाश, कभी मेघों से आच्छन्न दुर्दिन और कभी मेघों से रहित सुदिन तथा कभी शीत और कभी गर्मी हो जाती थी ॥ ३६ ॥

अङ्गारपांशुवर्षञ्च शस्त्रवर्षञ्च भारत ।
एवं मायां प्रकुर्वाणो योधयामास मां रिपुः ॥ ३७ ॥

हे भारत ! कभी अङ्गारे, कभी मिट्टी तथा कभी शस्त्रों की वर्षा, होने लगती थी। इसतरह अनेक प्रकार की माया करके शत्रु मुझसे युद्ध कर रहा था ॥ ३७ ॥

विज्ञाय तदहं सर्वं मायैव व्यनाशयम् ।
यथाकालन्तु युद्धेन व्यधमं सर्वतः शरैः ॥ ३८ ॥

यह सब कुछ जानकर मैंने भी इसका विनाश माया से ही किया। कभी २ युद्ध द्वारा बाणों से भी मैं वींध डालता था ॥३८॥

ततो व्योम महाराज शतसूर्यमिवाभवत् ।
शतचन्द्रञ्च कौन्तेय सहस्रायुततारकम् ॥ ३९ ॥

हे महाराज! इस समय आकाश, सैंकड़ों, हजारों, चन्द्र और नक्षत्रों से युक्त हुआ सा प्रतीत होता था ॥ ३६ ॥

ततो नाज्ञायत तदा दिवारात्रं तथा दिशः ।
ततोऽहं मोहमापन्नः प्रज्ञास्त्रं समयोजयम् ॥ ४०॥

इस समय दिन रात और दिशाओं का कुछ भी पता नहीं चलता था। तब मैंने मोहित होकर प्रज्ञा नामक अस्त्र संभाला ४१

ततस्तदस्त्रं कौन्तेय धूतं तूलमिवानिलैः ।
तथा तदभवद्युद्धं तुमुलं लोमहर्पणम् ।
लब्धालोकस्तु राजेन्द्र पुनः शत्रुमयोधयम् ॥ ४१॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि
सौभवधोपाख्याने विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

हे कौन्तेय! यह मायामय अस्त्र, रूई में आग के समान धुआं छोड़ने लगा। उस समय बड़ा घमसान, लोम खड़े कर देने वाला युद्ध, हुआ। हे राजेन्द्र! जब कुछ प्रकाश हुआ, तो फिर शत्रु युद्ध करने लगा ॥ ४१ ॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्व में
सौभवधोपाख्यान का बीसवां अध्याय समाप्त हुआ।



इक्कीसवां अध्याय

वासुदेव उवाच—

एवं स पुरुषव्याघ्रः शाल्वराजो महारिपुः ।
युध्यमानो मया संख्ये वियदभ्यागमत् पुनः ॥१॥

श्रीकृष्ण बोले—हे राजन् इस प्रकार वह महाशत्रु, पुरुष-श्रेष्ठ शाल्व-राज, मेरे साथ युद्ध में लड़ता हुआ आकाश को उड़ गया ॥ १ ॥

ततः शतघ्नीश्च महागदाश्च दीप्तांश्च शूलान्मुसलानसींश्च
चिक्षेप रोषान्मयि मन्दबुद्धिः शाल्वो महाराज जयाभिकाङ्क्षी

हे महाराज ! वहां से उस जयाभिलाषी मन्द बुद्धि, शाल्व ने तोप के गोले, गदा, प्रदीप्त शूल, मूसल तथा तलवारें, मुझ पर फेंकी ॥ २ ॥

तानाशुगैरापततोऽहमाशु
निवार्य्य हन्तुं खगमान् ख एव ।
द्विधा त्रिधा चाच्छिदमाशुमुक्त
स्ततोऽन्तरीक्षे निनदो बभूव ॥३॥

अपने तीक्ष्ण बाणों से आकाशचारी दानवों को आकाश में ही मार देने के लिए, उन आते हुए शस्त्रों को शीघ्रगामी बाणों से मैंने दो तीन टुकड़े करके फेंक दिए, जिस से अन्तरिक्ष में बड़ा भारी शब्द होने लगा ॥ ३ ॥

ततः शतसहस्रेण शराणां नतपर्वणाम् ।
दारुकं वाजिनश्चैव रथञ्च समवाकिरत् ॥४॥

तब उसने सैंकड़ों हजारों तीक्ष्ण बाणों को छोड़कर दारुक सारथि, घोड़े और रथ को आच्छादित कर दिया ॥ ४ ॥

ततो मामब्रवीद्वीर दारुको विह्वलन्निव ।

स्थातव्यमिति तिष्ठामि शाल्वबाणप्रपीड़ितः ॥५॥

अवस्थातुं न शक्नोमि अङ्गं मे व्यवसीदति ।

हे वीर ! दारुक ने विह्वल सा होकर मुझ से कहा, कि इस समय यहां ठहरना आवश्यक है, इससे मैं ठहर रहा हूँ, नहीं तो मैं ठहर नहीं सकता हूँ। मेरे सारे अङ्ग पीड़ित हो रहे हैं ॥५॥

इति तस्य निशम्याहं सारथेः करुणं वचः ॥६॥

अवेक्षमाणो यन्तारमपश्यं शरपीड़ितम् ।

सारथि के इस तरह के करुण वचन सुनकर मैंने सारथि की ओर देखा, जो बाणों से पीडित हो रहा था ॥ ६ ॥

न तस्योरसि नो मूर्ध्नि न काये न भुजद्वये ॥७॥

अन्तरं पाण्डवश्रेष्ठ पश्याम्यनिचितं शरैः ।

हे पांडव-श्रेष्ठ ! उस सारथि के हृदय, मस्तक, शरीर, दोनों भुजाओं में कोई ऐसा स्थान नहीं था, जो बाणों से खाली हो ॥७॥

स तु बाणवरोत्पीडाद्विस्रवत्यसृगुल्वणम् ॥८॥

अतिवृष्टे यथामेघे गिरिर्गैरिकधातुमान् ।

उसके उन घावों के स्थानों से रुधिर की धारा बह रही थी। जैसे मेघ के बरसने पर गेरू का पर्वत बह निकलता है।

अभीषुहस्तं तं दृष्ट्वा सीदन्तं सारथिं रणे ॥९॥
अस्त भयं महाबाहो शाल्वबाणप्रपीडितम् ।

हे महाबाहो, घोड़ों की रास पकड़े हुए शाल्व के बाणों से पीड़ित, दुःखी सारथि को देखकर मैंने उसको आश्वासन दिया।

अथ मां पुरुषः कश्चिद् द्वारकानिलयोऽब्रवीत् ॥१०॥
त्वरितो रथमारोप्य सौहृदादिव भारत ।
आहुकस्य वचो वीर तस्यैव परिचारकः ॥११॥
विषण्णः सन्नकण्ठेन तन्निबोध युधिष्ठिर ।

हे भारत! कोई द्वारकावासी मनुष्य, राजा आहुक का सेवक, रथ पर चढ़ कर मानो मित्रता का निर्वाह करने के लिए मेरे पास आकर दुःखी गद्गद स्वर से आहुक के वचन सुनाने लगा। हे युधिष्ठिर! तुम वह सुनो ॥ १०-११ ॥

द्वारकाधिपतिर्वीर आह त्वामाहुको वचः ॥१२॥
केशवेहि विजानीष्व यत्त्वां पितृसखोऽब्रवीत् ।

हे केशव! द्वारका के स्वामी राजा आहुक ने तुम से एक वचन कहलाकर भेजा है। तुम आओ और उसको समझो, जो राजा आहुक ने कहा है ॥ १२ ॥

उपयायाद्य शाल्वेन द्वारकां वृष्णिनन्दन ॥१३॥
विषक्ते त्वयि दुर्द्धर्ष हतः शूरसुतो बलात् ।

हे वृष्णि-नन्दन! आज शाल्व ने द्वारका में आकर तेरे अन्य कार्य में आसक्त होने से वसुदेव को मार दिया है ॥ १३ ॥

तदलं साधुयुद्धेन निवर्तस्व जनार्दन ॥१४॥
द्वारकामेव रक्षस्व कार्य्यमेतन्महत्तव ।

हे जनार्दन ! तुम युद्ध को बन्द करो और शीघ्र लौट आओ। अब तो द्वारका की रक्षा करना ही तुम्हारा सबसे बड़ा कार्य है ॥१४

इत्यहं तस्य वचनं श्रुत्वा परमदुर्मनाः ॥१५॥
निश्चयं नाधिगच्छामि कर्त्तव्यस्येतरस्य वा ।

इस प्रकार इस के वचन सुन कर अत्यन्त उदास होकर मैं यह निश्चय नहीं कर सका, कि मुझे क्या करना-क्या नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

सात्यकिं बलदेवञ्च प्रद्युम्नञ्च महारथम् ॥१६॥
जगर्हे मनसा वीर तच्छ्रुत्वा महदप्रियम् ।

यह सुनकर मैं सात्यकि, बलदेव, महारथी प्रद्युम्न की मन ही मन निन्दा करने लगा ॥ १६ ॥

अहं हि द्वारकायाश्च पितुश्च कुरुनन्दन ॥१७॥
तेषु रक्षां समाधाय प्रयातः सौभपातन ।

हे कुरुनन्दन ! मैं द्वारका और अपने पिता की रक्षा का भार इन पर ही रख कर सौभ के विनाश के लिए चला था।

बलदेवो महाबाहुः कच्चिज्जीवति शत्रुहा ॥१८॥
सात्यकीरौक्मिणेयश्च चारुदेष्णश्च वीर्यवान् ।
साम्बप्रभृतयश्चैवेत्यहमासं सुदुर्मनाः ॥१९॥

शत्रु विजयी महाबाहु, बलदेव, सात्यकि, वीर्यवान् चारुदेष्ण साम्ब आदि जीवित हैं या नहीं। मैं यह सोच कर बड़ा दुःखी हुआ ॥ १८-१९ ॥

एतेषु हि नरव्याघ्र जीवत्सु न कथञ्चन ।
शक्यः शूरसुतो हन्तुमपि वज्रभृता स्वयम् ॥२०॥

हे नर-व्याघ्र ! मैं ने सोचा, यदि ये जीवित होते, तो वसुदेव को स्वयं इन्द्र भी नहीं मार सकता था ॥ २० ॥

हतः शूरसुतो व्यक्तं न्यक्तञ्चैते परासवः ।
बलदेवमुखाः सर्वे इति मे निश्चिता मतिः ॥२१॥

वसुदेव भी निश्चय मारे गये और ये बलराम आदि भी मर चुके, यह मुझे निश्चय हो गया ॥ २१ ॥

सोऽहं सर्वविनाशं तं चिन्तयानो मुहुर्मुहुः ।
सुविह्वलो महाराज पुनः शाल्वमयोधयम् ॥२२॥

हे महाराज ! इस समय मैं ने समझा कि अब सबका विनाश हो चुका है । यह बार २ सोच कर मैं अत्यन्त विह्वल हुआ और फिर शाल्व से वेग के साथ युद्ध करने लगा ॥ २२ ॥

ततोऽपश्यं महाराज प्रपतन्तमहं तदा ।
सौभात् शूरसुतं वीर ततो मां मोह आविशत् ॥२३॥

हे महाराज ! इसी समय मैं ने सौभनगर मे से गिरते हुए अपने पिता वसुदेव को देखा । इसको देखकर मुझे बड़ा मोह हुआ ॥ २३ ॥

तस्य रूपं प्रपततः पितुर्मम नराधिप ।
ययातेः क्षीणपुण्यस्य स्वर्गादिव महीतलम् ॥२४॥

हे नराधिप ! आकाशचारी सौभनगर से गिरते हुए, वसुदेव का रूप, क्षीण-पुण्य, ययाति के स्वर्ग से पृथिवी पर गिरने का-सा प्रतीत हुआ ॥ २४ ॥

विशीर्णमलिनोष्णीषः प्रकीर्णाम्बरमूर्द्धजः ।
प्रपतन् दृश्यते ह स्म क्षीणपुण्य इव ग्रहः ॥२५॥

उसकी पगड़ी बिखरी हुई और मैली हो चुकी थी कपड़े तथा बाल बिखर रहे थे। वह गिरता हुआ क्षीण-पुण्य वाले ग्रह के समान प्रतीत होता था ॥ २५ ॥

ततः शार्ङ्गं धनुः श्रेष्ठं करात् प्रपतितं मम ।
मोहापन्नश्च कौन्तेय रथोपस्थ उपाविशम् ॥२६॥

हे कौन्तेय ! मेरा शार्ङ्ग धनुष हाथ से गिर पड़ा। मैं मोहित होकर रथ में चुप-चाप बैठ गया ॥ २६ ॥

ततो हाहाकृतं सर्वं सैन्यं मे गतचेतनम् ।
मां दृष्ट्वा रथनीड़स्थं गतासुमिव भारत ॥२७॥

हे भारत ! मुझे रथ में चुप-चाप देखकर सारी सेना मूर्छित और मृतक सी होकर हाहाकार करने लगी ॥ २७ ॥

प्रसार्य्य बाहू पततः प्रसार्य्य चरणावपि ।
रूपं पितुर्मे विबभौ शकुनेः पततो यथा ॥२८॥

हाथ और पैर फैला कर पड़ते हुए मेरे पिता का रूप ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे—कोई पक्षी पड़ा हो ॥ २८ ॥

तं पतन्तं महाबाहो शूलपट्टिशपाणयः ।
अभिघ्नन्तो भृशं वीर मम चेतो ह्यकम्पयन् ॥२९॥

हे महाबाहो, वीर ! उस गिरते हुए मेरे पिता वसुदेव के शूल और पट्टिश आदि शस्त्र लेकर दानव मारने लगे, जिससे मेरा मन कांप उठा ॥ २९ ॥

ततो मुहूर्त्तात् प्रतिलभ्य संज्ञामहं तदा वीर महाविमर्दे ।
न तत्र सौभं न रिपुञ्च शाल्वं पश्यामि वृद्धं पितरं न चापि॥३०

हे वीर ! इस घमासान युद्ध में मैं ने थोड़े ही देर में संज्ञा प्राप्त करली, तब न तो सौभनगर देखा और न शाल्व तथा न अपने वृद्ध पिता वसुदेव को कहीं देखा ॥ ३० ॥

तवो समासीन्मनसि मायेयमिति निश्चितम् ।
प्रबुद्धोऽस्मि ततो भूयः शतशोऽभ्याकिरन् शरान् ॥३१॥
इति श्री महाभारत आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि
सौभवधोपाख्याने एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

तब मेरे मन में यह निश्चित हो गया, कि यह तो माया है। फिर मैं सावधान हो गया और सैंकड़ों तरह से बाणों की वर्षा करने लगा॥ ३१ ॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्व में सौभ वध के उपाख्यान का इक्कीसवां अध्याय पूरा हुआ।



बाइसवां अध्याय

वासुदेव उवाच—
ततोऽहं भरतश्रेष्ठ प्रगृह्य रुचिरं धनुः ।
शरैरपातयं सौभात् शिरांसि विबुधद्विषाम् ॥१॥

श्रीकृष्ण बोले—हे भरत श्रेष्ठ ! अब मैं अपना धनुष उठाकर सौभ नगर से दानवों के शिर काट २ कर गिराने लगा ॥ १ ॥

शरांश्चाशीविषाकारानूर्द्ध्वगांस्तिग्मतेजसः ।
प्रैषयं शाल्वराजाय शार्ङ्गमुक्तान् सुवाससः ॥२॥

सर्पों के आकार के सदृश आकार धारी, सुन्दर मूल वाले, शार्ङ्ग धनुष से छोड़े हुए ऊर्ध्व गामी, तीखे बाण, मैंने शाल्व पर छोड़े ॥ २ ॥

ततो नादृश्यत तदा सौभं कुरुकुलोद्वह ।
अन्तर्हितं माययाभूत्ततोऽहं विस्मितोऽभवम् ॥३॥

हे कुरुकुलोद्वह ! इस समय सौभ नगर माया से अदृश्य हो गया, जिस से कहीं भी दिखाई नहीं देता था। इस से मैं बड़ा अचम्भित हुआ ॥ ३ ॥

अथ दानवसङ्घास्ते विकृताननमूर्द्धजाः ।
उदक्रोशन्महाराज धिष्ठिते मयि भारत ॥४॥

हे भरत-वंश-श्रेष्ठ ! महाराज, जब मैंने अधिक शक्ति के साथ आक्रमण किया तो दानव समूह के मुख फीके पड़ गए, बाल बिखर गए और वे रोने चिल्लाने लगे ॥ ४ ॥

ततोऽस्त्रं शब्दसाहं वै त्वरमाणो महारणे ।
अयोजयं तद्वधाय ततः शब्द उपारमत् ॥५॥

अब मैंने शोर के सहन करने वाले, अस्त्र का प्रयोग बड़ी शीघ्रता से इस रण में शत्रु के मारने के लिए किया। इस के प्रयोग के अनन्तर वह चिल्लाहट की ध्वनि शान्त हो गई ॥५॥

हतास्ते दानवाः सर्वे यैः स शब्द उदीरितः ।
शरैरादित्यसङ्काशैर्ज्वलितैः शब्दसाधनैः ॥६॥

मैंने उन सब दानवों को सूर्य के समान दीप्तिमान् और शब्द (शोर) के शान्त करने वाले बाणों से काट गिराया, जिन्होंने यह शब्द उठाया था ॥ ६ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे पुनरेवान्यतोऽभवत् ।
शब्दोऽपरो महाराज तत्रापि प्राहरं शरैः ॥७॥

हे महाराज ! इधर के शब्द के शान्त होने पर दूसरी ओर से महा-ध्वनि होने लगी। मैंने वहां भी बाणों से प्रहार किया ॥७॥

एवं दशदिशः सर्वास्तिर्यगूर्ध्वञ्च भारत ।
नादयामासुरसुरास्ते चापि निहता मया ॥८॥

हे भारत ! इस तरह उन दानवों ने दशों दिशाओं में सब ओर ऊपर नीचे इधर उधर शोर करना आरम्भ किया। मैंने उन असुरों को समाप्त किया ॥ ८ ॥

ततः प्राग्ज्योतिषं गत्वा पुनरेव व्यदृश्यत ।
सौभं कामगमं वीर मोहयन्मम चक्षुषी ॥९॥

हे वीर ! जब मैं समुद्र तीर के नगर प्राग्ज्योतिष पुर में पहुचा, तो वहा भी मैंने कामना के अनुसार गमन करने वाले सौभ नगर को देखा। जिस से मेरी आंखें मोहित सी हो गई ।

ततो लोकान्तकरणो दानवो दारुणाकृतिः ।
शिलावर्षेण महता सहसा मा समावृणोत् ॥१०॥

इसके अनन्तर लोकों का अन्त करने वाला दारुण-आकृति को धारी, दानव शाल्व ने शिला वर्षा करके मुझे ढक दिया ॥१०॥

सोऽहं पर्वतवर्षेण वध्यमानः पुनः पुनः ।
वल्मीक इव राजेन्द्र पर्वतोपचितोऽभवम् ॥११॥

हे राजेन्द्र ! मैं पर्वत की वर्षा से बार २ पीडित किया गया। मैं इन पर्वतों से इस प्रकार दब गया। जैसे—मिट्टी से वल्मीक दब जाता है ॥ ११ ॥

ततोऽहं पर्वतचितः सहयः सहसारथिः ।
अप्रख्यातिमिया राजन् सर्वतः पर्वतैश्चितः ॥१२॥

हे राजन् ! पर्वतों से घिर कर घोड़े और सारथि के साथ मैं अलक्षित सा होगया, क्योंकि पर्वतों का मेरे चारों ओर ढेर लग गया था ॥ १२ ॥

ततो वृष्णिप्रवीरा ये ममासन् सैनिकास्तदा ।
ते भयार्त्ता दिशः सर्वे सहसा विप्रदुद्रुवुः ॥१३॥

इस समय जो वृष्णि वंश के वीर मेरे सैनिक थे, वे डर कर सब अचानक भाग निकले ॥ १३ ॥

ततो हाहाकृतमभूत् सर्वं किल विशाम्पते ।
द्यौश्च भूमिश्च खञ्चैवादृश्यमाने तथा मयि ॥१४॥

हे विशाम्पते ! मेरे इस प्रकार अलक्षित होजाने पर अन्तरिक्ष भूमि और आकाश में हाहाकार मच गया ॥ १४ ॥

ततो विषण्णमनसो मम राजन् सुहृज्जनाः ।
रुरुदुश्चुक्रुशुश्चैव दुःखशोकसमन्विताः ॥१५॥

हे राजन् ! इस समय उदास मन होकर मेरे हितकारी मनुष्य दुःख और शोक से रोने-चिल्लाने लगे ॥ १५ ॥

द्विषताञ्च प्रहर्षोऽभूदार्त्तिश्चाद्विषतामपि ।
एवं विजितवान् वीर पश्चादश्रौषमच्युत ॥१६॥

शत्रुओं के दल में आनन्द और मित्रों के दल में दुःख छा गया। हे वीर, अच्युत ! जब मैं मूर्छा से जगा, तो शाल्व की इस विजय को मुझे सारथि ने सुनाया ॥ १६ ॥

ततोऽहमिन्द्रदयितं सर्वपाषाणभेदनम् ।
वज्रमुद्यम्य तान् सर्वान् पर्वतान् समशातयम् ॥१७॥

अब मैं ने इन्द्र का प्रिय, सारे पाषाणों का भेदन कर देने वाला, वज्र नामक अस्त्र उठाया और उससे सारे पत्थरों को काट २ कर फेंक दिया ॥ १७ ॥

ततः पर्वतभारार्त्ता मन्दप्राणविचेष्टिताः ।
हया मम महाराज वेपमाना इवाभवन् ॥१८॥

हे महाराज ! पर्वतों के भार से क्लेशित, अल्प प्राणों के कारण कुछ चेष्टा करते हुए मेरे घोडे काप रहे थे ॥ १८ ॥

मेघजालमिवाकाशे विदार्य्याभ्युदितं रविम् ।
दृष्ट्वा मां बान्धवाः सर्वे हर्षमाहारयन् पुनः ॥१९॥

मेघ-समूह को चीर कर निकले हुए सूर्य के सदृश मुझे देख कर मेरे सारे बान्धव बड़े हर्षित हुए ॥ १९ ॥

ततः पर्वतभारार्त्तान् मन्दप्राणविचेष्टितान् ।
हयान् सन्दश्य मां सूतः प्राह तात्कालिकं वचः ॥२०॥

पर्वतों के बोझ से दबे हुए, मन्द प्राणों से चेष्टा करते हुए घोड़ों को देखकर सारथि, उस समय के उपयोगी वचन कहने लगा ॥ २० ॥

साधु सम्पश्य वार्ष्णेय शाल्वं सौभपतिं स्थितम् ।
अलं कृष्णावमन्यैनं साधुयत्नं समाचर ॥२१॥

हे वृष्णिवंशोद्भव ! सौभपति शाल्व को सामने अच्छी तरह देख रहे हो । हे कृष्ण ! इसकी उपेक्षा करनी उचित नहीं है, तुम इसके वध के लिए अच्छी तरह प्रयत्न करो ॥ २१ ॥

मार्दवं सखिताञ्चैव शाल्वादद्य व्यपाहर ।
जहि शाल्वं महाबाहो मैनं जीवय केशव ॥२२॥

हे महाबाहो ! अपनी कोमलता और शाल्व की पूर्व मित्रता का ध्यान छोड़ दो । हे केशव ! अब तुम इसका वध करो, इसके जीवित रखने से कोई फल नहीं है ॥ २२ ॥

सर्वैः पराक्रमैर्वीर वध्यः शत्रुरमित्रहन् ।
न शत्रुरवमन्तव्यो दुर्बलोऽपि बलीयसा ॥२३

हे शत्रुनाशक ! यह शत्रु सारे पराक्रमों से मार लेना चाहिए बलवान को दुर्बल शत्रु की भी उपेक्षा करनी उचित नहीं है ॥२३॥

योऽपि स्यात् पीठगः कश्चित् किं पुनः समरे स्थितः ।
स त्वं पुरुषशार्दूल सर्वयत्नैररिमं प्रभो ॥२४॥
जहि वृष्णिकुलश्रेष्ठ मा त्वां कालोऽत्यगात् पुनः ।
नैष मार्दवसाध्यो वै मतो नापि सखा तव ॥२५॥
येन त्वं योधितो वीर द्वारका चावमर्दिता ।
एवमादि तु कौन्तेय श्रुत्वाहं सारथेर्वचः ॥२६॥
तत्त्वमेतदिति ज्ञात्वा युद्धे मतिमधारयम् ।
वधाय शाल्वराजस्य सौभस्य च निपातने ॥२७॥

हे प्रभो! जो पहिले आसन के पास बैठता था, वही अब युद्ध में सामने खड़ा है। हे पुरुष-शार्दूल! तुम इसको सब यत्नों से नष्ट करो। हे वृष्णि-कुल-श्रेष्ठ! तुमको अब व्यर्थ काल-यापन नहीं करना चाहिए। न तो यह मृदुता से चुप होगा और न यह अब तुम्हारा मित्र रहा है; क्योंकि इसने तुम्हारे साथ युद्ध ठाना है और द्वारका का चूरा कर दिया है। हे कौन्तेय! मैं ने इस प्रकार सारथि के वचन सुनकर समझ लिया कि यह ठीक कहता है। अब मैं ने युद्ध में शाल्वराज के वध और सौभनगर के गिराने में मन लगाया॥ २४-२७॥

दारुकश्चाब्रुवं वीर मुहूर्त्तं स्थीयतामिति ।
ततोऽप्रतिहतं दिव्यमभेद्यमतिवीर्य्यवान् ॥२८॥
आग्नेयमस्त्रं दयितं सर्वसाहं महाप्रभम् ।
योजयंस्तत्र धनुषा दानवान्तकरं रणे ॥२९॥

हे वीर! मैंने दारुक से कहा, तुम जरा ठहरो। इस के अनन्तर मैंने अपने बल के अनुसार कभी नहीं रुकने वाले,

न कभी कटने वाले, सब कुछ सह लेने वाले, महाकान्तिमान् अति प्रिय, आग्नेयास्त्र को धनुष पर चढ़ाया। यह अस्त्र दानवों का अन्त करने वाला था ॥ २८-२६ ॥

यक्षाणां राक्षसानाञ्च दानवानाञ्च संयुगे।
राज्ञाञ्च प्रतिलोमानां भस्मान्तकरणं महत्॥३०॥

यह आग्नेयास्त्र, यक्ष, राक्षस, दानव तथा कैसा भी विरोधी राजा क्यों न हो, यह सब का अन्त कर देने वाला था ॥ ३० ॥

क्षुरान्तममलं चक्रं कालान्तकयमोपमम्।
अनुमन्त्र्याहमतुलं द्विषतां विनिवर्हणम् ॥३१॥

यह छुरे की धार के समान अत्यन्त पैना, चमकदार काल, अन्तक और यम के चक्र के समान भीषण, शत्रुओं के नाशक इस अनुपम चक्र का अभिमन्त्रण कर के मैंने कहा ॥ ३१॥

जहि सौभं स्ववीर्य्येण ये चात्र रिपवो मम ।
इत्युक्त्वा भुजवीर्य्येण तस्मै प्राणिहवं रुषा ॥३२॥

हे चक्र! तुम सौभ का अथवा इस स्थान पर जो मेरे शत्रु हों उन सब का विनाश करो। इतना कहकर अपनी भुजाओं के बल के अनुसार मैंने चक्र को क्रोध में फेंका।

रूपं सुदर्शनस्यासीदाकाशे पततस्तदा ।
द्वितीयस्येव सूर्य्यस्य युगान्ते प्रपतिष्यतः ॥३३॥

इस समय आकाश में उड़ते हुए सुदर्शन चक्र का रूप प्रलय में चमकने वाले सूर्य के तुल्य हो रहा था ॥ ३३ ॥

तत् समासाद्य नगरं सौभं व्यपगतत्विषम् ।
मध्येन पाटयामास क्रकचो दार्विवोच्छ्रितम् ॥३४॥

इसने नष्ट शोभावाले, सौभनगर को प्राप्त किया और करौंत से ऊंचे उठे काठ की भांति सौभ को बीच से चीर कर फैंक दिया ॥ ३४ ॥

द्विधा कृतं ततः सौभं सुदर्शनबलाद्धतम् ।
महेश्वरशरोद्धूतं पपात त्रिपुरं यथा ॥ ३५ ॥

सुदर्शन चक्र के बल से उस सौभनगर (विमान) के दो टुकड़े हो गए और महेश्वर के शर से नष्ट हुए त्रिपुर के समान वह गिरगया ॥ ३५ ॥

तस्मिन्निपतिते सौभे चक्रमागात् करं मम ।
पुनश्चादाय वेगेन शाल्वायेत्यहमब्रुवम् ॥ ३६ ॥
ततः शाल्वं गदां गुर्वीमाविध्यन्तं महाहवे ।
द्विधाचकार सहसा प्रजज्वाल च तेजसा ॥ ३७ ॥

जब सौभनगर गिर गया तो फिर चक्र मेरे ही हाथ में आगया। मैंने उस चक्र को लेकर शाल्व पर फैंका। इस ने भारी गदा को चलाते हुए शाल्व और उस गदा के दो टुकड़े कर दिए और यह अपने तेज से चमकने लगा ॥ ३६-३७ ॥

तस्मिन् विनिहते वीरे दानवाः त्रस्तचेतसः ।
हाहाभूता दिशो जग्मुर्दिरता मम सायकैः ॥३८॥

इस वीर शाल्व के मारे जाने पर सारे दानव डर गए और मेरे बाणों से पीड़ित किये हुए तथा हाय ? हाय ? करते हुए दिशाओं में भाग गए ॥ ३८ ॥

ततोऽहं समवस्थाप्य रथं सौभसमीपतः ।
शङ्खं प्रध्माप्य हर्षेण सुहृदः पर्य्यहर्षयम् ॥३९॥

इस समय मैंने रथ को, गिरे हुए सौभ विमान के पास खड़ा कर दिया और हर्ष से शंख को बजा कर अपने मित्रों को प्रफुल्लित किया ॥ ३९ ॥

तन्मेरुशिखराकारं विध्वस्ताट्टालगोपुरम् ।
दह्यमानमभिप्रेक्ष्य स्त्रियस्ताः संप्रदुद्रुवुः ॥४०॥

इस नगर का आकार मेरु पर्वत के सदृश था । इस की अटारी और दरवाजे सब नष्ट भ्रष्ट हो चुके थे । इस नगर को जलता हुआ देखकर डर से सारी स्त्रियां भागने लगीं ॥४० ॥

एवं निहत्य समरे सौभं शाल्वं निपात्य च ।
आनर्त्तान् पुनरागम्य सुहृदं प्रीतिमानहम् ॥४१॥

इस प्रकार युद्ध में शाल्व को मारकर और सौभ नगर को नष्ट भ्रष्ट करके मैं आनर्त देश को लौट आया । जिस से मेरे सुहृद् बड़े प्रसन्न हुए ॥ ४१ ॥

तदेतत् कारणं राजन् यदहं नागमाह्वयम् ।
नागमं परवीरघ्न न हि जीवेत् सुयोधनः ॥४२।
मय्यागतेऽथ वा वीर द्यूतं न भविता यथा ।
अद्याहं किं करिष्यामि भिन्नसेतुरिवोदकम् ॥४३॥

हे राजन्! यही कारण है कि द्यूत के समय में हस्तिनापुर नहीं आ सका। हे शत्रु-विजयी! यदि मैं आगया होता तो या तो दुर्योधन के प्राण ही नहीं थे या जुआ ही न होता। अब मैं क्या कर सकता हूँ। अब तो पुल टूट सा गया, यह पानी रुक नहीं सकता है ॥ ४३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वामहाबाहुः कौरवं पुरुषोत्तमः ।
आमन्त्र्य प्रययौ श्रीमान् पाण्डवान्मधुसूदनः ॥४४॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! महाबाहु इतना कह कर पुरुषों में उत्तम श्रीकृष्ण पाण्डवों से आज्ञा लेकर चल दिए।

अभिवाद्य महाबाहुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम्
राज्ञा मूर्द्ध्न्युपाघ्रातो भीमेन च महाभुजः ॥४५॥
परिष्वक्तश्चार्ज्जुनेन यमाभ्याञ्चाभिवादितः ।
सम्मानितश्च धौम्येन द्रौपद्या चार्चितोऽश्रुभिः ॥४६॥

ये महाभुजाओं के धारण करने वाले, पराक्रमी श्रीकृष्ण, धर्मराज युधिष्ठिर को प्रणाम करके चले। राजा युधिष्ठिर और भीम ने इनका मस्तक सूंघा। अर्जुन ने लिपट कर आलिङ्गन किया और नकुल तथा सहदेव ने प्रणाम किया। धौम्य ने सम्मान किया तथा द्रौपदी ने अपने आंसुओं से उन की पूजा की ॥ ४५-४६ ॥

सुभद्रामभिमन्युञ्च रथमारोप्य काञ्चनम् ।
आरुरोह रथं कृष्णः पाण्डवैरभिपूजितः ॥४७॥

पाण्डवों से आदर सत्कार पाकर और अपनी बहन सुभद्रा और अभिमन्यु को रथ में बैठाकर श्रीकृष्ण, सोने के रथ पर चढ़े ॥ ४७ ॥

शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेनादित्यवर्चसा ।
द्वारकां प्रययौ कृष्णः समाश्वास्य युधिष्ठिरम्॥४८॥

भगवान् कृष्ण, राजा युधिष्ठिर को आश्वासन देकर शैब्य और सुग्रीव नामक अश्वों से युक्त सूर्य के तुल्य, देदीप्यमान रथ से द्वारका को चले ॥ ४८ ॥

ततः प्रयाते दाशार्हे धृष्टद्युम्नोऽपि पार्षतः ।
द्रौपदेयानुपादाय प्रययौ स्वपुरं तदा ॥४९॥

जब श्रीकृष्ण चले गये, तो पर्वतवंशी धृष्टद्युम्न भी द्रौपदी के पुत्रों को लेकर अपने नगर की ओर चल दिया ॥ ४९ ॥

धृष्टकेतुः स्वसारंञ्च समादायाथ चेदिराट् ।
जगाम पाण्डवान् दृष्ट्वा रम्यां शुक्तिमतीं पुरीम् ॥५०॥

शिशुपाल का पुत्र चेदिराट् धृष्टकेतु भी अपनी बहन करेणुमती (नकुल की भार्या) को लेकर पाण्डवों की आज्ञा से सुन्दर, शुक्तिमती पुरी को चल दिया ॥ ५० ॥

कैकेयाश्चाप्यनुज्ञाताः कौन्तेयेनामितौजसा ।
आमन्त्र्य पाण्डवान् सर्वान् प्रययुस्तेऽपि भारत ॥५१॥

हे भारत! कैकयदेश के राजकुमार भी अत्यन्त ओजस्वी, युधिष्ठिर से आज्ञा लेकर तथा अन्य सारे पाण्डवों से मिल कर चल दिये ॥ ५१ ॥

ब्राह्मणाश्च विशश्चैव तथा विषयवासिनः ।
विसृज्यमानाः सुभृशं न त्यजन्ति स्म पाण्डवान् ॥५२॥

अपने राष्ट्र के निवासी ब्राह्मण तथा अन्य प्रजा लौटने का अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी पाण्डवों को नहीं छोड़ रही थी ॥५२॥

समवायः स राजेन्द्र सुमहाद्भुतदर्शनः ।
आसीन्महात्मनां तेषां काम्यके भरतर्षभ ॥५३॥

हे भरतर्षभ! इस काम्यक वन में इन महानुभावों का यह समागम बड़ा ही अद्भुत हुआ ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिरस्तु विप्रांस्ताननुमान्य महामनाः ।
शशास पुरुषान् काले रथान् योजयतेति वै ॥५४॥

इति श्री महाभारते आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि
सौभवधोपाख्याने द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

महामनस्वी, युधिष्ठिर ने उन ब्राह्मणों का सत्कार करके समय पर पुरुषों को आज्ञा दी कि तुम रथ को तय्यार करो ? ॥ ५४ ॥

इति श्री महाभारते वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्व में सौभ
वध के उपाख्यान का बाईसवां अध्याय पूरा हुआ और
यहीं पर सौभवध का उपाख्यान भी पूरा हो गया।

[तीसरा भाग समाप्त]